# मुक्तिबोध रचनावली

'एक साहित्यिक की डायरी' तथा
'कामायनी : एक पुनर्विचार'

# मुक्तिबोध रचनावली

## 4

सम्पादक
नेमिचन्द्र जैन

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य  प्रति खण्ड रु 100 00
पूरा सेट  रु 600 00



प्रथम संस्करण  1980
द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण  1986

प्रकाशक  राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8 नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली-110002

मुद्रक  रुचिका प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

MUKTIBODH RACHANAVALI
Edited by Nem chandra Jain

# मेरी डायरी

ता. १५-११-३५ मैं आज कुछ काम लिखने के मूड में था,
कि एक व्यक्ति मेरा मानसिक-सुख भंग करने के लिये
आ गये। मेरे दिमाग में एक सनसनी पैदा हो गयी। मैं
नहीं चाहता था कि इस व्यक्ति में मेरा बुद्धि-वैषम्य
मालूम हो। पर, मेरी भावनाएँ मेरे वश में नहीं हैं।
मैं दरवाज़े में खड़ा था, और टेबिल के पास कुर्सी पर
बैठने ही वाला था कि उसने मुझसे पूछा 'कहां जा रहे
हो' मैंने मुस्काते हुवे उत्तर दिया 'कहीं नहीं'
और टेबिल के पास जाकर बैठ गया। हाथ में कलम
लेने के बजाय इकबाल की इसरार-इ-खुदी का अंग्रेज़ी
अनुवाद सरका लिया और पन्ने उलटने लगा। पढ़ता
तो क्या ख़ाक! सिर में खून तेज़ी से दौड़ रहा था।
और मैं अचानक बहुत ज्यादा गंभीर था। वह
मेरे पास वाले कुर्सी पर बैठ गई और मुझसे सहज
भाव से पूंछा 'जब कोई तुम्हारे पास आये, तो क्या

मुक्तिबोध की एक डायरी का पहला पृष्ठ

नींद जल्दी नहीं आयी। वह स्त्री मेरे लिये एक समस्या-सी बन गयी थी। इस। मेरा दिल भी कितना दुख रहा था।

मैं यह सब अपनी डायरी में लिख रहा हूं, जिससे फिर और कभी इसे पढ़नेदे भुला जाये। वह अब भी आती है, पर मानो मैं अब उसका मुंह भी देखना नहीं चाहता।

G.M. Muktibodh.

11/11/37

मुक्तिबोध की एक और डायरी का अन्तिम पृष्ठ

# दूसरे संस्करण की भूमिका

दूसरे सस्करण मे इस खण्ड के लिए कोई खास सामग्री नही मिली। केवल एक अश पाडुलिपियो मे मिला जो सम्भवत किसी लेख का एक हिस्सा हो। पर उसके स्वर और रूप से उसे डायरियो मे रखना उचित लगा। वह अब "कुछ और डायरी" उपखण्ड मे सम्भावित कालक्रमानुसार सम्मिलित कर दिया गया है।

नेमिचन्द्र जैन

# पहले संस्करण की भूमिका

मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन रचनावली के चौथे और पाँचवें, दो खण्डो मे है। इस खण्ड मे सशोधित और परिवर्धित रूप मे **एक साहित्यिक की डायरी**, तथा कुछ अतिरिक्त सामग्री सहित **कामायनी : एक पुनर्विचार** ग्रन्थ हैं। इन्हे साथ रखने का एक कारण तो यह है कि दोनो ही स्वतन्त्र आत्मसम्बद्ध पुस्तको के रूप मे पहले प्रकाशित हो चुके हैं और अपने-आपमे सम्पूर्ण इकाइयाँ है। दूसरे, यह उचित समझा गया कि फुटकर आलोचनात्मक निबन्ध सामान्य विषय और काल-क्रम के अनुसार, सारे एक-साथ, एक ही खण्ड में हो तो पाठको के लिए अधिक उपयोगी होगा। इसलिए वे सब पाँचवें खण्ड मे हैं।

पाण्डुलिपियो मे ऐसी अनेक रचनाएँ मिली जो **एक साहित्यिक की डायरी**, की शैली में लिखी हुई है। इनमे से कुछ अन्य पत्रिकाओ में प्रकाशित भी हुईं, पर उस ग्रन्थ मे नही आयी, या अब तक एकदम अप्रकाशित ही रही। उन सबको यहाँ एक सामान्य अन्तर्खण्ड 'साहित्यिक की डायरी' के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। इनमे से कुछेक, औपचारिक दृष्टि से, कहने को अपूर्ण भी हैं, पर फिर भी उनमें कोई एक विचार लगभग सम्पूर्णता मे प्रकट हुआ है और इसलिए उन्हे पूर्ण भी माना जा सकता है। कुछेक डायरियाँ ऐसी हैं जो पुस्तकाकार प्रकाशित डायरियो के ही विचार को आगे बढ़ाती हैं, या उसके एक अन्य स्तर का विश्लेषण करती

मे अलग से दी गयी हैं। इन सभी डायरियो के शीर्षक या तो पुस्तकाकार प्रकाशित डायरियों के ही एक अतिरिक्त अश के रूप मे रखे गये हैं, या फिर मुख्य विचार के अनुरूप भिन्न दे दिये गये हैं। इस जिल्द मे सम्मिलित सारी डायरियो का रचना-काल 1936 से 1963 तक फैला हुआ है।

कहानियो की भाँति ही, पुस्तकाकार प्रकाशित डायरियो मे भी बहुत-सी भूलें थी, पृष्ठ आगे पीछे थे, पैराग्राफ, वाक्य या शब्द छूट गये थे या ग़लत थे। इस सारी सामग्री को, जहाँ भी सम्भव हुआ, मूल पाण्डुलिपियो स मिलाकर शुद्ध किया गया है, यद्यपि पुस्तकाकार प्रकाशित डायरियो म से अनेक की पाण्डुलिपि अब उपलब्ध नही है।

कविताओ-कहानियो की भाँति ही कई डायरियो मे भी चरित्रो की, स्थितियो की, या वाक्यांशो की, पुनरावृत्ति है। सम्भव है वे एक ही रचना के विभिन्न प्रारूप हो। ऐसा भी आभास हुआ कि मुक्तिबोध अपनी किसी रचना से पूरी तरह सन्तुष्ट न होने पर उसे फिर नये सिरे से लिखना शुरू करते थ, पर इस प्रक्रिया म नये प्रारूप स्वतन्त्र रचनाएँ बन जाते थे, भले ही कुछ विचार, भाव, तर्क, चरित्र, *स्थिति, पैरा, वाक्य या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हो। यह बात यहाँ सकलित* डायरियों मे भी देखी जा सकती है।

**कामायनी एक पुर्नविचार** मुक्तिबोध के इसी शीर्षक से प्रकाशित ग्रन्थ का अविकल रूप है। उसकी जो पाण्डुलिपि उपलब्ध है, वह प्रकाशित रूप से भिन्न है। पर चूँकि यह पुस्तक लेखक के जीवन-काल मे ही प्रकाशित हो गयी थी, इसलिए प्रकाशित रूप को ही प्रामाणिक माना गया है। **कामायनी** के बारे म मुक्तिबोध पाँचवें दशक के मध्य से ही सोचते लिखते रहे थे और इस सम्बन्ध मे उनके कई लेख हस मे प्रकाशित भी हुए थे। बाद म उन्ही को मशोधित-परिवर्धित करके [illegible] उतार-चढाव के दौर [illegible] यी है। वही **कामायनी** [illegible] पत्रिकाओ मे तो छपी थी, पर अब बहुत दिनो बाद पहली बार यहाँ एक-साथ सुलभ है।

**नेमिचन्द्र जैन**

# क्रम

साहित्यिक की डायरी

# युगीन घटनाक्रम और साहित्य-सृजन

मैं चुपचाप दोनों की बात सुनता जा रहा था। उनकी बात लम्बी थी। मेरा धैर्य भी दीर्घ था। मुझे लग रहा था कि इनके कहन म एक समस्या अकुला रही है। उनके प्रश्न और प्रति प्रश्न, उत्तर और प्रत्युत्तर मरे कानो म चले आ रहे थे और दिल उन्हे जज्ब करता जा रहा था।

उस समय मैंने अपनी कोई राय न दी। वैसा करना एक लम्बी बहस मे फँस जाने की अपेक्षा रखता था। मैंन अपनी बात न कही। वह आज अभी कहने जा रहा हूँ।

हरि ने कहा था कि यदि साहित्य समाजापेक्षी है, अपने उत्थान और प्रेरणा के लिए, तो निस्सन्देह पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस से हमारा हिन्दी काव्य तत्पूर्व छायावादी काव्य से श्रेष्ठतर होना चाहिए। किन्तु क्या ऐसा है? (अर्थात् नही), इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य प्रधानत व्यक्तिमूलक है। वर्तमान साहित्य जगत् की छायावादी पीढ़ी के उपरान्त जो लोग आये उनका व्यक्तित्व सामान्यत इतना क्षीण है कि श्रेष्ठ साहित्य का विकास उनक हाथो होना सम्भव नही।

हरि के इस कथन से मुझे आग लग गयी। किन्तु उसके जोश को देखकर मैं चुप रहा। मैंने सोचा कि इसका जवाब फिर कभी दूँगा। आज हरि मेरे पास बैठा है। और सोचता हूँ कि मैं अपनी भूमिका स्पष्ट कर दूँ। और उसके कथन म छिपे हुए सभी प्रश्न और प्रति प्रश्न उघारकर उनका जवाब द डालूँ। हरि भलामानस है। उसने वादा किया है कि वह मरी बात को सुनेगा। हवा म न उडायेगा।

मैंन हरि का हाथ अपन हाथ म लेकर कहा

पहली चीज तो यह है कि साहित्य का विकास और सामाजिक-राजनैतिक घटनाओ का क्रम समानान्तर रेखाओं पर नही चला करता, यानी अनिवार्य रूप से नही। समानान्तर रूप मे चलाया जा सकता है, परन्तु हमेशा यह सम्भव नही। कारण अनेक है। घटनाओ से समानान्तर साहित्य का विकास तो तभी सम्भव है जब *उन घटनाओ को ऐतिहासिक शक्तियो की अभिव्यक्ति* के रूप म देखा जाय, तथा उस अभिव्यक्ति म मानव के सकल्प की आग के दर्शन हो। यदि इस दृष्टि से इनका मूल्याकन न किया गया, अथवा मूल्याकन की प्रक्रिया मे बाधाएँ उत्पन्न

हुई, तो निश्चय ही उस घटनावली से प्रेरित साहित्य उत्पन्न नहीं हो सकता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि घटनाक्रम में मानव की महत्ता का बोध हो, अथवा किसी-न-किसी प्रकार से लेखक की आत्मा उनसे सम्बद्ध जान पड़े। उदाहरण के लिए, चन्द बरदाई का **पृथ्वीराज रासो**, भूषण के ग्रन्थ अथवा लालकवि का **छत्रसाल चरित**। आधुनिक साहित्य में से उदाहरण लिये जायें। द्वितीय विश्व-युद्ध की अनेकानेक घटनाओं को लेकर, अथवा तत्सम्बन्धी जीवन-विषयों को लेकर, वर्तमान रूसी उपन्यास लिखे गये हैं। वे अपने-आपमें अद्वितीय हैं, जैसे गोचेर का **झण्डाबरदार** (स्टैण्डर्ड बेयरर्स)।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं का मूल्यांकन नहीं हो सकता, ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से। ठीक है। किन्तु लेखक किसी-न-किसी तरह से उन घटनाओं से सम्बद्ध था, उनके पास था। भूषण की कविता किसी को अच्छी लगे या न लगे, लेखक अपने युग की प्रधान घटनाओं तथा उसके भावों से असन्दिग्ध रूप से एकाकार थे। भूषण की कविता के ओज को, लेखक के व्यक्तित्व की केवल मानसिक प्रवृत्तियों से ही नहीं समझा जा सकता, वरन् तत्कालीन युग के स्वरूप और भाव-शैली से ही उसे पहचाना जा सकता है, उसकी व्याख्या की जा सकती है। उसी तरह चन्द बरदाई स्वयं उन युगान्तरकारी घटनाओं से सम्बद्ध था जिनकी अभिव्यक्ति उसके काव्य में हुई। उन घटनाओं के मूल्यांकन की सीमाएँ तथा उसकी शक्ति निश्चय ही उस युग की सीमाएँ तथा शक्ति थी।

कहने का तात्पर्य यह कि युगान्तरकारी घटनाक्रम से प्रेरणा प्राप्त कर तत्सम्बन्धी साहित्य के उत्पन्न होने के लिए ऐसे व्यक्तित्व की भी आवश्यकता होती है, जो अपने युग का, अथवा उसके किसी महत्त्वपूर्ण अंग का, प्रतिनिधित्व करके, उस घटनाक्रम से आक्रान्त होकर उसे प्रकट करने के लिए, किसी-न-किसी तरह मजबूर हो जाये। जब तक यह मजबूरी पैदा न होगी, तब तक साहित्यिक उन समस्त घटनाओं को अपनी सृजन-मनोवैज्ञानिक परिधि से बाहर ही रखेगा।

वर्ग-विभाजित समाज में व्यक्ति का मन भी विभाजित होता है, चाहे वह इसे स्वीकार करे चाहे न करे। मन के इस विभाजन के रूप अनेक होते हैं। वे प्रच्छन्न भी रह सकते हैं, अप्रच्छन्न भी। उनमें से कुछ विशेष कमजोरियों के रूप में प्रकट होते हैं, जिन्हें व्यक्ति स्वीकार करता है (प्रकट या अप्रकट रूप में)। युगान्तरकारी घटनाक्रमों का आघात बार-बार उसके हृदय पर होने पर भी, उन कमजोरियों का शिकार होने के कारण, वह उनका उचित मूल्यांकन कर नहीं सकता। किन्तु बौद्धिक तथा इतर मानसिक गुणों के कारण यदि वह मूल्यांकन कर भी चुके, तो भी वह, अपनी कमजोरियों का शिकार होने से, उन घटनाक्रमों से सम्बन्धित जीवन-विषयों की साहित्यिक अभिव्यक्ति और उनका कलात्मक निरूपण नहीं कर पाता, नहीं कर सकता। हाँ, मैं असाधारण साहित्यिक व्यक्तियों की बात नहीं कर रहा हूँ, जिनके व्यक्तित्व में 'सिद्धान्त और कार्य' (थियॅरी ऐण्ड प्रैक्टिस) का आपस में टकराता हुआ, और एक-दूसरे को पंगु और निष्क्रिय बनाता हुआ, द्वन्द्व नहीं है। वस्तुतः वर्ग-विभाजित समाज में व्यक्ति इसी प्रकार के द्वन्द्वों से पीड़ित रहता है। उससे उबरनेवाले व्यक्ति थोड़े होते हैं, डूब जानेवाले अधिक।

इस श्रेणी के साहित्यिक व्यक्तियों के लिए बाहर की मजबूरी सबसे अधिक

काम की होती है। यदि साहित्यिक वातावरण मे घटनाक्रमो से सम्बन्धित जीवन-विषयो के भाव तैर रहे हो, प्रेस, प्लेटफार्म और रेडियो के द्वारा इन भावो का प्रसार चारो क्षितिज छू रहा हो, तो एकबारगी अपनी लेखनी आजमाने के लिए, अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखने और बढाने के लिए, अथवा किसी अन्य उद्देश्य से, वे अपने व्यक्तित्व के उस भाग को, जो बाह्य युगान्तरकारी घटनाक्रमो से सम्बन्धित जीवन-विषयो के प्रति अत्यन्त सवेदनशील रहते हुए भी रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया गया है, परदे की ओट कर दिया गया है, उसे उबारकर उसका सही-सही मूल्याकन करते है, और उसे सृजनशील बना देते हैं। किन्तु इस प्रकार का सृजनशील साहित्यिक वातावरण तब तक बन नही सकता जब तक किसी साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात न हो—वह साहित्यिक आन्दोलन कि जो लेखको को अपने सामाजिक अश की अभिव्यक्ति के लिए मजबूर कर दे।

लेखक के व्यक्तित्व के इस सामाजिक अश का विकास तभी सम्भव है जब वह उन युगान्तरकारी घटनाओ की प्रक्रिया मे व्यक्तिगत रूप से भाग लेकर उन अनुभवो की सवेदना-ग्रन्थि को धारण करते हुए साहित्य म उसको खोल दे ·

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1950]

# व्यक्तित्व और चेतना

कल एक सज्जन से 'सघर्ष और फ्रस्टेशन' पर बात हुई। बात का सिलसिला मजेदार था।

किसी स्थानीय पत्रिका के अक मे प्रयोगवादी काव्य पर लिखते-लिखते एक सज्जन ने मन्तव्य प्रकट किया कि फलां-फलां (उन्होंने कवियो के नाम दिये थे) की कविताएँ सर्वाधिक प्रेषणीय है—प्रेषणीय इसलिए कि उनमे यौवन और प्रणय सम्बन्धी सुकोमल भावनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

इस लेखक के मन्तव्यो के प्रति मेरी कोई अनुरक्ति नही है। असलियत मे वह लेख कॉलिज के किसी पुराने खुर्राट प्रोफेसर की धारणाओ का परिणाम है। लेकिन यह नौजवान लेखक कुछ 'अपनी बात' प्रकट कर ही गया। उसने कहा कि प्रयोगवादी कवियो मे सर्वाधिक प्रेषणीयता उनमे है जिनम यौवन और प्रणय की सुकोमल भावनाएँ हैं।

इस मन्तव्य पर मेरी टिप्पणी इस प्रकार है

इस लेखक ने, अपने अनजाने ही, हमारे साहित्यिक-सामाजिक लोगो की वृत्ति से सम्बन्धित तथ्य की ओर इशारा कर दिया है। यौवन और प्रणय की भावना समझने मे बडी आसान हो गयी है। प्रतीक बदल जायें, छन्द बदल जायें, शृगार-सज्जा के साधन बदल जायें, लेकिन शृगार-भावना है ही अधिक लोकप्रिय। रहा अन्य भावनाओ का प्रश्न—वे इतनी आनन्दमयी नहीं, उपभोग्य नही।

किन्तु आनन्द हीनता के कारण क्या वे भावनाएँ अवास्तव हो जाती हैं, जिनमे सौन्दर्य का आलोक नही ? सौन्दर्य-काव्य नितान्त सास्कृतिक आवरण की झिलमिल परम्परा म प्रस्तुत होते हुए भी, जीवन की विभिन्न महत्त्वपूर्ण मुसवेदित वास्तविकताओ का स्थान नही ले सकता। प्राकृतिक, स्त्री रूपगत सौन्दर्य हम प्रिय है, प्रिय होना चाहिए। किन्तु उस सौन्दर्य के प्रति हमारी प्रीति यदि काव्य की प्रेषणीयता का एक महत्त्वपूर्ण कारण हो सकती है, तो उस कारण के प्रति हमारी कोई शिकायत नही। हमारी शिकायत तो उस जगह है जब किसी भाव-तत्व के प्रति श्रोता, पाठक या आलोचक की अप्रीति उसम ऐसी मानसिक स्थिति का जन्म देती है कि जो नवीन काव्य-प्रतीको, ध्वनियो और इशारो को समझन स इनकार करत हुए, भावतत्व क प्रति अपनी अप्रीति क घेरे म नवीन अभिव्यक्ति का दाखिल करके उस अभिव्यक्ति पर अप्रेषणीयता का दोषारोपण करती है। हमारी शिकायत इस तथ्य स है। और यह तथ्य आजकल क तथाकथित ऊँच आलोचको से लगाकर तो साधारण साहित्यिक मण्डली तक म पाया जाता है।

किन्तु हमारी इस शिकायत का यह अर्थ कदापि नही कि हम नवीन कवियो क अनगढपन और चमत्कारवाद का समर्थन करत है। असलियत यह है कि अनगढपन और चमत्कारवाद कवि क व्यक्तित्व क स्तर का प्रश्न उठाता है। और इस प्रश्न के उत्तर क बिना सारा काव्य विवेचन भटैती या लठैती है।

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। आलोचक की आलोचना के लिए भी आलोच्य आलोचक के व्यक्तित्व क स्तर का प्रश्न उतना ही महत्त्वपूर्ण है। असल बात यह है कि व्यक्ति अनुभवकर्त्ता है। कर्त्ता, कर्म और क्रिया की लडी म कर्त्ता का स्थान कर्म और क्रिया की बराबरी का है। इसलिए, कर्म और क्रिया के द्वारा कर्त्ता का भेद भल ही हम जान ल, भेद है वह कर्त्ता का ही, जिसके सम्बन्ध स कर्त्ता कर्त्ता है और कर्म कर्म। सामाजिक सत्यासत्य, तथ्यातथ्य स्वय कर्त्ता म घुलेमिले रहत है बहुत बार उसके अनजान ही। किन्तु जब कर्त्ता चेतन होकर अपनी चेतना की तत्त्व मूल्य-रचना के अनुसार, सामाजिक सत्यासत्यो और तथ्यातथ्यो का सवेदनात्मक धरातल पर विचार भावनात्मक निरूपण-विश्लेषण और चित्रण करन लगता है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उसकी चेतना की तत्त्व मूल्य-रचना रूप-रचना का स्तर क्या है। अनगढपन और चमत्कारवाद को सौन्दर्य सिद्धान्त' का जब जामा पहनाया जाये तो व्यक्तित्व और चेतना का प्रश्न उठाना जरूरी भी होता है।

यह प्रश्न उठाना स्वय एक कत्तव्य है—एक महत्त्वपूण कर्त्तव्य इसलिए कि अनगढपन और चमत्कारवाद को हम केवल अनुभवहीनता और मोह के सिर पर ही नही मढ सकत, इसलिए कि अनुभवहीनता और मोह को हम केवल अपरिपक्व व्यक्तित्व का पर्याय नही मानना चाहत।

जब हम लेखक क या आलोचक क व्यक्तित्व को अपरिपक्व कहत हैं, तो साधारणत हम सम्भावित पक्वता' की सामान्य कल्पना से ही उस अपरिपक्व कहते हैं। यानी दूसर शब्दो म, उसके व्यक्तित्व के तत्त्वो की अपरिपक्वता की हमे शिकायत हो सकती है न कि उसके व्यक्तित्व के अन्तर्भूत तत्त्वो के विरुद्ध ही शिकायत।

जरा इस बात को ध्यान से सोच। हम बहुत बार कह उठते हैं कि फलाँ

आलोचक कविता का मर्म नही समझता, या अमुक आलोचक या अधिकारी लेखक इस प्रकार के काव्य का मर्म नही समझता। दूसरे शब्दो मे, अमुक जी रीतिकालीन काव्य तो समझ लेते थे, लेकिन छायावादी काव्य को न वे समझते थे, न वे उस काव्य-शैली के मित्र थे। यही बात यहाँ तक बढ जाती है कि अमुक आलोचक जी पन्त के अच्छे मर्मज्ञ हैं, किन्तु निराला के सम्बन्ध मे उनका विश्लेषण न केवल असगत है, वरन् अनुचित है।

मैंने साहित्यिको के बीच जो थोडा सत्सग किया है तो यही पाया है कि एक आलोचक, जो एक कवि के या साहित्यकार के सम्बन्ध म मार्मिक निरूपण करता है, वही उसी श्रेणी के और उसी शैली के दूसरे कवि या लेखक के सम्बन्ध मे न्याय नही कर पाता, ऐसा न्याय जिसकी कि उस आलोचक की अधिकारी मति से हमें आशा करनी चाहिए, या हम आशा करते है।

इसे आलोचक का पूर्वाग्रह या अभिरुचि-दोष भी कहा जा सकता है। किन्तु, यह तो केवल बात टाल देना हुआ। असलियत मे, आपको उस आलोचक के पूर्वाग्रह और अभिरुचि-दोष की व्याख्या करनी होगी, उसके कारणो को प्रस्तुत करना होगा, उसकी आन्तरिक भाव-रचना तथा प्रभाव-व्यवस्था का विश्लेषण करना होगा। मतलब यह कि जिसे हम पूर्वाग्रह या अभिरुचि-दोष कहते है, उसके पीछे बहुत बार प्रवृत्तिगत वैषम्य, जडता अथवा कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ—जो एक प्रकार के जीवन-तथ्यो को समझ सकती हैं, किन्तु दूसरे प्रकार के जीवन-तथ्यो का मर्म समझने से इनकार कर देती हैं—आलोचकों मे रहती है। फल यह होता है कि विद्यापति के उत्तान शृगार के गीतों को प्राइवेटली गुनगुनाते रहने के बावजूद आलोचना के क्षेत्र मे कतिपय आलोचक शुद्धतावादी का स्वाग करते रहते है। आलोचना मे स्वाँग खूब चलता है। 'स्वाँग' शब्द शायद ठीक नही। होना चाहिए शब्द 'नाट्य'। आलोचना के क्षेत्र म जो तात्त्विक नाट्य है, उसकी यथार्थता हमे तब समझ मे आती है, जब हम व्यक्तिश: उस आलोचक की वृत्तियो को जाने।

मिलने पर बहुत-से आलोचक बहुत बाते करते है—बहुत आवेग से, उत्साह से। वे बातें जो उनके हृदय से निकली होती है, उनके आलोचनागत मन्तव्यो से बहुत दूर जा पडती हैं, कभी-कभी वे उन बातो के विरुद्ध भी पायी जाती हैं, बहुत बार, व उनके मन्तव्यो से अधिक मार्मिक, अधिक दृष्टि-मय और अधिक यथार्थ भी होती है। इसलिए कि बात करते समय वह आलोचक 'नाट्य' नही कर रहा है, वरन् अपने व्यक्तित्व के अनेक पहलुओ का सहज उद्घाटन करता जा रहा है लेकिन जब वह लेखनी चलाने लगता है, तब वह आलोचक का मुकुट पहनकर सत्य का राजदण्ड स्वीकार कर, भाषण देने लगता है—पिटी-पिटाई, घिसी-घिसाई शब्दावली मे, ऐसी शब्दावली म और ऐसे नाटकीय स्वर मे जो उसने याद करके रखे हैं। किसी आलोचक का रोल राजा का है तो अन्य का रोल न्यायाधीश का तीसरे का रोल प्रहरी का है तो चौथे का नर्तकी का, पाँचवें का ऋषि का तो छठे का विद्वान महर्षि का, सातवें का क्रान्तिकारी का तो आठवें का जगद्गुरु का, नवें का वैज्ञानिक प्रयोगशास्त्री का तो दसवें का राष्ट्र-निर्माता का, ग्यारहवें का सास्कृतिक भद्र सज्जन का, इत्यादि-इत्यादि।

कहने का साराश यह कि जिसे आप एटिट्यूडिनाइजिंग कहते हैं, वह आलोचना के क्षेत्र मे बहुत हद तक सक्रिय देखी जाती है। यह एटिट्यूडिनाइजिंग आपको तब

समझ मे आती है जब आप आलोचक द्वारा किये गये आलोचन मे प्रतिबिम्बित आलोचक के व्यक्तित्व से उसके सहज व्यक्तित्व का मिलान करें। सहज व्यक्तित्व भी कहाँ तक सगत है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

चमत्कारवाद और अनगढपन के अनेक कारणो मे से एटिट्यूडिनाइज़िंग एक बहुत बडा कारण है। आलोचको मे इसका विकास खूब है। शब्दमोह, बनावटी अभिरुचि, आदि का कारण बाहरी सामाजिक सस्कार या प्रभाव अथवा स्वय के हीन-भाव की पूर्ति, लक्ष्यो और आदर्शों की आड मे स्वय के भडकीले प्रदर्शन की भावना, आदि-आदि है।

यदि इस प्रकार की कुछ बातें वैचारिक जगत् मे आलोचको मे खूब पायी जाती हों, तो इसमे क्या आश्चर्य यदि वे कवियो मे पायी जाती हों? चमत्कार के प्रति कवियो का आग्रह कुछ तो काव्य की आन्तरिक आवश्यकताओ से उत्पन्न होता है, और कुछ व्यर्थ के एटिट्यूडिनाइज़िंग के कारण। नतीजा यह है कि चमत्कारवाद और अनगढ़पन के अनेक महत्त्वपूर्ण कारणो मे से एक प्रच्छन्न कारण एटिट्यूडिनाइज़िंग है।

आश्चर्य की बात है कि जो कवि कला मे एकदम भेरी या ढोल के निनाद-सरीखी ऊर्जस्वल क्रान्तिवाणी गुंजाता रहता है, वही कवि ठीक व्यावहारिक जीवन म (और आन्तरिक जीवन मे भी), सामान्य जनो की जो नैतिक मानवीय इयत्ताएँ हैं उससे भी गिरा हुआ बहुत बार पाया जाता है। क्रान्तिवाणी गुंजानेवाले अन्य कवियो मे इतना साहस भी नही होता कि वह ऐसे कवि को स्थान च्युत करे। राजनैतिक क्षेत्र के हिसाब से ही देखें तो यह पाया जायेगा कि ऐसे बहुत कम क्रान्तिकारी कवि है, जिनके जीवन म वे राजनैतिक सिद्धान्त बरते जाते हो। पूछा जायेगा कि यह तो व्यक्तिगत बात हुई, और साहित्य मे इसकी कोई जरूरत नही। लेकिन असल बात यह है कि काव्य और व्यक्तित्व का सम्बन्ध आपको कही-न कहीं जोडना होगा। यह नही हो सकता कि आप एक ओर सामान्य मानवीयता का त्याग करते चलें और दूसरी ओर काव्य मे मानवीय बनें।

यह सही है कि प्रश्न उलझा हुआ है, लेकिन यह भी सही है कि यदि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है तो उसम यह भी जोडना पडेगा कि कभी-कभी साहित्य जीवन के स्वाँग का प्रतिबिम्ब होता है। नहा तो कोई कारण नही है कि प्रसूत साहित्य और प्रसवित मनुष्य मे जो व्यवधान पाया जाता है, वह सारा-का सारा अचेतन रहता है। जानते-बूझते जब कमज़ोरियो का (मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख से) पालन किया जाता है, जितनी इण्टेंसिटी कविताओं मे प्रकट की जाती है उसका शताश भी जब जीवन मे नही होता, तब उसे क्या कहा जाये? यही कहा जा सकता है कि वह सूक्ष्म शैली का एटिट्यूडिनाइज़िंग है, अथवा स्थूल शैली का नाट्य है।

चमत्कार की एक सगठित वृत्ति इसी मूलाधार से प्रकट होती है। हमारे कवि (जिनमे मैं स्वय भी दाखिल हूँ) यह टटोलें कि काव्य मे प्रकट भावनाएँ कहाँ तक उनके जीवन की सही-सही अभिव्यक्ति हैं। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति की तो बात ही दूर रही, अधिक चमत्कारवादी कवियो मे कण्टेण्ट की कमी, मूलबद्ध हीन-भाव की परिपूर्ति के रूप म, रग-बिरगेपन की सृष्टि, जीवन-अनुभव की क्षीणता, तथा आत्म-ग्रस्त अहबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न अराजक भावनाओ की

तीव्रता रहती है।

काव्य में प्रकट उनके व्यक्तित्व में मानवीयता का स्पर्श अल्प होता है। उसमें किसी ऐसे भव्य रूप के दर्शन भी नहीं होते जो हमारे सामान्य-जनों की भव्य मानवीयता में हमें दिखायी देते हैं। आध्यात्मिक छुटपुंजियापन आज की कविता का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।...

[अपूर्ण। रचनाकाल 5 नवम्बर 1954]

# करुणा और यथार्थ

रस सृष्टि पर बात होने लगी। यद्यपि वे सज्जन पूरी अंग्रेजियत का खाका हैं (लम्बा-चौड़ा कद, पतले होंठ, और बुद्धिमान मस्तक), किन्तु रसवादी हैं, वर्तमान हिन्दी-साहित्य के गहरे विश्लेषक हैं—उनके हाव-भाव, सम्मान-प्रतिष्ठा और चेहरे पर क्रीम और मलाई की रौनक से ऐसा ही मालूम होता है। उन्होंने छायावाद के गुण गाये। मैंने कहा कि अपनी जगह सबकुछ ठीक हो सकता है, किन्तु *जिसे छायावाद करुणा और आँसू कहता है, वह मन को गीला नहीं करता।* बुद्धिमान थे और छायावाद में डूबे हुए थे, इसीलिए उन्होंने कहा कि वह आँसू का चित्रण है। आँसू का प्रभाव नहीं है। मैंने कहा, वह पैथॉस (करुणा) नहीं है, और चाहे जो कुछ हो।

बात में रंग आ रहा था। करुणा या पैथॉस, जीवन-प्रसंगों की ऐसी विशेषताओं से होती है जो हमारा दिल पिघला देती है और आँसू आ जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के साकेत की कैकेयी, अष्टम सर्ग में आँसू ला देती है। *यशोधरा* भी बार-बार हमारा हृदय और गीला कर देती है। यही नहीं, सियारामशरण गुप्त के 'एक फूल दो लाकर' (शीर्षक ठीक-ठीक याद नहीं) कविता आँखों को सचमुच गीली कर देती है। यहाँ तक कि सुभद्राकुमारी चौहान की कुछ कविताएँ भी इसी कोटि की हैं।

किन्तु, साधारणतः, हिन्दी में *आँसू की नाजुकखयाली है, न कि वास्तविक* करुणा। फिर भी महत्त्व की दृष्टि से यह नाजुकखयाली ही ज्यादा पसन्द की गयी, और आज भी पसन्दगी के खयाल से उसी का बोलबाला है।

उन्होंने मुझसे सहमत होते हुए कहा कि 'एक फूल दो लाकर' हरिजन-कथा है। *उसमें भव्यता का अभाव है।* शायद इसीलिए वास्तविक करुणोत्पादक कविता नहीं लिखी जाती—क्योंकि वह ज्यादा यथार्थवादी हो जाती है। *यथार्थ के चित्रण* से भव्यता में कुछ कमी तो अवश्य हो जाती है, उन्होंने टिप्पणी की।

बात उनकी सही न हो, पर माकूल थी। कोई शक नहीं कि करुणोत्पादक यथार्थ मुख्यतः हमें दिखायी देता है, वह रम्यता और भव्यता के हमारे सेन्स के आड़े आता है। लेकिन इसका कारण ओछी दृष्टि है। वैसे कोई जरूरी नहीं है कि

समझ मे आती है जब आप आलोचक द्वारा किये गये आलोचन मे प्रतिबिम्बित आलोचक के व्यक्तित्व से उसके सहज व्यक्तित्व का मिलान करें। सहज व्यक्तित्व भी कहाँ तक सगत है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

चमत्कारवाद और अनगढ़पन के अनेक कारणो मे से एटिट्यूडिनाइजिंग एक बहुत बडा कारण है। आलोचको मे इसका विकास खूब है। शब्दमोह, बनावटी अभिरुचि, आदि का कारण बाहरी सामाजिक सस्कार या प्रभाव अथवा स्वय के हीन-भाव की पूर्ति, लक्ष्यो और आदर्शों की आड मे स्वय के भडकीले प्रदर्शन की भावना, आदि-आदि है।

*यदि इस प्रकार की कुछ बातें वैचारिक जगत् मे आलोचको मे खूब पायी* जाती हो, तो इसमे क्या आश्चर्य यदि वे कवियो मे पायी जाती हो? चमत्कार के प्रति कवियो का आग्रह कुछ तो काव्य की आन्तरिक आवश्यकताओ से उत्पन्न होता है, और कुछ व्यर्थ के एटिट्यूडिनाइजिंग के कारण। नतीजा यह है कि चमत्कारवाद और अनगढपन के अनेक महत्त्वपूर्ण कारणो मे से एक प्रच्छन्न कारण एटिट्यूडिनाइज़िंग है।

आश्चर्य की बात है कि जो कवि कला मे एकदम भेरी या ढोल के निनाद-सरीखी ऊर्जस्वल क्रान्तिवाणी गुँजाता रहता है, वही कवि ठीक व्यावहारिक जीवन मे (और आन्तरिक जीवन मे भी), सामान्य जनो की जो नैतिक मानवीय इयत्ताएँ है उससे भी गिरा हुआ बहुत बार पाया जाता है। क्रान्तिवाणी गुँजानेवाले अन्य *कवियो मे इतना साहस भी नही होता कि वह ऐसे कवि को स्थान-च्युत करें।* राजनैतिक क्षेत्र के हिसाब से ही देखें तो यह पाया जायेगा कि ऐसे बहुत कम क्रान्तिकारी कवि हैं, जिनके जीवन मे वे राजनैतिक सिद्धान्त बरते जाते हो। पूछा जायेगा कि यह तो व्यक्तिगत बात हुई, और साहित्य मे इसकी कोई ज़रूरत नही। लेकिन असल बात यह है कि काव्य और व्यक्तित्व का सम्बन्ध आपको कही-न कही जोडना होगा। यह नही हो सकता कि आप एक ओर सामान्य मानवीयता का त्याग करते चलें और दूसरी ओर काव्य मे मानवीय बनें।

यह सही है कि प्रश्न उलझा हुआ है, लेकिन यह भी सही है कि यदि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है तो उसमे यह भी जोडना पडेगा कि कभी-कभी साहित्य जीवन के स्वाँग का प्रतिबिम्ब होता है। नहा तो कोई कारण नही है कि प्रसूत साहित्य और प्रसवित मनुष्य मे जो व्यवधान पाया जाता है, वह सारा-का-सारा अचेतन रहता है। जानते-बूझते जब कमजोरियो का (मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख से) पालन किया जाता है, जितनी इण्टेंसिटी कविताओ मे प्रकट की जाती है उसका शताश भी जब जीवन मे नही होता, तब उसे क्या कहा जाये? यही कहा जा सकता है कि वह सूक्ष्म शैली का एटिट्यूडिनाइजिंग है, अथवा स्थूल शैली का नाट्य है।

चमत्कार की एक सगठित वृत्ति इसी मूलाधार से प्रकट होती है। हमारे कवि (जिनमे मैं स्वय भी दाखिल हूँ) यह टटोलें कि काव्य मे प्रकट भावनाएँ कहाँ तक उनके जीवन की सही-सही अभिव्यक्ति हैं। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति की तो बात ही दूर रही, अधिक चमत्कारवादी कवियो मे कण्टेण्ट की कमी, मूलबद्ध हीन-भाव की परिपूर्ति के रूप मे, रग-बिरगेपन की सृष्टि, जीवन-अनुभव की क्षीणता, तथा आत्म-ग्रस्त अहबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न अराजक भावनाओ की

तीव्रता रहती है।

काव्य मे प्रकट उनके व्यक्तित्व मे मानवीयता का स्पर्श अल्प होता है। उसमे किसी ऐसे भव्य रूप के दर्शन भी नही होते जो हमारे सामान्य-जनो की भव्य मानवीयता मे हमे दिखायी देते हैं। आध्यात्मिक टुटपूंजियापन आज की कविता का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।...

[अपूर्ण। रचनाकाल 5 नवम्बर 1954]

# करुणा और यथार्थ

रस-सृष्टि पर बात होने लगी। यद्यपि वे सज्जन पूरी अंग्रेजियत का खाका हैं (लम्बा-चौडा कद, पतले होठ, और बुद्धिमान मस्तक), किन्तु रसवादी है, वर्तमान हिन्दी-साहित्य के गहरे विश्लेपक है—उनके हाव-भाव, सम्मान-प्रतिष्ठा और चेहरे पर क्रीम और मलाई की रौनक से ऐसा ही मालूम होता है। उन्होंने छायावाद के गुण गाये। मैंने कहा कि अपनी जगह सबकुछ ठीक हो सकता है, किन्तु जिसे छायावाद करुणा और आँसू कहता है, वह मन को गीला नही करता। बुद्धिमान थे और छायावाद मे डूबे हुए थे, इसीलिए उन्होंने कहा कि वह आँसू का चित्रण है। आँसू का प्रभाव नही है। मैंने कहा, वह पैथॉस (करुणा) नही है, और चाहे जो कुछ हो।

बात मे रग आ रहा था। करुणा या पैथॉस, जीवन-प्रसगो की ऐसी विशेषताओ से होती है जो हमारा दिल पिघला देती है और आँसू आ जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के साकेत की कैकेयी, अष्टम सर्ग मे आँसू ला देती है। यशोधरा भी बार-बार हमारा हृदय और गीला कर देती है। यही नही, सियारामशरण गुप्त के 'एक फूल दो लाकर' (शीर्षक ठीक-ठीक याद नहीं) कविता आँखो को सचमुच गीली कर देती है। यहाँ तक कि सुभद्राकुमारी चौहान की कुछ कविताएँ भी इसी कोटि की हैं।

किन्तु, साधारणत., हिन्दी मे आँसू की नाजुकखयाली है, न कि वास्तविक करुणा। फिर भी महत्त्व की दृष्टि से यह नाजुकखयाली ही ज्यादा पसन्द की गयी, और आज भी पसन्दगी के खयाल से उसी का बोलबाला है।

उन्होंने मुझसे सहमत होते हुए कहा कि 'एक फूल दो लाकर' हरिजन-कथा है। उसमे भव्यता का अभाव है। शायद इसीलिए वास्तविक करुणोत्पादक कविता नही लिखी जाती—क्योंकि वह ज्यादा यथार्थवादी हो जाती है। यथार्थ के चित्रण से भव्यता मे कुछ कमी तो अवश्य हो जाती है, उन्होंने टिप्पणी की।

बात उनकी सही न हो, पर माकूल थी। कोई शक नही कि करुणोत्पादक यथार्थ मुख्यत हमे दिखायी देता है, वह रम्यता और भव्यता के हमारे सेन्स के आडे आता है। लेकिन इसका कारण ओछी दृष्टि है। वैसे कोई जरूरी नहीं है कि

करुणोत्पादक यथार्थ की सर्वसामान्य साधारणता मे असाधारणता देखी जा सकती है और उसकी असाधारणता को महत्त्व दिया जा सकता है। मैंने कहा कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही यह मान लिया जाये कि करुणोत्पादक कविता नाजुक-खयाली से उच्चतर है, लेकिन हमने अपने मन मे अच्छाई का एक ढाँचा बनाकर रखा है। जो उस ढाँचे म फिट नही होता, वह अच्छा नही है। हम अपने इस चौखटे को बहुत बचाये-बचाये रखते है। ऐसा न हो कि उसमे कोई टूट-फूट हो जाये। इसीलिए बहुत बार हम नयी प्रवृत्तियो से युद्ध भी करते हैं।

उन्होने देखा कि मै उन पर चोट कर रहा हूँ, इसलिए सज्जनतावश चुप हो गये। पता नही कहाँ तक वे मुझसे सहमत है।

हम एक अजीज दोस्त के साथ होटल मे बैठे हुए थे। दोस्त का मन उडा-उडा फिर रहा था। बातचीत का झरना सूख गया था। चुप्पी डरावनी मालूम हो रही थी। मेरा भी मन नही लग रहा था। कुछ नही सूझा तो नीचे पडा हुआ एक कागज उठा लिया। कागज उठाते देख होटल-मालिक ने कहा—बाबूजी, कुछ नही, सेवचिवडा बाँधने का कागज है।

कागज नही, वह कागज का टुकडा था, जिस पर नीली स्याही से कुछ लिखा हुआ था। मैं गौर से पढने लगा। अक्षर बेतुके थे, ऐसे बेतुके जो पेशेवर सभामची नेता के या अनपढ कार्यकर्ता के हो सकते हैं। लगता था कि वह भाषण है। उसमे उपदेश दिये जा रहे थे। "राष्ट्र के निर्माण के लिए नवयुवको को तैयार रहना चाहिए," "समाज के पुनर्निर्माण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकारी प्रयत्नो से सहयोग कीजिये," आदि-आदि।

मैं सोचने लगा कि य शब्द अपने-आपमे अर्थवान होते हुए कितने निरर्थक है। उन्हे पढकर या सुनकर हमारे नवयुवक को ऐसा नही मालूम होता जैसे उसकी जिन्दगी की बात की जा रही हो। समाज, जनता, राष्ट्र, उसके परे, उसके ऊपर और उससे दूर कोई चीज है जिसे उसे प्राप्त करना है। ये दूरी इन शब्दो को निरर्थक बना देती है। ये जितने ज्यादा पीटे जाते हैं उतने ज्यादा बजते है, बोलते नही! यही कारण है कि बेरोजगारी और गरीबी के दाँत के नीचे पिसनेवाले युवक इन शब्दो को सुन लेते है और 'उँह!' करके लौट जाते हैं। यह बात अलग है कि कभी-कभी रचनात्मक कार्य मे साफ-सफाई कार्यक्रम के अन्तर्गत जैसे सफेदपोश कामकाजी लोग हाथ मे झाडू लेकर नुमाइशी काम करते हैं, वैसे कभी-कभी बजते हुए ढोल पर एक अपनी भी थाप ये लोग जड दे।

[नया खून, 16 दिसम्बर 1955 मे प्रकाशित]

# कल्चरल फ्रीडम

समाचार पढने को मिला कि बम्बई मे हाल ही मे कल्चरल फ्रीडम काग्रेस की एक बैठक हुई, जिसमे यह प्रस्ताव पास किया गया कि बुलगानिन-ख्रुश्चेव आगमन पर बालकों ने रूसी अतिथियों का जो स्वागत किया, वह उनका, यानी उन बालकों का, राजनैतिक शोषण था। इस शोषण की निन्दा करते हुए, कल्चरल फ्रीडम काग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया वह उस काग्रेस की कल्चर का प्रतीक है।

यह बडा अजीब 'कल्चर' है। कल्चरल फ्रीडम काग्रेस उस कल्चर का प्रतिनिधित्व करती है जो विशुद्ध अमरीकी है। अतिथियों का सम्मान भारतीय सस्कृति का एक अग रहा है। माता-पिता या पालक जब अपने बच्चो द्वारा स्वागत करवाते हैं तो इन्ही सास्कृतिक सस्कारो से प्रेरित होकर। जिन बालकों ने बुलगानिन-ख्रुश्चेव का स्वागत किया, वस्तुत वे बालक अपने माता-पिताओ के हृदय और शिक्षा-सस्थाओ की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दूसरे शब्दो मे, कल्चरल फ्रीडम काग्रेस का यह सुविचारित मत है कि वे माता-पिता और शिक्षा-सस्थाएँ ही अपने बालकों का राजनैतिक शोषण कर रही थी। यानी कल्चरल फ्रीडम काग्रेस की भविष्य-भेदी गृद्ध-दृष्टि यह कह रही है कि क्या पता, शायद आगे चलकर, ये बालक बुलगानिन-ख्रुश्चेव के शत्रु निकलें। ऐसी स्थिति मे, उनके द्वारा स्वागत करवाकर उनकी सास्कृतिक, राजनैतिक स्वाधीनता नष्ट की गयी। इस तथाकथित काग्रेस का यह खयाल बहुत ऊँचा है। ऊँचा इसलिए है कि भारतीय बालकों की दुर्दशा की ओर उसका ध्यान नही गया। शिक्षा की महँगाई के कारण उन्हे पूरी तालीम नही मिल पाती, या आर्थिक अभाव के फलस्वरूप शिक्षा न मिलने के कारण, वे सास्कृतिक दृष्टि से पिछडे हुए रहते है, इस बात की ओर उनका ध्यान नही गया। उनका इस तथ्य की ओर भी ध्यान नही गया कि हजारो बालक होटलो मे, कारखानो मे काम करते फिरते है और उनका आर्थिक उत्पीडन होता रहता है। उस उत्पीडन के विरुद्ध इस काग्रेस ने दो शब्द भी खर्च नही किये।

कल्चरल फ्रीडम के कर्त्ता-धर्त्ता अशोक मेहता तथा हिन्दी के कुछ स्वनामधन्य साहित्यिक यह भूल जाते हैं कि जिस देश मे वे रहते है उसका नाम भारत है। और आज तक बगैर कल्चरल फ्रीडम काग्रेस के अस्तित्व के भी इस देश मे सास्कृतिक स्वाधीनता रही है। हाँ, अगर ये बालक शिक्षा-सस्था तथा माता-पिता से विद्रोह करते और उनको दबाया जाता, तो शायद इस तथाकथित काग्रेस का यह कहना समझ मे आ सकता था कि उनका राजनैतिक शोषण हुआ है।

भारत मे रूस तथा चीन के प्रति जो सहानुभूति बढ रही है, और ब्रिटेन तथा अमरीका के प्रति जो हमदर्दी घट रही है—उसे देखकर इस काग्रेस के छक्के छूट जाते है। उसके अनुसार कल्चर की वह व्याख्या सही है जो लन्दन और वाशिंगटन मे होती है। हमारा यह खयाल झूठ है, यह सोचने को विवश करनेवाली एक भी बात उन्होने नही की है। अमरीका की गन्दी फ़िल्मे जो भारत मे बतायी जाती

मुझ उनकी बात से वडी खुशी हुई। आखिर, आत्म-स्वीकरण तो उन्होंने किया! अगर मैं भी इतना आत्म स्वीकरण कर पाता, तो मैं मन से वडा होता। फिर भी मेरे मन म एक काँटा चुभ रहा था। मैंने कहा—श्रीमानजी, वाद के घेरे से उठने का तात्पर्य मानवता की सेवा आपने लिया। लेकिन यह मानवता कौन-सी है! असल म मेरे नजदीक तो कई मानवताएँ हैं, एक मानवता नही। जब गोलियों से आये दिन आदमी भून जाते हैं तब किस मानवता की सेवा आप करना चाहते है? सरकार और पुलिस की मानवता की या गोली से भूने जानेवाली मानवता की?

साहित्यिक महोदय ने चिढकर कहा—यह राजनैतिक प्रश्न है साहित्यिक नही।

मैंने कहा—अच्छा सलाम! कभी भी जिसकी व्याख्या न की गयी हो ऐसी निराकार अमूर्त मानवता आपको सबसे प्यारी है! मानवता की यह निराकारिता सबसे भली है! नमस्ते!

[नया खून म सम्भावित प्रकाशन तिथि दिसम्बर 1955]

# घृणा की ईमानदारी

बटनहोल म प्रतिनिधि पुष्प लगाये एक प्रोफेसर साहित्यिक से रास्ते चलते मुलाकात होने पर पता चला कि हिन्दी का हर प्रोफेसर साहित्यिक होता है। अपने इस अनुसन्धान पर मैं मन-ही मन वडा खुश हुआ।

खुश होने का पहला कारण था अध्यापक महोदय का पेशेवर सैद्धान्तिक आत्म विश्वास। ऐसा आत्मविश्वास महान् बुद्धिमानो का तेजस्वी लक्षण है या महान् मूर्खों का देदीप्यमान प्रतीक! मैं यह निश्चय नही कर सका कि ये सज्जन बुद्धिमान हैं या मूर्ख! अनुमान है कि वे बुद्धिमान तो नही धूर्त और मूर्ख दोनो एक साथ है। किन्तु यह अनुमान ही है जो गलत भी हो सकता है।

चेहरे नकाब होते हैं। वे हृदय के आईने भी होते हैं। ये दोनो बातें मुझ किताबो मे पढने को मिली है। बातें अच्छी हैं लेकिन सब जगह सही नही क्योंकि इन सज्जन का चेहरा ही साहित्यिक था। झलकता था कि प्रस्तुत मुख अप्रस्तुत की उपमा है!

प्रोफेसर महोदय परिषद की समाप्ति के बाद नगर के प्रतिष्ठित साहित्यिकों से भेंट करने के दौरे पर निकले हुए थ। मिलने मिलाने क इस कार्यक्रम म रास्ते चलते जब मुझसे मुलाकात हुई तो उन्होंने अपना पूरा हाल कह डाला। पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र न श्री अनन्तगोपाल शेवडे ने पण्डित रविशकर शुक्ल ने, श्री उदयशकर भट्ट न उनसे क्या-क्या कहा! और अन्त मे श्री विनयमोहन शर्मा न उनके सामने क्या-क्या प्रस्ताव रखे! अपना आदर्शवाद बताने के लिए उन्होंने लगे-

हाथों कर्यों की निन्दा कर डाली। उन्होंने कहा—साले, बहुत बदमाश हैं। 'रविशंकर शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ' मे मुझसे लिखने को नही कहा। और उस उदयशंकर भट्ट के बच्चे ने उसके पृष्ठ पर समर्पण की कविता लिख डाली। जी हाँ, वह कविता उसी की लिखी हुई है, उसमे इतना भी नैतिक साहस नही था कि उस कविता पर अपना नाम देता।

और वे मेरी तरफ आहत भाव से देखने लगे। उनके चेहरे पर आदर्शवादी पेशेवर सैद्धान्तिक आत्मविश्वास जगमगाने लगा। उससे भयभीत होकर मैंने आँखें नीची कर ली और कहा—किन्तु आप किस आधार पर यह कह रहे हैं?

मेरी सरासर बेवक़ूफ़ी पर हँसकर उन्होंने कहा—आजकल हिन्दी मे गुटबन्दी है, गुटबन्दी! आप जानते क्या हैं!

मेरे मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला—तो आप साहित्यिक के अलावा भेदिये भी हैं।

मेरी तरफ़ देखकर वे हँसने लगे। उनका हास्य सिर्फ़ विद्रूप था।

मुझे भीतर से ग्लानि का अनुभव हुआ। उन्होंने जो बातें कहीं, वे शायद सच भी हो सकती हैं। मान लीजिए, सच भी हैं। किन्तु सत्य का उद्घाटन किस भाव से किया जा रहा है, यह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सत्य स्वय। सत्य के मुख्यत: दो पक्ष हैं—एक, वास्तव-पक्ष, दूसरा, मूल्य-पक्ष। सत्य स्वय एक मूल्य है, यानी कि उसका सम्बन्ध मनुष्य के गुणो से है—ऐसे गुणो से जो मानव-विकास मे सहायक होते हो। उसका सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से है। अतएव सत्य के उद्घाटन मे दो बातें उद्घाटित होती है। एक उद्घाटित होनेवाला सत्य और दूसरा उसके साथ ही उद्घाटित होनेवाला मानव (जो कहने को सत्य का उद्घाटन करनेवाला है, किन्तु उसके साथ ही स्वय भी उद्घाटित हो रहा है)।

सत्य और मानव के इस अगागि-भाव पर विचार करना केवल दार्शनिको का काम नही, हम सडकछाप राहगीरों का भी काम है।

अन्यथा भाव से दूसरो की निन्दा करना हमारे जनतन्त्र के अन्तर्गत है। जनतन्त्र है ही इसलिए कि उसकी करोडो आँखें, दुनिया मे क्या चल रहा है यह देखें। अन्यथा भाव से निन्दा और शुद्ध आवेश से आलोचना के बीच की रेखा बडी पतली है। यह नही कहा जा सकता कि इस सम्बन्ध मे मैं ही सही हो सकता हूँ। मेरे सहीपन की मर्यादा है, एक सीमा के भीतर ही वह सच हो सकती है। (इसीलिए दूसरो की दृष्टि के प्रति हृदय की नम्रता अत्यन्त आवश्यक है।

यह सब मानते हुए भी प्राफेसर-साहित्यिक के प्रति मैं नम्र न हो सका। मन विद्रोह कर उठा। कारण यह था कि वे अपनी घृणा के प्रति भी सच्चे नही हैं। यदि उन्हे वस्तुत किसी अनैतिक कार्य के प्रतिनिधि व्यक्ति के प्रति इतनी घृणा है तो वे उससे मिलने क्यो जाते हैं, और उससे मिलकर अपने को महत्त्वपूर्ण क्यो समझते हैं? आजकल प्रेम के प्रति सच्चे होने म इतनी तपश्चर्या नही लगती जितनी घृणा के प्रति सच्चे होने म। कम-से-कम इतना तो सही है ही कि घृणा के लिए भी बडा त्याग करना पडता है। छोटे-मोटे फायदों और लोगो की कुरबानी तो उसका प्रधान अग है।

चूँकि प्रोफ़ेसर महोदय साहित्यिक हैं इसलिए शायद वे यह कुरबानी नही कर

सकते। नाम-कमाई के काम मे चुस्त होने के सबब वे उन सभी जगहो मे जायेंगे, जहाँ उन्हे फायदा हो—चाहे वह नरक ही क्यो न हो।

[नया ख़ून, 13 जनवरी 1956 मे प्रकाशित]

# क़लम की हम्माली

भारत के वडे शहरो मे जहाँ हिन्दी [अ-] [illegible]
ऐसा वर्ग है जिसे हम मजदूर
करवा लीजिए, कहानियाँ और
जासूसी, और रोमास लिखवा लीजिए या अनुवाद करवा लीजिए। ये सबके लिए तैयार हैं। इनकी उपजीविका का सहारा सम्पादक या प्रकाशक हैं। आमदनी का [illegible]

भगी से, बोलचाल से, इनमे से बहुतेरे व्यक्तित्वशाली, प्रभावशाली, किन्तु वस्तुत. अपदार्थ अकिंचन चिर-भ्रमित होते हैं। कुछ जो अधिक चतुर हैं या ज्यादा पढे-लिखे हैं, वे सरकारी साहित्यिक या प्रकाशकीय नौकरियो मे घुसकर इतिकर्त्तव्यता की एक मंजिल पार कर लेते हैं। किन्तु सभी ऐसा नही कर पाते। सभी न इतने चतुर होते हैं, न पढे-लिखे होते हैं।

बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, लखनऊ, आदि हिन्दी के महत्त्वपूर्ण छोटे-बडे केन्द्रो मे घूमने और रहने का जो मुझे अवसर प्राप्त हुआ है, उस अवसर ने मुझे इन भाइयो से मिलने का मौका भी दिया। सबमे मैंने एक बात सामान्य देखी। वह है उनकी स्वतन्त्रता की भावना। वे नौकर नही हैं। प्रत्येक अपने भीतर की आग से गरम है। बाहरी वस्तु-विन्यास की (अत्यन्त अधिक) पूर्तिहीन आवश्यकता होने के कारण ही उन्होंने भीतरी सन्यास धारण कर लिया है, चाहे, यह सन्यास अस्थायी ही क्यो न हो। निश्चय ही उनका यह रूप अत्यन्त सराहनीय है। किन्तु इस सन्यास-भावना से मेरा दम घुटता है। घुटता तो उनका भी है, किन्तु करें क्या!

इस पेशे की सबसे बडी विशेषता यह है कि अभावग्रस्त स्वतन्त्रता और सन्यास-भावना के इस योग से, हार्दिक तृषाएँ और क्षुधाएँ तो बढ जाती हैं, किन्तु उनके समाधान के उपकरण और अवसर के अभाव को साहित्य द्वारा पूर्ण किया जाता

है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि यह साहित्य हमेशा साहित्य ही हो। ऐसे लोगो द्वारा उपजे साहित्य को पढकर लगा कि वह सवेदनाओ, मनश्चित्रो का और उद्वेगो का धुआँ है, जो प्रत्येक पल पर अपने आकार बदलता है, रूप बदलता है। फलत वह कला के चौकोर फ्रेम म बँध नही पाता। मनोविद् के लिए भले ही वह आकर्षण और अन्वेषण की वस्तु हो, साधारण रसज्ञ विवेकी पाठक के लिए उसका कोई महत्त्व नही है। किन्तु यह वह साहित्य है जहाँ यह लेखक आत्मस्थ होने की कोशिश करता है। असल म उसे आत्मस्थ होने का मौका ही नही मिलता। उसे साधारणत टु-ऑर्डर ही लिखना पडता है। उसी से उसकी उपजीविका चलती है। जनतन्त्र के विस्तार और फैलाव तथा बुद्धि के साथ शब्द-तन्त्र का जो निखिलभक्षी व्यापार चला हुआ है, उस व्यापार में आत्मा नहीं है। इस अनात्म साहित्य मे सिद्धान्त, विवेक, जोशोखरोश, विश्लेषण-सश्लेषण न हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु वह सतही और आदेशानुसार होता है। लेखक केवल नट होता है। वह मात्र भेस बदलता है, नाचता है, कूदता है। हाँ, भेस बदलन की सामग्री, यानी 'मैटर', वह इकट्ठा कर लेता है। नये-पुराने मासिक-पत्रो के लेख, नये-पुरान अखबारो की कटिंग, कहानियो के 'थीम', विषय' आदि-आदि ही उसका 'मैटर' हैं। इन नटो द्वारा की गयी अनुकृतियाँ अत्यन्त साधारण कोटि की होती है। कभी-कभी उनमे कोई नयापन भी दिखायी देता है, किन्तु वहुत कम बार। (किन्तु इसकी जिम्मे-वारी उन पर नहीं हैं)। इन लोगो मे से जो व्यक्ति मेल-मिलाप म सम्पादको से ज्यादा पैसा निकालने म होशियार होता है, वह अपने भाइयो पर बहुत रौब डालता है।

इन लोगो की कोई 'ट्रेड यूनियन', कोई 'सघ' या ऐसी कोई और सस्था बनाने की कोशिश नही की गयी है, जो उन्हे मानव-गरिमा की हार्दिक-बौद्धिक आवश्यक-ताओ की पूर्ति के साधन दिला सके। शायद ये सघबद्ध न भी हो पाये। किन्तु, सघ की आवश्यकता जरूर है, जिससे कि हमारे इन भाइयो को ज्ञान के नवीनतम उपादान प्राप्त हो और वे हमारे सच्चे नेता वन सकें। असल मे वे एक ढग से हमारे नेता बनने योग्य हैं, क्योकि वर्तमान सभ्यता के घावो और फोडो से, शोषण की कलाओ से, झूठ और प्रवचना के व्यापक प्रयोगास्त्रो से, वे जितनी गहरी और पीडापूर्ण जान-पहचान रखते हैं, उतनी वे लोग नहीं जो नौकरीपेशा है। उनकी वह पीडा बृहदाकार है, भव्य और भयकर है! वस्तुत ये लेखक अपने वास्तविक जीवन मे हमारे लिए उतन ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि राष्ट्रीय उत्पादन क साधन। किन्तु इस लेखक-साधन का अब तक समुचित राष्ट्रीय उपयोग नहीं किया गया। उन्हे केवल व्यक्तिगत पूंजी और लाभ के दाँतो म पकडे जाने के लिए छोड दिया गया है।

बहुत बार मैंने यह जानने की कोशिश की कि हमारे इन भाइयो ने यही पेशा क्यो इख्तियार किया? कम-से-कम देहात की मास्टरी तो थी, जो इससे वेहतर है। (इन्हे अपने वतन की याद वहुत आया करती है, जिससे ये अब बिछुड गये हैं और बडे शहर मे आकर बस गये हैं।) इन लोगो के साथ अपने तजुर्बे से यह कहा जा सकता है कि इस पेशे को इख्तियार करने के मूल कारण दो हैं। एक, बडे शहरो मे जाकर अपनी उन्नति की जा सकती है—यह खयाल, दो, घर के पारिवारिक-सामाजिक वातावरण के प्रति विक्षोभ। इन दो बातो के कारण ये अपनी वास्तविक

भूमि से उन्मूलित हैं। इस उन्मूलितावस्था के फलस्वरूप ही इनका मन एक विशेष ढंग का हो गया है। वह उन्हें त्याग के शिखरों पर तो पहुँचाता है, किन्तु कलम की हम्माली के अनात्म लोक में भी पहुँचाता है। इस लोक में लेखक अपना स्वयं का ही सगा नहीं है, और तो और!

[नया खून, 20 जनवरी 1956 में प्रकाशित।]

# संवेदना का आदर्शीकरण

कल एक मित्र से बातचीत करने में बड़ा मज़ा आया। वे अंग्रेज़ी साहित्य के प्रेमी हैं और उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे हमारे दोस्त हैं। अंग्रेज़ी में लिखते भी हैं। उन्होंने फ्रांसीसी कविता का एक अंग्रेज़ी अनुवाद हमें सुनाया। कविता का भावार्थ यह था कि एक आधा पागल व्यक्ति अन्धकार लोक में एक मन्त्रित पहाड़ पर जाता था। पहाड़ों-पहाड़ियों में अपना व्यक्तित्व है। नाना प्रकार के पशु-पक्षी उसे देखकर मुँह चिढ़ाते हैं। वह कहता है कि मैं क्षितिज के तारे पर एक नया लोक देख रहा हूँ। सब उस व्यक्ति को पागल कहते हैं और हँसते रहते हैं। किन्तु पागल अपनी बात दुहराता है। क्षितिज का तारा भीतर से फूटता है। पहाड़ों पर गिर पड़ता है। वे चकनाचूर हो जाते हैं। वहाँ सपाट मैदान हो जाता है। मैदान में उस व्यक्ति की आँखों के सामने नये लाल सूर्य का उदय हो रहा है। कविता खतम हो जाती है।

कविता का सबसे अधिक प्राणवान और मर्मपूर्ण भाग वह है जब पहाड़ियाँ मुँडिया हिलाते हुए पागल को पागल कहकर चिढ़ाती हैं, या उल्लू, चिमगादड़ और दूसरे जंगली जानवर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। कवि ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है मानो वे हमारे समाज के रोज़मर्रा के आदमी हों। कहते हैं, कविता सुनाने ही एक फ्रांसीसी महानुभाव बौखला पड़े थे कि वह उन्हीं पर लिखी हुई है।

यहाँ से हमारी और मित्र की बहस छिड़ जाती है। मैंने कहा यह बिल्कुल ठीक है कि इस कविता से उन वर्गों या लोगों पर चोट की गयी है जो अन्याय के ऊपर न्याय की विजय, या असत्य पर सत्य की विजय, का (व्यावहारिक क्षेत्र में) उपहास करते हों। लेकिन मैंने कहा कि इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि स्वयं लेखक (व्यावहारिक क्षेत्र में) ऐसी विजय का उपहास न करता हो। रहा इस कविता के लिखे जाने की स्फूर्ति का प्रश्न, तो यह स्फूर्ति बिल्कुल और निपट अहंग्रस्त भावना भी हो सकती है। यानी कि लेखक को चोट पहुँची है। व्यक्तिगत। वह चोट इतनी व्यक्तिगत है कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह चोट हमेशा अन्याय के विरुद्ध न्याय, असत्य के विरुद्ध सत्य की प्रेरणा ही है। मैंने कहा कि असल यह है कि हर लेखक अपनी प्रत्येक संवेदना का आदर्शीकरण करता है। संवेदना का आदर्शीकरण करते समय यह ज़रूरी नहीं है कि उसने संवेदित वस्तु-

स्थिति या व्यक्ति के सभी पहलुओ पर और उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित अपनी स्थिति पर ध्यान दिया हो। उदाहरण स बात स्पष्ट हो जायेगी। आपने किसी बात पर से किसी लेखक का दिल फटवा दिया। साधारण रूप से छोटी छोटी बातो पर हम लोग ध्यान नही दिया क[illegible]
हो जाती है। ऐसी गलती हमारे हाथो [illegible]
जाया करती है। अब लेखक ने क्या
प्रतीक और स्वय को सत्य और मानवता का प्रतीक बताकर एक रचना कर डाली, और इस प्रकार अपन हृदय उद्वेग को शान्त कर दिया। साधारण रूप से [illegible]

वगैरा-

एक बार मेरी बात की जो रेलगाडी चली तो वह चाय से डिरेल नही हुई, अपनी पटरी स नही गिरी। कारण स्वय मित्र थ। उन्होने खुद इस बात का उदाहरण दिया जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दॉस्तॉएव्स्की ने दि पजेस्ड नामक अपन उपन्यास मे एक उपन्यासकार केरेमजिन का चित्र खीचा है। यह केरेमजिन तुर्गनेव का छाया-रूप है। विद्वान आलोचको और स्वय दॉस्तॉएव्स्की का यह कहना रहा है। अपने को बुद्धिमान समझनेवाले अहकारी लेखक का यह चित्र है। इस प्रकार दॉस्तॉएव्स्की ने केरेमजिन की आड मे तुर्गनेव का चित्र खीचकर अपने दिल का गुबार दूर किया। गुबार दूर करते वक्त निश्चय ही दॉस्तॉएव्स्की तुर्गनेव को दम्भ और अहकार का पुतला समझता रहा, यानी, दूसरे शब्दो मे, उसने दम्भ और अहकार के एक प्रतीक का खूबसूरत चित्रण किया। यह चरित्र-चित्रण इतना मनोवैज्ञानिक और मार्मिक हुआ है कि दॉस्तॉएव्स्की की तारीफ करते बनती है।

लेकिन मजा यह है कि उसकी मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता काल्पनिक है, यानी उसकी वास्तविकता का ठोस आधार नही है यद्यपि चित्रण मे यह खूबी है कि लगातार वह ठोस ही मालूम होता है। ठोस मालूम होन का मूल कारण ही यह है कि दॉस्तॉएव्स्की को चोट पहुँची है और यह चोट लेखक की चित्रणात्मक विश्लेपण और विश्लेपणात्मक चित्रण की सहायता स काल्पनिक को मूर्तिवन्त कर सकी।

किन्तु है वह काल्पनिक ही, इसलिए कि ऐसा दम्भ और अहकार, जिसमे बुद्धि का खिलवाड हो, असामान्य है, (सामान्यत) दम्भियो म पाया भी नही जाता। इसीलिए साधारणत दॉस्तॉएव्स्की के पात्र एबनॉर्मल होते हैं, उनकी मनोवैज्ञानिकता बहुत हद तक काल्पनिक होती है चूँकि दॉस्तॉएव्स्की स्वय एबनॉर्मल है और वह हमेशा राई को पहाड करता है।

सभी महत्त्वपूर्ण आलोचकों और चरित्र-लखको और साहित्यिको का यह कहना रहा है कि तुर्गनेव म और चाहे जो दोष हो, उसमे दम्भ और अहकार नाम-मात्र को भी नही था। वह एक अत्यन्त शालीन, नम्र और कोमल हृदय व्यक्ति था। दॉस्तॉएव्स्की के चिढने का कारण यह बताया जाता है कि तुर्गनेव अन्दर के कमरे मे जब अपने एक मित्र के साथ चाय पी रहे थे, एक व्यक्ति क आने की सूचना मिली, और उसे एकदम पहचान न सकने के कारण, उसे कोई और जान

चाय मे शामिल होने के लिए आमन्त्रित नही किया। वह व्यक्ति बाहर के कमरे म बैठा रहा। वह दॉस्तॉएव्स्की था। तुर्गनेव पश्चिमी रीति-रिवाज मे पले हुए, फ्रास मे ही अक्सर रहे थे। दॉस्तॉएव्स्की रूस के किसी कस्बे का एक देहाती बुद्धिजीवी था। यही फर्क था, जो उन्हे एक-दूसरे से दूर रखे था। किन्तु इस फर्क की असलियत के असल ताने-बाने पर दॉस्तॉएव्स्की का ध्यान नही गया, उसने जगह-जगह मित्रो मे तुर्गनेव को दम्भ और अहकार के पुतले के रूप म ही घोषित किया, इसलिए कि स्वय वह अपने हीन भाव से ही पीडित रहा।

किन्तु, साथ ही, केरेमजिन का चित्रण अपूर्व है, इसमे सन्देह नही।

यहाँ से हम दो मित्रो की बहस को एक नयी दिशा मिलती है। साहित्य के कर्तव्य-पक्ष पर (जहाँ तक लेखक के व्यक्तिगत का प्रश्न है) हमारा ध्यान जाता है, जिसका निष्कर्ष ही यहाँ दिया जा सकता है। ऊँचे-से ऊँचा कलाकार भी जब असलियत को, मनुष्य के यथार्थ को, अपनी सकुचित सवेदनाओ ओछी पीडाओ और अहग्रस्त भावनाओ का आदर्शीकरण करत हुए दुनिया को देखता है, तब लेखक [के] प्रतिभाशील होने के कारण उसका चित्रण-कार्य प्रभावशाली होते हुए भी, उस प्रभाव का गुण ऐसा न होगा जो मनुष्य के हृदय को पिघलाकर उसकी आत्मा को उन्नत बनाये। दॉस्तॉएव्स्की के एक उपन्यास **दि ईडियट** को छोडकर ऐसा कोई उपन्यास नही है जिसका प्रभाव मानवीय हो, जो मनुष्य के छोटे अह का मानवीकरण करता हो। इसके विपरीत उसी के समकालीन तात्सताय को लीजिए। फर्क साफ समझ मे आ जायेगा। इसीलिए साहित्य मे साहित्य के प्रभाव का जितना महत्त्व है, उतना ही साहित्यकार के व्यक्तित्व की सतह का भी महत्त्व है।

[**नया खून**, 3 फरवरी 1956 मे प्रकाशित।]

# सड़क को लेकर एक बातचीत

इन्दौर मे मेरे घर के पडोस मे सेमल का ऐसा विशाल शतभुज वृक्ष था जिस पर हजारो कौवे बैठे रहते। सुबह आँख खुलते ही कौवो की विचित्र काँव-काँव कानो मे समा जाती। शाम को जब आसमान की लाली सँवलान लगती तो उनकी पुकार मे एक अजीब उदास तेजी आ जाती। लगता कि मन के भीतर जो बहुत-कुछ दबा है—वह सम्मिश्र, अस्पष्ट, औघड, कर्कश शब्द-स्वरो मे बाहर एकदम निकला चाहता है।

इन दिनो मेरी हालत लगभग यही है। फ़र्क इतना ही है कि मैं कुछ भिन्न बात कहना चाहता हूँ, चूँकि मैं कौवा नही हूँ। जो नही कहा गया है, वह शाम को घर लौटते वक्त दिमाग़ की दीवारो से टकरा-टकरा उठता है।

विचारों मे एक विचित्र प्रकार की उत्तेजना होती है। इस उत्तेजना को यदि

पी लिया जाय तो वह दिल को तकलीफ देती है। मैंने लिख डालने की भी बहुतेरी कोशिश की। लेकिन जिन्दा बात इतनी शीघ्रतापूर्वक अपनी शाखा प्रशाखाएँ विकसित करती जाती है उन्हें फँसाती जाती है कि मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। उसके ज़िन्दा विकास की गति के साथ साथ आकलनशील मन की गति बराबर बनाये रखना बहुत कठिन हो जाता है। यह मामूली अड़चन नहीं है।

लेकिन इतने में मेरे एक मित्र आ ही गये। उन्होंने जो कुछ मैं हूँ उससे पिण्ड छुड़ाने का काम किया।

मैंने मुसकराकर कहा बड़ा अच्छा हुआ आप आ गये। कुशल तो है?

उन्होंने जवाब दिया मेरी रचना वापस आ गयी।

मेरे माथे पर बल थे। मैंने चिन्तित होकर पूछा ऐसा क्यों?

उन्होंने कागज़ सामने रख दिया। सम्पादक महोदय ने कुछ पंक्तियाँ निकाल देने का आदेश दिया था। रचना बहुत अच्छी थी। वे खुद तारीफ कर गये थे। उन्होंने ही मांगी थी इसलिए भेज दी गयी। सम्पादक सज्जन साहित्य-कला के एक नेता भी हैं। उनकी बात में एक वज़न है। वे गम्भीर व्यक्ति हैं। कला का मर्म समझते हैं। नवयुवकों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से नहीं बरन नयी फसल की मौलिकता और सूझबूझ के कायल होने के कारण वे नयी प्रवृत्तियों में रुचि भी बहुत अधिक लेते हैं।

उनके विचार मुझे नहीं जमते। किन्तु फिर भी वे मेरे लिए और मेरे मित्र के लिए आदरणीय हैं। यदि विचारों में मेरा उनसे मतभेद हो जाता तो वह निवेदनीय बात न होती। वह स्वाभाविक ही था।

मैंने विषय बदल दिया है। मन जैसे कहीं अनावश्यक रूप से घुल रहा था।

किन्तु मेरे मित्र अजीब आदमी थे। एक अरसे से मैं यह सोच रहा था कि उन्हें डाँट दूँ। फिजूल मिलते रहने की उन्हें आदत थी। पहले-पहल मुझे भान हुआ कि ये अच्छे आये। ज़रा शग़ल रहेगा। लेकिन जब उन्होंने अपनी नयी कविता की दुर्घटना बतायी तो उन पर मैं ज्यादा क्षुब्ध हुआ। यह सही है कि वे बहुत अच्छा लिखते हैं। उनके साथ मजे यह है कि वे साहित्यिक दुनिया में रात दिन रहना चाहते हैं। मेरा स्वभाव या सिद्धान्त या प्रवृत्ति कुछ ऐसी है (मेरा खयाल है जो शायद सही भी है) कि जो व्यक्ति साहित्यिक दुनिया से जितना दूर रहेगा उसमें अच्छा साहित्यिक बनने की सम्भावना उतनी ही ज्यादा बढ़ जायगी। साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन आवश्यक है!

वे सज्जन साहित्यिक दुनिया की सब खबरें मुझे बेमाँगे दे जाया करते हैं। उनकी लम्बी चौड़ी खता कितावत है। उनके परिश्रम के प्रति सराहना का भाव भी मुझमें है क्योंकि मैं वैसा नहीं कर सकता। न मालूम कितनी ही वांछनीय और इष्ट बातें मुझसे नहीं हो पातीं!

मेरी बेरुखी का मजा लेते हुए वह मेरा यार बोला वहाँ आपकी बड़ी तारीफ हो रही थी।

मेरे मन ने उससे कहा वहाँ-कहाँ? बोलो-बोलो जल्दी कह डालो! जबान ने उससे कहा क्यों क्या बात है?

उसने गम्भीरतापूर्वक जवाब दिया नहीं आपकी वह बात बहुत पसन्द आयी।

मेरे मुँह से सिर्फ इतना निकला, "सच ?"

अपना भाव दबा डालने की मुझे आदत है। यह मेरी बौद्धिक संस्कृति है। इसकी दो विशेषताएँ है। एक, भीतर-ही-भीतर दूसरो की सूक्ष्म अवमानना करना; दूसरी, हमेशा अविश्वास लेकर चलना, सशयात्मा बने रहना। दोनो बातें बडी अच्छी हैं। वे मुझे दूसरो से अछूता छोड देती हैं, अप्रभावित, अलग और नि सग। इससे बहुत-सी सामाजिक तकलीफें बच जाती है। किन्तु इसमे एक आत्म-विरोध भी है। वह नि सगता जल्दी ही खलने लगती है। मन चाहता है कि सगी-साथी रहे। मन उनमे घुले-मिले। आदान-प्रदान हो। मस्ती रहे। नशा रहे। यह सन्यस्त जीवन किस काम का ?

अपने द्वारा तैयार की गयी यह नि सगता दुधारी तलवार है। वह स्वय पर चोट करती ह। किन्तु मजा यह है कि सब कुछ जानने-बूझने के बाद भी नि सगता भी साथ रहती और उसे दूर करने की कोशिश भी।

अब आप समझ गये होंगे कि मैं अपने इस अवाछनीय मित्र को अपने साथ क्यो हिलगन देता हूँ। लेकिन जब उसने मेरी तारीफ की घटना सुनायी तो मेरी उदासी भाग गयी। लगा कि मुझे पहचाननेवाले लोग भी मौजूद हैं।

लेकिन मेरा दोस्त परले दरजे का पापी था। उसकी बातो से पता चल गया कि वह उसकी एक खूबसूरत किंवदन्ती थी। फिर भी मैं खुश हो गया। उसे मेरी इतनी फिक्र तो है कि मुझे गम्भीर देखकर वह हँसाना चाहता है, मुँदे दरवाजे स बाहर निकालना चाहता है।

और, फिर अकस्मात्, अपने मुद्दे पर आ गया मेरा दोस्त !

उसने मुझसे पूछा, "जो कुछ आजकल चल रहा है, नयी कविता के सम्बन्ध मे, उसमे अभिरुचि का भी एक 'रोल' है। है, न ?"

वह काफी हद तक सही कह रहा था। [उसकी] कविता के बीच के स्टैंजा मे (यदि उसे स्टैंज़ा कहा जाये तो) बातें आवेश के साथ, किन्तु साफ-साफ कह दी गयी थी। उस अश के पूर्व बात रूपक मे कही गयी थी। अन्त भी एक रूपक से किया गया था। दोनो रूपक अच्छे थे। किन्तु मध्य के स्टैंजा मे भावना ने खुलकर आवेश के साथ प्रकट होना शुरू कर दिया। खुले-खुले धूप-भरे गरम पठार-सा वह अश न केवल बहुत अच्छा था वरन् सही भी था।

समाज मे पायी जानेवाली कुछ अवसरवादी प्रवृत्तियो पर उसमे गहरी चोट की गयी थी।

बस, कविता यहीं कमज़ोर हो गयी !

अब इसके साथ-साथ एक तथ्य और लीजिए। मेरे एक परम प्रिय मित्र ने आजकल म एक लेख लिखते हुए घोषणा की थी कि नयी कविता मे हृदय के आवेग के आवेगात्मक चित्रण, जोश और आवेग का विशेष स्थान नहीं है। हो सकता है कि आधुनिक कविता गहरी न मालूम हो। किन्तु वास्तविकता यही है कि उसमे आवेश को स्थान नही। आज की कविता बौद्धिक और आत्मीय है।

'इस वास्तविकता को मैं स्वीकार कर सकता हूँ। किन्तु उसे मैं परिवर्तित जरूर करना चाहता हूँ।" मैंन अपने सामने बैठे हुए मित्र से कहा।

और, स्वय कुछ उद्विग्न होकर जोडा, "इस आवेश को काट देने का खास मतलब है।"

पाशविक रग म पेश मत करो। यह कला नही है।

क्या वे ऐसा खलकर कहेंगे ? हरगिज नही। वे मूख थोड ही हैं जो सबके क्रोध का भाजन बन। किन्तु वे नयी कविता के विन्यास के सम्बन्ध म जो अभिरुचि अपनाते हैं वह ऊपर ऊपर स निर्दोष होते हुए भी उसका प्रयोग वे इस प्रकार करते हैं कि उग्रतामूलक आलोचनात्मक कमप्रधान भावना रिस्पेक्टेबल न बन पाये—वह सडक छाप ही बनी रह।

अभिरुचि के सस्कार का ठका उन्होने ही नही लिया है। अगर चाहो तो इसे तुम भी खूब अच्छा निखार सकते हो। किन्तु उनकी कला कुशलता की उपेक्षा करना या उस पर अपना स्वय का अधिकार न करना गलत है।

मेरे इन उद्गग वाक्यो को मेरा मित्र ध्यानपूवक सुनता रहा। उसन सिफ इतना ही कहा हाँ आपने मेरे दिल की बात कह दी।

किन्तु वह और भी आगे गया।

*उसने मुझस जो कुछ कहा वह मेरे लिए अत्यन्त महत्त्वपूण है। उस बात को* मैं अपन शब्दो मे रख रहा हूँ

काव्य सत्य भावना प्रसूत है परन्तु उस काव्य सत्य का नतिक उत्तरदायित्व है। हम उसे केवल काव्य सत्य कहकर नही टाल सकते। वह सत्य हमारे व्यक्तित्व से कुछ माग करता है।

*मैंन जवाब दिया हा वी शुड नाट डजर्ट अवर ओन क्लास ! हम यदि* गरीब मध्यवग म पैदा हुए है तो हम उसकी भाव स्थितियों को जरूर बतायग। प्रश्न विषय का भी है और दृष्टिकोण का भी। हमम से बहुतेरे ऊपर की श्रणी मे मिल गय हैं। वे हमारी भावनाएँ प्रकट नही करते कोई दूसरी दृष्टि प्रकट करना चाहते है।

वह मुसकराया और शायद उसकी आखो के सामने कई ऐसे साहित्यिको के दृश्य खिले जो स्वय बहुत गरीब घराने म तो पैदा हुए थे किन्तु अब वे अपनी जन्म धात्री धरती स पराये होकर न उपरली श्रणी की उपलब्धियो के वास्तविक निष्कर्षों म रम सके न अपने बन्धु-बान्धवो की पीडा भरी विवेक दृष्टि ही अपना सके।

[**वसुधा** म प्रकाशित पहली किस्त। अप्रैल 1957। **एक साहित्यिक की डायरी** म सकलित।]

# नये की जन्म-कुण्डली : एक

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हू जिस (क्षमा कीजिए) मैं एक जमाने म बहुत बुद्धिमान समझता था। मुझ उससे बहुत आशाएँ थी कि वह आगे चलकर एक मेधावी प्रतिभाशाली पुरुष निकलगा। लोग समझते थे कि मैं उस व्यक्ति को

अनुचित महत्त्व दे रहा हूँ। मुझे लगता था कि वह व्यक्ति हमारी भारतीय परम्परा का ही एक विचित्र परिणाम है। वह अपने विचारो को अधिक गम्भीरतापूर्वक लेता। वे उसके लिए धूप और हवा-जैसे स्वाभाविक प्राकृतिक तत्त्व थे। शायद इससे भी अधिक। दरअसल, उसके लिए न वे विचार थे, न अनुभूति। वे उसके मानसिक भूगोल के पहाड, चट्टान, खाइयाँ, ज़मीन, नदियाँ, झरने, जगल और रेगिस्तान थे। मुझे यह भान होता रहता कि वह व्यक्ति अपने को प्रकट करते समय, स्वय की सभी इन्द्रिय-शक्तियो से काम लेते हुए, एक आन्तरिक यात्रा कर रहा है। वह अपने विचारो या भावो को केवल प्रकट ही नही करता था, वह उन्हें स्पर्श करता था, सूँघता था, उनका आकार-प्रकार, रंग-रूप और गति वता सकता था, मानो उसके सामने वे प्रकट साक्षात् और जीवन्त हो। उसका दिमाग़ लोहे का एक शिकजा था या सुनार की एक छोटी-सी चिमटी, जो वारीक-से-वारीक और वडी-से-वडी वात को सूक्ष्म रूप से और मज़बूती से पकडकर सामने रख देती है।

लेकिन यह वात पुरानी हो गयी। अब मुझे लगता है कि मैं भी बुद्धिमान हो गया हूँ। मुझे ऐसा लगता कि मेरे दोस्त की बुद्धिमत्ता का कारण उसकी ज़िन्दगी ही ज़्यादा थी, न कि केवल मस्तिष्क-तन्तुओ की हलचल।

वारह वर्षो वाद जब एकाएक मेरी उससे मुलाकात हुई, तब आनन्द और आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। आनन्द से भी ज्यादा आश्चर्य। नदियो की दो धाराओ के बीच इतने वडे-वडे पहाड आ गये थे कि उन्होंने हमारी दिशाएँ भी वदल दी थी। जब फिर से मुलाकात हुई तो स्वभावतः हमारा ध्यान इन पहाडो की लम्बाई-चौडाई, ऊँचाई-नीचाई पर गया। बारह वर्ष वाद, अब जो हम दो हो गये हैं, तो किस तरह?

उसके वाल सफेद हो गये थे। लेकिन यह कहना मुश्किल था कि वह नौजवान नही है। यो कहिए कि वह भूतपूर्व नौजवान था। मतलब यह कि प्रभाव उसके वर्तमान रग-रूप का न होकर उसके भूतपूर्व रग-रूप का होता था। मुझे वह असर अच्छा लगता। जी चाहता कि उसके वारे मे रोमैण्टिक कल्पना की जाये। लेकिन यह कहना मुश्किल था कि उसकी सुन्दरता उसके रूप की थी, या उसके माथे पर पडी हुई रेखाओ की। कम-से-कम मुझे तो वे लकीरें अच्छी लगती। खूबसूरत कागज सुन्दर तो होता ही है, लेकिन यदि वह कोरा हुआ, और उसमे कोई मर्म-वचन लिखे हुए न रहे तो, सौन्दर्य मे रहस्य ही क्या रहा? सौन्दर्य मे रहस्य न हो तो वह एक खूबसूरत चौखटा है।

सामने पीपल का वृक्ष है। चाँदनी मे उसके पत्ते चमचमाते काँप रहे हैं। चाँदनी और उसमे चित्रित हुई छायाएँ हमारे मनोलोक को एक नयी दिशा दे रही हैं। मुझे मालूम था कि मेरे मित्र के लिए शैले की 'ओड टु वैस्ट विण्ड' उतनी ही दूर है जितना कि मेरे लिए 'स्क्वेअर रूट ऑफ माइनस वन' लेकिन इसके बावजूद ये दूरियाँ हमारी पहचानी हुई थी, और शायद इसीलिए वे प्रिय भी थी।

जब-जब मुझे दूरियो का भान होता है, तब मुझे अच्छा भी लगता है और बुरा भी। अच्छा इसलिए कि दूरी हमारी गति को एक चुनौती है। बुरा इसलिए कि मित्रो के वीच दूरी खटकती है। हम एक ही भाषा का उपयोग तो करते हैं लेकिन अभिधार्थ एक होते हुए भी ध्वन्यर्थ और व्यग्यार्थ अलग-अलग हो जाते हैं।

यह दूरी के कारण हैं। दूरी पर विजय पाना मानव-स्वभाव है। वह एक साहस-रोमांस है। अब हमें एक-दूसरे को फिर से खोजना-पाना है।

एक तरह से मुझे खुशी भी थी कि मैं उसे कतई भूल गया था और उससे बहुत दूर निकल गया था। शायद यह आवश्यक भी था। नहीं तो मैं उससे आच्छन्न हो जाता। मेरी अपनी दृष्टि से वह असाधारण और असामान्य था। एक असाधारणता और क्रूरता भी उसमें थी। निर्दयता भी उसमें थी। वह अपनी एक धुन, अपने एक विचार या एक कार्य पर, सबसे पहले खुद को, और उसके साथ अपने लोगों को कुरबान कर सकता था। इस भीषण त्याग के कारण, उसके अपने

वह उसका पलायन है, अपना उत्तरदायित्व वहन न करने की प्रवृत्ति है। मैंने उससे यह भी कहा कि वह राजनीतिक व्यक्ति है ही नहीं। राजनीति के साथ जब

दूर होते चले गये।

लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि सांसारिक समझौते से ज्यादा विनाशक कोई चीज़ नहीं—खास तौर पर वहाँ, जहाँ किसी अच्छी महत्त्वपूर्ण बात करने के मार्ग में अपने या अपने-जैसे लोग और पराये लोग आड़े आते हों। जितनी ज़बरदस्त उनकी बाधा होगी, उतनी ही कड़ी लड़ाई भी होगी, अथवा उतना ही निम्नतम समझौता होगा।

इस भीषण संघर्ष की हृदय-भेदक प्रक्रिया में से गुज़रकर उस व्यक्ति का निजत्व कुछ ऐंडा-बेंडा, कुछ विचित्र अवश्य हो गया था। किन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि उसकी बाजू सही थी। इसलिए वह असामान्य था।

दूसरे शब्दों में, मैं सामान्य उसको समझता हूँ जिसमें अपने भीतर के असामान्य के उग्र आदेश का पालन करने का मनोबल न हो। मैं अपने को ऐसा ही आदमी समझता हूँ। मैं मात्र सामान्य हूँ (मैं नामी-गिरामी हूँ, यह बात अलग है)। और चूँकि वह व्यक्ति हमेशा मेरे भीतर के असामान्य को उकसा देता था, इसीलिए अपने भीतर के उस उकसे हुए असामान्य की रोशनी में, मैं एक ओर स्वयं को हीन अनुभव करता, तो दूसरी ओर, ठीक वही असामान्य मेरी कल्पना और भावना को उत्तेजित करके मुझे, अपने से बृहत् और व्यापक जो भी है, उसमें डुबो देता—चाहे वह इण्टीग्रल कैलक्युलस हो, सुदूर नेब्यूला हो, या कोई ऐतिहासिक

लेकिन मेरी गति और दृष्टि कुछ और थी। जब मैं कोई काम करता तो इसलिए कि उससे लोग खुश होते हैं। वह काम करता तो सिर्फ इसलिए कि एक बार कोई काम हाथ में लेने पर उसे अधिकारी ढंग से भली भाँति कर ही डालना चाहिए। मेरी व्यावहारिक सामान्य-बुद्धि थी। उसकी कार्य-शक्ति, आत्मप्रकटी-

करण की एक निर्द्वन्द्व शैली। हम दोनो मे दो ध्रुवो का भेद था। जिन्दगी म मैं मफर हुआ, वह असफल। प्रतिष्ठित, भद्र और यशस्वी मैं कहलाया। वह नाम-हीन और आकारहीन रह गया। लेकिन अपनी इस हालत की उसे क़तई परवाह नही थी। इसका मुझे बहुत बुरा लगता, क्योकि वस्तुत वह मेरी यशस्विता को भी बडी सत्ता के रूप म स्वीकार न कर पाता।

इतने वर्षो बाद मेरी जिन्दगी मे जब वह वापस आया, तो मुझे लगा कि यह उस उल्का पिण्ड की भाँति है, जो सैकडो वर्षो के अवकाश के बाद सूर्य के पास आकर एक चक्कर लगा लेता है, और पुन अपन आकाशमार्ग पर निकल जाता है। इस सुदूर यात्रा के उसके अनुभव की कीमत मैं जानता हूँ, भले ही किन्ही अप्रत्याशित सघर्षो म टूट-फूटकर, वह धूल बनता हुआ, खरबो मील दूर के किसी अँधेरे शून्य म, खो जाय।

किन्तु आज उसने मुझस कहा कि उसकी पूरी जिन्दगी भूल का एक नक्शा है। मैं उसके विषाद को समझ गया। वह ज़िन्दगी मे छोटी-छोटी सफलताएँ चाहता था। उसके पास तो सिर्फ़ एक भव्य असफलता है (यह मेरी टिप्पणी है, उसकी नही) मैंन सिर्फ इतना ही जवाब दिया, "लेकिन नक्शा तो है! यहाँ तो न ग़लत का नक्शा है, न सही का!"

मैंन उसका दिल बँधाने की कोशिश की। और मैं कर ही क्या सकता था! मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह थोडी-बहुत सासारिक सफलता की इच्छा रखे। किन्ही असावधान क्षणो मे ही, उसने मुझस कहा कि वह स्वय भूल का एक नक्शा है। वरना वह ऐसा नही कहता। लेकिन आज का जमाना कैसा है, जबकि बुलबुल भी यह चाहती है कि वह उल्लू क्यो न हुई!

चाँदनी म एक जादू होता है। लेकिन यह जादू अलग-अलग लोगो के लिए अलग-अलग है। न मालूम हमारी बात कहाँ से शुरु हुई। मैं डर-डरकर उससे बात करता जा रहा था। कही ऐसा न हो कि उसे जाने-अनजाने मुझसे कोई चोट पहुँचे। क्योकि उसन अपन विचारो के लिए खून बहाया है जिन्दगी खत्म की है। इसीलिए मैं धीरे धीरे उसकी बात सुनता जा रहा था। और जहाँ मतभेद व्यक्त करना हो वहाँ मैं, अपनी आदत के अनुसार उत्तेजित होने के बजाय, मुसकराकर बात कह देता!

मैंने उसस पूछा, ' पिछल बीस वर्षो की सबसे महान् घटना कौन-सी है ?"

एक मिनट तक उसन मरी तरफ देखा और फिर छूटत ही कहा, "सयुक्त परिवार का ह्रास!"

मैं स्तब्ध हो गया।

उसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर खिलखिलाते हुए कहा, "और इस तथ्य का साहित्य स बहुत बडा सम्बन्ध है।"

चारो ओर चाँदनी की रहस्यमय मधुरता फैली हुई थी। चारो ओर ठण्डा एकान्त फैला हुआ था। मेरी अजीब मन स्थिति हो गयी। मैं अपने पडोसियो की जिन्दगियाँ ढूँढने लगा, अपने परिचितो का जीवन तलाशन लगा। एक अनिच्छित बेचैनी मुझम फैल गयी। हाँ, यह सही है कि जिन्दगी और जमाना बदलता जा रहा था। किन्तु मैं परिवर्तन के परिणामों को देखन का आदी था, परिवर्तन की प्रक्रिया को नही।

थाह ले रहा है। उसकी आँखो मे प्रतीत होता है, जैसे उसको यह विश्वास नही हो पा रहा है कि मैं उसकी बात समझ पा रहा हूँ, मानो मैं उसकी गहराई मे उतरने से इनकार करता हूँ। इसलिए वह कहता गया, 'ऐसा नही है कि नये मूल्यो का वैचारिक विकास न किया जा सके। या वे भ्रूण के-भ्रूण ही बने रहेगे।"

मैंने बीच मे टोककर कहा' "नही, ऐसा तो नही है, नये मूल्य भी हमारे सामने है, और उनकी प्रेरणा से उन्ही के विकास के लिए सघर्ष भी तो किया जाता है।"

मित्र ने कहा, "सवाल पुरानी परम्परा को समाप्त करके नये मूल्यो की नयी परम्परा स्थापित करन का है। पहले हम परम्परा के दास थे, आज हमारी हालत उससे भी खराब है, क्योकि नयी परम्परा के अभाव मे इन अन्त प्रवृत्तियो के दास हो गये हैं। इन अन्त प्रवृत्तियो का चाहे जितना आदर्शीकरण किया जाये, वे मात्र व्यक्तिगत हैं। और इस समय तो नये मूल्य केवल बौद्धिक स्तर पर हैं। वे जीवन का अनुशासन क्या कर सकेंगे? यदि समाज की सस्कृति मुख्यत बौद्धिक सस्कृति होती, वैज्ञानिक दृष्टि समाज की प्रधान दृष्टि होती, तो शायद यह सम्भव भी था। किन्तु ये नये मूल्य कुछ ही लोगो के अन्त प्रवाह की नालियाँ बन गये हैं। उन्हे कोई सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। न उस मान्यता के लिए व्यापक सघर्ष का आयोजन किया गया। मूलत व्यक्ति एक सास्कृतिक शून्य म रह रहा है—एक कल्चरल वैक्यूअम मे। फलत कोई टी एस ईलियट के पास जाता है, तो कोई आर्नल्ड टॉएनबी के समीप, तो कोई और किसी तरफ।

'किन्तु समाज-मान्य कोई पूर्ण समग्र जीवन दृष्टि नही मिल पाती, जैसे पुराने धर्मों और दर्शनो म मिल जाती थी। तो, फिर जीवन के व्यापक अनुशासक सत्य की प्राप्ति कैसे हो?

"मध्य-युगीन परम्परा गलत भले ही हो, भल ही हम उसे सामन्ती कहकर टाल दें, किन्तु उसका साँचा ऐसा था कि व्यक्ति म मानसिक शक्ति का अपव्यय होने की गुजाइश न थी। परम्परागत शील और शिष्टता न उसे मानसिक सकटो से बचा लिया था। वह मात्र प्रवृत्ति की कठपुतली न था।

' लेकिन आज परिवार मे वह परम्परा इतनी दृढ तो है नहीं। सिर्फ उसके अवशेष हैं। वे भी खत्म होते जा रहे है, इसलिए कि मौजूदा औद्योगिक सभ्यता का प्रभाव गहरे से गहरा हो रहा है, फिर भी इतना गहरा नही है कि व्यक्ति नवीन स्पन्दो म घुलकर जीवन मे समाज-मान्य नवीन दार्शनिक अनुशासन प्राप्त कर सके। हमने उस सामन्ती इकाई को तोड दिया। या यूँ कहिए कि वह आप टूटती गयी। परम्परा ने हमारे स्थान और भाजन से लेकर स्वास्थ्य रक्षा तक की ठेकेदारी की थी।

"परम्परागत शील के आदर्श ने हमारे आत्म-तत्त्व को विखण्डित होने से बचा लिया था। हमने पुराने मूल्य तोड दिये। नये उपस्थित नही हुए। जो हुए, वे दृढ नहीं हो सके। वे समाज की मान्यता बनकर नयी परम्परा का रूप धारण करते हुए आचरण की मूल प्रेरणा, सिद्धान्त और साँचा नही बन सके। वे अस्पष्ट रह गये। उनकी अस्पष्टता खूबसूरत हो गयी।"

वह आगे कहता गया, 'एसा क्यो हुआ? ऐसा इसलिए हुआ कि हमन अपने साक्षात् जीवन मे, यानी परिवार और समाज मे, बीतते हुए पुराने के प्रति और

आते हुए नये के प्रति एक अवसरवादी दृष्टि अपनायी। यहाँ इन दिनो कोई जमकर विद्रोह नही हुआ, नये की सर्वांगीण स्थापना का कोई अनुरोध भी नही रहा। इस ढग के समाज के बदलने का काम साहित्य ने या विचारधारा ने भी नही किया। मार्क्सवाद या राजनीति ने सार्वजनिक क्षेत्र सँभाला, समाज बदलने की बात की। लेकिन केवल राजनीतिक प्लेटफॉर्म से ही समाज नही बदला जाता···"

और तब मेरे मित्र ने मेरी तरफ देखा कि मैं क्या सोच रहा हूँ। क्षण-भर मेरी थाह लेने की कोशिश करने के बाद उसने कहा, "बाहर, राजनीति या साहित्य मे 'नवीन जीवन', 'नये मानव-मूल्य' की बात चलती है, समाजवादी ढग की समाज-रचना की बात चलती है, लेकिन जहाँ कार्य की बात आयी—खास तौर पर परिवार मे मूल्यो की स्थापना की बात आयी—कि बडे विचारक कन्नी काट गये। मानो घर समाज से बाहर हो। आज भी हमारे परिवार अमानवी कट्टरपन्थी विचारधारा के गढ हैं, या बुर्जुआ किस्म के सत्तावाद के दुर्ग हैं—यह न भूलिए।

"परिवार मे न केवल सामन्ती अवशेष हैं, वरन् यहाँ भी बराबर तीन श्रेणियाँ दिखायी देती हैं। एक वह श्रेणी है जो पैसा कमाकर लाती है। उसे सबसे अधिक आदर ही नही दिया जाता, वरन् उसकी मान्यता और विचार, उसकी रुचि-अरुचि और कार्य, शीघ्र ही सबके लिए मानदण्ड के रूप मे प्रस्तुत हो जाते हैं—चाहे वे कितने ही अवैज्ञानिक, अनुचित और स्वार्थपूर्ण क्यो न हो। सबसे निचली श्रेणी उन लोगो की है कि जो चौके मे सोते हैं। अगर कही स्त्री निरक्षर हुई, या निर्धन परिवार मे से आयी हुई रही, तो वह और उसकी-जैसी स्थिति के व्यक्ति उस तीसरी श्रेणी मे ही रहते हैं। दूसरी श्रेणी मे बालक और कमाऊ व्यक्ति के वे रिश्तेदार हैं, जो उससे कम कमाते हैं। यदि वे ज्यादा कमाते हैं तो वे प्रथम श्रेणी मे, या उससे भी ऊपर होकर सबके लिए अनिवार्य नियम के रूप मे यशोभाजन हो जाते हैं। धन, अर्थ, सासारिक सफलता और उससे मिली हुई कीर्ति की तानाशाही परिवार मे जितनी चलती है, उतनी बाहर भी नही। मानवतावाद की हरदम दुहाई देते हुए भी, घर मे जितना अहवाद और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है, उसकी कोई हद नही।

"मजा यह है कि उसको स्वाभाविक मान लिया गया है। वह प्रकृतिजात है। स्वाभाविक है, इसलिए सही भी है। उसके प्रति विद्रोह कुल-शील, सस्कार, भद्रता और प्रतिष्ठा के प्रति बगावत करार दिया जाकर उसे तुरन्त ही घृणित माना जाता है। सास-बहू के झगडे या पिता-पुत्र के झगडे आदर्श-प्रेरित हैं—यह नही कहा जा सकता। किन्तु परिवार का भूगोल और व्यक्ति-चरित्र का इतिहास जिस विशाल परिस्थिति का निर्माण करते हैं, उस परिस्थिति की जाँच-परख होना बहुत जरूरी है। इस परिस्थिति के कारण परिवार का व्यक्ति दूसरे के लिए [illegible]
न ह [illegible]
परि [illegible]
मा [illegible] कर, उसे अपना एक परिस्थिति का एक अग मान, उसका गुण-दोष-विवेचन करने लगते हैं, चरित्र-विश्लेषण करने लगते हैं—इस बुद्धि से कि उस व्यक्ति को हमारी समझ से जो करना चाहिए, वह उसने

प्रवृत्ति ही का दूसरा नाम है। नही तो प्रश्न ही के अलग-अलग उत्तर क्यो होते? उत्तर के सिंहासन पर शंका को बैठाने का मतलब है, अपनी समस्या म प्रश्न ही का आदर्शीकरण करना समस्या मे फँसे रहने का उदात्तीकरण करना। वास्तविक उत्तर खोज न पाने की स्थिति का यह आदर्शीकरण अनुचित है।"

मैंने कुछ तीव्र होकर जवाब दिया, "किन्तु जो उत्तर सामने दीख पड़ते हैं, वे अशुद्ध, अनुचित, खण्डित और अव्यावहारिक हो तो?"

उसने जवाब दिया, "तो शोध को महत्त्व दो। लेकिन उत्तर के सिंहासन पर यदि शका को बैठाओगे (यह कहने की बातें हैं, वास्तविक जीवन मे कोई ऐसा नही करता!) तो आपकी जो द्विधाग्रस्त मनःस्थिति है उसी म फँसे रहने का आप एक जाल रच रहे हैं। यदि आप विचार कर रहे हैं, तो विचार के मूलभूत अनुशासन के नियमो म रहो, और शोध की उस पद्धति के—जिसे आप वैज्ञानिक कहते हैं—अनुसार चलो।"

वह कहता चला गया, "मन की उग्र प्रतिक्रिया ही आजकल विचार कहलाती है। विचार की कसन की कोई ऑब्जेक्टिव कसौटी नही है। कसौटी हो क्यों? जरूरत भी क्या है? हम आत्म-बाह्य किसी भी तत्त्व के प्रति विद्रोही हैं, तो हमारी बुद्धि विश्वास चाहती है लेकिन विश्वास कर नही सकती। इसलिए वह विश्वास या श्रद्धा करेगी भी, तो ऐसे म, जिसे अरूप किसी कसौटी पर कसा नही जा सकता वही उसके लिए सुविधाजनक है। सुविधा आज के जीवन का प्रधान नियम है। नैतिक और अनैतिक, उचित और अनुचित, सगत और असगत का निर्णय करने की ताकत आपने व्यक्ति के परे किसी वैज्ञानिक पद्धति या तुला-दण्ड को नही सौंपी, वरन् अपनी अन्तरात्मा को, यानी भीतरी प्रवृत्ति को, जो आपकी अपनी है।

"आप यह माने लेते हैं कि अन्तरात्मा से निकला हुआ बोध, भाव या निर्णय उचित होना ही चाहिए, सगत होना ही चाहिए!

"लेकिन अगर मेरी या आपकी या उनकी अन्तरात्मा छोटी और तुच्छ हो, तो? सकुचित और छिछली हो तो? प्रतिभाशाली पुरुष की आत्मा अत्यन्त हीन भी हो सकती है। इस अन्तरात्मा से निकले हुए बोध-वचन या निर्णय हमेशा औचित्य स्थापना करेंगे ही ... नही है।"

उसने कहा, 'अन् ... स्व प्रवृत्तिमूलक और, ... भी
प्रकार के विश्वास औ ... है। कहने के लिए ...
कल्याण' की बात करें ... 'दायित्व' की बात
अरूप हैं। इनका कोई ... , दूसरे शब्दो मे,
मे आये, वही ... वह उचित
अन्दर ही ज ... अपनी इच्छा पर
इसमे कोई ... । यदि वैसा ह
वैज्ञानिक अ ... अच्छा ही था
वस्तुत यह
मेरा ... । लेकिन
यह है कि यह ... मैंने
बहुतेरे तर्क अ

भी हो सकते हैं। शायद हो भी। लेकिन क्या उनकी एक बार जांच कर लेना जरूरी नही है ?

चांदनी मस्त फैली हुई है। और मेरा मित्र एक बौद्धिक भूत-बाधा से मेरे पीछे-पीछे चल रहा है। मैं अकेला बढा जा रहा हूँ, अपने खयालो मे डूबा हुआ।

[वसुधा मे प्रकाशित, जून 1957। एक साहित्यिक की डायरी मे सकलित।]

# हाशिये पर कुछ नोट्स

बहुत समय तक मैं क़लम लिये बैठा रहा। विमूढ और खोया-खोया-सा। समझ मे नही आया कि क्या करूँ ! क्या लिखूं और लिखने के पहले क्या सोचूं !

ज़रा इस परिस्थिति पर गौर फरमाइए। यह एक अजीब चीज़ है। ऐसे, क्या लिखना है यह मालूम है। लेकिन वह कलम से उतरता नही। कमरे के दरवाज़े से गुज़रते हुए व्यक्ति अन्दर दीख पडते हैं। किन्तु भीतर आने का साहस नही करते। भीतरवाले उन्हे अन्दर बुलाते नही, शायद उन्हे कमरे मे न आना हो तो ! उसी प्रकार विचार कमरे के दरवाज़े से झाँक जाते हैं, अन्दर क्या है, यह अन्दाज से टटोल जाते है, लेकिन भीतर आना या तो पसन्द नही करते, या उन्हे वैसा साहस नही होता ! मैं भी उन अडियल विचारो को अन्दर आने का विशेष आमन्त्रण नही देता।

क़िन्तु उन विचारो की सूरतें देखकर मुझे एक गये-गुजरे जमाने की याद आ गयी। जब मैं कॉलेज का एक लडका था, तब एक महान् व्यक्ति से मेरा स्नेह हो गया। वह सचमुच का था या झूठमूठ था, मैं नही कह सकता। लेकिन यह सही है कि मेरे दिमाग़ मे एक खयाली नशीली धुन्ध जमी रहती।

अब होते-हुआते एक बात यो पैदा हुई कि उसने मुझे काफी झमेले मे डाल दिया। वह यह कि उसके व्यक्तित्व की चन्द बातें, कुछ खयालात, कुछ रवैयात, कुछ तर्जो-अन्दाज, कुछ तौर-तरीके, मुझे पसन्द नही आये।

जहाँ तक दूसरे व्यक्तियो का प्रश्न है, मैंने यह कभी नही चाहा कि मैं अपनी पसन्दगी को एक मान-दण्ड या तुला का उच्च पद प्रदान करूँ। पसन्दगी को मैं कसौटी नही मानता। उसे कसौटी का रूप देने की मुझे न तब इच्छा थी, न अब।

दूसरे शब्दो मे, क्या मैं अपनी प्रतिक्रियाओ के सहीपन पर विश्वास करके, उस व्यक्ति को शॉ-जैसी आँखो से देखते हुए व्यक्तित्व का विश्लेषण करके, विश्लेषित अंको को पुन: एक बार इकट्ठा कर, उन्हे विद्रूप के एक नये पैटर्न मे, नये ढाँचे मे, ढाल दूँ, या दान्ते की भाँति उस छाया को उद्धारक आत्मा के रूप मे बीएट्रिस बनाकर, जगमगाते हुए आदर्श रूप मे उपस्थित करते हुए, स्वय स्वर्ग और नरक की हवा खाता रहूँ ? सक्षेप मे, मैं आलोचनात्मक भावना को प्रधान मान किसी तटस्थ बौद्धिक टीले पर खडे होकर दुनिया को देखूँ, या स्नेह के भीतर पाये जाने-

वाले सहज विश्वास को किसी विशाल श्रद्धा का रूप देकर जीवन की परम उपलब्धि को प्राप्त करूँ?

आज से कई साल पहले मेरे एक मित्र ने यह प्रश्न उठाया था। भावना में निश्चय ही एक सूक्ष्म दृष्टि होती है। और मैं समझता हूँ, वह दृष्टि उस मित्र में थी। बुझे हुए ज्वालामुखियोंवाले व्यक्तित्व, कीर्ति की पेंशन लेते हुए, भले ही अपने को धन्य मानते रहें, छोटी-सी एक सजग चिनगारी उस बुझे ज्वालामुखी से निःसन्देह बड़ी तो है ही, वह उसे चुनौती भी देती है। तो उस मित्र ने उस श्रद्धेय, किन्तु बुझे, ज्वालामुखी का एक ऐसा विद्रूप चित्रण किया कि मैं हैरत में रह गया।

मैंने उससे कहा, "तुम्हारे आवेग से लगता है, तुम उन्हें बहुत चाहते हो।"

उसने कहा, "बिलकुल। यही मेरी मुश्किल है। चूँकि मेरा खयाल है कि मैं उनके व्यक्तित्व के हरएक पहलू को सहज भाव से पहचान जाता हूँ, इसीलिए उन पर मुझे अधिकार जताने की भावना होती है। यह निराधार है। उस व्यक्ति में कुछ ऐसा चमत्कार, कुछ ऐसा सम्मोह, और कुछ इतनी ऊष्मा है कि मन उनके चारों ओर मँडराता है। लगता है कि बस हमेशा उनके साथ रहा जाये, और कोई ऐसी बिसगत बात न की जाये जो हमारे सम्बन्धों में झोल डालती हो। मन करता है कि उनका कोई बड़ा काम कर दिया जाये, अपने हाथ से उनके लिए कुछ तो अच्छा हो।

लेकिन इस भावना के बावजूद, मन उनका होकर नहीं रह सकता। इसलिए कि, आकर्षण की किरणें चतुर्दिक् प्रसारित होते हुए भी, उस व्यक्ति के भीतर ऐसा कुछ है जिसे आप खोटा कह सकते हैं। वह सारल्य और भोलापन तो उनमें है ही नहीं, इसके विपरीत हर इच्छित कार्य या चाल को न्यायोचित ठहराने के लिए, भाव विचारों का मायावी इन्द्रजाल तानने का उसका कुछ इतना बड़ा माद्दा है, कि लगता है, कि उसके आस-पास जो तमाम मित्र-मण्डली जमा रहती है, वह उसकी सक्रिय दलाली के सिवा कुछ नहीं करती। और वह दलाली काहे की?

एक नितान्त प्रतिक्रियावादी राजनीति की, एक अत्यन्त कठोर स्वार्थ की, एक शिलावत् भाव की—जिसका सम्बन्ध सिर्फ 'मैं' से है!

मेरे मित्र के चेहरे से पता चलता था कि वह उस व्यक्ति की बहुत-सी अन्दरूनी बातें जानता है। बहुत से ऐसे विचित्र तथ्य उसके पास हैं जिन्हें वह कभी ज़बान पर भी नहीं ला सकता। लेकिन फिर भी उस व्यक्ति को वह इतना चाहता है कि अगर वह उसकी तारीफ करने पर उतर आये तो, एक मर्मी कवि की भाँति वह पूरा व्यक्तित्व-चित्र प्रस्तुत कर देगा। स्पष्ट है कि सामने बैठे हुए मेरे मित्र में एक ऐम्बीवेलेन्स, एक दुमुँहापन है! उसने जिसको अत्यन्त हार्दिक रूप से चाहा है, उसी का परित्याग करने पर वह मजबूर हुआ है। इस ऐम्बीवेलेन्स के शिकार मैंने काफी लोग देखे हैं। वे एक ही व्यक्ति से तीव्र घृणा और तीव्र स्नेह एक साथ करते हैं। उनकी घृणा और स्नेह—दोनों में एक घनिष्ठता है। किन्तु यह घनिष्ठता भी इतनी तीव्र होती है कि वे एक-दूसरे के प्रति वैराग का छद्मभाव ओढ़ने के लिए मजबूर रहते हैं।

इस समय मेरे मित्र का चेहरा कटु और कठोर हो रहा था। मुझे यह साहस ही नहीं हुआ कि मैं उसके मित्र का नाम-धाम पूछूँ। वे उसके परम श्रद्धेय हैं। वह

उन्हें लात मार सकता है, मैं नहीं।

किन्तु इतना सही है कि श्रद्धेय की आलोचना करना भारतीय सस्कार के इतने विपरीत है कि कुछ मत पूछिए। हम अपने मन की सज्जनता को भीतर के आलोचक से अधिक प्रतिष्ठित बनाये रखते हैं। यह कितनी बड़ी आत्मवचना है। इस आत्मवचना का कोई पार नहीं!

किन्तु यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि आलोचना हमेशा तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हुआ करती। वह बहुधा दृष्टि की बजाय मात्र एक भावावेश होती है, और दिल का कीमियागर उस भावावेश पर बनावटी आँखें जड़ देता है। उसकी कीमियागरी इतनी भयानक होती है कि वह हमारी सूरत बन्दर-जैसी बना देती है, जबकि हम खुद अपनी इस समझ की गिरफ्त में रहते हैं कि हमारा चेहरा बहुत खूबसूरत है। मतलब यह कि मेरा खयाल है कि अन्धी श्रद्धा से अन्धी आलोचना एक भयकर चीज है।

यह खयाल बिलकुल ग़लत है कि आलोचना का सम्बन्ध बुद्धि से और श्रद्धा का हृदय से होता है। मार्क्सवाद पर लोगों की श्रद्धा हृदय से नहीं, बुद्धि से उत्पन्न हुई है। और उसी मार्क्सवाद की बहुतेरी आलोचना अन्धी भावना से प्रेरित हुई है। किन्तु इस सिलसिले में मैं यह भी कह दूँ कि किसी भी व्यक्ति पर एकात्म श्रद्धा ग़लत है। चाहे वे अपनी माता हों या पिता। पहले वे मनुष्य हैं, उनका अपना चरित्र है। इस चरित्र को देखने के लिए आवश्यक निर्मल तटस्थ भाव हममें चाहिए।

मैंने उसके सामने ये बातें रखीं, तो उसने दुःखी होकर मेरी तरफ़ देखा। उसने बताया कि हृदय का व्यापार सभी जगह है। युद्ध, ऑपरेशन थियेटर और प्रेम प्रसग—इन सभी जगह उसके सम्बन्ध हैं।

इस समस्या को जरा आप समझिए। इस पूरे प्रश्न के पीछे एक विशेष प्रकार की भावुकता है। इसे आप दार्शनिक भावुकता कह सकते हैं। मैं उस व्यक्ति में, व्यक्ति नहीं, किसी गुण शक्ति या सत्ता का दर्शन कर रहा हूँ, इसी से वह व्यक्ति मुझे प्रिय है। किन्तु ज्यों ही उस गुण-शक्ति को मैं खण्डित होते देखूँगा, मैं उस व्यक्ति को छोड़ दूँगा, और उस व्यक्ति को यह समझ में ही *नहीं आयेगा* कि फ़लाँ-फ़लाँ ने, जो अब तक मेरा भक्त था, मेरे यहाँ आना क्यों छोड़ दिया।

उसने कहा, "मैं मानता हूँ कि यह एक सब्जेक्टिव आत्मग्रस्त रवैया है। किन्तु वह कितना खूबसूरत है! मित्र के व्यक्तित्व में गुणों की अपेक्षा किये बिना मैं कैसे रह सकता हूँ? उसमें उन गुणों का जो पूरा मनोहर समुदाय है, वह यदि न हो तो, बताइए, मित्र मोहित कैसे हो, उसमें वह ललक कैसे पैदा हो? यदि एक-दूसरे में गुणों की अपेक्षा न रहे तो मित्रता रह नहीं सकती—और चाहे जो हो। एक विशेष प्रकार के स्नेह का नाम मित्रता है। वह अपने प्रिय के पूरे व्यक्तित्व के आकलन-ग्रहण पर टिकी हुई है। मैं उस दोस्ती की बात नहीं कर रहा हूँ जिसे आप सिर्फ़ सामाजिक अर्थ में लेते हैं।"

मैंने कहा, "यह सब सही है। लेकिन भय तो यह है कि कहीं उसके गुणों के आकलन की आड़ में अपनी पसन्दगी तो उस यथार्थ पर नहीं थोप रहे हैं। मानव-यथार्थ का ताना-बाना बहुत गहरा और सूक्ष्म होता है। हम उस यथार्थ का सिर्फ़ विश्लेषण करके छोड़ देना चाहिए। यदि वह विश्लेषण हमारे अनुकूल न निकले

तो दु खी होने की जरूरत नही, और सचमुच अनुकूल निकले तो बात ही क्या है ! वाह-वाह !"

मित्र ने कहा, ' यह बात हम नही मानते । यदि हमारे हृदय के सम्बन्ध हैं, तो हम उनके आधार पर इतना तो कहेंगे ही कि तुम्हारी फलाँ बात पसन्द नही और फलाँ बात पसन्द है, और हम चाहते हैं जो बात हमें नापसन्द है तुममें वह हो ही नही । अगर किसी पराये आदमी के सम्बन्ध मे यह बात होती तो बात अलग थी !"

मैंने कहा, "यह तो ठीक है । किन्तु जो मित्र आपके श्रद्धेय हैं, उनसे दूरी तो आप बनाये रखते ही है । एक ओर स्नेह और दूसरी ओर दूरी भी । इस झझट मे सब गडबडझाला हो जाता है ।"

उसने खुश होकर कहा, "अब तुमने नब्ज पर हाथ रखा । मित्र के घनिष्ठ सम्पर्क के अलावा उससे जो हमने दूरी कायम करके रखी है, तो उसी दूरी के थूहर जगल मे सब पाप-छायाएँ इकट्ठी हो जाती हैं । ठीक है, न ये ?"

मैंने कहा, "बिलकुल ठीक है । अगर ऐसे व्यक्ति की हमे आलोचना करनी है, तो पहले उसे अपने घनिष्ठ विश्वास मे लेकर, फिर उसे धीरे-धीरे उस मोड की तरफ ले जाना चाहिए जहाँ हमे अपने विश्वास की बात करनी है !"

मैंने कहा, "मर्मी आलोचना चाहे जितनी निष्पक्ष और बेलाग दिखायी दे, ऊपर से चाहे जितनी कठोर और खुरदरी हो, अन्तत उसमे एक बडी भारी श्रद्धा होती है, और वह यह कि मनुष्य मे सुधार किया जा सकता है, यह कि मनुष्य अपनी सीमाओ और कमजोरियो के ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर उस विशाल उच्चतर क्षेत्र का भागी हो सकता है, जिसे हम सस्कृति, विज्ञान साहित्य, या दर्शन अथवा अध्यात्म का क्षेत्र कहते हैं । यह श्रद्धा व्यक्ति-विशेष पर श्रद्धा नही है, किन्तु उसके सुषुप्त या जाग्रत् सामर्थ्य पर श्रद्धा है कि यदि वह चाहे तो अपने कन्धो पर ही चढ सकता है । मतलब यह कि इस बुनियादी श्रद्धा के फल-स्वरूप इतना सारा साहित्य लिखा गया है ।"

मेरे मित्र ने विश्वास और सशय दोनो के समन्वित भाव से मेरी तरफ देखा और कहा, ' ये सब थियेरी की बातें हैं, अपनी जगह सही हैं । किन्तु उनका महत्त्व तो अमल मे लाने म ही है । और अमल में लाये जाने की प्रक्रिया मे अमल मे लाने-वाले की सारी बुराइयाँ, सीमाएँ और कमजोरियाँ इतनी अधिक प्रकट होती है, कि कार्य मे कर्त्ता की दागदार छाप से, जिसके प्रति कार्य किया गया है, वह व्यक्ति बौखला उठता है । वह व्यक्ति उस आलोचना पर फिर विश्वास नही कर पाता !"

इस बात को सुनकर हम दोनो को हँसी आ गयी । बात बिलकुल माकूल है ! आलोचना का कार्य वस्तुत सिद्धान्तो के प्रकाश के अलावा एक सूक्ष्म कौशल भी है । मैने उससे कहा, "इसीलिए कहता हूँ कि हम आलोचना करते वक्त गलतियो के लिए कम-से-कम पचीस-तीस प्रतिशत हाशिया छोड दें । अगर हम 'है' के बदले 'हो सकता है', 'सम्भव है', कदाचित् यही भी हो', इस तौर से बात करें, और मानव ज्ञान और अपने स्वय के ज्ञान की साक्षात् सीमाएँ प्रत्यक्ष ध्यान मे रख उतना मार्जिन अपने को और दूसरो को प्रदान करें, तो बहुतेरे हृदय-दाह समाप्त हो जायें और हार्दिक तथा वैचारिक आदान-प्रदान अधिक सुगम या सरल हो ! क्या मैं

गलत कह रहा हूँ ?"

मैंने अपने मित्र की आँखो की तरफ देखा। मुझे लगा कि वह मुझसे सहमत है।

[वसुधा मे प्रकाशित, अगस्त 1957। एक साहित्यिक की डायरी मे सकलित।]

# डबरे पर सूरज का बिम्ब

जब उससे मै सडक पर मिला, मुझे लगा कि वह ठीक बात करने के मूड मे नही है। राह में मुझे देखकर वह खुश नही हुआ था। उसकी शर्ट की पीठ पसीने से तर-ब-तर थी, वाल अस्त-व्यस्त थे, और चेहरा ऐसा मलिन और क्लान्त था, मानो सौ जूते खाकर सवारी आ रही हो। तत्काल निर्णय लिया कि वह सरकारी दफ्तर से लौट रहा है, कि वह पैदल आ रहा है, कि वह वहाँ अहलकार की किसी ऊँची या नीची साहित्यिक या राजनीतिक श्रेणी का ही एक हिस्सा है, कि वह मुझे फर्स्ट क्लास सूट-बूट मे देख सिर्फ आगे बढ जाना चाहता है, क्योंकि वह बगल मे खडा होकर, कण्ट्रास्ट खडा नही करना चाहता।

पुराने जमाने मे भूखे व्यक्ति को अन्न देने से जितना पुण्य लगता था, आधुनिक काल म शायद उससे भी अधिक पुण्य श्रम से मलिन और थके हुए व्यक्ति को एक कप गरम गरम चाय प्रदान करते हुए, दो मीठी वातें करने से लग जाना चाहिए। मेरे इस तर्क का आधार यह है कि आजकल सच्चा श्रम, जिससे चेहरा सूख जाता है, पसीना आता है, कपडो की इस्तरी बिगड जाती है, औंछे हुए बाल अस्त-व्यस्त हो जाते है, उँगलियो को स्याही लग जाती है, आँखें कमजोर हो जाती हैं, अपने से बडे पदाधिकारियो के मारे दिल धक-धक करता है—मतलब यह कि कम-से कम मानवोचित सुविधाओ मे अधिक-से-अधिक श्रम की मनुष्य-मूर्ति—दुनिया को तो छोड ही दीजिए, अपने भाइयो की, उनकी आँखो मे भी हजार सहानुभूतियो के बावजूद—सूक्ष्म और स्थूल अनादर की पात्र है, असम्मान की पात्र है। ट्रैजेडी तो यह है कि ऐसी मनुष्य मूर्ति अपने स्वय की आँखो मे भी अनादर और असम्मान की ही पात्र होती है। इस विश्वव्यापी और अन्तर्यामी अनादर और असम्मान की धूल धारण कर, हृदय मे बासी कडआ जहर लिये हुए, थके, क्लान्त और श्रमित व्यक्ति जब अपने दफ्तरो से बाहर दो मील दूर अपने घर की तरफ लुढकते-पुढकते निकलते हैं, तो उनके मन मे और हमारे मन मे श्रम का कितना महान् आध्यात्मिक मूल्य अवतरित होता है, वह वर्णनातीत है!

इस तिराहे पर खडे होकर, मुझे उस व्यक्ति की जरूरत महसूस हुई। वह मेरा परिचित था। आखिर जब मैं इस कौन मे अकेला खडा हूँ तो वह मुझसे बात-चीत तो कर ही सकता था। मुझे लगता था कि जब तक मैं अपनी बकवास पूरी नही कर लूँगा, मुझे चैन न मिलेगा।

मैं पान चबा रहा था। सुर्खरू था। ऐसे मौके पर मनुष्य स्वभावत. बुद्धिमान् हो जाता है। उसमे आत्म-विश्वास की तेजस्विता रहती है (वह क्षण-स्थायी ही क्यो न हो), वह आशावादी होता है। वह नसीहत द सकता है। वह दूर-द्रष्टा होता है, चाहे तो पैगम्बर हो सकता है, चाहे तो वह रोमैण्टिक प्रेमी बन सकता है। वाह-वाह! सुर्खरूपन, तेरा क्या कहना! बिना श्रम के जो प्राप्ति होती है, उपलब्धि होती है, वही तू है।

पल-भर मैं सकोच की गटर-गगा मे डूब गया। मै रीअली (सचमुच) फर्स्ट क्लास कपडे पहने था। बेहतरीन सूट। मैं गया था शहर के ऊँचे दरजे के कुछ लोगो से मिलने। वहाँ या तो महँगी किस्म के खादी के कपडे चलते थे या ये कपडे। *आजकल मैं आधा बेकार हूँ। अपने ही घर मे शरणार्थी हूँ।* लिहाजा, कुछ 'बडे' आदमियो के यहाँ जाकर, एक असिस्टेण्ट डायरेक्टर के पद (वह जगह अभी खाली नही हुई थी, लेकिन सुना था कि होनेवाली थी) के लिए कोशिश कर रहा था।

और ज्यो ही आप ऐसे कपडे पहन लेते है, अपने धुले-पुँछेपन को स्वास्थ्य की सवेदना मानते हुए (थोडी देर के बाद ही क्यो न सही), अपने को 'बाश्शा' अनुभव करते है। गौरव और गरिमा की यह सवेदना! तेरा नाम सत्य है, तेरा नाम शिव है, तेरा नाम है सौन्दर्य!

लेकिन शहर के उस फैशनेबल मुहल्ले के अपने आत्मीयो से लौटकर मुझे आकस्मिक यह भावना हुई कि मैं अकेला हूँ, कि अपनी असली श्रेणी के साथी के साथ बैठकर ही मैं अपने आनन्द का वितरण और उपभोग कर सकूँगा। और इसी अन्त प्रवृत्ति के अन्दरूनी धक्के के फलस्वरूप, मैं ऑफिस से लौटते हुए उस व्यक्ति को आमन्त्रण दे बैठा।

लेकिन ज्यो ही मैं उसके साथ चाय पीने लगा, हम दोनो के बीच एक जह-रीली चुप्पी की रेखा दूरी का मापदण्ड बनने की कोशिश करने लगी। मैंने उदारता की पराकाष्ठा करते हुए उसके लिए एक कप चाय और मँगवा दी!

मैं अपने शरीर पर पडे हुए कपडो से लगातार सचेत था। ये वस्त्र ही हैं कि जो मुझे उससे दूर ठेले जा रहे थे! इस सकोच को दूर हटाने के लिए मैने कोट उतारकर रख दिया। गरमी के बहाने शर्ट के बटन इस प्रकार खोल दिये कि अन्दर उलटी पहनी हुई जीर्ण-शीर्ण फटी बनियान लोगो को दिखायी दे सके!

मैं चाहता था कि वह मेरे अन्दरूनी नक़्शे को देखे। लेकिन शायद वह अपनी धुन के धुँधलके मे उडते हुए थके-हारे पछी की भाँति नीड मे समाना चाहता था। घर लौटना चाहता था।

मैं अपने को उससे एक गज ऊँचा अनुभव न करूँ, और सच्ची मेहनत का *शाप न झेल सकने के कारण उससे एक गज नीचा भी न अनुभव करूँ*, इसलिए उसका जी खुश करके उसके साथ हँस-बोल लेने के लिए मैंने उससे पूछा, "कल ऑल इण्डिया रेडियो से मैंने आपकी कहानी सुनी। बहुत अच्छी थी! पढी भी अच्छी गयी।"

उसने मेरी तरफ ध्यान से देखा—यह जानने के लिए कि मेरा इरादा क्या हो सकता है।

उसने प्रभुतावश कहा, "अजी, आप तो बस—आप तो आलोचक हैं, नुक्स

बताइए!" मैंने विश्वास दिलाया कि उसकी कहानी बहुत अच्छी थी, क्योंकि वह सचमुच बहुत अच्छी थी। लेकिन उसका जी नहीं भरा।

उसने मेरी तरफ गौर से देखा। वह एक पतला-लम्बा चेहरा था। जरूरत से ज्यादा ऊँचा माथा—शायद आगे के बाल कम होने के कारण! मुझे ऐसे चेहरे पसन्द हैं। ऐसे लोगों में आप डूब सकते हैं, और आपकी डुबकी को वे एन्जॉय करने (मजा लेने) की ताकत रखते हैं। कम-से-कम मेरा ऐसा खयाल है। मेरे द्वारा की गयी प्रशंसा के प्रति उसकी सन्देह की दृष्टि मुझे बहुत-बहुत भायी। एक सच्चा लेखक जानता है कि वह कहाँ कमजोर है, कि उसने कहाँ सचाई से जी चुराया है, कि उसने कहाँ लीपा-पोती कर डाली है, कि उसने कहाँ उलझा-चढ़ा दिया है, कि उसे वस्तुतः कहना क्या था और कह क्या गया है, कि उसकी अभिव्यक्ति कहाँ ठीक नहीं है। वह इसे बखूबी जानता है। क्योंकि वह लेखक सचेत है। सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है। वह अपनी आत्म-शान्ति को भंग करके ही लेखक बना रह सकता है। इसीलिए लेखक अपनी कसौटी पर दूसरों की प्रशंसा को भी कसता है और आलोचना को भी। वह अपने खुद का सबसे बड़ा आलोचक होता है।

बेचारा सर्वज्ञ शब्द-तत्पर आलोचक यह सब क्या जाने! वह केवल बाह्य प्रभाव की दृष्टि से देखता है। आलोचक साहित्य का दारोगा है। माना कि दारोगापन बहुत बड़ा कर्तव्य है—साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्माण्ड के प्रति। लेकिन मुश्किल यह है कि वह जितना ऊँचा उत्तरदायित्व सिर पर ले लेता है, अपने को उतना ही महान् अनुभव करता है। और सच्चा लेखक जितनी बड़ी जिम्मेदारी अपने सिर पर ले लेता है, स्वयं को उतना अधिक तुच्छ अनुभव [illegible]

बोध होता रहता

जी में धड़कनेवाले

[illegible] नहीं करती, वरन् अपने स्वयं के साक्षात्कार-सामर्थ्य की तुलना उस वस्तुसत्य की विशालता से करता है। आत्मसत्य भी कह सकते हैं उसे, जिसकी धारणा के लिए उसे लगता है कि जितनी आवश्यक मनःशक्ति उसमें चाहिए उतनी नहीं है। कभी-कभी तो उसे केवल आभास-संवेदन से ही काम चलाना पड़ता है। तब अपनी विषय वस्तु की विशालता और गहराई की तुलना में लेखक अपने का हीन क्यों न अनुभव करे, क्योंकि वह खूब जानता है कि उसने जो कुछ वस्तुतः सम्पन्न किया है उससे भी अच्छा किया जा सकता था। विषय-वस्तु के प्रति लेखक का यह संवेदनात्मक उत्तरदायित्व, उसकी मनःशक्ति को किस तरह भंग किये रखता है, यह किसी सच्चे लेखक से ही जाना जा सकता है।

मैंने उस दुबले-पतले चेहरे के सन्देह-भाव को देखा और बात पलटने की दृष्टि से कहा, "यह जरूर है कि आपकी कहानी बहुत ज्यादा मनोवैज्ञानिक थी।"

उसने मुसकराकर जवाब दिया, "मनोवैज्ञानिक न होती तो क्या होती! मन में ही घुलते और घुटते रहने के सिवा और क्या है जिन्दगी में?"

मैंने उससे असहमति प्रकट करना चाही। मैंने पूछा, "तो क्या आप कुण्ठा को मनोवैज्ञानिकता की जननी मानते हैं?"

"कुण्ठा-वुण्ठा मैं नहीं समझता," उसने जवाब दिया। "हर जमाने में गरीबों की मुश्किल रही है, हर जमाने में एक श्रेणी का दिल नहीं खुला है—बहुत विशाल

श्रेणी का, भारतीय जनता का, मेहनतकश का।" वह आगे कहता गया, "पिछला कौन-सा ऐसा युग था जिसमें कुण्ठा न रही हो?···और फिर···और फिर··· कुण्ठा का मतलब क्या है?" उसने मुझे समझाते हुए कहा, "कुण्ठा का आधिपत्य तो तब समझना चाहिए जब कुण्ठा के बुनियादी कारणों को दूर करने की बेसब्री और विक्षोभ न हो। हाँ, कुण्ठा का अगर फ्रॉयडियन साइकोऐनेलिटिक मतलब लिया जाये तो दैनिक जीवन के कण्ठावरोध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुण्ठा शब्द फ्रॉयडवाद और मार्क्सवाद की सकर सन्तान है।"

वह दुबला-पतला चेहरा मेरे सामने उठावदार और उभारदार हो गया, उसमें भव्य गरिमा प्रतिबिम्बित हो उठी। मुझे लगा, उसका दिमाग़ खुद-ब-खुद सोचता है। उस व्यक्ति में मेरी दिलचस्पी ज्यादा बढ गयी। मैं उसके विचारों को आदर-पूर्वक सुनने लगा।

उसने मुझे बोलने का अवसर न देते हुए कहा, "मैं तो सिर्फ मेहनत पर, अकारथ मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनत पर जो बहुत सज्जन है, उस सहनशील श्रम पर लिखनेवाला हूँ, उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ, जिसका बदला कभी नहीं मिलता, और जिसे आये-दिन आत्मबलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है। मैं उस भयानक मशीन का चित्रण करनेवाली कहानी नहीं बल्कि उपन्यास लिखनेवाला हूँ, जिसमें हर आदमी वह नहीं है जो वह वस्तुत: है या होना चाहिए। उसमें मशीन का दोष नहीं। मशीन चलानेवालों का गुरुतर अपराध है। इस मशीन की लौह-नलियों में पड़े हुए मानवी श्रम का मैं चित्रण करना चाहता हूँ। कहिये, आपका क्या खयाल है?"

मैंने ढाई मिनिट तक जैसे साँस ही नहीं ली। उसके भाव-विचार ने न केवल मुझे प्रभावित किया था, वरन् दिमाग़ पर दबाव डाल दिया था। मेरे सिर पर वज़न हो गया था।

मैंने धीरे-धीरे कहा, "ज़रूर चित्रण कीजिए, ज़रूर लिखिए!"

"क्यों, लेकिन आप चुप हो गये!"

मैंने कहा, "चुप नहीं, मैं सोच रहा था कि सिर्फ बहुत बड़ी थीम (विषय) उठा लेने से काम नहीं चलता। यह ज़रूरी है कि सिर्फ उतना ही अंश उठाया जाये जिसका मन पर अत्यधिक आघात हुआ हो। बड़ी भारी बिल्डिंग खड़ी करने की बजाय छोटी-सी कुटिया खड़ी की जाये तो अधिक अच्छा होगा।"

उसने कहा, "सही है। आसमान का चित्रण सधे-न-सधे, सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन-सत्य के अधिक निकट होगा। उतना चित्रण मुझसे सध भी जायेगा।" उस व्यक्ति के इस वचन में आत्म-दया की हल्की-सी गूँज मुझे सुनायी दी।

मैंने बेरुखी से कहा, "इस आत्म-दया की ज़रूरत नहीं। एक सच्चे आर्टिस्ट का संघर्ष बहुत घुमावदार होता है। हाँ, लेकिन, आपकी इमेज बहुत अच्छी है। हम सब लोग ऐसे ही डबरे हैं, जो अपने भीतर सूरज का प्रतिबिम्ब धारण किये हैं। पूरा वस्तु-सत्य इस इमेज में आ गया है। इसीलिए वह महत्त्वपूर्ण है। हमारा परिश्रम भी तो थोड़ा नहीं है। हमारी साँस भी तो उखड़ी-उखड़ी है। डबरे हुए तो क्या हुआ, हैं तो प्रकृति-जन्य!"

एकाएक जैसे मैंने उसकी कमजोर रग पकड ली। उसमे आत्मविश्वास की कमी थी। जब सिर्फ सीना तानकर लोग खोटा माल खपा देते हैं, और प्रभाववादी होने के बहाने हर मामूली को गैर-मामूली बनाकर दुनिया के सामने उसे पेश करते हैं, तो जो चीज़ सही और सच्ची है वह क्यो न ऐंठे ?

मैंने उससे कहा, "आजकल सचाई का सबसे बडा दुश्मन असत्य नही, स्वय सचाई ही है, क्योकि वह ऐंठती नही, सज्जनता को साथ लेकर चलती है। आजकल के ज़माने म वह है आउट-ऑफ-डेट ! जी ! इसलिए सत्य ज़रा युयुत्सु बने, वीर बने, तभी वह धक सकता है चल सकता है, बिक सकता है।"

वह और भी अप्रतिभ हो गया। किन्तु उसके चेहरे पर भीतर की खुशी का ज्यादा उजाला लाने के लिए मैंने उससे कहा, "बोल्डनेस हैज जीनियस (औद्धत्य की अपनी प्रतिभा है)। यह गटे का वाक्य है। मैं इसे उलटा करके पढता हूँ।" मेरे कीमती कपडो के ठाठ ने मुझे कुछ उत्साहित तो कर ही दिया था। (लेकिन क्या मैं सच कह रहा हूँ ?) जो हो, हम दोनो जब विदा हुए, बहुत दोस्त बनकर विदा हुए।

[वसुधा म प्रकाशित, सितम्बर 1957। एक साहित्यिक की डायरी मे सकलित।]

# कुटुयान और काव्य-सत्य

उस गली पर झाँकती हुई गैलरी मे हम दोनो बैठे हुए थे। बात की कडी जैसे बीच ही म आकर टूट गयी थी। भाव विचार एकत्र करन म जितन हम व्यस्त दिखायी देते, उतने ही वे बिखर जाते।

जीवन और चरित्र पर, विशेषकर किसी की जिन्दगी के विकास के इतिहास चित्रो और उसके व्यक्तित्व के, चरित्र क, चित्रो पर सोचते-सोचते मन किसी दार्शनिक भावना मे डूबता-सा प्रतीत होता।

गैलरी के नीचे, गली लगातार चल रही थी—वह पढी लिखी सुन्दर युवतियो और उन्हें चोरी चोरी देखनेवाले या उजागर एक्टक देखनेवाले नवयुवको की बहती-भागती पाँत, हमारे लिए रोज़ ही का दृश्य थी। रोज़-रोज़ वही रोमैण्टिक किस्से, जुम्मा तालाव म अनक कारणो स वे ही आत्महत्याएँ, वे ही झगडे और वही स्नेह और प्रणय ! वे ही जीवनसघर्ष और वे ही कटुताएँ ! वही शोषण ! वही ग़रीबी !

यह कब बदलेगा ?

मेरा मित्र एक दूर बैठे कौवे की तरफ देख रहा था। वह लगातार गरदन मटकाता हुआ, चारो ओर चालाक नजरें घुमाता, एक छप्पर पर बैठा था। पता नही उसकी नज़रो म मित्र को क्या दिखायी दिया।

हम अभी भी चुप थे। बातें करने मे बिलकुल असमर्थ ! उदास और मानो

लकवा मार गया था, भावो को पख निकल आये थे—गैस के धुमैले पख और बीच-बीच मे झाँकनेवाली एकाध चिनगारी। भाव इतने अस्पष्ट थे, इतने कुहरीले, किन्तु भयकर यथार्थ ! वे स्वय किसी केन्द्रीय दर्द के सन्देशवाहक दूत थे, स्काउट थे, गुप्तचर थे, क्या थे—ईश्वर जाने ! पर वे थे—अस्तित्ववान् थे और हम उनके अस्तित्व से दबे जा रहे थे।

पर हमे वे अच्छे लग रहे थे। उनमे खो जाना, डूबकर तिरोहित हो जाना, हमे अच्छा लग रहा था। मैं मित्र के चेहरे की तरफ देख रहा था, मानो वह पाठशाला का ब्लैकबोर्ड हो और किसी जादू के इन्द्रजाल से उस पर आप-ही-आप सही-सही गणित, सही पद्धति से उभर आने की सम्भावना हो !

लेकिन नही। मित्र का चेहरा प्रात काल के धुले-पुँछे काले-कारे चिह्नहीन, भावहीन, ब्लैकबोर्ड-सा ही दिखायी दिया !

मैंने एकाएक बिल्ली की एक 'म्याऊँ' सुनी। वह वहाँ थी। एक बडे-से आले मे दुबकी बैठी थी। मैं तब से यहाँ हूँ, किन्तु सामने के ताक की तरफ ध्यान ही नही गया था।

मैने अकस्मात् यह महसूस किया कि गरदन मटकाते हुए चालाक नजरोवाले कौवे-सरीखा या किसी की सावधान प्रतीक्षा मे बैठी उस चिर जागरूक बिल्ली-सरीखा कुछ—हाँ कुछ—मनुष्य के भीतर भी है। अपने ही मन को फँसानेवाले रगीन कुहरीले सपनो या भावो या विचारो की महान परम्परा पहले भी थी और आज भी है। किन्तु अपना ही मन सोद्देश्य रूप से फँस जाता है, और वे भी सोद्देश्य रूप से फँसा ही लेते है—मानो दोनो फँसने-फँसाने के लिए तैयार बैठे हो। नहा तो, कोई कारण नही कि आदर्श की बात या काम करते हुए मनुष्यमात्र आत्म-प्रस्थापना के स्वार्थ को ही प्रधान बनाये रखे। यह स्वार्थ कितना घनघोर होता है, यह हमारे जीवन म अनुभव करने और दर्शन करने की एक चीज है !

मैंन तनाव दूर करने की ग़रज स मित्र से पूछा, "तो तुम इन्दिरा के यहाँ कब जाओगे ?"

मित्र हँस पडा। उसने कहा, ' मैं क्यो जाऊँगा ! उसके आँसू मुझे झूठे मालूम होत है। लगातार रोते रहने का वह दृश्य भी मुझे झूठा मालूम होता है।"

अब हँसने की मेरी बारी थी।

मित्र मेरी हँसी से चौक उठा। उस लगा कि मैं उसे चिढाने के लिए या जान-बूझकर गलतफहमी पालने के लिए प्रवृत्त हूँ, उन्मुख हूँ। उसे लगा कि मैं इस प्रकार उसका अपमान करने के लिए भी तैयार बैठा हूँ।

अपन भीतर का उभार दाबकर उसने समझाते हुए कहा, ' हाँ, मैं जो कह रहा हूँ सही है ! मानो बात मानो !"

वह आरामकुरसी पर से उठ बैठा। गैलरी के बाहर देखने की कोशिश की और अन्दर चला गया। मरा खयाल है कि अन्दर जाकर उसने मेरी भाभी से चाय बनाने की प्रार्थना की, शायद गिडगिडाया भी।

जब वह गैलरी म वापस लौटा तो उसके चेहरे पर अजीब उलझन थी। मैं समझ गया कि उसका सम्बन्ध चाय से नही था।

उसने आरामकुरसी पर फिर से बैठते ही कहा, ' अब तुम्हे क्या बताऊँ ! पढी-लिखी स्त्री, आवश्यकता से अधिक शिक्षा प्राप्त, लकिन उसम दम नहीं है।

सके पास रीढ की हड्डी नही है। वह सब कुछ तैयार, पका-पकाया चाहती है। ह उसकी सस्कृति और वातावरण का अग है। तुम जानते हो, वह महाराष्ट्रीय ही है!"

मैंने आश्चर्य से कहा, "तो ?"

उसने जवाब दिया, "वह पारसी है, उसका नाम है—कुटुयान बचपन से गरेजी तालीम। मराठी भाषा, विशुद्ध मराठी बोलती है वह। वह कही भी चर हो सकती थी। अनेक पारसी सज्जन, जो ऊँचे-ऊँचे पदो पर हैं, उसका साथ ते। मैंने कहा भी था। लेकिन उसने मात्र असमर्थता बतायी। वह अपनी कौम से ागती रही है। उसके कारण भी हैं। मुझे इसके बारे मे कुछ नही कहना ।"

मित्र ने आगे कहा, "यह ठीक है कि कृष्णमुरारी शुक्ला आज उसके साथ ववाह नही कर सकता। कुटुयान और शुक्ला के बीच यह तय भी हो गया कि ठीक दस महीनो के भीतर वह अपनी बडी बहन की शादी कर देगा। उसके बाद शुक्ला पर कोई जिम्मेदारी नही है। तुम शुक्ला को जानते हो। कान्यकुब्ज जाति है। अगर उसने बहन की शादी के पहले अपना विवाह कर लिया तो बडी बहन की शादी म बहुत मुश्किल हो जायेगी। क्योकि पूरे समाज मे इस पूरे परिवार की बदनामी हो जायेगी।"

वह सही कह रहा था।···शुक्ला ने क्या कम मुसीबतें उठायी हैं कुटुयान के लिए। अपनी पढाई करना, घर से भागी हुई कुटुयान को पालना, और नियमित सौ रुपया माहवार दूर गाँव मे पिताजी को देना। पिछले डेढ साल मे वह तो मर गया।

"और अब वकालत करने के लिए जब शुक्ला अपने गाँव चला गया, शहर मे नही वरन् देहात मे, वहाँ से हर माह वह कुटुयान को सौ रुपया माहवार भेजता और हमेशा पत्र लिखता। दो-तीन बार वह उससे मिलने के लिए आया भी। मुझसे भी मिला था।···मैं कुटुयान को अकेली जान हफ्ते मे दो-एक बार तो जाया ही करता। बताइए, एक सौ रुपया कुटुयान को पुराते नही थे। पचास तो सिर्फ मकान का किराया था'' मैंने उससे कई बार कहा कि वह नौकरी तलाश कर ले। वह वैसा न करने के कई कारण उपस्थित करती। शी वाज डैम-फूल (वह महामूर्ख थी)। जब शुक्ला की आमदनी बढ गयी, तो उसने कुटुयान को भी ज्यादा पैसा भेजना शुरू किया। कुटुयान ने मुझे खुद बताया' 'और इसमें कोई शक नही कि कुटुयान का शुक्ला पर गहरा प्रेम था। लेकिन त्याग शुक्ला का ही था।' कुटुयान हमारे यहाँ आया करती। वह हमारे घर मे रहना भी चाहती थी। पर सवाल यह है कि उसे सरक्षण की इतनी भूख क्यो ? मैंने इनकार कर दिया। मैं एक पारिवारिक उलझन क्यो लूं ? लोग क्या कहेंगे ? भाई, माता-पिता क्या कहेंगे ? दूसरे, उन दोनो के लिए जितना त्याग मुझे करना चाहिए, उससे ज्यादा मैंने तकलीफ उठायी है ''आखिर वे दोनो मेरे कौन होते हैं'' "

इतने मे चाय आ गयी। भाभी कुटुयान की बात सुन हँसते हुए बोली, "तो आपको अब तक नही मालूम था कि वह कौन हैं ? आपने तो हमारे यहाँ देखा है उन्हें ।"

मैंने मजाक करते हुए कहा, "मैंने सोचा कि हमारे मित्र की वे दोस्त होंगी या आपकी दोस्त होंगी। मैं व्यक्तिगत मामले मे दस्तन्दाजी नही करता।"

भाभी पास की एक कुरसी पर बैठ गयी। मित्र ने कहना जारी रखा, "मैं जब-जब उसके घर पर जाता, वह लगातार रोती। अगर मैं उसकी अनवरत अश्रुधारा की बात शुक्ला को लिख देता, तो वह माँ-बाप को छोड यहाँ आकर बस जाता। अपने ही हाथ से परिस्थिति की अनुकूलता जो उसने बनायी वह अपने ही हाथ से नष्ट कर देता किन्तु, धीरे-धीरे मुझे सन्देह होने लगा कि कुट्‌यान के आँसू विरह के या वियोग के नहीं स्नेह-जन्य नहीं, वरन् अपनी अरक्षा के दुःख से पैदा हुए हैं। वह अरक्षा जो शुक्ला के सौ रुपया माहवार के बावजूद बरकरार रहना चाहती है, जो अपना बढ़िया मकान, उम्दा फर्नीचर और मोहक वातावरण नहीं छोडना चाहती। बस मेरी कहानी यही खत्म हो जाती है। आगे की बात नहीं बताऊँगा। इतना निश्चित है कि वह शुक्ला के प्रेम से वशीभूत होकर शुक्ला को मदद करने के लिए तैयार नहीं है! जो आँसू वह लगातार बहा रही है, वे विरह के कहे जा सकते है, क्योंकि अरक्षा का भाव विरह से उत्पन्न हुआ है। किन्तु उस दुःख की कटुता, उसकी तीव्रता, अरक्षा की है विरह की नहीं।"

मित्र ने ज़ोर-ज़ोर से आगे कहना शुरू किया—

" उसके आँसू काव्य सत्य हैं।
उसका उल्लास काव्य सत्य था।
उसका प्रेम काव्य-सत्य था।
उसका विरह काव्य-सत्य है।
उसका वियोग काव्य-सत्य है।"

यह कहकर वह उठ बैठा। मैंने उससे पूछा, 'आखिर तुम्हारे इस मन्तव्य के कोई विशेष कारण है?"

उसने कहा, "हाँ, उसकी बातचीत से भी यह ज़ाहिर हो गया था कि अगर उसकी रक्षा के लिए कोई और आ जाये, तो वह शुक्ला को छोड भी सकती है। मज़ा यह है कि मेरे ही सामने शुक्ला के लिए आँसू भी बहा रही है। प्रश्न यह कि उसकी रक्षा करनेवाला यह कौन होगा? उसी ने मुझे बताया कि फलाँ शहर में रहनेवाला उसका एक पुराना पडोसी तरुण डॉक्टर पटवर्धन है। फिलहाल वह रक्षक के पद पर आसीन हो सकता है, कल और किसी पद पर। वह उसका गुण-वर्णन करते करते नहीं थकती मैं तो रोज़ कुट्‌यान के पास जाता हूँ। उसे ज़्यादा समझता हूँ "

इस बीच मेरा चेहरा फक हो गया था। कुट्‌यान में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन मित्र के एक वक्तव्य से मुझे बहुत धक्का लगा। उसने 'काव्य-सत्य' का नाम लिया था।

मैं बहुत देर तक स्तब्ध बैठा रहा। इसका मतलब क्या था? गैलरी में हम शाम से बैठे हुए थे। वहाँ अँधेरा हो रहा था। भाभी ने स्विच ऑन किया। वे अपने काम से अन्दर चली गयी।

फिर से अजीब चुप्पी छा गयी। वही स्तब्धता। वही निर्वाक् शून्य।

बीस मिनिट बाद, जब हम दोनों मित्र घर के पीछे के विशाल मैदान पर पहुँचे, तो आसमान में तारे चमचमा रहे थे। असीम आकाश और निःसीम मैदान! लगता था जैसे हम इन मनोहर दूरियों में घुलकर एकाकार हो रहे हो। कहीं दूर एक जगह से घण्टे की ध्वनि सुनायी दी।

हम आगे-आगे बढते गये। दूर एक टीला था। अँधेरे मे विलीन ! हम उस पर चढकर बैठना चाहते थे।

वहाँ मीलो दूर की हवाएँ आती। चारो ओर मे हमारा आलिंगन करती। वही दूर हमे उडा ले जाना चाहती।

जब हम उस टीले पर पहुँचे तो एक ठूँठ के नीचे मैं बैठ गया। इच्छा हुई कि उसकी एक डाल पर चढा जाये। मैंने मित्र से पूछा तो उसने इनकार कर दिया।

मेरे मन म जो वात घुल रही थी वह निकल पडी। मैंने कहा, "तुम काव्य-सत्य को क्या समझते हो ? तुम काव्य-सत्य को क्यो वदनाम कर रहे थे ?"

उसने मेरी तरफ देखा। लेकिन मेरी वाणी से ही उसने ताड लिया होगा कि मैं उससे विक्षुब्ध हूँ।

उसने कहा, "ओ हो ! मैं भूल गया कि तुम साहित्यिक हो और कवि भी हो ! लेकिन तुम्हे बुरा लगने की वात नही थी।"

मैं उसे क्या समझाता ? जबसे मैं उसे मिला हूँ तबसे वह साहित्य के मनोविज्ञान पर ही चर्चा कर रहा था। उसने मेरे कई आदरणीय मित्रो की भी चीर-फाड की थी। इसलिए मुझे पहले से ही बुरा लगना या लगते जाना स्वाभाविक था। बीच मे जब कुटुयान की अन्तर्कथा आयी तो मैं समझ नही मका था कि उस कथा से चर्चा का क्या सम्बन्ध था . [illegible]
छेडने के उद्देश्य से, उकताहट दूर [illegible]
उसने 'काव्य-सत्य' का उल्लेख [illegible]
भीतर-ही-भीतर मेरा उत्तेजित हो जाना स्वाभाविक था।

उसने कहा, "काव्य-सत्य को मैं वदनाम नही करना चाहता। मेरा प्रश्न सीधा-सादा है। काव्य मे जीवन के कुछ मूल्य और दृष्टि प्रकट होती है। मेरा प्रश्न यह है कि क्या उन मूल्यो से आपके आचरण का सामजस्य है ?"

मैं स्तब्ध हो गया। मैंने कहा, "काव्य मे हमेशा अनिवार्य रूप से जीवन के मूल्य या आदर्श प्रकट नही होते। मात्र भाव प्रकट होते है।"

उसने जवाब दिया, "यह आंशिक सत्य है। जहाँ मात्र भाव प्रकट होते हैं, वहाँ एक दृष्टि भी प्रकट होती है। प्रश्न यह है कि क्या यह दृष्टि आचरण से सामजस्य स्थापित कर चुकी है, अथवा आचरण से सामजस्य स्थापित करने की प्रेरणा दे रही है !"

मैंने कहा, "आचरण से आपका क्या मतलब ?"

उसने उत्तर दिया, "आचरण से मतलब आचरण ! मैं एक उदाहरण दूंगा। एक कवि अपनी प्रेमिका पर कविता रचता है। सुन्दर कविता। आचरण में आप इसकी अपेक्षा अवश्य करेंगे कि वह अपनी प्रेमिका के प्रति नि स्वार्थ दृष्टि रखता है या नहीं !"

मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा, "उसका आचरण उसके काव्य की कसौटी नहीं है।"

उसने धीरे-धीरे विचार करते हुए जवाब दिया, "कौन कहता है ! इसीलिए मैं काव्य-सत्य के सत्यत्व से इनकार नही कर रहा हूँ। सिर्फ इतना ही कह रहा हूँ कि वह मात्र काव्य-सत्य है। वह यदि इससे कम नही है तो इससे जरा-भर भी

अधिक नहीं । वह काव्य सत्य है'''वह एक वचना-स्वप्न की उपज, अहं के प्रक्षेप का एक परिणाम, अथवा आत्माभिनय का साहित्यिक रूप हो सकता है ।"

मैंने जल्दबाजी मे उससे कहा, "लेकिन इससे तुम निष्कर्ष क्या निकालना चाहते हो ?"

उसने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा, "यदि आप लोग केवल काव्य-सत्य को महत्त्व देते हो, तो अपने अनजाने ही एक भयानक भूल कर बैठते हो । वह यह कि एक व्यक्ति साहित्य मे जिन मूल्यों की स्थापना करता है, वे मूल्य उसके आचरण की मूल प्रेरणा हो, यह आप अपने लिए अनावश्यक, 'इर्रेलेवेण्ट' मानते हैं । इसका बहुत बुरा परिणाम होता है । एक प्रगतिवादी के लिए, आपकी दृष्टि से, यह आवश्यक नही रहा कि वह अपने घोषित लक्ष्य के अनुसार, अथवा जीवन-मूल्यो के अनुसार, अपना आचरण भी बनाये । एक आदर्शवादी साहित्यिक अपने व्यक्तिगत जीवन मे, सुविधा को ही विकास का मूल नियम मान, अपने साहित्य मे *घोषित जीवन-मूल्यो के एकदम विरुद्ध आचरण कर सकता है, कर रहा है, और* करेगा । उसी प्रकार दूसरा मानवतावादी कवि-साहित्यिक, घोषित जीवन-मूल्यों के विरुद्ध, अपने साहित्य में सस्थापित अथवा प्रतिबिम्बित जीवन-मूल्यो के विरुद्ध, लगातार आचरण करता हुआ आपको दिखायी देता है । मानो कि जीवन-मूल्यो की सस्थापना साहित्य के उत्तम अथवा साधारण होने की कसौटी नही ''!"

अब मैं उसकी पूरी बात समझ गया था । मैंने कहा, "मन-वचन-कर्म के सामजस्य की भारतीय साहित्यिक परम्परा के वह विरुद्ध जाता है ।"

उसने कहा, "केवल यही नही । साहित्य जीवन से उपजता है और अन्तत. उसका प्रभाव भी जीवन पर ही होता है । इसलिए हमे साहित्य के मनोवैज्ञानिक पहलू की तरफ देखना ही होगा । तब हम साहित्य के रूप-शिल्प की ही नही, वरन् उसके मनोवैज्ञानिक तत्त्वकी भी आलोचना करते हैं । और यदि हममे सूक्ष्म-दर्शिता है, और उचित मात्रा मे सवेदन-क्षमता है, तो हम यह देख लेते है कि उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के गुण क्या है, सामर्थ्य क्या, क्षमता क्या और सीमा क्या है ? सीमा पर हमारी दृष्टि जान-बूझकर ठहरनी चाहिए ।"

वह चुप हो गया । मैं और भी सुनना चाहता था । वह नि सन्देह इस समय दार्शनिक मन स्थिति मे था ।

उसने अपना निवेदन जारी रखा, "असल म साहित्य एक बहुत धोखे की चीज़ हो सकती है । वह एक विशाल वचना-स्वप्न भी हो सकता है । इसीलिए केवल एक ही कसौटी से साहित्य को नापना उचित नही । केवल साहित्यिक कसौटी से ही साहित्य को नापना, अथवा केवल समाजशास्त्रीय अथवा केवल मनोविज्ञानवादी दृष्टि से उसका मूल्याकन करना, मेरी दृष्टि से असगत है । वह, अन्तत , विघातक भी है ।

"यह बात अलग है कि एक विशेष अवधि मे विशेष साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए, अथवा अनुत्साहित करने के लिए, एक अलग नीति अपनाने के खयाल से, केवल एकरेखीय, एकदृष्टीय आलोचना की जाये । वह नीति सही है या गलत है—यह अलग प्रश्न है ।

"जीवन मे हर पहलू दूसरे पक्ष का अविच्छिन्न अग है । वे परस्पर-समाविष्ट हैं । वे परस्पर-प्रविष्ट हैं । हम वैचारिक सुविधा की दृष्टि से उन्हे एक-दूसरे मे अलग

करके देखते हैं। किन्तु यह वैचारिक सुविधा जिन्दगी पर थोपना बिलकुल ग़लत होगा।

"जब साहित्य जीवन से प्रसूत होकर जीवन को प्रभावित करता है, तो वस्तुत उसकी खरी कसौटी भी जीवन ही है। और यह जीवन वस्तुत एक कॉम्प्लेक्स चीज है। उसके विविध पक्ष और पहलू एक-दूसरे म समाहित, प्रविष्ट और परस्पर सन्निहित हैं। इस अन्तिम स्तर पर बात करते हुए आप देखेंगे कि साहित्य को हम विविधपक्षीय दृष्टियो से देखना आवश्यक है, और वस्तुत साहित्य की कसौटी एक नही, न अनक है, वरन् अनेको अभद्य इकाई हैं। इसलिए केवल यह कह देना कि साहित्य म प्रकट जीवन-मूल्य उसके साहित्यिक गुणो की कसौटी नही, मात्र एक अस्थायी कार्यकारी मान्यता क रूप म ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

"यह तो ठीक है कि जीवन मूल्य अथवा आदर्श प्रस्थापित करनेवाला साहित्य श्रेष्ठ तभी होता है, जब उसम उत्कट भावानुभूति हो। अर्थात् उत्कट भावानुभूति महत्त्वपूर्ण है। किन्तु जिसके प्रति वह भावानुभूति है वह वस्तु न केवल उस अनुभूति का आधार है, वरन् वह उस अनुभूति का उत्कट करने म सहायक होती है। वे जीवन मूल्य उस अनुभूति को तपाने म जब सहायक हो रहे हैं, तो साहित्यिक दृष्टि स उनका मूल्य बढ जाता है। उन जीवन-मूल्यो द्वारा संकलित जीवन के अन्तर्बाह्य सामजस्य और सगति का तक़ाजा भी कोई मानी रखता है। साहित्य से उसका तक़ाजा करना ग़लत नही है, माना कि वह तकाजा साहित्य के साहित्यिक गुणो की परख की कसौटी हमेशा नही हो सकता।"

सामजस्य और सगति की बात सुनते ही मेरा मन कुदुयान की तरफ खिंच गया। नि सन्देह वह सुन्दर थी। माना कि उसम सामजस्य था, वह लीजिए, सगति नही थी। अथवा वह लीजिये कि वह कृष्णमुरारी शुक्ला द्वारा अपनी अरक्षा से त्राण प्राप्त कर लेने के कारण, और उसक फलस्वरूप ही, उसम प्रेम करती थी। माना कि उसका स्नेह अरक्षा से त्राण की एक भावनात्मक प्रतिक्रिया थी। किन्तु क्या यह सही नहीं कि सामजस्य, सगति अथवा कोई नैतिक कल्पना, यदि यान्त्रिक रूप से जीवन पर लागू की जाये तो व्यक्ति के प्रति बहुत अन्याय हो सकता है। आचरण म सामजस्य, सगति अवश्य चाहिए। इसस कौन इनकार करेगा? किन्तु आये दिन लोग स्थूल और कृत्रिम तथा अपनी स्वार्थ-दृष्टि से दूसरों म सामजस्य की कल्पना को साकार देखना चाहते हैं। उस दृष्टि न मनुष्य के विरुद्ध बहुत-बहुत पाप किये हैं। थियॅरी म मन-वचन-कम के सामजस्य अथवा व्यक्तित्व की सगति की बात करना सहज भी ह आवश्यक भी है। किन्तु उसी थियॅरी को दूसरो पर लागू करते वक्त कितनी मर्मज्ञ विश्लेषण शक्ति और ज्ञान क्षम संवेदन-बुद्धि की आवश्यकता है, कितनी सहानुभूति-क्षमता की जरूरत है, यह किसी से छिपा नहीं है।

मेरा मित्र मेरी भावनाएँ नही ताड सका। उसका यह कहना बिलकुल ही ठीक था कि साहित्य मे प्रगतिवादी किन्तु जीवन म प्रतिक्रिया से घनिष्ठ सहचरत्व की पोषक, साहित्य म मानवतावादी किन्तु जीवन म शोषको की अभिन्न मित्र—इस प्रकार की विद्रूप, भयानक आकारवाली विसगतियाँ आलोचक न देख पायें, साहित्यिकगण 'सौजन्यवश' चुप रहे, लेकिन साहित्य से प्रेम रखनेवाली जनता

न्हे अपनी करोडो आँखो से देखती है। और चूँकि आलोचक और सम्पादक तथा ाहित्य के अन्य नेता इसे नही देख पाते, इसलिए वह उन्हे धिक्कारती भी है! यह ही है। यदि यह सच है कि साहित्य मे प्रकट या सस्थापित जीवन-मूल्य उस साहित्य साहित्यिक गुणो की कसौटी नही हैं, तो यह भी सच है कि वे जीवन-मूल्य के ष्टा से सगति की अपेक्षा रखते हैं। और यदि वह अपेक्षा भग हुई तो साहित्य ौर समाज मे उचित परम्परा का विकास नही हो सकता।

किन्तु उसके साथ-साथ यह भी सही है कि सामजस्य की कल्पना यान्त्रिक रूप लागू नही की जा सकती। यह तो ठीक है, और इस बात का शीघ्र पता चल ाता है, कि एक प्रगतिवादी विद्यार्थी-मजदूर-किसानो की हडतालें तोडता है या हो, या वह जनता के विरुद्ध अधिकारियो का गुप्तचर है या नही, अथवा वह एक हरी, दुरगी और दुमुँही नीति का अवलम्बन कर रहा है या नही। इनकी रूप-खाएँ स्पष्ट होती हैं, साधारण पढी-लिखी जनता इसे खूब जानती है। अवसर-ादी दृष्टियो और कार्यनीति के विविध रूपो और प्रकारो का तुरन्त पता चल ाता है। किन्तु···किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की विसगतियाँ छोड, जो तुरन्त ही प्रकट हो जाती हैं, अन्य विसगतियाँ पहचानना मुश्किल रहता , और बहुधा मनुष्य अपने मानसिक स्वार्थों की दृष्टि से अन्यो मे विसगतियो का ारोप कर लेता है। मनुष्य की मानसिक मनोवैज्ञानिक स्वार्थ-बुद्धि ऊँचे आदर्शों ो आगे करके उनके झण्डे के नीचे काम करती है। उनके मन्दिर मे बैठ अपना शकार करती है, अपना धन्धा करती है। इसीलिए वह अपनी पूर्ति के लिए, ामजस्य या सगति अथवा ऐसे ही किसी आदर्श की कल्पना को व्यक्ति पर यान्त्रिक रूप से लागू कर सकती है। क्या मालूम कि मेरे मित्र का कुट्याल पर लगाया गया ारोप बिलकुल सही है, और उसमे कही भी किसी गलती की मिलावट नही है। ौन जानता है!

यही वे विचार थे जो मेरे मन मे घूम रहे थे। मुझमे और मेरे मित्र मे एक भजीब ढग की दूरी बढ रही थी। हम दोनो साथ-साथ घर वापस लौट रहे थे। केन्तु मैं जरा फासले से चलता जा रहा था। हम दोनो चुप थे।

जब घर पहुँचनेवाले रास्ते के अन्तिम चौराहे तक मैं पहुँचा, तो मैंने अपने मेत्र से सिर्फ इतना ही कहा, "मनुष्य की ज्ञान-शक्ति की भी सीमाएँ हैं—क्या इसे पहचानना जरूरी नही है?"

उसने मेरी तरफ क्षण-भर देखा, उत्तर दिया, "बिलकुल सही। मैं स्वय यही बात सोच रहा था। हमे ज्ञान-शक्ति की सीमाओ का गहरे से-गहरा ज्ञान चाहिए, जिससे कि गलतियाँ टाल सकें, अपने कार्यों को अधिक फलप्रद बना सकें।"

जब मैं बिस्तर पर सोया, तो मुझे सुख ने चद्दर उढा दी।

[**वसुधा** मे प्रकाशित, अक्टूबर 1957। **एक साहित्यिक की डायरी** मे सकलित।]

# वीरकर

शहर के जरा दूर, शाम के वक्त, मैं और मेरे मित्र श्री वीरकर गोपाल-मन्दिर के इस छोटे-से चबूतरे पर बैठे हुए हैं। पता नही क्यो, किन्ही-किन्ही मन्दिरों का वातावरण मुझे बहुत अच्छा लगता है। साफ कह दूँ कि मेरा ईश्वर-वीश्वर में कोई विश्वास नही। फिर भी किन्ही-किन्ही वातावरणो मे हमेशा के लिए लीन हो जाने का जी करता है। छोटा-सा मन्दिर है। चारो ओर कुन्द, पारिजात, टगर, कन्हेर और चम्पा के पेड लगे हुए हैं, जो जगली मालूम होते है, क्योकि कोई उन वृक्षो की देखभाल नही करता। एक निर्जन पुण्य-पावन वातावरण है, जिसमे शाम के रग भीग गये हैं। अभी अकेलापन है। शायद छह-सात बजे लोगो का आगमन शुरू हो।

"शाम दुपहर को 'खो' देकर रात मे लीन हो जाती है और रात भी सुबह मे परिणत हो जाती है। यह चक्र चला आया है, चला चलता है। इसको प्रगति नही कहते।"

वीरकर ने इतना कहकर मेरी तरफ इस तरह देखा मानो वह कोई अत्यन्त गम्भीर सत्य कह रहा हो। उसकी बात मे कोई तन्त (तत्त्व) हो या न हो, मुझे वह आदमी पसन्द है, इसलिए उसकी बात मुझे एकदम निस्सार मालूम नही हो सकती। मैंने श्रद्धालु छायावादी मनोवृत्ति से उसके वक्तव्य मे अर्थ देखने की, खोजने की, टोह लेने की, कोशिश की। लेकिन प्रयत्न करने पर भी कुछ हाथ न आया, उसके वक्तव्य का अभिधार्थ तो स्पष्ट ही शून्यत्व है, यह मैंने महसूस किया, और भीतर-ही-भीतर इस बात की कोशिश करने लगा कि मैं उसे मूर्ख न समझूं।

वीरकर कहता गया, "उसको प्रगति नही कहते। मेरे खयाल से वह गति भी नहीं है।"

मैंने उकताकर एक बगासी दी और उससे स्पष्टीकरण माँगा।

उसने बहुत धीरे-धीरे कहना शुरू किया, मानो उसकी साँस उखड गयी हो, और वह बडे प्रयास से शब्दो को जोडकर वाक्य बना रहा हो। "आपने अभी कहा था कि हमारे काव्य, साहित्य या कला मे लाइफ का कॉण्टेण्ट (जीवन का तत्त्व) बहुत कम है।···मेरा विचार है कि आज की खास दिक्कत यह नहीं है कि साहित्य मे तत्त्व कम है, वरन् यह है कि जीवन मे बहुत अधिक है। वह जीवन जो जिया और भोगा जाता है, उसमे इतने अधिक तत्त्व हैं—सुबह से लेकर शाम तक मन पर उन तत्त्वो का इतना अधिक सवेदनात्मक प्रहार होता रहता है—कि उत्तेजित हो-होकर मस्तिष्क की रगें, मस्तिष्क के तन्तु, अपने आराम के लिए उन तत्त्वो को टाल देते हैं, भूल जाने की कोशिश करते हैं, और मन जान-बूझकर अपने मे शून्य का निर्माण कर लेता है।"

मुझे हतसश हो जाना चाहिए था। किन्तु मैं मात्र हतबुद्धि होकर उसकी तरफ देखने लगा। मैंने उसी की बात को निखारकर रखना चाहा। मैंने कहा, "शायद, आप यह कहना चाहते हैं कि आज के सचेत सवेदनशील कलाकार की समस्या यह नही है (कि कॉण्टेण्ट नहीं है) वरन् यह कि वह बहुत अधिक है, और वह सुबह से लेकर शाम तक लगातार इकट्ठा होता रहता है, कि उस कॉण्टेण्ट का प्रॉपर शिफ्टिंग

(उन तत्त्वों का यथायोग्य सकलन-सचयन) नही हो पाता। क्या आप यह कहन चाहते हैं।"

"देयर यू आर" (हाँ एकदम सही)। बीरकर ने उत्साहित होकर जवाब दिय और आगे जोडा, "लेखक के मन मे लगातार एकत्रित होते जानेवाले इन तत्त्व का इतना बोझ होता है, और ईश्वर ने या समय ने उसे इतना कम अवकाश दिय है, कि अनेक कलात्मक नमूनो म उनकी पुनर्रचना हो नही पाती। इसके फलस्वरू वे तत्त्व मर नही जाते, अण्डरग्राउण्ड चल जाते हैं। अथवा यो कह लीजिए वि लेखक अपने हृदय-मन को बधिर करने के लिए अपने मन मे किसी शून्यत्व क निर्माण कर लेता है, और वह स्वय भी उसम खो जाता है। मैं यह समझता हूँ वि लेखक को आज इस स्थिति से उबरने की आवश्यकता है।"

बीरकर ने यह आघात शायद मुझी पर किया था, अथवा उसकी व्यक्तिश अपनी कोई विशेष पार्श्वभूमि हो सकती है। मैं यह जानना चाहने लगा कि आखिर उसके मन मे क्या है।

बीरकर एक मँझोले कद का आदमी है। हाईस्कूल का मामूली टीचर है। साधारण परिस्थिति है। पढने-लिखने का शौक है। काफी घुमक्कड है। उसने लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी की हैं। आदमी दिलचस्प है। सबसे बडा गुण यह है कि वह मेरा दोस्त है।

मुझे लगा कि उसकी बात मे कुछ सार है। इसीलिए बात बढाते हुए मैंने उससे कहा, "लेकिन इन जीवन-तत्त्वो की अनेक नमूनो मे पुनर्रचना आखिर वह क्यो नही कर पाता? वह उनकी उपेक्षा क्यो करता है? मेरे खयाल से वह अपने भोक्ता मन के वस्तु-तत्त्वो से भाग रहा है अथवा उसम इतनी प्रतिभा नही है कि वह सबको उचित रूप से प्रस्तुत कर सके।"

बीरकर हँसा और मेरी तरफ देखते हुए कहा, "इसका जवाब आप खुद दे सकते हैं। लेकिन यह निस्सन्देह है कि अलग-अलग लेखक अलग-अलग जवाब देंगे। बहुत-से लेखको म प्रतिभा का अभाव, किसी मे उत्साह का अभाव, पता नही क्या-क्या!"

बीरकर ने मुझे एक झटके म अन्तर्मुख कर दिया और मैं यह सोचने लगा कि आखिर इस समस्या का रूप-रग क्या है और उसका मुझसे जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप क्या है।

मन्दिर के चबूतरे पर शाम को नीले धुँधलके म आसपास के वृक्षो के फूलो और पत्तियो की सुगन्ध आ रही थी। अभी रात के आठ भी नही बजे थे। न केवल वृद्ध और अधेड स्त्रियाँ, वरन् लडकियाँ और नवयुवक, मन्दिर मे आते, दूर ही से गर्भान्तिराल मे स्थित देवता पर फूल फेंकते, और हाथ जोडकर न मालूम क्या क्या बुदबुदाते हुए क्षण-भर प्रार्थनामग्न हो जाते। शहर की गडबड से दूर यह मन्दिर रात के साढे नौ बजे तक इसी तरह व्यस्त रहता। साधारणत मन्दिर जानेवाली इन नवयुवतियो और नवयुवको की इस प्रार्थनोन्मुख भावना पर मैं हँसा करता। लेकिन पता नही क्यों, आज मैंने व्यग्य नही कसा। मैं चुप रहा।

इन युवक-युवतियो को देख न जाने क्यो मैंने भरे हुए गले स बीरकर से सिर्फ इतना ही कहा, "परिस्थिति से सामजस्य के लिए यह जो आजीवन सघर्ष है, उसम कितनी मनोवैज्ञानिक शक्ति खर्च हो जाती है। पचीस साल तक के यौवन मे, जब

व्यक्ति की मानसिक शक्ति निर्माणशील प्रयत्नो मे लगनी चाहिए, वह कैसे बेहूदा युद्ध मे व्यय हो जाती है !"

वीरकर खुद अपने मे डूबा-डूबा-सा लग रहा था। उसने कहा, "लेखक के स्वभाव मे बहुत-सा आदर्शवाद रहता है या, कहिए, आदर्शवादी जिद रहती है। हम यह करेंगे, वह कतई नही करेंगे। किन्तु समाज या समय लेखक को या अन्य को ऐसा विकल्प देता कब है? उन्नति की तिमजिली इमारत में घुसकर ऊपर तक जाने के लिए सिर्फ एक ही जीना है, वह भी चक्करदार। उस पर बहुत भीड है। बडी ठेलमठेल है। लेखक कहता है, मैं उसके साथ खडा रहूँगा, उसके साथ नही। लेकिन परिस्थिति ने उसको यह विकल्प दिया ही कहाँ है? वह परिस्थिति से जबरदस्ती यह विकल्प लेना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि ठेलमठेल करती हुई भीड के नीचे वह कुचला जाता है, या इस इमारत के बाहर उसको एकदम खिसक जाना पडता है, या वह ठेल दिया जाता है। और साधारणतः ऐसे लोग अपनी वर्ग-श्रेणी से गिरे हुए होते हैं। वर्ग-श्रेणी से गिरे हुए की मन.स्थिति हमेशा खराब रहती है···"

मैंने कहा, "हाँ, अपने वर्ग की आदतें, सस्कार, भावनाएँ कहाँ जायेंगी?"

उसने कहा, "फिर भी उन्हे अपनी वर्ग-श्रेणी से गिरे हुए ही रहना पडता है। चूँकि वह उनकी सीढी से लुढककर गिरे हुए हैं, इसलिए वह वर्ग-श्रेणी उनका तिरस्कार करती है। मनुष्य पर न्याय-निर्णय देने का उसका मानदण्ड, व्यवहारतः, उसी वर्ग का होता है। मेरी हालत देखो, न! मेरी शेरवानी फटी हुई है, इसलिए वे मुझ पर दया करते हैं, कि मैं अयोग्य निकला, कि मैं अनुत्तरदायी हूँ! अनुत्तरदायी कौन, मैं या वे? मेरे नाते-रिश्तेदार सब उसी श्रेणी के हैं। इससे कृपा, तिरस्कार, आलोचना का विषय तो बनना ही पडता है।"

वीरकर ने दु ख-भरी हँसी हँसते हुए कहा, "अगर मैं उन्नति के उस जीने पर चढने के लिए ठेलमठेल करने लगूँ, तो शायद मैं भी सफल हो सकता हूँ। लेकिन ऐसी सफलता किस काम की, जिसे प्राप्त करने के लिए आदमी को आत्म-गौरव खोना पडे, चतुरता के नाम पर बदमाशी करनी पडे, शालीनता के नाम पर बिलकुल एकदम सफेद झूठी खुशामदी बातें करनी पडें! जिन व्यक्तियो को आप क्षण-भर टॉलरेट (सहन) नही कर सकते, उनके दरबार का सदस्य बनना पडे! हाँ, जो लोग यह सब कर लेते हैं, वे अपनी यश पताकाएँ फहराते हुए घर मे लौटते हैं, और कितने आत्मविश्वास से बात करते हैं, मानो उन्ही का राज्य है! बहुरूपिया शायद पुराना हो गया है, लेकिन उसकी कला इन दिनो अत्यन्त परिष्कृत होकर भभक उठी है।"

वीरकर कहता गया, "अब बताइए, हम-सरीखो पर क्या-क्या नही गुजरती। जिस वर्ग मे हम गिरे हैं [illegible]

कर रहा हूँ), हम अपनी 'ऐसी-तैसी' कराते फिरें! अजी, क्या बताऊँ, हमने जब चित्रकला-सोसाइटी खोली, तो हमें अजीबो-गरीब परिस्थिति का सामना करना पडा। खैर!"

मैंने कहा, "बताइए, बताइए!"

वीरकर ने जवाब दिया, ' जिन लडकियो को मामूली पोर्ट्रेट-पेंण्टिंग का अ-ब-स नही आता, 'खैर, छोडिए वह किस्सा ! जब हम उस सोसाइटी का वार्षिक सम्मेलन करने लगे तो मैं एक मिनिस्टर को बुलवा लाया। साहब, हमारे लोग कितने खुश ! मेरे पिताजी को लगा, मेरा लडका अब ठीक रास्ते पर जा रहा है। अजी, आपसे क्या कहूँ, मिनिस्टर के बँगले पर मेरे एक परिचित बैठे हुए थे। वह एक नेता का लडका था। मिनिस्टर की पीठ फिरते ही फुस-से कहता क्या है, हमारे पिताजी को प्लेटफॉर्म दिलवाइए न ?' जी हाँ, जनता मे उनको प्लेटफॉर्म नही मिल पाता, इसीलिए वे आजकल भूदान-आन्दोलन मे काम कर रहे हैं ! मैंने अपनी समिति के वार्षिकोत्सव की अन्तिम सभा का उन्हें अध्यक्ष बना दिया '' ओ हो ! मेरे लोगो को क्या खुशी हुई ! अब तक मैं निकम्मा ही नही, अयोग्य था ! लेकिन मेरी पहुँच उन तक देख, मेरी इज्जत कितनी बढी ! यह अब बिलकुल सम्भव है कि उनके जरिए मेरे बहुत-से काम निकल जायें। लेकिन वे लोग—कितने बदमाश, कितने गधे !"

मैंने वीरकर से कहा, "तुम अपने मुद्दे से भटक गये हो।"

उसने कहा, बिलकुल नही हमारा लेखक अपनी भौतिक, सामाजिक उन्नति के लिए दन्द-फन्द करता रहे, या स्वयं अपनी दिशा मे प्रगति के लिए वह कोशिश करे ? अगर उसने पहली बात छोडकर दूसरी बात की, तो उसके पीछे कुत्ते लग जाते हैं—भूख के, दयनीयता के, अपमान के, अभाव के, रोग के, यहाँ तक कि मृत्यु के। यदि दूसरी बात छोड पहली बात की, तो उसका मूल मन पिण्ड ही नष्ट हो गया समझिए। यदि उसने दोनो बाते एक साथ करना चाही तो वह इन दो घोडो पर एक साथ सवारी नही कर सकता, उसकी स्थिति न केवल उपहासास्पद हो जायगी, वरन् वह पहले दरजे का बदमाश भी बन जायेगा। ऐसे कई उदाहरण मैं अभी-के-अभी दे सकता हूँ। कहो तो नाम लूँ। बोलो, लूँ ?"

मैंने वीरकर से कहा, "मेरा तो सिर दुख रहा है।"

तडाक से जवाब मिला, ' तथ्यो से क्यो जी चुराते हो ? उस वर्ग के आलोचक तुम जैसो को कहते हैं कि तुम 'ऑब्सक्योर' हो। जो लिखते हो उसका ठीक-ठीक अर्थ समझ मे नही आता। या फलाँ हो, फलाँ हो। असल मे तुम्हारी दुनिया ही अलग है। तुम्हारी डिजिट्स (गणित) ही अलग है। तुम्हारा वातावरण ही अलग है। तुम्हारी प्रेरणा ही भिन्न है। वह भला उनके लिए अनुकूल क्यो होगी ? वह उन्हे समझ मे कैसे आ सकती है ? क्यो, वह उन्हें सुन्दर क्यो लगेगी ?"

मैंने वीरकर को डाँटकर कहा, "लेकिन तुम्हारी इस बात से इस तथ्य का क्या सम्बन्ध कि हमारी श्रेणी के लेखक के पास साहित्य से सम्बन्धित सवेदनात्मक

है, वह आँख मूंदकर तैरता है लेकिन पानी के बाहर सिर निकालकर जल का नील विस्तार-दृश्य नही देख पाता ! इन तत्त्वो की अनेक नमूनो मे पुनर्रचना करने के लिए, बहुत गहरी चिन्तन-शक्ति चाहिए। उसे इसकी फुरसत ही नही है। और फुरसत यदि है भी, तो बहुत थोडी-सी।"

मैं चुप रहा। मुझे लगा कि वह काफी हद तक सही कह रहा था। अब मुझे ही देखिए, न! दिन-भर मैं जिस दुनिया में प्रवेश करता हूँ उसे यदि देखा जाये तो वह स्वप्न-कथा का ही एक रूप है! वह एक विशाल उपन्यास है। वह एक चित्र-कथा है। उसमें कितने ही मनोहर और सुकुमार, भयंकर तथा विषादपूर्ण दृश्य हैं। अगर मैं अपनी तात्कालिक जीवन-गाथा के प्रसंग उठाकर लिखूँ, तो भी बहुत-कुछ हो सकता है। लेकिन क्या मैं ऐसा करता हूँ? नहीं। वास्तविक जीवन जीते समय, संवेदनात्मक अनुभव करना और साथ ही ठीक उसी अनुभव के कल्पना-चित्र प्रक्षेपित करना—ये दोनों कार्य एकदम एक साथ नहीं हो सकते। उसके लिए मुझे घर जाकर अपने में विलीन होना पड़ेगा। इसीलिए मैंने थियॅरी (सिद्धान्त) बनाकर रखी है, चाहे वह किसी को पसन्द हो या न हो, कि इन संवेदनात्मक तथ्यों या सत्यों का अण्डरग्राउण्ड (भूमिगत) हो जाना बुरा नहीं है।

मैंने यही बात अपने प्यारे मित्र वीरकर को बतायी। उसका विश्लेषण मुझे पसन्द आया, इसलिए मैं उसे यहाँ दे रहा हूँ।

उसने बताया कि "अनुभव-संवेदन और अनुभव-प्रक्षेपण दोनों साथ-साथ नहीं चलते, यह एकदम सही है। किन्तु जिस व्यक्ति का मन मूलतः क्रिएटिव (सर्जनशील) और कल्पना-प्रवण है, वह टेबिल पर लिखते वक्त कल्पना-प्रवण होता है, यह बात नहीं। उसकी सर्जनशील कल्पना-प्रवणता वस्तुतः दिन-भर चली चलती है। सच तो यह है कि वह उसके जीवन का एक धर्म है। जीवन का धर्म होते हुए भी, वह उस धर्म का यथायोग्य पालन नहीं करता, पालन करने की कोशिश भी नहीं करता। उदाहरण के लिए, उसे किसी विषय पर सम्पादकीय लिखना है। तुम पत्रकार हो। सम्पादकीय लिखते वक्त एकदम उस व्यक्ति का ध्यान जाता है इस बात पर, कि वह जो कुछ लिखना चाहता है, उसमें कई जगह सत्य की टाँग टूट रही है। उसकी कल्पना में एक इमेज फार्म होता है (एक चित्र उभरता है), एक व्यक्ति-भावना का, एक जिन्दगी का, अपने जीवन का दृश्य दीखता है कि वह कितनी झुठाई में जी रहा है। वह न केवल एक झूठ निर्माण कर रहा है, करता जा रहा है। उसमें एक डबल पर्सनैलिटी, एक द्वित्व है।" वीरकर ने मुझे चुनौती देते हुए कहा, "क्या तुमने इस डबल पर्सनैलिटी के जीवन-दृश्य प्रस्तुत किये?" उसने आगे कहा, "क्या नहीं किये? तुमने अपने धर्म का पालन क्यों नहीं किया?"

वीरकर, पता नहीं क्यों, बहुत उत्तेजित हो उठा। वह गड़गड़ा रहा था, गरज रहा था। उसने मुझ पर जब इस प्रकार का आक्रमण किया, तो मेरा हतबुद्धि हो जाना स्वाभाविक था। मैं क्रुद्ध हो उठा।

जब उसने मेरी भँवें देखीं और तमतमाया चेहरा देखा, तो वह हँस पड़ा और बोला, "यह मेरे प्रश्न का जवाब नहीं हुआ। 'डबल पर्सनैलिटी' इस शब्द से तुम्हें आपत्ति है, यह ठीक है। तुम्हारी आपत्ति साधार है। तुम अच्छे आदमी हो, इसीलिए मेरे दोस्त हो। आओ, चाय पी लो।"

मैंने कहा, "मुझे चाय-वाय नहीं पीनी। तुम निकम्मे आदमी हो।"

उसने मुझे शान्त करते हुए कहा कि "विवशतापूर्वक ही क्यों न हो, तुम्हें डबल पर्सनैलिटी न सही, डबल स्टैण्डर्ड रखना ही पड़ता है। मुझको भी रखना पड़ता है। तुम्हारी बुद्धि एक पण्य-वस्तु है—एक 'कॉमोडिटी' है। तुम बुद्धि बेचते हो, मैं

(महत्त्व) पहचानो। सामाजिक दृष्टि से तुम्हारा स्थान कुछ नही, इसलिए तुम अपने को हेठा या छोटा मत समझो। तुम मात्र एक सवेदनशील माध्यम हो। अपने को जाने-अनजाने हेठा या छोटा समझकर इस माध्यम को विकृत मत करो। अपन ही ईमानदार अनुभव-सवदनाओ को, तथा अपने जीवन के स्थायी भावो को, प्रॉपर पर्सपेक्टिव (सही परिप्रेक्ष्य) मे पहचानो।"

वीरकर की आवाज इतनी घनी-घनी हो रही थी कि मुझे लगा कि वह किसी भावना म बह रहा है। मुझे एकदम न जाने क्या उत्तेजना हुई। मैंने स्नेहपूर्वक उसके कन्धे को जोर स हिला दिया। उसने अन्त मे इतना कहा, "इन अनुभव-सवेदनो को सँजोकर रखना, उनसे सम्बन्धित जीवन-प्रसग और मानव-हृदय समेट-कर रखना, उन्हें नोट-बुक म टाँक लेना क्या जरूरी नही है ? स्वय को आन्तरिक रूप से सम्पन्न करने का यह भी एक तरीका है—क्या ऐसी बात नही है ?"

वीरकर की जिन श्रद्धामय प्रताडनायुक्त आँखो न मेरी तरफ देखा व वीरकर की नही थी। मेरी गली म चलता-फिरता साधारण वीरकर उपेक्षणीय व्यक्ति है। यह कोई और है, जिसम मानव-विकास दृश्य दखने का अभूतपूर्व सामर्थ्य है। यह एक महापुरुष है जो विश्व-स्वप्न देखता है।

मैं अपने म खो गया। हम धीरे-धीरे अलग-अलग चलने लगे। मैं मन म दुह राने लगा—सचमुच साहित्य से सम्बन्धित जीवन-तत्त्व बहुत ही अधिक हैं। लगा-तार होनेवाले विचित्र अनुभव-सवेदनो के एकदम साथ न सही, तो भी कदम ब कदम, किसी-न-किसी तरह, कोई-न-कोई, चाहे भिन्न ही सही, अनुभव प्रक्षेपण भी चलता रहता है, अपने स्वय के भीतर के कल्पना-पटल पर। इस तथ्य से कैसे इनकार किया जाय। यद्यपि इतने स्पष्ट रूप से वीरकर ने यह बात प्रस्तुत नही की थी। अपने ही कल्पना-पटल पर इन अनुभव-प्रक्षेपणो के सही-सही कलात्मक चित्र प्रस्तुत करने के लिए, न केवल मार्मिक मनन और उनके सकलन-सचयन की आवश्यकता है, वरन् इसके बहुत-बहुत पहले वर्ल्ड-व्यू (विश्व-दृष्टि) की आवश्य कता है। इस दृष्टि के अभाव मे अपने ही अनुभवो के ठीक-ठीक महत्त्व को हम आँक नही पात, और इसलिए केवल कुछ विशिष्ट अनुभवो या अनुभवाभासो को ही तरजीह देकर, अन्य महत्त्वपूर्ण अनुभवो का गला घोट देत हैं। क्या यह सच नही है ? मेरे खयाल से यह एक तथ्य है। इस रुख का नतीजा यह होता है कि बहुत बार हमारा साहित्यिक विकास जिस दिशा म जैसा होना चाहिए, वैसा नही हो पाता। हम जो अनुभव, साहित्य प्रकटीकरण क लिए, प्रवृत्तिवश चुन लेते हैं, उनकी हम बाद म आदत पड जाती है, उनके चित्रण-अकन का अभ्यास हो जाने के कारण हम केवल उन्ह ही प्रकट करत रहते है। शेष अनुभव, अपनी गहराई, तीव्रता तथा प्रभावशालिता के बावजूद, मन के अँधेरे मे पड़े रहते हैं, भले ही कभी-कभी उनकी गूँज हमारे द्वारा निर्मित साहित्य म चली आये। इसका कुल मिलाकर परिणाम यह होता है, हम कह नही सकते कि हमारे द्वारा निर्मित साहित्य, समाज तो जान ही दीजिए, हमारे व्यक्तित्व का भी सच्चा प्रतिनिधित्व करता है या नही। यदि

केवल साहित्य से कोई हमारे व्यक्तित्व का अनुमान करने बैठे तो वह धोखा खा जायेगा। हमने सस्कारवश या प्रवृत्तिवश, एक खास ढग का कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स, साहित्यिक भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति, की यान्त्रिक उत्तेजना बना रखी है। यह कहाँ तक उचित है?

मैं स्वय अशत इसका गुनहगार हूँ, लेकिन मुझे अपने पर विश्वास अथवा विश्वासाभास इसलिए है कि वीरकर-जैसे मेरे सहचर हैं, जो मुझसे हर उचित बात, छाती पर चढकर करवा लेंगे। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो बात होगी, वह यदि होनी है तो, अपने ढग से ही होगी।

[वसुधा मे प्रकाशित, नवम्बर 1957। **एक साहित्यिक की डायरी** मे सकलित।]

# एक मित्र की पत्नी का प्रश्नचिह्न

अगर आप मुझे सच कहने की इजाजत दें तो मै आपसे यह निवेदन करना चाहूँगा कि व्यक्तियो से मेरा सम्बन्ध बहुत अजीब किस्म का है। इसका कारण यह है कि व्यक्तित्व का जो विश्लेषण मैंने अपने तईं कर रखा है, उसका उस विश्लेषण से कोई सम्बन्ध नही है जो मैंन उस व्यक्ति से बचने के लिए अपने लिए तैयार रखा है। मसलन, हमारे एक दोस्त है। बहुत साधारण व्यक्ति हैं, लेकिन अगर आप उनका विश्लेषण करते जायें तो व केवल असाधारण प्रतीत नही होंगे, वरन् उनमे आपकी दिलचस्पी भी बढती जायेगी—एक गहरी वैज्ञानिक दिलचस्पी। हाँ, उनके बारे मे सच्ची और सही राय के लिए यह जरूरी है कि उनके प्रति देखने की आपकी दृष्टि मे कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थ भी न हो। लेकिन मुझमे तो बेहुतेरे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थ हैं। इसलिए मैं एक विश्लेषण तो ऐसा तैयार करता हूँ, जिसका अन्तिम उद्देश्य केवल अपनी आत्मरक्षा तथा उसके सम्बन्ध मे अपनी दृढता को और मजबूत करना है। मैंने जिन मित्र का जिक्र किया, मुझे मालूम है कि अमुक समय, अमुक अवसर पर, अमुक प्रकार से, ये मेरे हनन मे इच्छुक होंगे—यानी कि मुझे किसी-न-किसी गहरी उलझन मे डाल देंगे।

उन मित्र महोदय ने मुझे एक जमाने मे बडी गहरी मदद की है। वे मेरे सकट-त्राता रहे हैं। उन्होने जो मेरी मदद की वह हस्तामलकवत् थी, हाथ का मैल थी, यद्यपि वह मेरे तईं महान् महायता के रूप मे ही आयी। मुझे वह सहायता प्रदान करने की वजह से उन्हे तकलीफ तो कुछ हुई ही नहीं, असुविधा का तो सवाल ही नही उठता। लेकिन अब वे (मान लीजिए), मुझे दी गयी उस महायता के फल-स्वरूप मुझ पर अधिकार तो क्या, एकाधिकार भाव मे, कुछ ऐसे सुझाव (मेरे लिए वे आदेश हैं) दे रहे हैं जिन्हे अमल मे लाना मेरे लिए बहुत ही नामुमकिन है। वे कह रहे हैं कि मैं साल-भर, उनके साथ, उनके घर पर रहूँ। इसका मतलब यह हुआ कि मैं उनकी मुसाहिबी करूँ। बस, उनके दरबार मे डटा रहूँ। उन्हें

ारे समय की कोई कीमत नहीं है। कहने को तो उन्होंने यह कहकर रखा है कि मुझे उनकी बीवी को लॉजिक पढ़ाना होगा। पहली बात तो यह है कि उनकी बीवी कभी कोई लॉजिक पढ नही सकती। वे इल्लॉजिक की सीधी सादी मुसकराहट हैं! असल मे, मेरा पेशा यह होनेवाला है कि मैं न सिर्फ पतिदेव की, वरन् पत्नी-महोदया की भी, हृदय की गाथाएँ सुना करूँ! 'हृदय की गाथाएँ' एक ऐसा शब्द-समूह है कि मैं रात मे डरकर नींद से उठ बैठता हूँ। इसका कारण है। यह दम्पति सारी बातो म एकदम व्यावहारिक है, लेकिन मेरे प्रति आवश्यकता से अधिक भावुक हैं। मैं आया कि उन्हे ऐसा लगता है जैसे मिठाई का थाल आ गया हो। उनके लेखे, मै बहुत सीधा सादा, बहुत भला-भोला (यानी दयनीय रूप से निर्बुद्धि—मूर्ख अपने को कैसे कहूँ!) हूँ। बस यही मेरी सबसे बडी विशेषता है! तब, उन्हे कैसे कहूँ कि मैं उनसे बचने के लिए कई तरकीबें चलता हूँ, कई चालो मे एक साथ चला जाता हूँ! मै वस्तुत उनसे घृणा करता हूँ, क्योंकि उनके प्यार में एक नाटकीयता है, एक घनघोर आत्म-बद्ध भाव! स्पष्ट है कि उनकी बीवी को लॉजिक *क्या पढाऊँगा, जब उन्हे देखते ही मेरे सिर पर भी इल्लॉजिक सवार* हो जाता है, मुझमे न मालूम कैसी विरक्ति की मितली आन लगती है!

मैं उनसे एकदम दूर और बहुत दूर निकल जाना चाहता हूँ। लेकिन जब तक मैं इस शहर मे हूँ, यह असम्भव है। फिर मैं यह सोचने लगता हूँ कि आखिर वे मुझे इतना चाहते हैं तो इसम उनका क्या दोष है। वे अपने 'हृदय की गाथाएँ' मुझे नहीं सुनायेंगे तो और किसे सुनायेंगे? यह मेरी महान् अहं-वृत्ति है कि मैं उनको टालना चाहता हूँ, और अपन इस मनोवैज्ञानिक स्वार्थ से प्रेरित होकर मैं उनका विश्लेषण करने लगता हूँ। यह गलत है। यह असगत है। यह स्वार्थ है।

फिर भी इस स्वार्थ का एक ऐसा पहलू है जिसकी मुझे रक्षा करनी है। यदि मैंने उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया तो समझ लीजिए कि मेरी शामत आ गयी। मेरे बाल-बच्चे, मेरा स्वय का व्यक्तिगत जीवन, मेरा खुद का लिखना-पढना—यानी मैं-मैं-मैं—!

यह 'मैं' बेभाव नीलाम हो जायेगा। मै इतना सस्ता नहीं हूँ। उन्होने मुझ पर उपकार क्या किया, मेरी सारी ज़िन्दगी खरीदने की उन्होंने नैतिक क्षमता पा ली। और अब वे इस नैतिक दृष्टि से, उनके अपने फुरसत के समय मेरी निजी उपस्थिति के, उनके अपने अधिकार का जो निर्मम प्रयोग करते हैं, तो मैं हैरत मे रह जाता हूँ। उनकी यह अधिकार-भावना मुझे अत्यन्त अविवेकपूर्ण मालूम होती है। और सिर्फ उसे ही धक्का देने के लिए मैं कल उनके यहाँ नहीं गया।

लेकिन मैं सोचता हूँ कि नैतिक दृष्टि से प्राप्त अपना अधिकार छोड़ने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता। मैं तैयार नहीं होता। आखिर कमज़ोरी को उचित ठहराने के लिए मैं भी तो मनुष्य बन जाता हूँ। इसलिए उनकी मनुष्योचित कमज़ोरी को मैं क्यो न मानकर चलूँ? और जो कमज़ोरी सब मनुष्यो मे हो सकती है, वह कमज़ोरी नहीं, बल्कि मनुष्य की प्रकृति का गुण-धर्म है।

इसलिए व्यक्तित्व के विश्लेषण का कोई दूसरा रूप होना चाहिए। मेरा अनुभव यह बतलाता है कि साधारणत व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय, विश्लेषणकर्ता अपनी प्रकृति और स्वभाव का अधिक प्रयोग करता है (यह स्वाभाविक ही है), किन्तु सुननेवाल की दिलचस्पी, उसके विश्लेषण मे न बढ़कर,

उस विश्लेषणकर्ता की प्रकृति-स्वभाव म ज्यादा बढ जाती है। यह होता है, आपने भी इसका अनुभव किया होगा। तब बडा मजा आता है।

विश्लेषणकर्ता के विश्लेपण से अधिक, जहाँ विश्लेषणकर्ता स्वय महत्त्वपूर्ण बन जाये, वहाँ मनुष्य-स्वभाव का क्या कहना। इसीलिए मैं कहता हूँ विश्लेषित और विश्लेपक के वीच जो विचित्र और विशेप मानव सम्बन्ध होत है, उनकी विचित्रता और विशिष्टता मेरी जिज्ञासा का विषय होने के कारण, मैं साधारणत लोगों के विश्लेपणों पर अधिक विश्वास नहीं कर पाता। इससे अच्छा तो यह है कि विश्लेषित और विश्लेपक के वीच मानव-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाय और उन मानव-सम्बन्धों के सन्दर्भ से ही विश्लेषित और विश्लेपक का भी अध्ययन हो।

कुल मिलाकर मैं अपने को बहुत ही मूर्खतापूर्ण स्थिति मे पाता हूँ, क्योंकि मैं भी विश्लेपक हूँ और (विशेप मानव-सम्बन्धों के आधार पर ही) विश्लेपण करता हूँ। तब मैं अपने से यह पूछता हूँ कि क्या मानव-सम्बन्ध-रहित होकर, यानी अपन से ऊपर उठकर, व्यक्तित्व-विश्लेपण सम्भव है? मात्र तर्क कहता है, यह बिलकुल सम्भव है। मनुष्य अपने से परे जा सकता है। वह जाता भी है, गया भी है, और जायगा भी। विभिन्न प्रकार स प्राप्त अनक तथ्यों का सग्रह कर, वह अवश्य व्यक्तित्व विश्लेपण कर सकता है, और उसने किया भी है, तथा वह करता भी जायेगा।

किन्तु उसका विश्लेपण सही ही है, इसका क्या प्रमाण? इसकी कौन-सी कसौटी है? क्या वह छाती पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि उसका विश्लपण एकदम सत्य है? अगर मुझम पूछा जाये तो मै कहूँगा कि मेरे पास ऐसी किसी कसौटी का अभाव है। हाँ, अपन अनुभव से मैं यह कह सकता हूँ कि अमुक-अमुक निर्णय म सत्यांश है—खूब, काफी और डटकर। लेकिन मेरे अपने अनुभव को ही मैं सत्य की कसौटी नहीं मान सकता, क्योंकि मेर किसी भी अनुभव का एक हिस्सा मेरे अपन प्रकृति-स्वभाव से उत्पन्न हुआ है। हाँ, यदि यह अनुभव सार्वजनिक हो, आम हो, तो उसम सत्यता की मात्रा बढ जाती है। फिर भी अनुभव को अन्तिम कसौटी नही कहा जा सकता, क्योंकि वह देश-काल-निर्मित है। सॉक्रेटीज़ को वहुत बुरा आदमी कहकर ही फाँसी दी गयी थी। और अनेक शहीद अपन जमाने म बहुत बुरे बनकर ही मरे।

[illegible]

रखत हैं, वह मुझ बडा ही आवश्यकपूर्ण मालूम होती है। इसके विपरीत, मैं स्वय भी जो 'वैज्ञानिक व्यक्तित्व विश्लपण' किये रखता हूँ, वह मुझे समाधान और सन्तोष नहीं देता। देखिए, न।

व्यक्तित्व के न मालूम कितने ही पहलू है जो मुझमे छिपे हुए है, जैस पखुरी के भीतर पखुरी अथवा प्याज की परतों के अन्दर की परतें। इसके अलावा व्यक्तित्व का जो रूप आज हम दिखायी देता है, कहाँ तक स्थायी है, हम नहीं कह सकते। तीसरे, सबसे बडी बात यह है कि व्यक्तित्व के निर्माण की कार्य-कारण-परम्परा का यदि अध्ययन करें, तो आप देखेंगे कि व्यक्तित्व-निर्माण मे चेतन-मन का रोल

बहुत ही कम होता है, और उससे कम रोल सकल्प-शक्ति का। दोनो के रोल निस्सन्देह कम होते हैं, लेकिन होते हैं बहुत ही महत्त्वपूर्ण—इतने महत्त्वपूर्ण कि उन्ही के कारण मनुष्य मनुष्य है। फिर भी आप जिसे व्यक्तित्व या चरित्र कहते है, वह चेतन काम के बहुत बाहर की चीज है, मानो हीरे को धारण किये हुए एक शिला। आत्म-साक्षात्कार बहुत आसान है, स्वय का चरित्र-साक्षात्कार अत्यन्त कठिन है। मैं अपना चरित्र-साक्षात्कार नही करता, लेकिन अन्यो का चरित्र विश्लेषण करने बैठ जाता हूँ। और मैं जब उनके सम्मुख इस प्रकार विश्लेषण करने बैठ जाता हूँ, तब उन्हे आघात होता है, इसलिए कि उनका चरित्र उनकी आँखो से ओट है। और जब वे मेरा चरित्र विश्लेषण करने लगते हैं, तब मैं भी क्रुद्ध हो जाता हूँ, क्योकि मेरा चरित्र भी मेरी आँखो से ओट है। मतलब यह कि हम आँखो से ओट अपने कोनो का शिकार किसी को करने देना नही चाहते।

यह चरित्र आत्म-निर्मित तथा परिस्थिति-निर्मित होने के कारण, हम निर्णायक महत्त्व आत्म-तत्त्व को दें या परिस्थिति को—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका जवाब, सन्तोषजनक और समाधानकारक रूप से, अब तक नही दिया जा सका है। वैसे भी, पहले मुर्गी आयी कि अण्डा—इस प्रश्न का उत्तर समाधानकारी रूप से कहाँ मिला है? आत्म-पक्ष और परिस्थिति-पक्ष, एक ही वास्तविकता के दो अग हैं। और इन दोनो म ऐसे गहरे अन्त सम्बन्ध हैं जिनका सही-सही पूरा ब्यौरा देना नामुमकिन है।

इसलिए साहित्य मनुष्य के आशिक साक्षात्कारों के बिम्बो की एक मालिका तैयार करता है। ध्यान रहे कि वह सिर्फ बिम्ब-मालिका है, और उसका सारा सत्यत्व औरऔचित्य मनुष्य के जीवन या अन्तर्जगत् म स्थित है। चूंकि सभी मनुष्यो

एक दिशा-दृष्य, एक डायमेशन, एक आभास ही मिलेगा, एक रोशनी ही मिलेगी—सिर्फ एक रोशनी। सत्य का प्रकाश सत्य से भिन्न है। साहित्य म प्रकाश ही प्रकाश है। किन्तु हम प्रकाश मे सत्यो को ढूँढना है। हम केवल साहित्यिक दुनिया म नही, वास्तविक जीवन म रहते हैं। इस जगत् मे रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।

मतलब यह है कि हमारी इतनी बडी विवशताएँ हैं कि हम व्यक्तित्व या चरित्र के वैज्ञानिक विश्लेषण पर शत-प्रतिशत भरोसा नही रख सकते। हमे नही रखना चाहिए। फिर भी मनुष्य के पास वैज्ञानिक बुद्धि है, तटस्थ भाव भी है, और इसका अनवरत प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है, और, जहाँ तक बने, अपने से परे होकर, इस प्रकार का वैज्ञानिक विश्लेषण जरूरी भी है। और मनुष्य उसे करता भी है।

किन्तु यदि उसकी सीमाएँ समझ ली जाये तो हम व्यर्थ के राग-द्वेष और व्यर्थ की शत्रुताओ से बच जाते हैं, साथ ही आत्मरक्षा भी कर लेते हैं। और यदि तटस्थ निर्मल भाव से किया गया वैज्ञानिक विश्लेषण काफी से सत्याश भी प्रकट करता है, तो व्यक्ति पर हमारा अधिकार भी बढ जाता है। इसीलिए मेरा सुझाव है, व्यक्तित्व का विश्लेषण दो प्रकार से किया जाये। एक तो केवल विशुद्ध आत्म-

हित के भाव से, दूसरे, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्वार्थों को हटाकर। यदि हम अपने जीवन को एक उपन्यास समझ लें, और हमारे जीवन मे आनेवाले लोगो को केवल पात्र, तो ज्यादा युक्ति-युक्त होगा। और हमारा जीवन भी अधिक रसमय हो जायेगा।

लेकिन यह सब मैं क्यो लिख रहा हूँ? इसलिए कि आज की जिन्दगी कुछ यों है कि उसमे एक-दूसरे को लेकर बहुत जहर उगला जाता है। जितनी निष्ठा व्यक्तित्व-विश्लेषण म बतलायी जाती है, उतना ही वातावरण अधिक कड़ुआ हो जाता है। लगता है कि लोगो को मिथ्या विश्लेषण की आदत पड गयी है। यह बौद्धिक व्यवहार अहकार का एक बडा भारी विक्षेप हो गया है। ऐसा क्यो? मध्यवर्गीय लोगो मे वैठे-ठाल का यह मजेदार रोग उस ठसपने को बताता है जो उनके हृदय म व्याप्त है। वे आपसे इस प्रकार के विश्लेषण मे जितनी घनघोर आस्था प्रकट करते है, उतनी ही अनास्था मनुष्य के विकास मे होती जाती है। मैं अपनी अनास्था से शुरू होकर आस्था म आ जाता हूँ, वे आस्था से शुरू होकर, अपने अनजाने ही, या जानते मे भी, मात्र शुद्ध अनास्था मे विलीन होने लगते हैं। यह अच्छी बात नही है। इसलिए मैं अपने 'वैज्ञानिक चरित्र-विश्लेषण' को केवल काम चलाऊ कार्यकारी मान्यता के रूप मे ही ग्रहण करने की ताईद करता हूँ। क्या यह गलत है?

यदि यह सही है तो मैं अपने उपकारी मित्र और उनकी पत्नी महोदया के प्रति क्यो न उन्मुख रहूँ? जरूर मैं उनकी बीबी को लॉजिक पढाऊँगा।

लेकिन उस महिला को लॉजिक पढाने की याद आते ही मैं अपनी ही इस ताईद को भूल जाता हूँ, कि उनके बारे म जो मैंने राय बना रखी है वह सिर्फ कामचलाऊ कार्यकारी मान्यता है। मेरी साँस फूलन लगती है—मानो मुझे अब विकट परिस्थिति का सामना करना पड रहा है। आखिर मैं अनुभवो को कैसे झुठलाऊँ? उनके बिना तो ज्ञान असम्भव है। इन्ही अनुभवो के द्वारा ही मुझे दुनिया की पहचान होती है। हाँ, मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना या अज्ञान प्राप्त करना, मेरी योग्यता पर, मुझमे सचित ज्ञान-तत्त्वो पर, ही निर्भर है। ज्ञान से ही ज्ञान खिचता है। ज्ञात से अज्ञात की ओर जाया जाता है। ज्ञात से ज्ञात की ओर जाना—एक गोल-गोल वर्तुल मे घूमना हुआ। इसीलिए मैं लॉजिक पढाने के अनुभव के दौरान मे इस बात का ध्यान रखूँगा कि आगे चलकर मुझे इस व्यक्तित्व के बारे म कौन-सा नया ज्ञान, यानी अज्ञात का ज्ञान, प्राप्त होगा।

लेकिन मुझे अज्ञात से डर लगता है। न मालूम कौन-सा अज्ञात अब मेरा इन्तजार कर रहा है। और मैं यह मानने के लिए प्रवृत्त हूँ कि हर तरह के अज्ञात के प्रति आकर्षित होना बुद्धिमत्ता नहीं है। मैं इस दुविधा मे पडा रहता हूँ कि मुझे इलहाम होता है (इलहाम के बग़ैर हम लोगो का चल नही सकता।)—वह यह है कि अपनी ज्ञान की सीमाएँ और उसकी विवशताएँ समझो, और इसीलिए अन्यों को 'सन्देह का फायदा' दो। किन्तु साथ ही इन विवशताओ से पराजित होने की आवश्यकता नही है। ज्ञात स अज्ञात की ओर जाने का कार्यक्रम बना डालो, डरो नही। ज्ञात मे अज्ञात की ओर जाने से ही ज्ञान की विवशताएँ टूटती रहेंगी, उसकी सरहदें टूटती रहेगी। लेकिन जिस दिन से आप केवल ज्ञात से ज्ञात

की ओर जायेंगे उस दिन आप केवल अपनी ही कील पर अपने ही आसपास घूमते रहेंगे। यह अच्छा नहीं है। इसलिए आपको अज्ञात से डरने की जरूरत नहीं। एक बार अज्ञात के एक हिस्से को ज्ञात बना लेने पर पहले का ज्ञात भी कुछ नया रूप धारण करेगा। उसको यह नया रूप धारण करने दो, उसकी इस क्रिया मे बाधा मत डालो।

[वसुधा मे प्रकाशित, जनवरी 1958। एक साहित्यिक की डायरी में सकलित।]

# तीसरा क्षण

आज से कोई बीस साल पहले की बात है। मेरा एक मित्र केशव और मैं दोनो जगल जगल घूमने जाया करते। पहाड-पहाड चढा करते नदी-नदी पार किया करते। केशव मेरे-जैसा ही पन्द्रह वर्ष का बालक था। किन्तु वह मुझे बहुत ही रहस्यपूर्ण मालूम होता। उसका रहस्य बडा ही अजीब था। उस रहस्य से मैं भीतर-ही-भीतर बहुत आतकित रहता।

केशव ने ही बहुत-बहुत पहले मुझे बताया कि इडा, पिंगला और सुषुम्ना किसे कहते हैं। कुण्डलिनी-चक्र से मुझे बडा डर लगता। उसने हठयोगियो की बहुत-सी बातें बडे ही विस्तार के साथ वर्णन की।

केशव का सिर पीछे से बहुत बडा था। आगे की ओर लम्बा और विस्तृत था। माथा साधारण और घनी-घनी भौहो के नीचे काली आँखें, बहुत गहरी, मानो दो कुएँ पुतली के काँच से मढे हुए हो। यह भी लगता कि उसकी आँखें तलघर हैं। यह भी महसूस होता कि उसकी आँखो के नीचे कोई दूसरी आँखें और जमी हुई हैं। आँखो के बीच नाक की शुरुआत पर घनी घनी भौंहों की दोनो पट्टियाँ नीचे झुककर मिल जाती थी। कभी-कभी नाई द्वारा वह इस मिलन स्थल पर भौंहो के बाल कटवा लेता। लेकिन उनके रोएँ फिर उग आते। आँखो के नीचे फीका पीला, लम्बा, शिथिल और उक्ताया हुआ थका चेहरा था।

कशव मझोले कद का बालक था जिसे खेलने कूदने स कोई मोह नही था। उसका ।णित विषय अच्छा था। इसीलिए केशव मेरे लिए मिडिल और मैट्रिक मे जरूरी हो उठा था।

फिर भी मैं केशव के प्रति विशेष उत्साहित नही था। मुझे प्रतीत हुआ कि वह मेरे प्रति अधिक स्नेह रखता है। वह मेरे पिताजी के श्रद्धेय मित्र का लडका था, इसलिए उसके यहाँ मेरा काफी आना-जाना था।

केवल एक ही बात उसम और मुझम समान थी। वह बडा ही घुमक्कड था। मैं भी घूमने का शौकीन था। हम दोनो सुबह-शाम और छुट्टी के दिनो म तो दिन-भर दूर-दूर घूमने जाया करते।

इसके बावजूद, उसका लम्बा चेहरा फीका और पीला रहता। किन्तु वह

मुझसे अधिक स्वस्थ था, उसका डील ज्यादा मजबूत था। वह निस्सन्देह हट्टा-कट्टा था। फिर भी उसके चेहरे की त्वचा बहुत फीकी पीली रहती। पीले लम्बे चेहरे पर घनी भौंहो के नीचे गहरी-गहरी काली चमकदार कुएँ-नुमा आँखें और सिर पर मोटे बाल और गोल अडियल मजबूत ठुड्डी मुझे बहुत ही रहस्य-भरी मालूम होती। केशव में बाल-सुलभ चचलता न थी। वह एक स्थिर-प्रशान्त पाषाण मूर्ति की भाँति मेरे साथ रहता।

मुझे लगता कि भूमि के गर्भ म कोई प्राचीन सरोवर है। उसके किनारे पर डरावने घाट, आतककारी देव-मूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भकक्षोंवाले पुराने मन्दिर हैं। इतिहास ने इन सबको दबा दिया। मिट्टी की तह-पर-तह, परतो पर-परतें, चट्टानो-पर-चट्टानें छा गयी। सारा दृश्य भूमि मे गड गया, अदृश्य हो गया। और उसके स्थान पर युकलिप्टस के नये विलायती पेड लगा दिये गये। बँगले बना दिये गये। चमकदार कपडे पहने हुई खूबसूरत लडकियाँ घूमने लगी। और उन्ही किन्ही बँगलो मे रहने लगा मेरा मित्र केशव, जिसने शायद पिछले जन्म म, या उसके भी पूर्व के जन्म मे, उसी भूमि-गर्भस्थ सरोवर का जल पिया होगा, वहाँ विचरण किया होगा।

मनुष्य का व्यक्तित्व एक गहरा रहस्य है—इसका प्रथम भान मुझे केशव द्वारा मिला—इसलिए नही कि केशव मेरे सामन खुला मुक्त-हृदय नही था। उसके जीवन में कोई ऐसी बात नही थी, जो छिपायी जाने योग्य हो। इसके अलावा वह बालक सचमुच बहुत दयालु, धीर-गम्भीर, भीषण कष्टो को सहज ही सह लेनेवाला, अत्यन्त क्षमाशील था। किन्तु साथ ही वह शिथिल, स्थिर, अचचल, यन्त्रवत् और सहज-स्नेही था। उसम सबसे बडा दोष यह था कि उसमे बालकोचित, बाल-सुलभ, गुण-दोष नही थे। मुझे हमेशा लगा कि उसका विवेक वृद्धता का लक्षण है।

जब हम हाई-स्कूल मे थे, केशव मुझे निर्जन अरण्य-प्रदेश मे ले जाता। हम भर्तृहरि की गुहा, मछिन्दरनाथ की समाधि, आदि निर्जन किन्तु पवित्र स्थानो मे जाते। मगलनाथ के पास क्षिप्रा नदी बहुत गहरी, प्रचण्ड, मन्थर और श्याम-नील थी। उसके किनारे-किनारे हम नये-नये भौगोलिक प्रदेशो का अनुसन्धान करते। क्षिप्रा के किनारो पर गैरव और भैरव साँझें बितायी। सुबहें और दुपहर अपने रक्त मे समेट ली। सारा वन्य प्रदेश श्वास मे भर लिया। सारी पृथ्वी वक्ष मे छिपा ली।

मैंने केशव को कभी भी योगाभ्यास करते हुए नही देखा, न उसने कभी सचमुच ऐसी साधना की। फिर भी वह मुझसे योग की बातें करता। सुषुम्ना नाडी के केन्द्रीय महत्त्व की बात उसने मुझे समझायी। षट्चक्र की व्यवस्था पर भी उसने पूर्ण प्रकाश डाला। मेरे मन के अँधेरे को उसके प्रकाश ने विच्छिन्न नहीं किया। किन्तु मुझे उसके योग की बातें रहस्य के मर्मभेदी डरावने अँधेरे की भाँति आकर्षित करती रहतीं, मानो मैं किन्ही गुहाओ के अँधेरे मे चला जा रहा हूँ, और कही से *(किसी स्त्री की) कोई मर्मभेदी पुकार मुझे सुनायी दे रही है।*

मैंने अपने मन का यह चित्र उसे कह सुनाया। वह मेरी तरफ अब पहले से भी अधिक आकर्षित हुआ। बहुत सहानुभूति से मेरी तरफ़ ध्यान देता। धीरे-धीरे मैं उसके अत्यन्त निकट आ गया। उसकी सलाह के बिना काम करना अब मेरे लिए

असम्भव हो गया था।

साधारण रूप से, मेरे मन मे उठनेवाली भाव-तरगें मैं उसे कह सुनाता—चाहे वे भावनाएँ अच्छी हो, चाहे बुरी, चाहे वे खुली करने लायक हो, चाहे ढाँकने लायक। हम दोनो के बीच एक ऐसा विश्वास हो गया था कि तथ्य का अनादर करना, छुपाना, उससे परहेज करके दिमागी तलघर मे डाल देना, न केवल ग़लत है, वरन् उससे कई मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं।

एक बात कह दूँ। अपने खयाल या भाव कहते समय मैं बहुत उच्छ्वसित हो उठता। मुझे लगता कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमे अँधेरा है, अँधेरे म सीढियाँ है। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढी पानी मे डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वय को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल मे कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ। अथाह और एकदम स्याह-अँधेरे पानी की सतह पर चाँदनी का एक चमकदार पट्टा फैला हुआ है, जिसम मेरी ही आँखें चमक रही है, मानो दो नील मूँगिया पत्थर भीतर उद्दीप्त हो उठे हो।

मेरे मन के तहखाने मे उठी हुई ध्वनियाँ उसे आकर्षित करती। धीरे-धीरे वह मुझमे ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। मैं जब उसे अपने मन की बातें कह सुनाता, तो वह क्षण-भर अपनी घनी भौंहोवाली प्रशान्त-स्थिर आँखो से मेरी तरफ देखता रहता। साधारण बातें, जो कि हमारे समाज की विशेषताएँ थी, हमारी चर्चा का विषय बनती। यद्यपि उसकी ज्ञान सम्पत्ति अल्प ही थी, हमारी चर्चाएँ विविध विषयो पर होतीं। मुझे अभी तक याद है कि उसन मुझे पहली बार कहा था कि गांधीवाद ने भावुक कर्म की प्रवृत्ति पर कुछ इस ढग से जोर दिया है कि सप्रश्न बौद्धिक प्रवृत्ति दबा दी गयी है। असल म यह गाधीवादी प्रवृत्ति प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष की बौद्धिक क्रियाओ का अनादर करती है। यह बात उसने मुझे तब कही थी जब सन् तीस-इकतीस का सत्याग्रह खत्म हो चुका था और विधान-सभाओ मे घुसने की प्रवृत्ति जोर पकड रही थी। तब हम स्थानीय इण्टरमीडिएट कॉलेज के फ़र्स्टईयर म पढते थे। तभी हमने रूस के पचवर्षीय आयोजन का नाम सुना था।

इसके बाद हम डिग्री कॉलेज म पहुँचे—किसी दूसरे शहर म। मुझे नही मालूम था कि केशव ने भी वही कॉलेज ज्वॉयन किया है। मैंने उसके बारे मे जानकारी लेने की कोई कोशिश भी नही की थी। सच तो यह है कि मेरा उसके प्रति कोई विशेष स्नेह नही था, न कोई आकर्षण। ऐसे पापाणवत् प्रशान्त, गम्भीर व्यक्ति मुझे पसन्द नही। हाँ, उसके प्रति मेरे मन म सम्मान और प्रशसा के भाव थे। और, चूँकि वह मुझे बहुत चाहता था, इसलिए मुझे भी उसे चाहना पडता था। शायद उसे मेरी यह स्थिति मालूम थी। लेकिन कभी उसने अपने मन का भाव नही दरशाया इस सम्बन्ध मे।

और, एक बार, जब हम दोनो फोर्थ ईयर मे पढ रहे थे, वह मुझे कैण्टीन मे चाय पिलाने ले गया। केवल मैं ही बात करता जा रहा था। आखिर वह बात भी क्या करता—उस बात करना आता ही कहाँ था! मुझे फिलॉसफी म सबमे ऊँचे नम्बर मिले थे। मैंन प्रश्नो के उत्तर कैसे-कैसे दिये, इसका मैं रस-विभोर होकर वर्णन करता जा रहा था। चाय पीकर हम दोनो आधी मील दूर एक

तालाब के किनारे जा बैठ। वह वैसा ही चुप था। मैंने साइकोऐनेलिसिस की बात छेड दी थी। जब मेरी धारा प्रवाह बात से वह कुछ उकताने लगता तब वह पत्थर उठाकर तालाब मे फक मारता। पानी की सतह पर लहरें बनता और डुप्प डुप्प की आवाज।

साँझ पानी के भीतर लटक गयी थी। सन्ध्या तालाब मे प्रवेश कर नही रही थी। लाल भडक आकाशीय वस्त्र पानी म सूख रहे थे। और मैं सन्ध्या के इस रगीन यौवन स उन्मत्त हो उठा था।

हम दोनो उठ चले और दूर एक पीपल क वृक्ष के नीचे खड हो रहे। एकाएक मैं अपन से चौंक उठा। पता नही क्यो मैं स्वय एक अजीब भाव से आतकित हो उठा। उस पीपल वक्ष के नीच अँधरे म मैंने उससे एक अजीब और विलक्षण आवेश म कहा शाम रगीन शाम मेरे भीतर समा गयी है बस गयी है। वह एक जादुई रगीन शक्ति है। मुझ उस सुकुमार ज्वाला ग्राही जादुई शक्ति से—यानी मुझस मुझ डर लगता है। और सचमुच तब मुझ एक कँपकँपी आ गयी।

इतने म शाम सावली हो गयी। वृक्ष अँधरे के स्तूप-व्यक्तित्व बन गये। पक्षी चुप हो उठ। एकाएक सब ओर स्तब्धता छा गयी। और फिर इस स्तब्धता के भीतर स एक चम्पई पीली लहर ऊँचाई पर चढ गयी। कॉलेज के गुम्बद पर और वक्षो के ऊचे शिखरो पर लटकती हुइ चादनी सफद धोती सी चमकने लगी।

एकाएक मेरे कन्ध पर अपना शिथिल ढीला हाथ रख केशव न मुझसे कहा याद है एक बार तुमने सौन्दय की परिभाषा मुझम पूछी थी ?

मैंने उसकी बात की तरफ ध्यान न देते हुए बेरुखी भरी आवाज म कहा हाँ।

अब तुम स्वय सौन्दय अनुभव कर रहे हो।

मैं नही जानता कि मैं क्या अनुभव कर रहा था। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि किसी मादक अवणनीय शक्ति न मुझ भीतर से जकड लिया था। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उस समय मेरे अन्त करण के भीतर एक काई और व्यक्तित्व बैठा था। मैं उसे महसूस कर रहा था। कई बार उसे महसूस कर चुका था। किन्तु अब ता उसने भीतर स मुझ बिलकुल ही पकड लिया था। मैं जो स्वय था वह स्वय हो गया था। अपन से वृहत्तर विलक्षण अस्वय !

एकाएक उस पाषाण मूर्ति मित्र की भीतरी रिक्तता पर मेरा ध्यान हो आया। वह मुझसे कितना दूर है कितना भिन्न है कितना अलग है—अवाछनीय रूप से भिन्न !

वह मुझस पण्डिताऊ भाषा मे कह रहा था किसी वस्तु या दृश्य या भाव से मनुष्य जब एकाकार हो जाता है तब सौन्दय-बोध होता है। सब्जेक्ट और आब्जेक्ट वस्तु और उसका दशन इन दो पृथक तत्त्वो का भेद मिटकर जब सब्जेक्ट आब्जेक्ट स तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तब सौन्दय भावना उद्‌बुद्ध होती है।

मैंने उसकी बात की तरफ कोई ध्यान नही दिया। सौन्दय की परिभाषा व कर जा उसमे अछूते हैं जैस मरा मित्र केशव ! उनकी परिभाषा सही हो तो क्या। ग़लत हो तो क्या ! इससे क्या होता-जाता है !

दिन गुजरते गये। एक ही गाँव के हम दो साथी, भिन्न प्रकृति के, भिन्न गुण-धर्म के, भिन्न दिशाओ के। एक-दूसरे से उकता उठने के बावजूद हम दोनो मिल जाते। चर्चा करने लगते। मेरी जबान कतरनी-जैसी चलती। केशव साँकल से लगे हुए, फिर भी खुले हुए, ढीले ताले-सा प्रतीत होता। कोई मकान के अन्दर आये, देख-भाल ले, चोरी-चपाटी कर ले, लेकिन जाते-वक्त साँकल मे ताला जरूर अटका जाये, वह भी खुला हुआ, चाबी लगाने की जरूरत नही। ताला भीतर से टूटा है, चाबी लग ही नही सकती।

लेकिन इस ताले मे एक दिन अकस्मात् चाबी भी लग गयी। छुट्टी का दिन। वृक्षो के समीप धूप अलसा रही थी। मैं घर म बैठे-बैठे 'बोर' हो रहा था। मैंने साइकिल पर आते हुए और धूप मे चमकते हुए एक चेहरे को दूर से देखा।

इधर मैंने काफी कविताएँ लिख ली थी। सोचा, शिकार खुद ही जाल मे फँसने आ रहा है। केशव का चेहरा उत्तप्त था। चेहरे पर कुछ नयी बात थी जिसको मैं पहचान नही पाया। कविताओ से मुझे इतनी फुरसत नही थी कि मैं केशव की तरफ ध्यान दे सकूँ। मैं तो अपने नशे मे रहता था।

अगर मैं बोलना न शुरू करता तो चुप्पी काली होकर घनी और घनी होकर और भी काली और लम्बी हो जाती। इसलिए मैंने ही बोलना शुरू किया, "कैसे निकले ?"

केशव गरदन एक ओर गिराकर रह गया। उसके बाल तब आधे माथे पर आ गये। मुझे लगा, वह आराम करना चाहता है।

उसने आरम्भ किया, "मैंने बहुत-बहुत सोचा कि एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स क्या है ! आज मैंने इसी सम्बन्ध मे कुछ लिखा है, तुम्हे सुनाने आया हूँ।"

भीतर दिल मे मेरी नानी मर गयी। मैं खुद कविताएँ सुनाने की ख्वाहिश रखता था। अब यह केशव अपनी सुनाने बैठेगा। मेरी सारी दुपहर खराब हो जायेगी। शी' !

मैंने प्रस्ताव रखा, "अपने उस विषय पर बात ही क्यो न कर लें।"

"जरूर, लेकिन तुम्हे डिसिप्लिन से बात करनी होगी।" यह कहकर वह मुसकरा दिया।

यह मुसकराहट मुझे चुभ गयी। तो क्या मैं इतना पागल हूँ कि बात करने मे भटक जाता हूँ ! इस साले ने बहुत ध्यानपूर्वक मेरे स्वभाव का अध्ययन किया होगा। शायद मैं ही इसे बहुत 'बोर' करता रहा हूँगा ! अपने स्वभाव के अध्ययन के इतने अधिक और इतने प्रदीर्घ अवसर किसी को देना शायद उचित नही था। मैं तो उल्लू-सरीखा बोलता जाता हूँ, और ये हजरत अपने दिमाग की नोटबुक मे मेरी हर गलती टीप लेते हैं !

मैंने विश्वास दिलाने की जबरदस्त चेष्टा और कुचेष्टा करते हुए कहा, "बात बिलकुल ढग से ही होगी।"

उसने कहा, "मैंने तुम्हें बताया था कि 'निज' और 'पर', 'स्व-पक्ष' और 'वस्तु-पक्ष' दोनों जब एक हो जाते हैं तब तादात्म्य उत्पन्न होता है।"

उसके भावो की गम्भीरता कुछ ऐसी थी, चेहरा उसने इतना सीरियस बना रखा था कि मुझे अपनी हँसी दाब देनी पडी। पहली बात तो यह है कि मुझे उसकी शब्दावली अच्छी नहीं लगी। यह तो मैं जानता हूँ कि सारे दर्शन का मूल आधार

सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट रिलेशनशिप की कल्पना है—स्व-पक्ष और वस्तु-पक्ष की परिकल्पनाएँ—और उन दो पक्षो के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना के आधार पर ही दर्शन खडा होता है। अथवा यूँ कहिए कि ज्ञान-मीमासा खडी होती है। एपिस्टेमॉलॉजी अर्थात् ज्ञान-मीमासा की बुनियाद पर ही परिकल्पनाओ के प्रासाद की रचना की गयी है। इस दृष्टि से देखा जाये तो मुझे वाक्य पर हँसने की जरूरत नहीं थी। मैं उसकी स्थापना को [illegible]

फिर

व्यक्तित्व [illegible]

व्यक्तित्व !

उसकी भौंहे कुछ आकुचित हुईं। फीका, पीला चेहरा, किंचित् विस्मय से मेरी ओर वही ठण्डी दृष्टि डालने लगा—मानो वह मेरे रुख का अध्ययन करना चाहता हो।

मैंने कहा, "भाई, मुझे तादात्म्य और तदाकारिता की बात समझ मे नही आयी। सच तो यह है कि मैं किसी वस्तु मे तदाकार नही हो पाता। तदाकारिता की बात का मैं खण्डन नही करता, किन्तु मैं उसको एक मान्यता के रूप मे ग्रहण नहीं करना चाहता।"

उसने कहा, "क्यो ?"

मैंने जवाब दिया, "एक तो मैं वस्तु-पक्ष का ठीक ठीक अर्थ नही समझता। हिन्दी मे मन से बाह्य वस्तु को ही वस्तु समझा जाता है—ऐसा मेरा खयाल है। मैं कहता हूँ कि मन का तत्त्व भी वस्तु हो सकता है। और अगर यह मान लिया जाये कि मन का तत्त्व भी एक वस्तु है तो ऐसे तत्त्व के साथ तदाकारिता या तादात्म्य का कोई मतलब नही होता, क्योकि वह तत्त्व मन ही का एक भाग है। हाँ, मैं इस मन के तत्त्व के साथ तटस्थता के रुख की कल्पना कर सकता हूँ, तदाकारिता की नहीं।"

मेरे स्वर और शब्द की हलकी-धीमी गति ने उसे विश्वास दिला दिया कि मैं उसकी बात उडाने के लिए बात नही कर रहा हूँ, वरन् उसकी बात समझने मे महसूस होनेवाली कठिनाई का बयान कर रहा हूँ।

आखिरकार वह मेरा मित्र था, बुद्धिमान और कुशाग्र था। उसने मेरी ओर देखकर किंचित् स्मित किया और कहने लगा, "तुम एक लेखक की हैसियत से बोल रहे हो इसलिए ऐसा कहते हो। किन्तु सभी लोग लेखक नही हैं। दर्शक हैं, पाठक हैं, श्रोता हैं। वे हैं, इसलिए तुम भी हो—यह नही कि तुम हो इसलिए वे हैं। वे तुम्हारे लिए नही हैं, तुम उनके सम्बन्ध से हो। पाठक या श्रोता तादात्म्य या तन्मयता से बात शुरू करें तो तुम्हें आश्चर्य नही होना चाहिए।"

मेरे मुँह से निकला, "तो ?"

उसने जारी रखा, "तो यह कि लेखक की हैसियत से, सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण के रास्ते से होते हुए सौन्दर्य-मीमासा करोगे या पाठक अथवा दर्शक की हैसियत से, कलानुभव के मार्ग से गुजरते हुए सौन्दर्य की व्याख्या करोगे ? इस सवाल का जवाब दो।"

मैं उसकी चपेट मे आ गया। मैं कह सकता था कि दोनों करूँगा। लेकिन मैंने ईमानदारी बरतना ही उचित समझा। मैंने कहा, "मैं तो लेखक की हैसियत से ही

सौन्दर्य की व्याख्या करना चाहूँगा। इसलिए नहीं कि मैं लेखक को कोई बहुत ऊँचा स्थान देना चाहता हूँ, वरन् इसलिए कि मैं वहाँ अपने अनुभव की चट्टान पर खडा हुआ हूँ।"

उसने भौंहो को सिकोडकर और फिर ढीला करते हुए जवाब दिया, "बहुत ठीक। लेकिन जो लोग लेखक नही है वे भी तो अपने ही अनुभव के दृढ आधार पर खडे रहेंगे और उसी बुनियाद पर बात करेंगे। इसलिए उनके बारे मे नाक-भौं सिकोडने की जरूरत नही, उन्हे नीचा देखना तो और भी गलत है।"

उसने कहना जारी रखा, "इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि आप किस सिरे से बात शुरू करेंगे। यदि पाठक, श्रोता या दर्शक के सिरे मे बात शुरू करेंगे तो आपकी विचार-यात्रा दूसरे ढग की होगी। यदि लेखक के सिरे से सोचना शुरू करेंगे तो बात अलग प्रकार की होगी। दोनो सिरे से बात होगी सौन्दर्यमीमासा की ही। किन्तु यात्रा की भिन्नता के कारण अलग-अलग रास्तो का प्रभाव विचारो को भिन्न बना देगा।

"दो यात्राओ की परस्पर-भिन्नता, अनिवार्य रूप से, परस्पर-विरोधी ही है—यह सोचना निराधार है। भिन्नता पूरक भी हो सकती है, विरोधी भी।

"यदि हम यथा-तथ्य बात भी करें, तो भी बल (एम्फैसिस) की भिन्नता के कारण विश्लेषण भी भिन्न हो जायेगा।

"किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्न किस प्रकार उपस्थित किया जाता है। प्रश्न तो आपकी विचार-यात्रा होगी। यदि इस विचार-यात्रा को रेगिस्तान मे विचरण का पर्याय नही बनाना है, तो प्रश्न को सही ढग से प्रस्तुत करना होगा। यदि वह गलत ढग से उपस्थित किया गया तो अगली सारी यात्रा गलत हो जायेगी।"

उसने मेरी तरफ ध्यान मे देखा। शायद वह यह देखना चाहता था कि मैं उसकी बात गम्भीरतापूर्वक सुन रहा हूँ या नही। शायद उमका यह विश्वास था कि मैं अत्यधिक इम्पल्सिव, सहज-उत्तेजित हो उठनेवाले एक बेचैन आदमी की तरह हूँ। किन्तु मैं शान्त था। मेरे मन की केवल एक ही प्रतिक्रिया थी, और वह यह कि केशव यह समझता है कि मैं प्रॉब्लम (समस्या या प्रश्न) को ठीक तरह से प्रस्तुत करना नही जानता। असल मे उमकी यह धारणा मुझे बहुत अप्रिय लगी। मैं उसकी इस धारणा को बहुत पहले से जानता था। वह कई बार उसे दुहरा भी चुका था। असल मे वह बौद्धिक क्षेत्र मे अपने को मुझसे उच्चतर समझता था।

सम्बन्धो की भावना विषम हो गयी थी। सूत्र उलझ गये थे। मैं केशव को न तो पूर्णत स्वीकृत कर सकता था, न उसे अपनी जिन्दगी से हटा सकता था। इस प्रकार की मेरी स्थिति थी। फिर भी चूँकि ऐसी स्थिति बहुत पहले से चली आयी थी, इसलिए मुझे उसकी आदत पड गयी थी। किन्तु इस अभ्यस्तता के बावजूद कई बार मेरा विक्षोभ फूट पडता, और तब केशव की आँखो मे एक चालाक रोशनी दिखायी देती, और मुझे सन्देह होता कि वह मेरी तरफ देखकर मुसकराता

हुआ कोई गहरी चोट कर रहा है! उस समय उसके विरुद्ध मेरे हृदय मे घृणा का फोड़ा फूट पड़ता!

किसी-न-किसी तरह मैंने अपने को सामंजस्य और मानसिक सन्तुलन की समाधि मे गाड़ लिया—यह बताने के लिए कि मैं उसकी बातें ध्यानपूर्वक सुन रहा हूँ। मैंने उसके तर्कों और युक्तियो के प्रवाह मे डूबकर मर जाना ही श्रेयस्कर समझा, क्योकि इस रवैये से या रुख से मेरे आत्म-गौरव की रक्षा हो सकती थी। इस बीच मेरा मन दूर-दूर भटकने लगा। बाहर से शायद मैं धीर-प्रशान्त लग रहा था।

मैंने ऐसे बहुत-से व्यक्ति देखे हैं जो हिमाच्छादित पर्वत शिखर की भाँति शान्त, नि शब्द, गम्भीर और भव्य लगते है। किन्तु अब मुझे इस बात का गहरा सन्देह होने लगा है कि असल म ऐसे लोगो का सिर खाली होता है। उनकी बाहरी शक्ति और गम्भीरता भीतर के खालीपन को ढाँकने की खोल है। मुझे ही देखिए, न! मैं कैसी समाधि लगाकर उसके शब्द (शब्द नही, केवल नाद) सुन रहा हूँ!

किन्तु मरा मन बाहर उड-उड जा रहा है। जैसे झरोखे से, कभी-कभी, हवा के झोंके भीतर चले आयें, इस प्रकार उसके कुछ वाक्य मेरे भीतर घुस आते है। बाहर उसका नाद-प्रवाह जारी है, जैसे कोई प्राकृतिक प्रवाह बह रहा हो। मैं केवल कुछ लहरो को ही चीन्ह पाया हूँ। ऐसा हूँ मैं। तब क्यो न मैं अपने से ही विरक्त हो उठूं?

और मैं जबरदस्ती की इस ध्यान-समाधि मे लीन होकर खुद ही से क्षुब्ध हो उठता हूँ।

ऐसी क्षुब्ध अवस्था म मैं सहसा उत्तेजित होकर उससे कहता हूँ, "जरा चाय ल आऊँ, दो मिनट में आता हूँ।" यह कहकर मैं घर के भीतर गायब हो गया और पन्द्रह-बीस मिनट बाद हाथ म चाय की ट्रे लेकर वापस आया। तब मुझे सहसा सुनायी दिया, "विभिन्न व्यक्तियो के लिए सृजन प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं, विभिन्न युगो म सृजन प्रक्रियाएँ अलग-अलग होती हैं। विभिन्न साहित्य-प्रकारो के लिए भी सृजन-प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।"

मैंने चाय की ट्रे टेबिल पर रखी और हलके-से गम्भीरतापूर्वक कहा, "मुझे इस बात पर सोचने के लिए अवकाश दो, समय दो। क्या खयाल है? तुम्हारी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए?" उसने अपनी रजामन्दी जाहिर की।

मेरे दिल स एक वजन उठ गया। मैं छुटकारा पा गया। मैं थोडा-सा खुश भी हुआ।

उसने मेरी तरफ देखकर सिर्फ इतना ही कहा, "मैं चाहता हूँ कि साहित्य-सम्बन्धी धारणाएँ वास्तविक साहित्य मे विश्लेषण के आधार पर बनायी जायें। जिस प्रकार विज्ञान में इण्डक्शन से डिडक्शन पर आया जाता है—तथ्यों के संग्रह से, उनके विश्लेषण द्वारा, उनके सामान्यीकरण से अनुमान और निष्कर्ष निकाले जाते हैं—उसी प्रकार साहित्य मे इण्डक्शन से डिडक्शन पर क्यो न आया जाये? इण्डक्शन का क्षेत्र केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित क्यो रहे? उपन्यास क्या है, यह पढ़ाते समय हम विश्व के प्रमुख उपन्यासो के उपरान्त ही यह ठहरायें कि उपन्यास किसे कहते हैं, और उसका शिल्प क्या है, अथवा उसके प्रधान अग क्या

होते है   इसी प्रकार साहित्य म सौन्दर्य किसे कहते है, इस प्रश्न के ऊहापोह का क्षेत्र केवल हिन्दी की आत्मपरक कविता और हिन्दी साहित्य तक सीमित न रखें। यदि हमने क्षेत्र विस्तृत किया तो हम पायेंगे कि सौन्दर्य-सम्बन्धी हमारी परिभाषा अस्पष्टता के दोष स अथवा अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के दोषो से रहित होगी। मुझे गहरा सन्देह है कि आजकल की सौन्दर्य-परिभाषा (यदि उसे व्याख्या कहें तो) केवल कविता, और वह भी आत्मपरक कविता की विशेषताओ के आधार पर बनायी जा रही है। सौन्दर्य-सम्बन्धी इन व्याख्याओ का प्रकट या अप्रत्यक्ष उद्देश्य आज की काव्य-दृष्टि का डिफेन्स है   किन्तु ये व्याख्याएँ कुछ इस प्रकार से, कुछ इस ठाठ से और शान से बनायी जाती हैं, मानो वे सार्वभौम सत्य की सार्वकालिक स्पन्दनाएँ हो। इस पोज और पॉस्चर की जरूरत नही। यह अवैज्ञानिक दृष्टि है। अगर साहित्यिक सौन्दर्य-सम्बन्धी मीमासा करनी है तो आपको अपनी दृष्टि केवल आत्मपरक कविता—वह भी आजकल की कविता—तक ही सीमित नही करनी चाहिए। और यदि ऐसी ही व्याख्या करनी है तो वह पोज और पॉस्चर त्याग देना चाहिए। मुझे इस पोज से चिढ है।"

पूरी बातचीत म मेरा रुख एक श्रोता का था। इच्छा तो यह थी कि गौण पात्र की भूमिका अदा न कर उसकी बातो को हिट करूँ। उस पर प्रत्याक्रमण करूँ। मुझे सन्देह हो रहा था कि वह पण्डिताऊ ढग से सौन्दर्य-सम्बन्धी बात करना चाह रहा था। मुझे इस विषय को आगे बढाने की इच्छा ही नही थी। बहरे के सामने क्या बीन बजायें!

मैंने बात बदलने के लिए कहा, 'और कैसा क्या चला हुआ है?"

उसने कोई जवाब नही दिया। वह क्या कहता!

हम उठन को हुए। उठे और चलने लगे। मैंने कहा, "मैं तुम्हे वहाँ तक पहुँचा देता हूँ।"

तब तक शाम हो चुकी थी। मेरे घर के सामने सफेद चम्पा के फूल उज्ज्वल दीपों-जैसे खिले हुए थे। वातावरण मे घास की वन्य गन्ध फैल रही थी। शाम अपना साँवला प्यार-भरा आँचल पसार रही थी।

बीच ही मे हमारे विस्तृत अहाते के भीतर एक मन्दिर पडता था। उसन कहा, "आओ थोडी देर बैठें।"

मेरे भीतर वातावरण की मस्ती छाने लगी। वक्ष के रोम पुलकित हो रहे थे। जाँघो म किरनो की सुनहली धारा-सी बहने लगी। बाहुओ की मास-पेशियो म से मानो कोई नशा बहकर, दौडकर, हृदय म शराब बन रहा था। मात्र प्राकृतिक [illegible] एक सहज शक्ति-

[illegible] था। मैं अपनी शारीरिक शक्ति के आनन्द से ही चमत्कृत था, भीतर से मन्त्रित और मन्त्र-मुग्ध।

उसने धीरे धीरे बहुत ठण्डक से कहना शुरु किया। मुझे लगा कि बर्फ की कोई सिल मेरी त्वचा पर फेरी जा रही है। इस बीच उसके नाद-प्रवाह म मैंने कोई परिचित नाम सुना। मैंने चौंककर पूछा, 'क्या?"

"हमने कल तय कर लिया कि इस गरमी मे विवाह कर लेंगे।"

मैंने बहुत विस्मय से पूछा, "क्या! किससे?"

"केटी से।"

"कौन केटी ?"

वह कुछ नही बोला। किन्तु धीरे धीरे मन मे एक इसकी आभा प्रकाश का रूप धारण करती गयी।

मुझे आश्चर्य का इतना बडा धक्का कभी नही लगा था। केशव ऐसा कर भी सकता है! असम्भव! तो उसके बारे मे मेरा निरीक्षण-परीक्षण गलत हो गया—एक ही झटके मे! अच्छा हुआ कि वह गलत हो गया!

मेरा सारा चेहरा आश्चर्य और आनन्द की लहरो मे बँध गया। मैंने मज़ाक-मज़ाक मे कहा, "तो इसीलिए तादात्म्य और तदाकारिता की बात कर रहे थे! क्यो हज़रत ?"

उसने तडाक से जवाब दिया, "केवल तटस्थ व्यक्ति ही तदाकार हो सकता है, समझे ?" उसने गम्भीरता से कहा। उसके स्वर म अतिरिक्त बल था। किन्तु उसके इस वाक्य का मैं अर्थ नही समझ सका। असल म मुझे इतना आनन्द हुआ था कि मैंने केशव को चिपका लिया। उसका चेहरा लाल और शायद गरम हो गया था। लज्जा से गरम। ऐसी स्थिति मे मैं भला उसके वाक्य का अर्थ कैसे समझ सकता था ?

समय गुज़रता गया। उसे अपनी जिन्दगी में विशेष सफलता नही मिली। 'मारो—खाओ, हाथ मत आओ!' के इस ज़माने म उस-जैसे आदमी की क्या चलती!

समय न हम दोनो के चेहरो पर सूनेपन और अनाशा की कालिख पोत दी थी। दुनिया की आँखो स दूर, अकेलेपन के अँधेरे मे, हम दोनो अलग-अलग पृथ्वी के दो छोरो पर साँस ले रहे थे।

इसके बावजूद जब-जब मैंन उससे रुपये मँगवाये उसन तुरन्त भेज दिये। साथ ही यह भी लिखा कि जब कभी ज़रूरत हो, मैं उससे अवश्य माँग लिया करूँ। किन्तु पाँच वर्ष हुए मैंन उसे न कोई पत्र लिखा, न रुपये मँगवाये। न मुझे उसके बारे मे कुछ मालूम हुआ, न उसने ही मुझे कुछ लिखा।

* मानो किसी तालाब म से भाफ निकलती हो, भाफ की ऊँची उठती हिलकोरती लहरें एक मनुष्याकार धारण कर ऊँची-ऊँची होती हुई आपके पास आने लगती हो तो आपको कैसा लगेगा ? मुझे तो डर लगेगा। आपको ?

जब मुझे यह सूचना मिली कि केशव इसी गाडी से यहाँ आ रहा है, तो मुझे भी वैसा ही लगा। मुझे लगा कि एक भाफ मनुष्याकार धारण कर मेरे पास-पास आती जा रही है। मैं आतंकित हो उठा।

पहले तो मैं इस उलझन म रहा कि उसका स्वागत करन स्टेशन जाऊँ या घर की मनहूमियत दूर करन के उपाय खोजूँ। किन्तु दयालु पत्नी ने जब घर का विद्रूप दूर करने का आश्वासन दिया तब मुझे थोडी-सी राहत मिली। अगर केशव को मेरे यहाँ आना ही था, तो तार से पहले सूचना देनी थी, जिससे हमे बडी सहूलियत हो जाती। सकट-काल मे मेहमान दुश्मन होता है। विशेषकर वह जिसने मुझे पहले बहुत अच्छी, सुघर, सम्पन्न और सुव्यवस्थित स्थिति मे देखा हो!

केशव बहुत बदल गया था। तमाम बाल सफेद हो गये थे। चेहरे पर गहरी लकीरें बन गयी थीं। वह बुड्ढा हो गया था। इसके बावजूद, उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। उसका वक्ष भरा हुआ था। भुजाओं की मांस-पेशियाँ दृढ़ थीं। लगता था कि पिछले छह-सात साल में वह डण्ड-बैठक मारता आ रहा हो। उसने तैरने की अच्छी-खासी आदत डाल ली थी। संयमहीन तो वह कभी नहीं रहा था। किन्तु फिर भी अब उसमें पहले से अधिक स्फूर्ति थी। उसकी प्रशान्त-गम्भीरता कम नहीं हुई थी, लेकिन बोलता ज्यादा था। उसकी शारीरिक हलचल स्फूर्ति-युक्त प्रतीत होती। मुझे लगा कि उसने अपनी परिस्थितियों का ज्यादा मजबूती और अधिक आत्म-विश्वास से मुकाबला किया है। वह काफी हँसता भी था, फब्तियाँ भी कसता था। मुझे लगा कि उसका अध्ययन भी विस्तृत हो गया है। इधर उसने काफी पढ़ा है। मुझे बराबर यह भान होता रहा कि मैं पिछड़ गया हूँ और वह मुझसे बहुत आगे बढ़ गया है।

जब हम दोनों भोजन को बैठे तो बनियान के भीतर उसके गोरे, सुघर, कसे हुए शरीर को देखकर मैं सन्न रह गया—प्रसन्न नहीं हुआ। गोरे शरीर पर एक बूढ़ा सफेद-भूरा चेहरा! केशव बहुत खूबसूरत मालूम हुआ। निश्चित रूप से, हाँ, चिन्ता की रेखाएँ उसके चेहरे पर थीं। वे काफी गहरी भी थीं। लेकिन क्या वे चिन्ता की थीं? या चिन्तन की? मैं इसका निर्णय नहीं कर सका।

भोजन के दौरान उसने एक बड़ी मजेदार बात कही। उसने हाथ में कौर लेकर मेरी तरफ देखते हुए कहा, "तुममें और मुझमें एक बड़ा भेद है। विचार मुझे उत्तेजित करके क्रियावान् कर देते हैं। विचारों को तुम तुरन्त ही संवेदनाओं में परिणत कर देते हो। फिर उन्हीं संवेदनाओं के तुम चित्र बनाते हो। विचारों की परिणति संवेदनाओं में और संवेदनाओं की चित्रों में। इस प्रकार, तुममें ये दो परिणतियाँ हैं। अगर तुम्हारी कविताएँ किसी को उलझी हुई मालूम हों तो तुम्हें हताश नहीं होना चाहिए। मैं तुम्हारी कविताएँ ध्यान से पढ़ता हूँ।"

मैंने डरते-डरते पूछा, "मेरी कविताएँ तुम्हें अच्छी लगती हैं?"

"उनमें और सफाई की जरूरत है। किन्तु मैं उन लोगों का समर्थक नहीं हूँ जो सफाई के नाम पर, सफाई के लिए, 'कॉण्टेण्ट' (काव्य-तत्त्व) की बलि दे देते हैं।"

फिर एक लम्बे समय तक हम दोनों चुप रहे। दो व्यक्ति-बिन्दुओं के बीच की दूरी बढ़ती रही। एक क्षण बाद, दो बिन्दुओं के बीचोबीच समान रूप से दीर्घ दूरी पर एक मध्य-बिन्दु-अणु बना। उस अणु से एक हाथ की तरफ एक सीधी अणु-रेखा निकली। उसी बिन्दु के दूसरे हाथ की तरफ दूसरी सीधी-सरल अणु-रेखा फूट पड़ी। दोनों रेखाएँ आगे बढ़ने लगीं और उसने हम दो व्यक्ति-बिन्दुओं को एक अणु-प्रशस्त मार्ग-रेखा द्वारा जोड़ दिया।

मैंने किसी आकस्मिक उत्साह से कहा, "मेरे खयाल से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कला के तीन क्षण होते हैं। यदि उनमें ज़रा-सी भी भीतरी कमज़ोरी रही तो —चाहे वह बौद्धिक आकलन की कमज़ोरी हो या संवेदन-क्षमता की हो—कृति पर उसका तुरन्त प्रभाव होगा।"

वह मेरी बात सुनकर देर तक सोचता रहा। मैं भी चुप ही बैठा था। फिर उसने धीरे-से कहा, "अपनी बात स्पष्ट करो।"

मैंने जवाब दिया, "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलो से पृथक् हो जाना, और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखो के सामने ही खडी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह मे वह फैण्टेसी अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढती जाती है। इस प्रकार वह फैंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जिस फैण्टेसी को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैंटेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैंटेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की प्रतिकृति है। फैण्टेसी को शब्द-बद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है—जिसके कारण कृति क्रमश विकसित होती जाती है—वही कला का तीसरा और अन्तिम क्षण है। प्रथम क्षण निस्सन्देह अनुभव का क्षण है। उसके बिना आवेग और आगे की गति असम्भव है। मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने के लिए आवश्यक पहला जबरदस्त धक्का यह प्रथम क्षण ही देता है। वह उस गति की दिशा निर्धारित करता है। साथ ही, वह उसके तत्त्व रूपायित करता है अर्थात् वह उनको एक आकार प्रदान करता है। साथ ही, मजा यह है कि यह अनुभव, विचित्र रूप से अन्य मनस्तत्त्वो से जुडता हुआ, मनस्पटल पर स्वय को प्रक्षेपित कर, स्वय ही बदल जाता है। ज्यो ही यह घटना होती है, अनुभव के मूल अपनी दुखती हुई भूमि स पृथक् हो जाते हैं। अर्थात् वे निरे वैयक्तिक न रहकर अपने से परे हो उठते है। जो फैण्टेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीडा स पृथक् होकर अर्थात् उससे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही सवेदनाओ द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ मे वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ मे नितान्त निर्वैयक्तिक होगी। उस फैण्टेसी मे अब एक भावात्मक उद्देश्य की सगति आ जायेगी। इस भावात्मक उद्देश्य के द्वारा ही वस्तुत फैण्टेसी को रूप-रग मिलेगा। किन्तु यह होते हुए भी वह फैण्टेसी यथार्थ मे भोग गये वास्तविक अनुभव की प्रतिकृति नही हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वय भी वास्तविक अनुभव से स्वतन्त्र बन बैठी। फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।"

"कला का यह दूसरा क्षण है", मैंने कहना जारी रखा। "किन्तु इस फैण्टेसी को शब्द-बद्ध करने या चित्रित करने की प्रक्रिया के दौरान मे ही वह फैण्टेसी पिघलकर उस प्रक्रिया के प्रवाह मे बहने लगती है। उस आदिम प्रवाह म फैण्टेसी के सारे रग घुलकर बहने लगते है, सारा व्यक्तित्व और उसकी समस्त चेतना उस फैण्टेसी के बहते रगो के साथ बहन लगती है। और शब्द-बद्ध होने पर अथवा चित्रित होने पर जो कृति या रचना तैयार होती है, वह कृति या रचना कला के दूसरे क्षण की फैण्टेसी की पुत्री है, प्रतिकृति नही। इसीलिए मूल फैण्टेसी से उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र, विचित्र और पृथक् है। कला का यह तीसरा या अन्तिम क्षण

है। इन तीन क्षणों के बिना कला असम्भव है। इन तीनों क्षणों की विकास-गति के अपने-अपने अलग नियम हैं।"

मैंने कहना जारी रखा, "यदि तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर पाना है कि सौन्दर्य क्या है, अथवा सौन्दर्य-प्रतीति क्या है, सौन्दर्यानुभव क्या है, और वह किस प्रकार वास्तविक अनुभव से भिन्न है, तो तुम्हें कला के इन तीन प्रधान क्षणों के मनोविज्ञान ही का अध्ययन करना होगा। उनका अध्ययन किये बिना तुम उस सवाल को हल नहीं कर सकते···"

इतना कहकर मैं ठहर गया। मेरी साँस खत्म हो गयी। और मैं उत्तर की तलाश में उसकी ओर देखने लगा। किन्तु जवाब इतनी जल्दी मिलनेवाला नहीं था।

दिन बीत गया। हम अपनी-अपनी जिन्दगियों की रिव्यू करने लगे। इस पर्यवलोकन के मूड में हम न मालूम क्या-क्या कहते और सुनते जाते।

दूसरे दिन जब हम रात को सोने को थे कि इतने में उसने कहा, "कला के तीन क्षण! अच्छा हाइपॉथेसिस है! उस पर सोचना पड़ेगा।"

फिर उसने बल देते हुए कहा, "एक बात निश्चित है। सौन्दर्य-प्रतीति का सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से है। सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव हो जाती है।"

वह कहता गया, "प्राकृतिक सौन्दर्य या नारी-सौन्दर्य का अवलोकन व्यक्ति-बद्ध होने से सही अर्थों में सौन्दर्यानुभव नहीं कहा जा सकता।"

मैंने बीच में जोड़ दिया, "असलियत यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है जब सृजनशील कल्पना के सहारे, संवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाये। कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फैण्टेसी इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है। वह रोल—वह भूमिका एक सृजनशील भूमिका है। वही कल्पना उसे वास्तविक अनुभव की व्यक्ति-बद्ध पीड़ाओं से हटाकर, उस अनुभव ही को दृश्यवत् करके, उसी अनुभव को नये रूप में उपस्थित कर देती है। किन्तु, यह अनुभव दृश्यवत् होते ही मूल अनुभव से पृथक् होकर भिन्न हो जाता है। इस दृश्यवत् उपस्थित और विस्तृत अनुभव या फैण्टेसी में, (जो कला का तुम्हारा दूसरा क्षण है) अनुभविता अर्थात् फैण्टेसी का जनक-दर्शक, जीवन के नये-नये अर्थ ढूँढ़ने लगता है, अनुभव-प्रसूत फैण्टेसी में जीवन के अर्थ खोजने और उसमें आनन्द लेने की इस प्रक्रिया में ही जो प्रसन्न भावना पैदा होती है, वही एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स का मर्म है।"

अब मैंने प्रोत्साहित होकर उसकी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा, "आत्मा अनुभवप्रसूत फैण्टेसी में दार्शनिक या व्याख्यात्मक ढंग से जीवन का अर्थ नहीं खोजती, वरन् वह स्वयं, आप-ही-आप, नये-नये संकेत और नये-नये अर्थ आकलन करने लगती है। इस प्रक्रिया में जो प्रसन्न भावना पैदा होती है वही एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स का एक तत्त्व है। पूरे एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स में इस प्रसन्न भावना के अतिरिक्त नये-नये अर्थ-महत्त्व की प्राप्ति भी शामिल है। एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स एक सृजनशील प्रक्रिया है। पाठक या दर्शक स्वयं जब कोई काव्य, उपन्यास या नाट्य देखता है, तो जब तक उसे नये-नये अर्थ-महत्त्व और अर्थ-संकेत प्राप्त न होते जायें, तब तक उसको एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स प्राप्त हो

ही नही सकता। हाँ, यह सही है कि पाठक या श्रोता को, वैसे ही फैण्टेसी के जनक को, फैण्टेसी मे, जो नये-नये अर्थ-महत्त्व या अर्थ प्राप्त होते हैं, वे अपनी-अपनी उत्तेजित जीवन-सवेदनाओ द्वारा ही मिलते हैं। ये सवेदनाएँ ज्ञानात्मक होती हैं। कला के दूसरे क्षण मे अनुभव-प्रसूत फैण्टेसी मे जब तक आत्मा को नये-नये महत्त्व और अर्थ दिखायी नही देंगे, तब तक वह आत्मा आतुर-आकुल भावना मे बहकर उस फैण्टेसी को शब्द बद्ध करने की ओर प्रवृत्त ही नही होगी। इस दृष्टि से देखने पर, कलाकार को कला के तीनो क्षणो मे, भिन्न रूपो से, अलग-अलग प्रकार से, सौन्दर्य-प्रतीतियाँ होती रहती हैं। असल म ये सौन्दर्य-प्रतीतियाँ महत्त्व-प्रतीतियाँ हैं, भावनामय अर्थानुभव है · पाठक या श्रोता अपने ढग से ये अर्थ-प्रतीतियाँ करता है और कलाकार अपने ढग से।"

यहाँ आकर मैं चुप हो गया। केशव ने स्वीकृति के स्वर म कण्ठ से कुछ घर-घराहट-सी की! मैं सन्देह से ग्रस्त होने लगा।

मैं उमे खुश करने की भावना से उसे सैर-सपाटे पर ले गया। सिनेमा दिखाया, किन्तु उसन फिर वह विषय नही छेडा। हमने अपनी-अपनी जिन्दगियो के बारे म कहना शुरू किया। न मालूम क्या-क्या कहते गये हम लोग! एक बार चाय पीते-पीते उसने कहा, "अब तुम्हारा माद्दा काफ़ी बढ गया है। किन्तु, मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारी बातो मे मुझे कुछ सशोधन करना पडेगा!···पहली बात तो मुझे यह कहनी है कि कला के प्रथम क्षण की कुछ व्यापक परिभाषा होनी चाहिए। हाँ, यह ठीक है कि उसमे अनुभव-तत्त्व ही प्रधान हैं, किन्तु, उसमे भी दर्शकत्व का कुछ-न-कुछ अश ज़रूर रहता है। तुमने कला के दूसरे क्षण मे फ़ैण्टेसी के उदय और फ़ैण्टेसी ही के रगो म अनुभव के विस्तार की जो बात कही है, वह महत्त्वपूर्ण है। यहाँ भोक्तृत्व और दर्शकत्व दोनो साथ हैं। किन्तु, इन दोनो के मूल, कला के प्रथम क्षण मे, अर्थात् अनुभव-तत्त्व की आदिम प्रधानता मे, ही खोजे जाने चाहिए। कला के प्रथम क्षण म जब वे प्रच्छन्न होंगे, तभी वे दूसरे भाग मे उदित, व्यक्त और विकसित होंगे। असल हालत यह है कि सृजन प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, इसलिए सौन्दर्य-प्रतीति द्वन्द्वात्मक है!"

मैंने भौंहें चढ़ायी और मैं चीख उठा, "द्वन्द्वात्मक? डोन्ट इन्ट्रोड्यूस कन्फ्यूज़िग टर्म्स! फालतू के शब्द मत बढाओ।"

उसने मुझको मानो दबाते हुए कहना शुरू किया, "सुनो तो! पहली बात तो यह मान लो कि सारी सृजन-प्रक्रिया मे एक प्रवहमान गति है। और, अगर हम फिज़िक्स की कुछ कल्पनाओ का सहारा लें, तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि हमारे लिए यह कहना कठिन है कि मनस्तत्त्व कहाँ, किस जगह, वस्तुत, एक तत्त्व है, और कहाँ, किस जगह, वह शुद्ध गति है, अर्थात् कहाँ वह 'पार्टिकल' और कहाँ वह 'वेव' है। दूसरे शब्दो मे, हम केवल अस्पष्टता के लोक मे ही विचरण करता है।··· लेकिन, चूँकि तुमन, हाँ! तुमने!··· उसकी गति को मापन का कुछ प्रयत्न करना चाहा है, तो मैं भी उसमे कुछ नयी व्यवस्था लाने की कोशिश करूँ, तो उसमे बुराई क्या है!"

केशव की कोई भी बात मेरी समझ मे नहीं आयी। वह कहना क्या चाहता है! वह किस ओर मुझे घसीट रहा है! इसकी मुझे सचमुच चिन्ता हो गयी!

बनने लगती है। एक-एक मर्म के आसपास ये चित्र सगठित होकर प्रवहमान होते है।

"महत्त्व की बात [यह] हे कि ज्यो ही यह फैण्टेसी शब्द-बद्ध होने लगती है, फैण्टेसी का भावनात्मक उद्देश्य, या कहिए कि फैण्टेसी की प्रधान पीडा, अपना समर्थन, सरक्षण और पोषण करनेवाले अन्य अनेक जीवनानुभवों के तत्त्वों को समेटने लगती है। फैण्टसी के भीतर का वह मर्म—जिसमे एक उद्देश्य है, एक पीडा है, और एक दिशा है—अनेक जीवनानुभवो से समर्थित, सर्वाधित और पुष्ट होकर प्रकट होना चाहता है। इन जीवनानुभवो के चित्र, भाव और स्वर फैण्टेसी के मर्म मे घुलने लगते है। फैण्टेसी की गनिमानता की धारा मे वे प्रवाहित होकर उस धारा को अधिक सार्थक और पुष्ट करते हैं ''

''''चूंकि फैण्टेसी के मर्म को शब्द-बद्ध करते समय अनेक अनुभव-चित्र, भाव और स्वर तैर आते है, इसलिए फैण्टेसी के उद्देश्य और दिशा के निर्वाह के लिए कलाकार को भाव-सम्पादन करना पडता है, जिससे कि केवल मर्म के अनुकूल और उसको पुष्ट करनेवाले स्वर, भाव तथा चित्र ही कविता मे आ सकें, और इस बीच यदि कोई अन्य अनुकूल मार्मिक अनुभव तैर आये, तो उसे भी फैण्टेसी के मर्म की उद्देश्य-दिशा मे प्रतिपादित कर दिया जाये, अर्थात् भाषा-प्रवाहित कर दिया जाये।

"महत्त्व की बात यह है कि कला के तीसरे क्षण मे फैण्टेसी का मूल मर्म, अनेक सम्बन्धित जीवनानुभवो से उत्पन्न भावो और स्वरो मे युक्त होकर, इतना अधिक बदल जाता है कि लेखक उस पूरी फैण्टेसी को एक नयी रोशनी मे देखने लगता है। मेरा मतलब है, मूल फैण्टेसी का मर्म, जो सिकुडा हुआ एक दर्द था, अब फैलकर एक पर्सपेक्टिव का रूप धारण करने लगता है। इस पर्सपेक्टिव से समन्वित मूल मर्म शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया मे बदल जाता है। वह पुराना मर्म न रहकर अब नया बन जाता है। उसमे नये मनस्तत्त्व आ जाते हैं। शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के दौरान मे, जब तक उस मर्म मे ओज और बल कायम है, तब तक वह नये तत्त्व समेटता रहेगा। किन्तु जब वह चुक जायेगा, तब गति बन्द हो जायेगी, उद्देश्य समाप्त हो जायेगा। कविता वहाँ पूरी हो जानी चाहिए। यदि वह पूरी नहीं हुई, तो मर्म के साक्षात्कार मे कहीं कुछ कमी रह गयी, दिशा-ज्ञान ठीक नहीं रहा है, उद्देश्य मे कुछ कमजोरी आ गयी है—ऐसा मानना होगा।"

यहाँ मैं रुक गया। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कह सका।

रात काफी हो गयी थी। सडकों पर रोशनी के बावजूद अँधेरा बस गया था। सूनापन बोल रहा था। हवा देह मे चिपक रही थी। मन बहक गया था। मेरा मित्र चुप था। क्यो था?

जिन्दगी ही ऐसी है। कोई विचार, किसी के कहने से, अपने खुद के कहने से, मन [illegible] को प्रकट [illegible] । केवल [illegible] ही पढी नहीं। टेबिल की दराज मे डाल दी जिससे कि फुरसत के वक्त अध्ययन कर सकूँ।

किन्तु मैं समय मिलने पर भी उसे पढ नहीं पाया। इतने मे उसका रिमाइण्डर भी आ गया। मैंने उसको भी दराज मे डाल दिया।

असल मे उन दिनों घर मे बीमारियो ने कई बिस्तर बिछा रखे थे। जिन्दगी मे मुझे उन बातो की तालीम लेनी पडी है कि जिन बातों को मेरे स्वभाव के विरुद्ध कहा जा सकता है। फलत स्वभाव-विरुद्ध बातो की अनिवार्यत तालीम लेने की भीषण प्रक्रिया में मेरी तबियत भी खराब हो गयी।

फिर एक रात को जब कराहें सोयी हुई थी, और घर के आले मे रखा दीया शान्त रोशनी फैला रहा था, तब मैं अशान्त मन से जिन्दगी के बारे मे सोचने लगा। मैं बहुत उदास हो उठा। लगा कि मेरी जिन्दगी असफलता की डाढो मे पडी हुई एक बेबस आँत है!

ऐसे ही खयालो मे डूबता-उतराता मैं अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्रो की तसवीरो तक पहुँच गया। अखबारनवीस होने के नाते मैं नये विचारो को टीप लिया करता था। कागज की तलाश मे टेबिल की दराज खोली तो उसमे मित्र का पत्र और पत्र का रिमाइण्डर दोनों मिले। मित्र की याद न दिल हलका किया। मैं उसकी चिट्ठी कई बार पढ गया। वह चिट्ठी एक ठण्डे दिमाग की उपज थी। फिर भी मुझे वह गुलाब के इत्र से तर मालूम हुई। कहना न होगा कि पत्र की पृष्ठ-संख्या कोई पचीस थी। बारीक, सुडौल अक्षर, सुन्दर-स्वच्छ लिखावट, और जहाँ आवश्यक हों वही-वही पैरे—इस प्रकार से शोभायमान वह चिट्ठी थी, या चिट्ठी का बाप 'चिट्ठा' था—नही कह सकता।

दिन बीतते गये और अब मेरे सामने मेरे जवाब का जवाब पडा हुआ है। केशव ने बहुत ठाठ से लिखा है···

"···यह सच है कि शब्द-बद्ध होने की प्रक्रियाओ मे फैण्टेसी बदलने लगती है। यह कैसे होता है?

"मेरे खयाल से इसके दो कारण हैं। दोनो कारण एक-दूसरे से जुडे हुए हैं।

"कला का तीसरा क्षण कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और पूर्ण क्षण है। यहाँ से फैण्टेसी साहित्यिक, कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप धारण करने लगती है।

"यहाँ मे शब्द-साधना शुरू होती है। शब्द के अपने ध्वनि-अनुषग होते हैं, जिनमे चित्र और ध्वनि दोनो शामिल हैं। कलाकार अपने हृदय के तत्त्व के रग, रूप, आकार के अनुसार, अभिव्यक्ति का रग, रूप और आकार तैयार करना चाहता है। इसलिए उसे अपने हृदय की भाव-ध्वनियों की, शब्दों की, अर्थ-ध्वनियो से अनवरत तुलना करनी पडती है।

"इसके दो परिणाम होते हैं: (1) भाव-ध्वनियो को उपलब्ध शब्द-ध्वनियो के कटघरे मे फँसाने का प्रयत्न, जिसके फलस्वरूप काफी से मनस्तत्त्व अपना मौलिक और मूल तेज त्यागकर एक नये सन्दर्भ से सम्बद्ध आकार मे प्रकट होते हैं। कई कवि तो भाषा की चमक और सफाई के लिए अपने भाव-तत्त्वो का बलि-दान भी कर देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया मे फैण्टेसी की ही काट-छाँट होने लगती है। (2) किन्तु इसके विपरीत, दूसरी महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि अभिव्यक्ति-साधना के दौरान म स्वय अभिव्यक्ति फैण्टेसी को सम्पन्न और परिपूर्ण करने लगती है। फैण्टेसी अपने को प्रकट करने के लिए समानार्थ-वाचक शब्दो को लाती है। भाषा एक जीवित परम्परा है। शब्दो मे एक

स्पन्दन है। शब्दो मे जो अर्थ-स्पन्दन है, वह फैण्टेसी द्वारा उद्बुद्ध होकर नयी भाव-धाराएँ बहा देता है। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी की समीपवर्ती भाव-धाराएँ हैं। वे फैण्टेसी के जगत् को और भी विस्तृत कर देती है, उसके मौलिक तेज को और भी फैला देती हैं। इन भाव-धाराओ मे अनेको नये-पुराने अनुभव, अपने-पराये भाव, सब प्रवाहित होते रहते हैं। फैण्टेसी के जगत् की अर्थमत्ता तो उनसे बढ जाती है, साथ ही उनके द्वारा फैण्टेसी को एक नया पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। इस पर्सपेक्टिव से संयुक्त होकर फैण्टेसी एक तेजोवलय मे चमकने लगती है। फैण्टेसी अब पूर्णरूप से सार्वजनीन हो जाती है।

"ऐसा क्यो ? भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ-परम्परा है। ये अर्थ [illegible] हैं। फैण्टेसी [illegible] अर्थ-

अर्थात व्यक्तिगत सन्दर्भ भी तराश देती है, कई कवि शब्दो की अर्थ-परम्परा से आच्छन्न होकर, भाषा की सफाई और चमक के निर्वाह के लिए, प्रकटीकरण के हेतु आतुर भाव-तत्त्वो को ही काट देते हैं।

"इसके विपरीत फैण्टेसी द्वारा उद्बुद्ध शब्दो के अर्थ-अनुषग और उनसे सम्बद्ध चित्र नयी भाव-धाराएँ बहा देते है। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी के अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं। उन भाव-धाराओ मे अनेको नये-पुराने अनुभव और अपने-पराये भाव होने से फैण्टेसी की अर्थमत्ता का विस्तार हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत क्षेत्र मे, ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी पर, और फैण्टेसी इन भाव-धाराओ पर क्रिया-प्रक्रिया करने लगती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया से फैण्टेसी का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है, अनुभव को पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। फैण्टेसी के भीतर के मूल उद्देश्य और दिशा मे विस्तार भर उठता है।

"दूसरे शब्दो मे, कला के तीसरे क्षण म सृजन-प्रक्रिया जोरो से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द साधना द्वारा नये-नये भाव और नये-नये अर्थ-स्वप्न मिलने [illegible] है।

पैदा

होती

है। इसलिए अर्थ परम्पराएँ न केवल मूल फैण्टेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रग उडा देती है, वरन् उसके साथ ही, वे नया रग चढा देती हैं, नये भावो और प्रवाहो से उसे सम्पन्न करती है, उसके अर्थ-क्षेत्र का विस्तार कर देती है।

"इसीलिए अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान मे, कवि को नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक ओर, मूल फैण्टेसी के मूल-मर्म की *अभिव्यक्ति* पर उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केन्द्रीकरण हो जाता है, तो दूसरी ओर इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विस्तार होने लगता है। उसे नये-नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक साक्षात्कार कई भाव-सत्यो का उद्घाटन करता है। एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चालू रहती है।

"इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के पीछे भाषा की अगाध अनवरत साधनाशक्ति

है। भाषा फैण्टेसी को काटती-छाँटती है, और इस प्रक्रिया के विपरीत फैण्टेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है।

"कवि की यह फैण्टेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ-अनुषंग भर देती है, शब्द को नय चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सन्देह महान् कवि है।

"इस प्रकार कला के तीसरे क्षण में मूल द्वन्द्व है—भाषा तथा भाव के बीच। इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया और संघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनों को बदलते रहते हैं। इन दोनों म संशोधन होता जाता है। यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है। भाषा, एक परम्परा के रूप में, फैण्टेसी के मूल रंग को विस्तृत कर देती है, किन्तु साथ ही उस फैंटेसी में संशोधन भी उपस्थित करती जाती है। साथ ही फैण्टेसी अपने मूल रंगों के निर्वाह के लिए, अपने मूल रंगों की अभिव्यक्ति के लिए, भाषा पर दबाव लाती है, उसके शब्दों और मुहावरों में नयी अर्थमत्ता, नयी अर्थ-क्षमता, नयी अभिव्यक्ति भर देती है। कला के तीसरे क्षण में यह महत्त्वपूर्ण द्वन्द्व है।

"इसीलिए कलाकार को यह महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था, वह पूर्ण रूप से नहीं कह सका, और ऐसा बहुत कुछ कह गया जो, शुरू में, उसे मालूम नहीं था कि कह जायेगा ! क्या यह भावना तुम्हें नहीं होती ?"

केशव के पत्र के मैंने कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये। पत्र पढ़कर मुझे दुःख भी हुआ, सुख भी। दुःख इसलिए कि इस बीच मैं स्वयं बहुत उलझ गया था। और सुख इसलिए कि केशव ने मेरी बात बहुत आगे बढ़ा दी। मेरा खयाल है कि केशव इन बातों का अब परीक्षण और पुनः परीक्षण करता होगा।

निस्सन्देह, केशव एक दिलचस्प आदमी है। किन्तु सबसे बड़ी बात है कि वह मेरा मित्र है। निस्सन्देह, उसके साथ कोई नया काम शुरू करना आवश्यक है। मुझे बड़ी मदद होगी।

**[वसुधा में प्रकाशित, नवम्बर 1958। एक साहित्यिक की डायरी म संकलित।]**

# कला का तीसरा क्षण

अरे ! यह कहाँ से टपक पड़ा। बड़ा शोरगुल-पसन्द आदमी है, हुल्लड़बाज़। घर में प्रवेश करने के पहले ही, उसने बच्चों के साथ धमाचौकड़ी शुरू कर दी। उसके मुँह से शब्द नहीं निकलते, भेरी बजती है, डंके बोल उठते हैं। वह घर-भर के साथ खेलता है। सबको हँसाता फिरता है। जाकर है। बहिर्मुख है। मूर्ख है। लोकप्रिय है। वह पिताजी को सारे अखबार के-अखबार सुना जाता है—यानी उसे इतनी खबरें याद हैं। पिताजी उससे बहुत-बहुत खुश हैं। वह लाउड-स्पीकर है,

स्पन्दन है। शब्दो मे जो अर्थ-स्पन्दन है, वह फैण्टेसी द्वारा उद्‌बुद्ध होकर नयी भाव-धाराएँ बहा देता है। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी की समीपवर्ती भाव-धाराएँ हैं। वे फैण्टेसी के जगत् को और भी विस्तृत कर देती है, उसके मौलिक तेज को और भी फैला देती हैं। इन भाव-धाराओ मे अनेको नये-पुराने अनुभव, अपने-पराये भाव, सब प्रवाहित होते रहते हैं। फैण्टेसी के जगत् की अर्थमत्ता तो उनसे बढ जाती है, साथ ही उनके द्वारा फैण्टेसी को एक नया पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। इस पर्सपेक्टिव से सयुक्त होकर फैण्टेसी एक तेजोवलय मे चमकने लगती है। फैण्टेसी अब पूर्णरूप से सार्वजनीन हो जाती है।

"ऐसा क्यो ? भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ-परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभवो से जुडे हुए हैं। फैण्टेसी अपने अनुकूल शब्दो मे स्थित अर्थ-स्पन्दन को उद्‌बुद्ध करती है। इन शब्दो के ढाँचो मे फैण्टेसी को फिट करना पडता है, इसलिए फैण्टेसी का मौलिक तेज काफी कट-छँट जाता है। शब्दो के पीछे की अर्थ-परम्परा फैण्टेसी के मूल रगो को छाँट देती है, उसके आकार मे परिवर्तन कर देती है, उसकी मौलिक गहराई को भिन्न बना देती है, उसकी मौलिक गहनता अर्थात् व्यक्तिगत सन्दर्भ भी तराश देती है, कई कवि शब्दो की अर्थ-परम्परा से आच्छन्न होकर, भाषा की सफाई और चमक क निर्वाह के लिए, प्रकटीकरण के हेतु आतुर भाव-तत्त्वो को ही काट देते हैं।

"इसके विपरीत फैण्टेसी द्वारा उद्‌बुद्ध शब्दो के अर्थ-अनुषग और उनसे सम्बद्ध चित्र नयी भाव-धाराएँ बहा देते हैं। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी के अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं। उन भाव-धाराओ मे अनेको नये-पुराने अनुभव और अपने-पराये भाव होने से फैण्टेसी की अर्थमत्ता का विस्तार हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत क्षेत्र मे, ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी पर, और फैण्टेसी इन भाव-धाराओं पर क्रिया-प्रक्रिया करने लगती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया से फैण्टेसी का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है, अनुभव को पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। फैण्टेसी के भीतर के मूल उद्देश्य और दिशा मे विस्तार भर उठता है।

"दूसरे शब्दों म, कला के तीसरे क्षण मे सृजन-प्रक्रिया जोरो से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द-साधना द्वारा नये-नये भाव और नये-नये अर्थ-स्वप्न मिलने लगते हैं। पुरानी फैण्टेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान म शब्दो के अर्थ-स्पन्दनो द्वारा पैदा होती है। अर्थ-स्पन्दनो के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवो की परम्परा होती है। इसलिए अर्थ-परम्पराएँ न केवल मूल फैण्टेसी को काट देती है, तराशती है, रग उडा देती हैं, वरन् उसके साथ ही, वे नया रग चढा देती हैं, नये भावो और प्रवाहो से उसे सम्पन्न करती है, उसके अर्थ-क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।

'इसीलिए अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान मे कवि को नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक ओर, मूल फैण्टेसी के मूल-मर्म की अभिव्यक्ति पर उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केन्द्रीकरण हो जाता है, तो दूसरी ओर इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विस्तार होने लगता है। उसे नये-नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक साक्षात्कार कई भाव-सत्यो का उद्‌घाटन करता है। एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चालू रहती है।

"इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के पीछे भाषा की अगाध अनवरत साधनाशक्ति

है। भापा फैण्टेसी को काटती-छाँटती है, और इस प्रक्रिया के विपरीत फैण्टेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है।

"कवि की यह फैण्टेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमे नये अर्थ-अनुषग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सन्देह महान् कवि है।

"इस प्रकार कला के तीसरे क्षण मे मूल द्वन्द्व है—भाषा तथा भाव के बीच। इन दोनो की परस्पर प्रतिक्रिया और सघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनो को बदलते रहते हैं। इन दोनो मे सशोधन होता जाता है। यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है। भाषा, एक परम्परा के रूप मे, फैण्टेसी के मूल रग [illegible] भी उपस्थित करती [illegible], अपने मूल रगो की [illegible] और मुहावरो मे नयी अर्थमत्ता, नयी अर्थ-क्षमता, नयी अभिव्यक्ति भर देती है। कला के तीसरे क्षण मे यह महत्त्वपूर्ण द्वन्द्व है।

"इसीलिए कलाकार को यह महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था, वह पूर्ण रूप से नही कह सका, और ऐसा बहुत कुछ कह गया जो, शुरू मे, उसे मालूम नही था कि कह जायेगा! क्या यह भावना तुम्हे नही होती?"

केशव के पत्र के मैंने कुछ अश यहाँ प्रस्तुत किये। पत्र पढकर मुझे दु ख भी हुआ, सुख भी। दु ख इसलिए कि इस बीच मैं स्वय बहुत उलझ गया था। और सुख इसलिए कि केशव ने मेरी बात बहुत आगे बढा दी। मेरा खयाल है कि केशव इन बातो का अब परीक्षण और पुन परीक्षण करता होगा।

निस्सन्देह, केशव एक दिलचस्प आदमी है। किन्तु सबसे बडी बात है कि वह मेरा मित्र है। निस्सन्देह, उसके साथ कोई नया काम शुरू करना आवश्यक है। मुझे बडी मदद होगी।

[**वसुधा मे प्रकाशित, नवम्बर 1958। एक साहित्यिक की डायरी मे सकलित।**]

# कला का तीसरा क्षण

अरे! यह कहाँ से टपक पडा। बडा शोरगुल-पसन्द आदमी है, हुल्लडबाज। घर मे प्रवेश करने के पहले ही, उसने बच्चो के साथ धमाचौकडी शुरू कर दी। उसके मुँह से शब्द नही निकलते, भेरी बजती है, डके बोल उठते हैं। वह घर-भर के साथ खेलता है। सबको हँसाता फिरता है। जोकर है। बहिर्मुख है। मूर्ख है। लोक-प्रिय है। वह पिताजी को सारे अखबार-के-अखबार सुना जाता है—यानी उसे इतनी खबरें याद हैं। पिताजी उससे बहुत-बहुत खुश हैं। वह लाउड-स्पीकर है,

स्पन्दन है। शब्दो में जो अर्थ-स्पन्दन है वह फैण्टेसी द्वारा उद्बुद्ध होकर नयी भाव-धाराएँ वहा देता है। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी की समीपवर्ती भाव-धाराएँ हैं। वे फैण्टेसी के जगत् को और भी विस्तृत कर देती हैं, उसके मौलिक तेज को और भी फैला देती हैं। इन भाव-धाराओ में अनेको नये-पुराने अनुभव, अपने-पराये भाव, सब प्रवाहित होते रहते हैं। फैण्टेसी के जगत् की अर्थमत्ता तो उनमे बढ जाती है, साथ ही उनके द्वारा फैण्टेसी को एक नया पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। इस पर्सपेक्टिव से मयुक्त होकर फैण्टेसी एक तजोवलय में चमकने लगती है। फैण्टेसी अब पूर्णरूप से सार्वजनीन हो जाती है।

"ऐसा क्यो? भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ-परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभवो से जुडे हुए हैं। फैण्टेसी अपने अनुकूल शब्दो मे स्थित अर्थ-स्पन्दन को उद्बुद्ध करती है। इन शब्दो के ढाँचो मे फैण्टेसी को फिट करना पडता है, इसलिए फैण्टेसी का मौलिक तेज काफी कट-छँट जाता है। शब्दो के पीछे की अर्थ-परम्परा फैण्टेसी के मूल रगो को छाँट देती है, उसके आकार मे परिवर्तन कर देती है, उसकी मौलिक गहराई को भिन्न बना देती है, उसकी मौलिक गहनता अर्थात व्यक्तिगत सन्दर्भ भी तराश देती है, कई कवि शब्दो की अर्थ परम्परा से आच्छन्न होकर, भाषा की सफाई और चमक के निर्वाह के लिए, प्रकटीकरण के हेतु आतुर भाव-तत्त्वों को ही काट देते हैं।

"इसके विपरीत फैण्टेसी द्वारा उद्बुद्ध शब्दो के अर्थ-अनुषग और उनसे सम्बद्ध चित्र नयी भाव-धाराएँ वहा देते हैं। ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी के अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं। उन भाव-धाराओ मे अनेको नये-पुराने अनुभव और अपने-पराये भाव होने से फैण्टेसी की अर्थमत्ता का विस्तार हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत क्षेत्र मे, ये भाव-धाराएँ फैण्टेसी पर, और फैण्टेसी इन भाव-धाराओ पर क्रिया-प्रक्रिया करने लगती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया से फैण्टेसी का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है, अनुभव को पर्सपेक्टिव प्राप्त हो जाता है। फैण्टेसी के भीतर के मूल उद्देश्य और दिशा मे विस्तार भर उठता है।

"दूसरे शब्दो मे कला के तीसरे क्षण मे सृजन-प्रक्रिया जोरो से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द-साधना द्वारा नये-नये भाव और नये-नये अर्थ-स्वप्न मिलने लगते हैं। पुरानी फैण्टेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान मे शब्दो के अर्थ-स्पन्दनो द्वारा पैदा होती है। अर्थ-स्पन्दनो के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवो की परम्परा होती है। इसलिए अर्थ परम्पराएँ न केवल मूल फैण्टेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रग उडा देती हैं, वरन् उसके साथ ही, वे नया रग चढा देती है, नये भावो और प्रवाहो से उसे सम्पन्न करती है, उसके अर्थ-क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।

"इसीलिए अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान मे, कवि को नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक ओर, मूल फैण्टेसी के *मूल-मर्म की अभिव्यक्ति पर उस सम्पूर्ण* व्यक्तित्व का केन्द्रीकरण हो जाता है, तो दूसरी ओर इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विस्तार होने लगता है। उसे नये नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक साक्षात्कार कई भाव-सत्यो का उद्घाटन करता है। एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चालू रहती है।

"इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के पीछे भाषा की अगाध अनवरत साधनाशक्ति

है। भाषा फैण्टेसी को काटती-छाँटती है, और इस प्रक्रिया के विपरीत फैण्टेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है।

"कवि की यह फैण्टेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमे नये अर्थ-अनुषग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सन्देह महान् कवि है।

"इस प्रकार कला के तीसरे क्षण मे मूल द्वन्द्व है—भाषा तथा भाव के बीच। इन दोनो की परस्पर प्रतिक्रिया और सघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनो को बदलते रहते हैं। इन दोनो मे सशोधन होता जाता है। यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्वपूर्ण और सृजनशील है। भाषा, एक परम्परा के रूप मे, फैण्टेसी के मूल रग को विस्तृत कर देती है, किन्तु साथ ही उस फैण्टेसी मे सशोधन भी उपस्थित करती जाती है। साथ ही फैण्टेसी अपने मूल रगो के निर्वाह के लिए, अपने मूल रगो की अभिव्यक्ति के लिए, भाषा पर दबाव लाती है, उसके शब्दो और मुहावरो मे नयी अर्थमत्ता, नयी अर्थ-क्षमता, नयी अभिव्यक्ति भर देती है। कला के तीसरे क्षण म यह महत्त्वपूर्ण द्वन्द्व है।

"इसीलिए कलाकार को यह महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था, वह पूर्ण रूप स नही कह सका, और ऐसा बहुत कुछ कह गया जो, शुरू मे, उसे मालूम नही था कि कह जायेगा। क्या यह भावना तुम्हें नही होती?"

केशव के पत्र के मैंने कुछ अश यहाँ प्रस्तुत किये। पत्र पढकर मुझे दु ख भी हुआ, सुख भी। दु ख इसलिए कि इस बीच मैं स्वय बहुत उलझ गया था। और सुख इसलिए कि केशव ने मेरी बात बहुत आगे बढा दी। मेरा खयाल है कि केशव इन बातो का अब परीक्षण और पुन परीक्षण करता होगा।

निस्सन्देह, केशव एक दिलचस्प आदमी है। किन्तु सबसे बडी बात है कि वह मेरा मित्र है। निस्सन्देह, उसके साथ कोई नया काम शुरू करना आवश्यक है। मुझे बडी मदद होगी।

**[वसुधा मे प्रकाशित, नवम्बर 1958। एक साहित्यिक की डायरी म सकलित।]**

# कला का तीसरा क्षण

अरे! यह कहाँ से टपक पडा। बडा शोरगुल-पसन्द आदमी है, हुल्लडबाज। घर मे प्रवेश करने के पहले ही, उसने बच्चो के साथ धमाचौकडी शुरू कर दी। उसके मुँह से शब्द नही निकलते, भेरी बजती हैं, डके बोल उठते हैं। वह घर-भर के साथ खेलता है। सबको हँसाता फिरता है। जोकर है। बहिर्मुख है। मूर्ख है। लोकप्रिय है। वह पिताजी को सारे अखबार के-अखबार सुना जाता है—यानी उसे इतनी खबरें याद हैं। पिताजी उससे बहुत-बहुत खुश हैं। वह लाउड-स्पीकर है,

मेगाफोन है। वह केवल एक ही व्यक्ति का वास्तविक आदर और सम्मान और श्रद्धा करता है। वह है मेरी पत्नी, जिसे मैं अज्ञ समझता हूँ। मेरी पत्नी उसकी श्रद्धा की आस्पदा है। खूब आदमी है, अजीब है, मुझे नापसन्द है। वह मेरे एकान्त को तोड-फोड डालता है। उसे देखकर, मुझे उस तूफ़ान की याद आती है, जो सूखे हुए पहाडो और भूखी घाटियो पर से गुज़रता हुआ हर ठूंठ से शेकहैण्ड करते हुए उसे झकझोर देता है। वाहियात आदमी है! डी लिट हुआ तो क्या हुआ! विलायत चार बार चला गया तो क्या हुआ! अब मास्को जाने की तैयारी मे है! बदमाश है, बदमाश! लेकिन, कितना प्यारा बदमाश है वह! उसे धोखा नही दिया जा सकता, उससे छल करना असम्भव है। दस घाट का पानी पिया हुआ है वह।

उसका चेहरा मजेदार है। मज़ेदार और दिलचस्प। कोकन मे जनमा, शोलापुर मे पढा। इन्दौर मे शादी की। उज्जैन मे नौकरी की। तब से मैं जानता हूँ। अब वह छुट्टा है। उसका चेहरा दिलचस्प है।

गोरा और लम्बा। गाल की उपरली हड्डियो से ठुड्डी के समीप तक दो सलवटें और उनकी दो रेखाएँ, हमेशा, एक अजीब व्यग्य भाव को अंकित करती हुई। नीचे का होठ बडा, उपरले छोटे होठ के आगे आकर मानो उसे दबाता हुआ। चौडा सपाट भाल। और लम्बे-लम्बे कान। सारे चेहरे पर सूक्ष्म सलवटो की आधी-दृश्य आधी-अदृश्य जाली—मानो वह सलवट-जाली मुख की त्वचा के नीचे हो।

सब लोगो से खेल-खाल कर, हँसा-डुलाकर, उसने अब मुझ पर आक्रमण किया। मैं सावधान बैठा था, मैं जानता था कि आक्रमण होगा। इसलिए, मैंने पान की डिबिया ऊपर निकालकर रक्खी, जिससे कि पान से उसका मुँह बन्द कर सकूँ, और उसकी हलचल तथा शब्दावेग पर नियन्त्रण कर सकूँ।

[illegible] नाट्य किया। अगर मैं शेकहैण्ड

किया। दो पान निकाल, उसने

हुई ताज़ी सिगरेट को माचिस

वह पास मे पडी आराम-कुर्सी

पर धड से गिर पडा, मजे मे हाथ-पैर फैला दिये। मै मुसकराते हुए उसकी तरफ देखने लगा। कैसे अटकाया है साले को!

लेकिन 'साले' का मुँह खुला। उसने पान को एक ओर गोदाम मे डाल रखा था। और, एक अविराम शब्द-धारा बह पडी। कहने लगा, "**वसुधा** मे, पिछली मर्तबा जो तुमने लिखा उस पर मैंने भी सोचा!"

मैं हक्का-बक्का। पूछा, "तुम्हें **वसुधा** कहाँ मिल जाती है?"

उसने गर्व के साथ कहा, 'खरीदता हूँ!"

उसने कहना जारी रक्खा, "तुम कहते हो कि कला के तीन क्षण होते हैं। बिलकुल ठीक! लेकिन, क्या कलाकार का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह इस पूरी रचना-प्रक्रिया से गुज़र जाये। क्या केवल सौन्दर्य उत्पन्न करना, प्रभाव सृजन करना ही कला का उद्देश्य है? मैं नही मानता!"

"मत मानो।"

"तुम क्या मानते हो?" उसकी सलवटें तिरछी होकर व्यग्य का सृजन करने

लगी। चेहरा भी, कन्धे पर कुछ तिरछा हो गया ! वह आगे कहने लगा, "तुम सौन्दर्यवादियों से किस तरह भिन्न हो ? व्यक्तिवादी रचनाकारों से किस तरह अलग हो ? तुम उन्हीं में के हो।"

मैं मुसकराता रहा, मुसकराता रहा और उसकी ओर देखता रहा। मेरी मुसक्रान होंठों पर जड़ीभूत हो गयी, बर्फ बन गयी। दिल में एक छटपटाहट उभरती-सी लगी।

किन्तु वह प्रशान्त-गम्भीर रूप से पड़ा हुआ था, मानो समुद्र। उसकी धमा-चौकड़ी अब शान्त हो गयी। उसके प्रति मेरी आदर-भावना भी बढ़ गयी। आखिर-कार, वह मेरी डायरी का पाठक तो है !

वह कहने लगा, "जिस शब्दावली का तुम प्रयोग करते हो, जिस ढंग से तुम लिखते हो, जिस तरह तुम सोचते हो, उसमें तो यही प्रकट होता है कि तुम्हारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न अगर कोई है, तो सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्न है। हमारा देश, राष्ट्र, समाज, जनता आदि कुछ महत्त्व नहीं रखते। कम-से-कम, तुम्हारे लिखने-पढ़ने से तो यही प्रभाव होता है !

सबसे कमज़ोर जगह पर उसने चोट की। मैं तिलमिला उठा। आखिरकार, हम दोनों ने मिलकर, साथ-साथ, राजनैतिक कार्य किया था, थोड़े समय तक ही क्यों न सही ! वह मुझे जानता है !

वह आगे कहता गया, "तुमसे यह अपेक्षा न थी।" उसने उदास-भाव से सिर हिला दिया।

मैंने बैठते हुए दिल को झकझोरा। गले में कुछ ज़ोर पैदा कर मैंने कहा, "मित्र-प्रवर ! मैंने वसुधा की पिछली डायरी में केवल रचना-प्रक्रिया को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। उसका सम्बन्ध सभी प्रकार के साहित्य से है, चाहे मैक्सिम गोर्की के उपन्यासों से हो या रवीन्द्रनाथ की कविता से। मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य की कई कसौटियाँ हो सकती हैं। उनमें से एक कसौटी सौन्दर्य-सम्बन्धी भी है।"

[अपूर्ण]

## विचार और चरित्र

मुझे समझ में नहीं आता कि कभी-कभी खयालों को, विचारों को, भावनाओं को, क्या हो जाता है ! वे मेरे आदेश के अनुसार, मन में प्रकट और वाणी में मुखर नहीं हो पाते ! यही मेरा उनसे झगड़ा हो जाता है।

माना कि चेतना की एक अविच्छिन्न धारा अन्दर बहती रहती है। लेकिन वह चेतना किस काम की, जिसमें इतना बल न हो कि वह मेरे आदेश के अनुसार जाग न उठे।

मेगाफोन है। वह केवल एक ही व्यक्ति का वास्तविक आदर और सम्मान और श्रद्धा करता है। वह है मेरी पत्नी, जिसे मैं अज्ञ समझता हूँ। मेरी पत्नी उसकी श्रद्धा की आस्पदा है। खूब आदमी है, अजीब है, मुझे नापसन्द है। वह मेरे एकान्त को तोड-फोड डालता है। उसे देखकर, मुझे उस तूफान की याद आती है, जो सूखे हुए पहाडो और भूखी घाटियो पर से गुजरता हुआ हर ठूँठ से शेकहैण्ड करते हुए उसे झकझोर देता है। वाहियात आदमी है ! डी लिट हुआ तो क्या हुआ ! विलायत चार बार चला गया तो क्या हुआ ! अब मास्को जाने की तैयारी म है ! *बदमाश है, बदमाश ! लेकिन, कितना प्यारा बदमाश है वह !* उसे *धोखा नहीं* दिया जा सकता, उससे छल करना असम्भव है। दस घाट का पानी पिया हुआ है वह।

उसका चेहरा मजेदार है। मजेदार और दिलचस्प। कोकन मे जनमा, शोलापुर मे पढा। इन्दौर मे शादी की। उज्जैन मे नौकरी की। तब से मैं जानता हूँ। अब वह छुट्टा है। उसका चेहरा दिलचस्प है।

गोरा और लम्बा। गाल की उपरली हड्डियो से ठुड्डी क समीप तक दो *सलवटें और उनकी दो रेखाएँ, हमेशा, एक अजीब व्यग्य भाव को अकित करती* हुईं। नीचे का होठ बडा,
चौडा सपाट भाल। और
आधी-दृश्य आधी-अदृश्य
हो।

सब लोगो से खेल-खाल कर, हँसा-डुलाकर, उसने *अब मुझ पर आक्रमण* किया। मैं सावधान बैठा था, मैं जानता था कि आक्रमण होगा। इसलिए, मैंने पान की डिबिया ऊपर निकालकर रक्खी, जिससे कि पान से उसका मुँह बन्द कर सकूँ और उसकी हलचल तथा शब्दावेग पर नियन्त्रण कर सकूँ।

ठीक वही हुआ। मैंने हर्षोत्फुल्ल होने का नाट्य किया। अगर मैं शेकहैण्ड करता तो वह मेरा हाथ तोड देता। मैंने पान आगे किया। दो पान निकाल, उसने मुँह मे भर लिये ! और, मैंने उसकी उँगली म दबी हुई ताजी सिगरेट को माचिस की काडी से जला दिया। *यह कार्य सम्पन्न होते ही,* वह पास मे पडी आराम-कुर्सी पर धड से गिर पडा, मजे मे हाथ-पैर फैला दिये। मैं मुसकराते हुए उसकी तरफ देखने लगा। कैसे अटकाया है साले को !

लेकिन 'साले' का मुँह खुला। उसने पान को एक ओर गोदाम मे डाल रखा था। और, एक अविराम शब्द-धारा बह पडी। कहने लगा, "**वसुधा** म, पिछली *मर्तबा जो तुमने लिखा उस पर मैंने भी सोचा !*"

मैं हक्का-बक्का। पूछा, "तुम्हें **वसुधा** कहाँ मिल जाती है ?"

उसने गर्व के साथ कहा, "खरीदता हूँ !"

उसने कहना जारी रक्खा, "तुम कहते हो कि कला के तीन क्षण होते हैं। बिलकुल ठीक ! लेकिन, क्या कलाकार का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह इस *पूरी रचना प्रक्रिया से गुजर जाये। क्या केवल सौन्दर्य उत्पन्न करना, प्रभाव सृजन* करना ही कला का उद्देश्य है ? मैं नही मानता !"

"मत मानो।"

"तुम क्या मानते हो ?" उसकी सलवटें तिरछी होकर व्यग्य का सृजन करने

लगी। चेहरा भी, कन्धे पर कुछ तिरछा हो गया ! वह आगे कहने लगा, "तुम सौन्दर्यवादियो से किस तरह भिन्न हो? व्यक्तिवादी रचनाकारो से किस तरह अलग हो? तुम उन्ही मे के हो।"

मैं मुसकराता रहा, मुसकराता रहा और उसकी ओर देखता रहा। मेरी मुसकान होठो पर जडीभूत हो गयी, बर्फ बन गयी। दिल मे एक छटपटाहट उभरती-सी लगी।

किन्तु वह प्रशान्त-गम्भीर रूप से पडा हुआ था, मानो समुद्र। उसकी धमा-चौकडी अब शान्त हो गयी। उसके प्रति मेरी आदर-भावना भी बढ गयी। आखिर-कार, वह मेरी डायरी का पाठक तो है !

वह कहने लगा, 'जिस शब्दावली का तुम प्रयोग करते हो, जिस ढग से तुम लिखते हो, जिस तरह तुम सोचते हो, उससे तो यही प्रकट होता है कि तुम्हारे सामने सबसे बडा प्रश्न अगर कोई है, तो सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्न है। हमारा देश, राष्ट्र, समाज, जनता आदि कुछ महत्त्व नही रखते। कम-से-कम, तुम्हारे लिखने-पढने से तो यही प्रभाव होता है !

सबसे कमजोर जगह पर उसने चोट की। मैं तिलमिला उठा। आखिरकार, हम दोनों ने मिलकर, साथ-साथ, राजनैतिक कार्य किया था, थोडे समय तक ही क्यों न सही ! वह मुझे जानता है !

वह आगे कहता गया, "तुमसे यह अपेक्षा न थी।" उसने उदास-भाव से सिर हिला दिया।

मैंने बैठते हुए दिल को झकझोरा। गले मे कुछ जोर पैदा कर मैंने कहा, "मित्र-प्रवर ! मैंने वसुधा की पिछली डायरी म केवल रचना प्रक्रिया को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। उसका सम्बन्ध सभी प्रकार के साहित्य से है, चाहे मैक्सिम गोर्की के उपन्यासों से हो या रवीन्द्रनाथ की कविता से। मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य की कई कसौटियाँ हो सकती हैं। उनमे से एक कसौटी सौन्दर्य-सम्बन्धी भी है।"

[अपूर्ण]

# विचार और चरित्र

मुझे समझ मे नही आता कि कभी-कभी खयालो को, विचारों को, भावनाओ को, क्या हो जाता है ! वे मेरे आदेश के अनुसार, मन मे प्रकट और वाणी में मुखर नही हो पाते ! यही मेरा उनसे झगडा हो जाता है।

माना कि चेतना की एक अविच्छिन्न धारा अन्दर बहती रहती है। लेकिन वह चेतना किस काम की, जिसमे इतना बल न हो कि वह मेरे आदेश के अनुसार जाग न उठे।

मेगाफोन है। वह केवल एक ही व्यक्ति का वास्तविक आदर और सम्मान और श्रद्धा करता है। वह है मेरी पत्नी, जिसे मैं अज्ञ समझता हूँ। मेरी पत्नी उसकी श्रद्धा की आस्पदा है। खूब आदमी है, अजीब है, मुझे नापसन्द है। वह मेरे एकान्त को तोड-फोड डालता है। उसे देखकर, मुझे उस तूफान की याद आती है, जो सूखे हुए पहाडो और भूखी घाटियो पर से गुजरता हुआ हर ठूँठ से शेकहैण्ड करते हुए उसे झकझोर देता है। वाहियात आदमी है! डी लिट हुआ तो क्या हुआ! विलायत चार बार चला गया तो क्या हुआ! अब मास्को जाने की तैयारी में है! बदमाश है, बदमाश! लेकिन, कितना प्यारा बदमाश है वह! उसे धोखा नही दिया जा सकता, उससे छल करना असम्भव है। दस घाट का पानी पिया हुआ है वह।

उसका चेहरा मजेदार है। मजेदार और दिलचस्प। कोकन मे जनमा, शोलापुर मे पढा। इन्दौर मे शादी की। उज्जैन मे नौकरी की। तब से मैं जानता हूँ। अब वह छूट्टा है। उसका चेहरा दिलचस्प है।

*गोरा और लम्बा। गाल की उपरली हड्डियो से ठुड्डी के समीप तक दो* सलवटें और उनकी दो रेखाएँ, हमेशा, एक अजीब व्यग्य भाव को अकित करती हुईं। नीचे का होठ बडा, उपरले छोटे होठ के आगे आकर मानो उसे दबाता हुआ। चौडा सपाट भाल। और लम्बे-लम्बे कान। सारे चेहरे पर सूक्ष्म सलवटो की आधी-दृश्य आधी-अदृश्य जाली—मानो वह सलवट-जाली मुख की त्वचा के नीचे हो।

सब लोगो से खेल-खाल कर, हँसा-डुलाकर, उसने अब मुझ पर आक्रमण किया। मैं सावधान बैठा था, मैं जानता था कि आक्रमण होगा। इसलिए, मैंने पान की डिबिया ऊपर निकालकर रक्खी, जिससे कि पान से उसका मुँह बन्द कर सकूँ, और उसकी हलचल तथा शब्दावेग पर नियन्त्रण कर सकूँ।

ठीक वही हुआ। मैंने हर्षोत्फुल्ल होने का नाट्य किया। अगर मैं शेकहैण्ड करता तो वह मेरा हाथ तोड देता। मैंने पान आगे किया। दो पान निकाल, उसने मुँह मे भर लिये! और, मैंने उसकी उँगली म दबी हुई ताजी सिगरेट को माचिस की काडी से जला दिया। यह कार्य सम्पन्न होते ही, वह पास मे पडी आराम-कुर्सी पर धड से गिर पडा, मजे मे हाथ पैर फैला दिये। मैं मुसकराते हुए उसकी तरफ देखने लगा। कैसे अटकाया है साले को!

लेकिन 'साले' का मुँह खुला। उसने पान को एक ओर गोदाम मे डाल रखा था। और, एक अविराम शब्द-धारा बह पडी। कहने लगा, "वसुधा म, पिछली मर्तबा जो तुमने लिखा उस पर मैंने भी सोचा।"

मैं हक्का-बक्का। पूछा, "तुम्हे वसुधा कहाँ मिल जाती है?"

उसने गर्व के साथ कहा, "खरीदता हूँ।"

उसने कहना जारी रक्खा, "तुम कहते हो कि कला के तीन क्षण होते है। *बिलकुल ठीक! लेकिन, क्या कलाकार का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह इस* पूरी रचना प्रक्रिया से गुजर जाये। क्या केवल सौन्दर्य उत्पन्न करना, प्रभाव सृजन करना ही कला का उद्देश्य है? मैं नही मानता।"

"मत मानो।"

"तुम क्या मानते हो?" उसकी सलवटें तिरछी होकर व्यग्य का सृजन करने

लगी। चेहरा भी, कन्धे पर कुछ तिरछा हो गया ! वह आगे कहने लगा, "तुम सौन्दर्यवादियों से किस तरह भिन्न हो? व्यक्तिवादी रचनाकारों से किस तरह अलग हो? तुम उन्हीं में के हो।"

मैं मुसकराता रहा, मुसकराता रहा और उसकी ओर देखता रहा। मेरी मुसकान होंठों पर जड़ीभूत हो गयी, बर्फ बन गयी। दिल में एक छटपटाहट उभरती-सी लगी।

किन्तु वह प्रशान्त-गम्भीर रूप से पड़ा हुआ था, मानो समुद्र। उसकी धमा-चौकड़ी अब शान्त हो गयी। उसके प्रति मेरी आदर-भावना भी बढ़ गयी। आखिर-कार, वह मेरी डायरी का पाठक तो है !

वह कहने लगा, 'जिस शब्दावली का तुम प्रयोग करते हो, जिस ढंग से तुम लिखते हो, जिस तरह तुम सोचते हो, उससे तो यही प्रकट होता है कि तुम्हारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न अगर कोई है, तो सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्न है। हमारा देश, राष्ट्र, समाज, जनता आदि कुछ महत्त्व नहीं रखते। कम-से-कम, तुम्हारे लिखने-पढ़ने से तो यही प्रभाव होता है !

सबसे कमज़ोर जगह पर उसने चोट की। मैं तिलमिला उठा। आखिरकार, हम दोनों ने मिलकर, साथ साथ, राजनैतिक कार्य किया था, थोड़े समय तक ही क्यों न सही ! वह मुझे जानता है !

वह आगे कहता गया, "तुमसे यह अपेक्षा न थी।" उसने उदास-भाव से सिर हिला दिया।

मैंने बैठते हुए दिल को झकझोरा। गले में कुछ ज़ोर पैदा कर मैंने कहा, "मित्र-प्रवर ! मैंने वसुधा की पिछली डायरी में केवल रचना-प्रक्रिया को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। उसका सम्बन्ध सभी प्रकार के साहित्य से है, चाहे मैक्सिम गोर्की के उपन्यासों से हो या रवीन्द्रनाथ की कविता से। मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य की कई कसौटियाँ हो सकती हैं। उनमें से एक कसौटी सौन्दर्य सम्बन्धी भी है।"

[अपूर्ण]

# विचार और चरित्र

मुझे समझ में नहीं आता कि कभी-कभी खयालों को, विचारों को, भावनाओं को, क्या हो जाता है ! वे मेरे आदेश के अनुसार, मन में प्रकट और वाणी में मुखर नहीं हो पाते ! यही मेरा उनसे झगड़ा हो जाता है।

माना कि चेतना की एक अविच्छिन्न धारा अन्दर बहती रहती है। लेकिन वह चेतना किस काम की, जिसमें इतना बल न हो कि वह मेरे आदेश के अनुसार जाग न उठे।

दु ख इसी बात [illegible]
वह तुरन्त ही शून्य [illegible]
ध्यान जाने के बाद, [illegible]
बरत, लगातार, स[illegible]
खेल लहर पकड़ने-जैसा ही है !

फिर मैं अपने को गाली देने लगता हूँ। वे लोग ज्यादा सुखी हैं जिनका ध्यान सिर्फ बाहर की ओर, यानी काम निपटाकर फेंक देने की तरफ, लगा रहता है। मेरा मन ही अजीब है, जो अपने मे डूबा नही रहता (डूब ही जाता तो क्या बात थी !), लेकिन फिर भी जो अपना एक नेपथ्य-सगीत आयोजित करता चलता है। मेरे कई विचारक-मित्रो ने मुझे इसीलिए बुरा-भला कहा है, यह भी कहा है कि मैं [illegible]

[illegible] उनमे सत्याश भी हो। कौन जाने !

फिर भी मेरा ऐसा खयाल है कि लोग, न्याय-भावना से प्रेरित होकर भी, बहुत अन्याय कर जाते हैं, इसलिए कि वे जिन्दगी के बहुतेरे तथ्य नही जानते। उनके विशाल ज्ञान मे विशालतर अज्ञान के सम्मिश्रण से, उनकी न्याय-प्रेरित बुद्धि, अहकार-युक्त होकर, भयानक अन्याय कर जाती है। इस अन्याय से विद्रोह-भरी पीडा होती है। यह पीडा उजला दर्द नही, काली वेदना है। लेकिन उससे भी मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है ! मनुष्य तह के अन्दर की तहें देखने के लिए गहराई मे हाथ डालता है। और, साधारणत., वहाँ उसे डक उठाये हुए एक बिच्छू की चोट ही मिलती है !

अणु के केन्द्र मे हाथ डालने से विनाशकारी शक्ति का बोध होता है। किन्तु उसी अणु के जब विभिन्न पुज बन जाते हैं, तब आपको वह विनाशशक्ति नही मिलती। उसी प्रकार से, मनुष्य-चरित्र के अत्यधिक निकट जाकर उसे देखने से मन को पीडा होना ही ज्यादा स्वाभाविक है, किन्तु बरामदो मे, ड्राइगरूमो मे, सभा-सम्मेलनों मे, वे ही लोग भले मालूम होते हैं।

मैंने ऊपर जो उपमा दी, वह शायद वस्तु-परक तथ्यवादी नही है। वह एकागी भी हो सकती है अथवा विशुद्ध भ्रम की उपज। किन्तु यह सही है कि बहुत बार मेरा ध्यान विचारो को प्रकट करनेवाले चरित्र की तरफ ही जाता है, और इच्छा होती है कि मैं चरित्र मे हस्तक्षेप करूँ, गो इसका मुझे बहुत डर लगता है। किन्तु साथ-साथ एक विचित्र आकर्षण और सम्मोह मुझे अन्यो के चरित्र मे हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य करता है। तब मुझे यह परवाह नही होती कि तहो के अन्दर की तहो मे डक उठाये हुए मुझे बिच्छू मिलेगा या साँप ! मैं तो उस चरित्र-व्यक्तित्व का अनुसन्धान करना चाहता हूँ और मैं, बगैर आगा-पीछा देखे, उस तिलिस्म मे घुस पडता हूँ। और आपसे सच कहता हूँ कि डक मारनेवाले वे बिच्छू होते ही नही, वरन् आत्मरक्षात्मक प्रवृत्ति के एक यन्त्र मात्र होते हैं, जिन्हे ज़रा-सा हिलाने-डुलाने से, पुचकारने से, काम बन जाता है।

भीतर की एक पेटी के अँधेरे मे जमे हुए इस आत्म-रक्षात्मक यन्त्र का विचारो से बहुत बडा सम्बन्ध है। असल मे वह यन्त्र व्यक्तित्व-जैसा भी है, उसका पहरे-

दार है। और वे विचार—इस पहरेदार के विभिन्न अस्त्र हैं। मेरा अनुभव, मेरा तजुर्बा, मुझे यही बताता है। हाँ, यह स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ कि ऐसा हमेशा नहीं होता, कि ऐसा होना अनिवार्य नहीं है, कि ऐसा सौ-फीसदी है ही—यह नहीं कहा जा सकता।

फिर भी, बहुतेरी आलोचनाएँ ऐसी ही होती हैं—विशेषकर उस क्षेत्र में जहाँ हम मानव-सम्बन्धों का जीवन जीते हैं। इस क्षेत्र में जो विचार प्रकट किये जाते हैं उन्हें बहुत सावधानी से लेने की जरूरत है, चाहे वे अपने बारे में हों, या दूसरों के बारे में, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार करना, शायद आसान है, किन्तु चरित्र-साक्षात्कार एकदम असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

तो तात्पर्य यह कि विचारों का चरित्र से बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी वह प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखायी देता है, कभी-कभी वह अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष। इसका मतलब यह नहीं है कि विचारों का तर्क सिद्ध अथवा अनुभव-सिद्ध प्रभावों से अथवा परम्परा से सम्बन्ध नहीं होता।

[अप्रकाशित। रचनाकाल अनिश्चित, सम्भवतः 1958 के आसपास।]

# अकेलापन और पार्थक्य

कभी-कभी ऐसा भी होता है, मन अपने को भूनकर खाता है। आज कई रोज से इसी तरह की बेचैनी दिल में घर किये रही। किससे कहे? क्या कहे? तबीयत होती है, बहुत-बहुत तबीयत होती है कि ऐसा देशी विदेशी साहित्य हाथ में आ जाय, जिसके द्वारा मेरी अपनी समस्याओं पर कुछ प्रकाश पड़े, कुछ राहत मिले, कोई मार्ग प्राप्त हो। कोई ऐसा उपन्यास पढ़ने को मिल जाय, जिसमें मेरी जैसी समस्या-वाले व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया हो। सम्भव है उस लेखक के विचार मेरे काम के निकलें। लायब्रेरियों में जाता हूँ, किताबें टटोलता रहता हूँ, कुछ पूरी पढ़ता हूँ, कुछ आधी पढ़कर वापिस कर देता हूँ। हाँ, यह एक आत्मग्रस्त शोध है। ऐसा कहीं कोई भी मिलने का, जो मेरी समस्याओं जैसी समस्याओं और मेरे स्वभाव-जैसे स्वभाव पर कोमल किन्तु तीव्र प्रकाश डाले, उन्हें मूर्त करे, और नाजुक तरीके से, हल्के से, बस यूँ ही, इत्मीनान दिला दे और रास्ते चलते मुझे भी रास्ता बता दे। बस, एक गुरु की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार-भरे सलाहकार की, बड़ी जरूरत है, बहुत बड़ी। उससे बहस की जा सके, ऐसा अवसर हो।

यह सन्देह के परे है कि विभिन्न युगों में और विभिन्न देशों में—यूरोप और अमरीका में, चिली में और जापान में, सेन फ्रान्सिस्को में और मॉस्को में, लन्दन में और प्राग में, दिल्ली में और तिरुवांकुर में—मेरी-जैसी समस्याओंवाले और मेरे-जैसे स्वभाववाले एक नहीं अनेकों हुए होंगे। कोई मुझे उनका लिखा उपन्यास ला दे, या कोई निबन्ध। कविता भी चल जायेगी। यह जरूरी नहीं है कि वह

दु ख इसी वात [illegible]
वह तुरन्त ही शून्य [illegible]
ध्यान जाने के बाद, [illegible]
वरत, लगातार, स [illegible]
खेल लहर पकडने-जैसा ही है !

फिर मैं अपने को गाली देने लगता हूँ। वे लोग ज्यादा सुखी है जिनका ध्यान सिर्फ बाहर की ओर, यानी काम निपटाकर फेंक देने की तरफ, लगा रहता है। मेरा मन ही अजीब है, जो अपने मे डूबा नही रहता (डूब ही जाता तो क्या बात थी !), लेकिन फिर भी जो अपना एक नेपथ्य-सगीत आयोजित करता चलता है। मेरे कई विचारक-मित्रो ने मुझे इसीलिए बुरा-भला कहा है, यह भी कहा है कि मैं [illegible]

[illegible] उनमे सत्याश भी हो। कौन जाने !

फिर भी मेरा ऐसा खयाल है कि लोग, न्याय-भावना से प्रेरित होकर भी, बहुत अन्याय कर जाते हैं, इसलिए कि वे जिन्दगी के बहुतेरे तथ्य नही जानते। उनके विशाल ज्ञान मे विशालतर अज्ञान के सम्मिश्रण से, उनकी न्याय-प्रेरित बुद्धि, अहकार-युक्त होकर, भयानक अन्याय कर जाती है। इस अन्याय से विद्रोह-भरी पीडा होती है। यह पीडा उजला दर्द नही, काली वेदना है। लेकिन उससे भी मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है ! मनुष्य तह के अन्दर की तहे देखने के लिए गहराई मे हाथ डालता है। और, साधारणत, वहाँ उसे डक उठाये हुए एक बिच्छू की चोट ही मिलती है !

अणु के केन्द्र मे हाथ डालने से विनाशकारी शक्ति का बोध होता है। किन्तु उसी अणु के जब विभिन्न पुज बन जाते हैं, तब आपको वह विनाशशक्ति नही मिलती। उसी प्रकार से, मनुष्य-चरित्र के अत्यधिक निकट जाकर उसे देखने से मन को पीडा होना ही ज्यादा स्वाभाविक है, किन्तु बरामदो मे, ड्राइगरूमो मे, सभा-सम्मेलनो मे, वे ही लोग भले मालूम होते हैं।

मैंने ऊपर जो उपमा दी, वह शायद वस्तु-परक तथ्यवादी नही है। वह एकागी भी हो सकती है अथवा विशुद्ध भ्रम की उपज। किन्तु यह सही है कि बहुत बार मेरा ध्यान विचारो को प्रकट करनेवाले चरित्र की तरफ ही जाता है, और इच्छा होती है कि मैं चरित्र मे हस्तक्षेप करूँ, गो इसका मुझे बहुत डर लगता है। किन्तु साथ-साथ एक विचित्र आकर्षण और सम्मोह मुझे अन्यो के चरित्र मे हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य करता है। तब मुझे यह परवाह नही होती कि तहो के अन्दर की तहो मे डक उठाये हुए मुझे बिच्छू मिलेगा या साँप ! मैं तो उस चरित्र-व्यक्तित्व का अनुसन्धान करना चाहता हूँ और मैं, बगैर आगा-पीछा देखे, उस तिलिस्म मे घुस पडता हूँ। और आपसे सच कहता हूँ कि डक मारनेवाले वे बिच्छू होते ही नही, वरन् आत्मरक्षात्मक प्रवृत्ति के एक यन्त्र मात्र होते हैं, जिन्हे जरा-सा हिलाने-डुलाने से, पुचकारने से, काम बन जाता है।

भीतर की एक पेटी के अँधेरे मे जमे हुए इस आत्म-रक्षात्मक यन्त्र का विचारो से बहुत बडा सम्बन्ध है। असल मे वह यन्त्र व्यक्तित्व-जैसा भी है, उसका पहरे-

दार है। और वे विचार—इस पहरेदार के विभिन्न अस्त्र हैं। मेरा अनुभव, मेरा तजुर्बा, मुझे यही बताता है। हाँ, यह स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ कि ऐसा हमेशा नहीं होता, कि ऐसा होना अनिवार्य नहीं है, कि ऐसा सौ-फीसदी है ही—यह नहीं कहा जा सकता।

फिर भी, बहुतेरी आलोचनाएँ ऐसी ही होती हैं—विशेषकर उस क्षेत्र में जहाँ हम मानव-सम्बन्धों का जीवन जीते हैं। इस क्षेत्र में जो विचार प्रकट किये जाते हैं उन्हें बहुत सावधानी से लेने की जरूरत है, चाहे वे अपने बारे में हों, या दूसरों के बारे में, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार करना, शायद आसान है, किन्तु चरित्र-साक्षात्कार एकदम असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

तो तात्पर्य यह कि विचारों का चरित्र से बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी वह प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखायी देता है, कभी-कभी वह अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष। इसका मतलब यह नहीं है कि विचारों का तर्क-सिद्ध अथवा अनुभव-सिद्ध प्रमाणों से अथवा परम्परा से सम्बन्ध नहीं होता।

[अप्रकाशित। रचनाकाल अनिश्चित, सम्भवत 1958 के आसपास।]

# अकेलापन और पार्थक्य

कभी-कभी ऐसा भी होता है, मन अपने को भूनकर खाता है। आज कई रोज से इसी तरह की बेचैनी दिल में घर किये रही। किसे कहें? क्या कहें? तबीयत होती है, बहुत-बहुत तबीयत होती है कि ऐसा देशी-विदेशी साहित्य हाथ में आ जाय, जिसके द्वारा मेरी अपनी समस्याओं पर कुछ प्रकाश पड़े, कुछ राहत मिले, कोई मार्ग प्राप्त हो। कोई ऐसा उपन्यास पढ़ने को मिल जाय, जिसमें मेरी-जैसी समस्या-वाले व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया हो। सम्भव है उस लेखक के विचार मेरे काम के निकलें। लायब्रेरियों में जाता हूँ, किताबें टटोलता रहता हूँ, कुछ पूरी पढ़ता हूँ, कुछ आधी पढ़कर वापिस कर देता हूँ। हाँ, यह एक आत्मग्रस्त शोध है। ऐसा कहीं कोई भी मिलने का, जो मेरी समस्याओं जैसी समस्याओं और मेरे स्वभाव जैसे स्वभाव पर कोमल किन्तु तीव्र प्रकाश डाले, उन्हें मूर्त करे, और नाजुक तरीके से, हल्के से, बस यूँ ही, इत्मीनान दिला दे और रास्ते चलते मुझे भी रास्ता बता दे। बस, एक गुरु की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार-भरे सलाहकार की, बड़ी जरूरत है, बहुत बड़ी। उससे बहस की जा सके, ऐसा अवसर हो।

यह सन्देह के परे है कि विभिन्न युगों में और विभिन्न देशों में—यूरोप और अमरीका में, चिली में और जापान में, सेन फ्रान्सिस्को में और मॉस्को में, लन्दन में और प्राग में, दिल्ली में और तिरुवाकुर में—मेरी-जैसी समस्याओंवाले और मेरे-जैसे स्वभाववाले एक नहीं अनेकों हुए होंगे। कोई मुझे उनका लिखा उपन्यास ला दे, या कोई निबन्ध। कविता भी चल जायेगी। यह जरूरी नहीं है कि वह

दु ख इसी बात का है कि लेखनी उठाकर जब मैं उसे आदेश देने लगता हूँ तो वह तुरन्त ही शून्य मे परिणत हो जाती है। किन्तु कुर्सी से उठने पर, दूसरी ओर ध्यान जाने के बाद, वह पार्श्व-सगीत फिर से चालू हो जाता है। दिन-रात अनवरत, लगातार, सतत। उसे पकडने की मैं काफी कोशिश करता हूँ। किन्तु यह खेल लहर पकडने जैसा ही है।

फिर मैं अपने को गाली देने लगता हूँ। वे लोग ज्यादा सुखी हैं जिनका ध्यान सिर्फ बाहर की ओर, यानी काम निपटाकर फेंक देने की तरफ, लगा रहता है। मेरा मन ही अजीब है, जो अपने म डूबा नही रहता (डूब ही जाता तो क्या बात थी!), लेकिन फिर भी जो अपना एक नेपथ्य-सगीत आयोजित करता चलता है। मेरे कई विचारक-मित्रों ने मुझे इसीलिए बुरा-भला कहा है, यह भी कहा है कि मैं निराशावादी हूँ, ह्रास-ग्रस्त हूँ, फ्रस्ट्रेटेड हूँ, स्प्लिट पर्सनेलिटी (विभाजित व्यक्तिगत) वाला हूँ न मालूम क्या-क्या। विचार करनेवाले लोग हैं वे। मैंने अपने व्यक्तिगत जीवन मे जितनी सैद्धान्तिक गालियाँ खायी हैं, वे सब मजेदार हैं। शायद *उनमे सत्यांश भी हो। कौन जाने!*

फिर भी मेरा ऐसा ख्याल है कि लोग, न्याय-भावना से प्रेरित होकर भी, बहुत अन्याय कर जाते है, इसलिए कि वे जिन्दगी के बहुतेरे तथ्य नही जानते। उनके विशाल ज्ञान मे विशालतर अज्ञान के सम्मिश्रण से, उनकी न्याय-प्रेरित बुद्धि, अहकार-युक्त होकर, भयानक अन्याय कर जाती है। इस अन्याय से विद्रोह-भरी पीडा होती है। यह पीडा उजला दर्द नही, काली वेदना है। लेकिन उससे भी मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है। मनुष्य तह के अन्दर की तहे देखने के लिए गहराई मे हाथ डालता है। और, साधारत, वहाँ उसे डक उठाये हुए एक बिच्छू की चोट ही मिलती है।

अणु के केन्द्र मे हाथ डालने से विनाशकारी शक्ति का बोध होता है। किन्तु उसी अणु के जब विभिन्न पुज बन जाते है, तब आपको वह विनाशशक्ति नही [illegible] देखने से

मो म,

मैंने ऊपर जो उपमा दी, वह शायद वस्तु-परक तथ्यवादी नही है। वह एकागी भी हो सकती है अथवा विशुद्ध भ्रम की उपज। किन्तु यह सही है कि बहुत बार मेरा ध्यान विचारो को प्रकट करनेवाले चरित्र की तरफ ही जाता है, और इच्छा होती है कि मैं चरित्र मे हस्तक्षेप करूँ, गा इसका मुझे बहुत डर लगता है। किन्तु साथ-साथ एक विचित्र आकर्षण और सम्मोह मुझे अन्यो क चरित्र मे हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य करता है। तब मुझे यह परवाह नही होती कि तहो के अन्दर की तहो म डक उठाये हुए मुझे बिच्छू मिलेगा या साँप। मै तो उस चरित्र-व्यक्तित्व का अनुसन्धान करना चाहता हूँ और मैं, बगैर आगा-पीछा देखे, उस तिलिस्म म घुस पडता हूँ। और आपसे सच कहता हूँ कि डक मारनेवाले वे बिच्छू होते ही नही, वरन् आत्मरक्षात्मक प्रवृत्ति के एक यन्त्र मात्र होते हैं, जिन्हे जरा-सा हिलाने-डुलाने से, पुचकारने से, काम बन जाता है।

भीतर की एक पेटी के अँधेरे म जमे हुए इस आत्म-रक्षात्मक यन्त्र का विचारो से बहुत बडा सम्बन्ध है। असल मे वह यन्त्र व्यक्तित्व-जैसा भी है, उसका पहरे-

दार है। और वे विचार—इस पहरेदार के विभिन्न अस्त्र हैं। मेरा अनुभव, मेरा तजुर्बा, मुझे यही बताता है। हाँ, यह स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ कि ऐसा हमेशा नहीं होता, कि ऐसा होना अनिवार्य नहीं है, कि ऐसा सौ-फीसदी है ही—यह नहीं कहा जा सकता।

फिर भी, बहुतेरी आलोचनाएँ ऐसी ही होती हैं—विशेषकर उस क्षेत्र में जहाँ हम मानव-सम्बन्धों का जीवन जीते हैं। इस क्षेत्र में जो विचार प्रकट किये जाते हैं उन्हें बहुत सावधानी से लेने की ज़रूरत है, चाहे वे अपने बारे में हों, या दूसरों के बारे में, क्योंकि आत्म साक्षात्कार करना, शायद आसान है, किन्तु चरित्र-साक्षात्कार एकदम असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

तो तात्पर्य यह कि विचारों का चरित्र से बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। कभी कभी वह प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखायी देता है, कभी-कभी वह अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष। इसका मतलब यह नहीं है कि विचारों का तर्क-सिद्ध अथवा अनुभव-सिद्ध प्रभागों से अथवा परम्परा से सम्बन्ध नहीं होता।

[अप्रकाशित। रचनाकाल अनिश्चित, सम्भवत 1958 के आसपास।]

# अकेलापन और पार्थक्य

कभी-कभी ऐसा भी होता है, मन अपने को भूनकर खाता है। आज कई रोज़ से इसी तरह की बेचैनी दिल में घर किये रही। किससे कहे ? क्या कहे ? तबीयत होती है, बहुत-बहुत तबीयत होती है कि ऐसा देशी-विदेशी साहित्य हाथ में आ जाय, जिसके द्वारा मेरी अपनी समस्याओं पर कुछ प्रकाश पड़े, कुछ राहत मिले, कोई मार्ग प्राप्त हो। कोई ऐसा उपन्यास पढ़ने का मिल जाय, जिसमें मेरी-जैसी समस्या-वाले व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया हो। सम्भव है उस लेखक के विचार मेरे काम के निकलें। लायब्रेरियों में जाता हूँ, किताबें टटोलता रहता हूँ, कुछ पूरी पढ़ता हूँ, कुछ आधी पढ़कर वापिस कर देता हूँ। हाँ, यह एक आत्मग्रस्त शोध है। ऐसा कहीं कोई भी मिलने का, जो मेरी समस्याओं जैसी समस्याओं और मेरे स्वभाव-जैसे स्वभाव पर कोमल किन्तु तीव्र प्रकाश डाले, उन्हें मूर्त करे, और नाज़ुक तरीके से, हल्के से, बस यूँ ही, इत्मीनान दिला दे और रास्ते चलते मुझे भी रास्ता बता दे। बस, एक गुरु की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार-भरे सलाहकार की, बड़ी ज़रूरत है, बहुत बड़ी। उससे बहस की जा सके, ऐसा अवसर हो।

यह सन्देह के परे है कि विभिन्न युगों में और विभिन्न देशों में—यूरोप और अमरीका में, चिली में और जापान में, सेन फ्रान्सिस्को में और मॉस्को में, लन्दन में और प्राग में, दिल्ली में और तिरुवांकुर में—मेरी-जैसी समस्याओंवाले और मेरे-जैसे स्वभाववाले एक नहीं अनेकों हुए होंगे। कोई मुझे उनका लिखा उपन्यास ला दे, या कोई निबन्ध। कविता भी चल जायेगी। यह ज़रूरी नहीं है कि वह

आधुनिकतावादी हो। आधुनिकतावादियो को मैने देख लिया है। उनमे दम नही है, वे पोचे हैं। *वे समस्या को बडा करके बताते हैं, आदमी को छोटा करके नचाते* हैं। वह भी एक स्वाँग है।

आज कई दिनो से एक विचित्र मन स्थिति से गुजरता रहा। भयानक आत्म-ग्लानि ने घर कर लिया। *मैं क्या हो सकता था,'लेकिन नही हुआ*! मेरे विकास के सम्भावित विकल्प खडे हो गये। और, मैंने पाया कि वह महान् आत्मशक्ति मुझमे नही, जो मुझमे पूर्ण रूपान्तर उपस्थित कर दे, मैं क्या-का-क्या हो जाऊँ! मैं अपने खुद के कन्धो पर चढ जाना चाहता हूँ, आकाश छूना चाहता हूँ, चाहे उस आकाश में हाइड्रोजन-अणु का धुआँ ही क्यो न हो। मैं पृथ्वी के पेट में घुस जाना चाहता हूँ, चाहे उस विवर मे नायट्रोन बम के विस्फोटात्मक प्रयोग ही क्यो न होते हो।

और, ऐसे ही किन्ही भयानक क्षणो मे मैंने कविता लिख दी। कविता लिखते समय कोई विशेष कष्ट नही हुआ। विश्वास नही हो सका कि मैं अपने मन का सब कुछ उसमें डाल रहा हूँ या नही (बहुत दिनो बाद मैंने जब उसे एक पहुँचे हुए मर्मज्ञ को सुनाया, तो उसे वह बहुत अच्छी लगी), किन्तु कविता लिखने के बाद यह जरूर लगा कि पूरे रग नही उभर पाये है। अगर चाहता तो मैं उस कविता को और भी घनीभूत, और भी भयानक, और भी पूर्ण बना सकता था। लेकिन मैंने कलम छोड दी।

ज्यो-ही मैं काम खत्म कर, टेबिल छोड, नीचे दरी पर आ बैठा, पैर फैला दिये और मन को सूना और ढीला कर दिया, यह सोचकर कि चलिए कविता से छुट्टी *मिली और छुटकारा मिला, त्यो-ही मन ने चाहा कि उसको एक बार फिर पढ* लिया जाये। यद्यपि थका हुआ था, मैं फिर भी काम करने लगा। थोडा सशोधन। थोडा उलट-फेर। किन्तु, इतना हुआ ही था कि कविता के भीतर समायी कविता *विशालतर हो उद्घाटित होने लगी*। उद्घाटित होते हुए और भी विस्तृत होने की सम्भावना सामने उपस्थित होते ही, मैंने फिर कलम छोड दी। उस कविता के प्रति एक भयानक क्रोध, एक विनाशक [उत्तेजना] ने सिर उठाया। लेकिन मैंने पिन लगाकर उसे एक ओर डाल दिया। फिर दरी पर जाकर लेट गया।

लेकिन मुझे आराम नही मिला। दिमाग़ चलने लगा। वह साइक्लि पर चढकर, काली सुरगो मे घुसने का यत्न करने लगा। भयानक आलोचना चल पडी।

तत्काल अनुभव हुआ कि वीरान अमानवीय दूरियाँ मुझे घेरे हुए हैं। आदिम प्रज्ज्वलनशील द्रव्य का एक पुजीभूत तारा, जो सिर्फ दूरियो के बीच जलता हुआ चलता है! यह पार्थक्य धनघोर है। यह मेरा किया नही है। मै इस पार्थक्य का *विधाता नही। वह मेरे जमाने की बदनसीबी है। जिस चबूतरे पर मैं खडा हूँ, उसके* पाये का यह पाप है! आज स दस-बीस साल पहले यह कहा जाता था कि कलाकार हमेशा अकेला होता है। इस पर मेरी टिप्पणी केवल इतनी ही है कि हर आदमी को, सोचने-विचारने के लिए, मनो-मन्थन के लिए, एकान्त चाहिए, जिसमे केवल वह ही वह हो और कोई न हो। कलाकार का जीवन चूँकि अधिकतर मनोमय है (व्यस्त रहते हुए भी), इसलिए मुझे एकान्त आवश्यक है। अपने मनोमय जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति अकेला होता है। यह स्वभाव-सिद्ध है। अकेलापन और

पार्थक्य मे अन्तर है ।

लेकिन आप पार्थक्य को, इस अलगाव को, क्या कीजियेगा ? मेरे बहुत-से दोस्त भोपाल म, जबलपुर मे, रायपुर मे, दिल्ली म, इलाहाबाद मे, बनारस मे, बम्बई मे, उज्जैन मे, इन्दौर मे, अजमेर मे—और न मालूम कितनी ही जगह मे है—यहाँ तक कि कुछ पाकिस्तान मे भी हैं। मेरा अनुमान है कि जिस पार्थक्य का मैं [illegible]

करके उनके दिल के खुलने की हालत पैदा कर देना एक बडी चीज है। मुझे कहने दीजिए कि आजकल आदमी म दिलचस्पी कम होती जा रही है। सामान्यीकरणो के अरूप समुदाय बढ रहे हैं। कविता व तत्त्वो का विश्लेषण, रचना-प्रक्रिया का मन्थन, खूब चल रहा है, कविता खुद फटेहाल हो रही है। यह सब—मेरे लेखे—पार्थक्य के कारण है।

शायद मैं ग़लती कर रहा हूँ। यह पार्थक्य का परिणाम नही, वह किसी अन्य कारण से हो। बहरहाल, यह सही है कि आदमी मे और उसकी जिन्दगी मे दिलचस्पी कम होना अच्छी बात नही है। वह दुहरा दण्ड है, 'स्व' को भी, 'पर' को भी। मैं भी इसी से पीडित हूँ। व्यावहारिक जीवन के वास्तविक क्षेत्र मे जितनी गहरी मनुष्यता की आवश्यकता है, शायद वह मुझमे नही। और यह पार्थक्य, घनघोर पार्थक्य। इसीलिए, हमेशा चाहते हुए भी, सवेदनशील गद्य—उपन्यास—न लिख सका। कविता पर उतर आया। लेकिन नही, कदाचित् यह आत्मालोचन भ्रामक है।

एक जमाना था, जब मैं यह सोचता था कि जीवन की विभिन्न महत्त्वपूर्ण मानवीय सामाजिक क्रियाओ का मैं अश हो जाऊँ, उन प्रक्रियाओ के केन्द्र का हिस्सेदार बनकर उस केन्द्र की सारी ऊष्मा को, सारे द्वन्द्व को, उसकी सारी समस्याओ और प्रेरणाओ को, आत्मसात कर लूँ। उस क्रिया के केन्द्र की सारी चिनगारियो से सुलगता हुआ मैं आगे बढूँ। मेरे लेखे, जीवन का सर्वोच्च आनन्द इसी मे है। किनारे पर रहकर, तटस्थ रहकर (डिसएगेज्ड रहकर, अनकमिटेड रहकर) जिन्दगी [illegible]
भले ही पहुँचा [illegible]
चमकीलेपन के [illegible]
करा दें, भले ही हम अपन भाषण-भाषण द्वारा बौद्धिक सस्कृति और कलात्मक अभिरुचि की धाक जमा दें, किन्तु हम वह जिन्दगी नही जी सकते जिसे मैं, अपने शब्दो मे, बिजली-भरी तडपदार जिन्दगी कहता हूँ। ऐसी जिन्दगी जिसमे अछोर, भूरे, तपते, मैदानो का सुनहलापन हो, जिसम सुलगती कल्पना छूती हुई भावना को पूरा करती है, जिसम सीने का पसीना हो, और मेहनत के बाद की आनन्दपूर्ण थकन का सन्तोष हो। बडी और बहुत बडी जिन्दगी जीना (इम्मेन्स लिविंग) तभी हो सकता है, जब हम मानव की केन्द्रीय प्रक्रियाओ के अविभाज्य और अनिवार्य अग बनकर जियें। तभी जिन्दगी की बिजली सीने म समायगी। चाहे प्रगतिवादी हो चाहे प्रयोगवादी, जिसने भी उच्च-मध्यवर्ग की सफेदपोश भद्रता के महत्त्व की कुर्सियो पर आराम किया कि वह गया, मर गया, ऐसा मेरा खयाल है। यह

ख़याल कुछ लोगों के लिए ख़तरनाक है—चाहे वे कितने ही प्रगतिवादी या इसके विपरीत बँगले के निवासी तकली-कातू गाँधीवादी क्यों न हों! हमारे बहुत-से साथी इसी ज़िन्दगी में स्वर्ग देखना चाहते हैं और अपने बाल-बच्चों को स्वर्ग *दिखाना* चाहते हैं।

इस युग का यह एक अकाट्य सत्य है कि जो व्यक्ति सामाजिक-सांस्कृतिक सीढ़ी पर जितना ऊँचा चढ़ता और बढ़ता है, वह व्यक्ति अपनी भूमि से, अपने ही लोगों से, उतना ही दूर, उतना ही अलग, उतना ही भिन्न, उतना अन्य और उतना ही अपरिचित, उतना ही अजीब और अजनबी, हो जाता है—*भले ही वह मंच पर चढ़कर जनता की तरफ़ से बोले, या सौन्दर्यवाद की ओर से या व्यक्ति-स्वातंत्र्य* की तरफ़ से भाषण दे। 'सुख-सुविधापूर्ण जीवन' (गुड लिविंग) के फेर में, लोग अपनों को भूल गये! एक भयानक पार्थक्य की अँधियारे-भरी खाई मुँह-बाये फैली हुई है। ग़रीब जनता में से निकले हुए साहित्यिक भी उच्च-मध्यवर्गीय मनोहर दीप्ति के सम्मोह में, स्वजनों-परिजनों को बिसार गये। महत्त्व के लिए, उन्होंने पार्थक्य को स्वीकार किया। कदाचित्, पार्थक्य के अभाव में महत्त्व रह ही नहीं सकता—ऐसा उनका ख़याल हो।

*सिर्फ़ किनारे पर रहकर, तटस्थ रहकर, अनगुँथे और अनलिपटे रहनेवाले लोग* वस्तुतः स्वार्थ-रक्षा के अपने मूलभूत कार्य को ध्यान में रखकर ही वैसा करते हैं। आज के जीवन-जगत् की मूल समस्याओं से—ऐसी समस्याओं से, जो प्रस्तुत वातावरण को घना विषैला बना रही हैं, जो आज के व्यक्तिगत जीवन को भी कठिन और विकृत बना रही हैं—उनसे, उन प्रश्नों से, तटस्थ रहना, उनसे किनारा-कशी करना, ग़लत है।

बहुतेरे मेरे पहचानवाले लोग, दोस्त, प्रियजन-परिजन—सभी इस बात को *किसी-न-किसी अंश में पहचानते हैं। किन्तु उन प्रश्नों का सही-सही आकलन करके,* उनको ठीक और सही परिदृश्य में रखकर, उसकी ओर कदम बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हैं। हर आदमी अपनी प्राइवेट ज़िन्दगी जी रहा है। या यों कहिए कि जो उसके व्यावसायिक और पारिवारिक जीवन का दैनिक चक्कर है, उसे पूरा करके सिर्फ़ निजी ज़िन्दगी जीना चाहता है। मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ। मैं उनसे किसी भी हालत में बेहतर नहीं हूँ। लेकिन, क्या इससे पार्थक्य की अभावात्मक सत्ता मिटेगी? क्या इससे मन भरेगा, जी भरेगा? यह बिलकुल सही ख़याल है कि सच्चा *जीना तो वह है जिसमें प्रत्येक क्षण आलोकपूर्ण और विद्युन्मय* रहे, *जिसमें मनुष्य* की ऊष्मा को बोध प्राप्त हो।

किन्तु यह तभी सम्भव है जब हम अपने विशिष्टों और सुविशिष्टों को किसी व्यापक से सम्बद्ध करें, विशिष्ट को व्याप्ति प्रदान करना, केवल बौद्धिक कार्य नहीं है, वह मूर्त, वास्तविक, जीवन-जगत् सम्बन्धी कार्य है। तभी उस विशिष्ट को एक अग्निमय वेग और आवेग प्राप्त होगा, जब वह किसी दिशा की ओर प्रधावित होगा। यह दिशा विशिष्ट को व्यापक से सम्बद्ध किये बिना उपस्थित नहीं हो सकती। *विशिष्ट को व्यापक से सम्बद्ध किया जाना* एक जीवनगत कार्य है, कोई बौद्धिक व्यापार-मात्र नहीं।

आज हम देखते हैं कि जीवन-जगत् में, *गहरा असन्तोषपूर्ण वातावरण है।* किन्तु इस असन्तोष के तत्त्व सामाजिक होते हुए भी, उस असन्तोष का स्तर केवल

आत्म-क्षेत्र-बद्ध है। चिनगारियाँ हैं—राख में पड़ी हुई, उसमें सनी हुई चिनगारियाँ—जो ज़रा हवा लगते ही चमक उठती हैं और तुरन्त ही नष्ट हो जाती हैं। यह असन्तोष निष्फल है, क्योंकि वह किसी व्यापक से सम्पृक्त नहीं है। इस असन्तोष को व्यापक प्रेरणा का रूप तो तब दिया जा सकता है, जब किसी मानवीय लक्ष्य की ओर हम प्रधावित हों। सार्थक जीवन जीने की अभिलाषा रखना एक बात है, उसके अनुसार जीवन निर्मित करना दूसरी बात।

लेकिन, ये सब बातें मैं दूसरों से कहता हूँ, मन-ही-मन, भीतर-ही-भीतर। लक्ष्य की ओर प्रधावित होनेवाले जीवन की वस्तुस्थिति घटित करने के लिए, सबसे पहले, व्यक्तिगत जीवन पर ही कठोर अनुशासन चाहिए। माना कि परिस्थितियाँ सारी-की-सारी हमारी बनायी नहीं हैं, यद्यपि व्यक्तिगत दायित्व उन्हीं परिस्थितियों का हमीं पर है। माना कि सर्वांगत खुद भी हम अपने बनाये नहीं हैं, यद्यपि अपने वर्तमान आत्म-रूप का बहुत-कुछ दायित्व हमीं पर है। मैं अपना ही एक भिन्न विकल्प हो सकता था, किन्तु नहीं हुआ, इसका भी दायित्व मुझी पर है। मेरे विकास और मेरी मुक्ति का दायित्व स्वयं पर है यह मान लेना ग़लत नहीं। फिर भी अपने जीवन को निर्मित करना एक दुष्कर कार्य है। सिर्फ़ हम इतना ही कर सकते हैं कि ऊपर से नोच-खरोंच करें, इधर या उधर अपना संशोधन कर लें। फिर भी अपने विकास की अनन्त एक-दिशात्मक सम्भावनाओं पर आस्था न रखना और तदनुकूल कार्य न करना मूर्खता है।

हाँ, वह मूर्खता तो है, लेकिन बुद्धिमानी बड़ी कठिन होती है। वह साहित्य निष्फल है जो मूर्खता का और उसके स्रोतों का वस्तुनिष्ठ चित्रण नहीं करता। हम मूर्खता के इतने समीप हैं, किन्तु अपने को बुद्धिमान बताने के लिए बुद्धिमानी की बात करते हैं।

संक्षेप में, उस कविता को लिखने के बाद, मैंने यह महान निर्णय किया कि मर लिए कविता लिखना महान मूर्खता है। अपने अकेले कोने में बैठे हुए मैं अपने अमूल्य समय का दुरुपयोग करता रहता हूँ।

सचमुच बहुत बड़ा दुरुपयोग हुआ। अपने बड़े-से-बड़े उत्तरदायित्व को मैंने उठाकर फेंक दिया। बाल-बच्चों की तरफ़ नहीं देखा। एक विनाशक उत्तेजना और भयानक बेचैनी में दिन-रात गुज़ारता रहा। स्त्री से भी कह दिया कि मुझसे ज़्यादा बात न किया करे, नहीं तो [illegible]
बर्ताव और क्रू[illegible]
में लोग हुए हैं, उ[illegible] बरबाद हो गये, और उस धुन ने उन्हें कुछ नहीं दिया। उस धुन से न उनका भला हुआ, न संसार का। क्या पुराने कीमियागर उसी तरह के लोग नहीं थे! मार्क्सवाले कहते हैं कि कीमियागरी से ही रसायन-शास्त्र का विकास हुआ। कहते होंगे। काव्य-सम्बन्धी मेरे प्रयत्न कीमियागरी से भी बदतर हैं।

क्यों? इसलिए कि कविता लिखने के बाद जो भयानक मनःस्थिति मुझे ग्रस्त कर लेती है, उसका तजुर्बा बहुत कम लोगों को है। और अगर सचमुच है तो वे बताते नहीं। मुश्किल यह है कि कविता लिख चुकने के अनन्तर, उसी कविता में समायी किन्तु उससे बृहत्तर, विशालतर, सुन्दरतर कविता अपने स्वरूप का विकास करती हुई उद्घाटित कर देती है, और मैं उस प्रतिमा-रूप के प्रति दौड़ पड़ता हूँ।

चाहिए, हाँ, मुझे वही प्रतिमा चाहिए। मुझे छोड दीजिए, मुझे जाने दीजिए उस नव्यतर के पास।

यदि मैंने वहाँ जान से इनकार कर दिया तब भी काम नही बनता। वह छा जाती है। मेरे मन में ही वह अपना स्वतन्त्र विकास कर लेती है।

किन्तु मेरे इस मानसिक कार्य में किसकी दिलचस्पी है? किसी की भी नही। स्त्री की नही, पुत्रो की नही, माता पिता की नही, मित्रो की नही, परिचितो की नही, सहयोगियो की नही—किसी की नही। इतना ही क्या कम है, जो मुझे कभी-कभी फुर्सत मिल जाया करती है। मतलब यह कि जहाँ मैं हूँ वहाँ किसी की दिलचस्पी नही। मतलब यह कि पार्थक्य का भाव केवल मेरी ओर से ही नही, सभी की ओर से है।

फिर मैं क्यो लिखूँ? क्यो न काम बन्द कर दूँ? (बन्द कर दीजिए, भाड मे जाइए!) लेकिन उन्हें मालूम है कि साला कभी काम बन्द नही करेगा। इस बात को वे जानते हैं और मेरे अस्तित्व को सहन कर लेते हैं।

[अप्रकाशित। सम्भावित रचनाकाल 1958-59]

# नयी कविता की उपलब्धि और सीमा

कवि के पार्श्व और प्रेक्ष्य की खोज, जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य की खोज से अलग नही की जा सकती। कवि-जीवन हमारे दैनिक जीवन का, आपेक्षिकतया, एक छोटा-सा अग है। इस कवि जीवन का ताना-बाना हमारे वास्तविक जीवन के ताने-बाने म गुँथा हुआ है।

वास्तविक जीवन अपने विशिष्ट उद्भासपूर्ण क्षणो मे ही कवि-जीवन हो जाता है। यह कवि-जीवन किसी उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर आविर्भाव है, वास्तविक जीवन का ही। अतएव कवि-जीवन का आधार है वास्तविक जीवन। कवि-जीवन के मूल्य और नियम वास्तविक जीवन के मूल्यो और नियम के आधार पर टिके हुए हैं, न कि इसके विपरीत। अतएव, कवि-जीवन के मूल्यो की जो सत्ता जितनी भी स्वतन्त्र है, वह वास्तविक जीवन की सत्ता के आधार पर, और उसके द्वारा ही, अस्तित्ववान तथा स्वतन्त्र है। कवि-जीवन के मूल्य वास्तविक जीवन स निर्मित और नियन्त्रित है। उन मूल्यो की स्वतन्त्रता वास्तविक जीवन की सत्ता से स्वतन्त्र नही। यदि कवि-जीवन के मूल्य वास्तविक जीवन से स्वतन्त्र होते तो साहित्य मे सौन्दर्य नामक जो प्रभावशाली गुण पैदा होता है, वह होता ही नही। सौन्दर्य नामक गुण ही यह सूचित करता है कि उसका नियामक वास्तविक जीवन है—वह वास्तविक जीवन, जो न केवल पहचाना जाता है वरन जिया जाता है। यह वास्तविक जीवन उसका नियामक होने के फलस्वरूप ही, उस मूल्य अर्थात् सौन्दर्य का प्रभाव भी वास्तविक जीवन पर पडता है। यदि सौन्दर्य का प्रभाव वास्तविक

जीवन पर न हो तो उस स्थिति में वह (अर्थात् सौन्दर्य) अपनी स्थिति लुप्त कर देता है, अर्थात् वह तिरोहित हो जाता है। संक्षेप में, सौन्दर्य की स्थिति और लय वास्तविक जीवन पर आधारित है। सौन्दर्य का मूल अर्थ है, एक विशेष मनोवैज्ञानिक प्रकार का प्रभाव। इस प्रभाव का स्वरूप क्या है, इसकी खोज करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। संक्षेप में, जब हम कवि-जीवन की, अथवा काव्य के पार्श्व और प्रेक्ष्य की बात करते हैं, तब हमारी दृष्टि वास्तविक जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य की तरफ जानी चाहिए।

इसका कारण है। हम भविष्यवक्ता की भांति, अथवा इतिहासकार का रोल अपनाकर, पिछले इतिहास या भावी विकास की बात नहीं करना चाहते (यद्यपि वैसा करना ग़लत नहीं है, किन्तु यहाँ अप्रासंगिक हो सकता है)। हम कवि-जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य की बात करते हुए, उस पार्श्व और प्रेक्ष्य को वास्तविक जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य से अलग हटा देते हैं। यह गलत है। ऐसा नहीं होना चाहिए। कवि-जीवन या काव्य के मूल्यों की बात करते समय, हमें वास्तविक अनुभव के आधार पर बात करनी चाहिए। विशेषकर, इस समय, जबकि 'कृति'कारों ने इस सिलसिले में अच्छी बहस छेड़ दी है, यह और भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इस बहस का उद्देश्य (जैसा कि मैं समझता हूँ) कवि-जीवन को अधिक उन्नत, अधिक प्रगल्भ करते हुए श्रेष्ठ काव्य-साहित्य के निर्माण में सहयोग देना है।

यदि इस बहस का जो उद्देश्य मैंने ऊपर बताया, वह साधार और सही है तो निम्नलिखित बातें आप-ही-आप निकल पड़ती हैं। पहली तो यह कि हमें नवीन काव्य-सृष्टि से विशेष सन्तोष नहीं है। कभी लगता है कि हममें आस्था का अभाव है कभी लगता है हमने साहित्यिक मूल्यों पर चिन्तन नहीं किया है, अधिक चिन्तन से सम्भवत हमारा मार्ग अधिक सुकर हो। कभी हम अपने व्यक्तित्व में कुछ दोष देखने लगते हैं, कभी कुछ, कभी कुछ। किन्तु, सबसे पहले हमें अपने असन्तोषों और असमाधानों का कारण ढूँढ़ना आवश्यक है। क्यों हमें अपना काव्य असन्तोष प्रदान करता है?

सीधा सवाल है। क्या उसमें सौन्दर्य की कमी है? जवाब दिया जायेगा—नहीं, बिलकुल नहीं! (श्रेष्ठ कविताएँ आज भी लिखी जा रही हैं, लिखी जायेंगी, लिखी जा चुकी। हम घटिया कविताओं से साहित्यिक प्रश्नों पर विचार नहीं करते)। फिर भी, काव्य का यह सौन्दर्य हमें सन्तुष्ट नहीं कर पाता। हम सुन्दर कविताएँ लिखते हैं। उनकी तारीफ भी होती है। किन्तु, उनका सौन्दर्य हम सन्तुष्ट नहीं कर पाता। लगता है—इस सौन्दर्य से भी कोई बड़ा सौन्दर्य है, जो हम अपनी कविता में अब तक नहीं ला पाये। उसकी तलाश है, उसकी बेचैनी है!

अगर सभी नये कवियों की सभी कविताएँ प्रकाश में आकर ग्रन्थ-रूप धारण कर लें, तो हम यह कह सकेंगे कि नयी कविता की उपलब्धि बहुत बड़ी भी नहीं है तो बहुत छोटी भी नहीं है। उन्होंने नवीन भावों, प्रतिक्रियाओं और विचारों को प्रकट किया है जिन्हें अब तक छिपाया जाता रहा।

अतएव, नयी कविता के लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। किन्तु, सन्तोष नहीं हो पाता। यह जो कुछ लिखा गया और लिखा जा रहा है वह लहर में तैरने के समान है। लहरें दीख रही हैं, कुछ ऊँची हैं, कुछ नीची, वे अनेक हैं, असंख्य हैं। उनका चित्रण भी सुन्दर हुआ। किन्तु समुद्र इन लहरों से जुड़ा हुआ होकर भी

उससे व्यापक है। और केवल लहरो के उत्थान-पतन ही से सिन्धु की सार्वभौम सत्ता की स्थिति का अन्दाज़ नही लगाया जा सकता।

यह समस्या है। काव्य मे उपलब्ध मानसिक प्रतिक्रियाएँ लहरो के समान हैं। ये आन्दोलित तरगें क्षण-स्थायी हैं, उनका चित्रण हुआ है। किन्तु उस सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नही हुआ—जो सम्पूर्ण जीवन, इन मानसिक तरगो मे प्रकट होकर भी उससे परे, उससे अलग है, उससे भिन्न होकर भी उससे एकरूप है।

असल मे नयी कविता मानसिक तरगो (प्रतिक्रिया) का चित्रण करती है। ये तरगें क्षण-स्थायी हैं। उनका महत्त्व तो तब चिर-स्थायी होगा जब वे पूरे जीवन को प्रभावित करने लायक क्षमता धारण करेंगी। ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाएँ, जो पूरे जीवन को प्रभावित कर सकें, बहुत थोडी होती हैं। ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाओ को चित्ररूप देनेवाली कविताएँ और भी अल्प। अतएव हमको इस 'प्रतिक्रिया'-वाद से, अर्थात् मनस्तरगवाद से, अथवा क्षणवाद से, बाहर निकलना होगा। तभी हम उस अथाह सागर का चित्रण कर सकेंगे, जिसका कि एक रूप वे तरगें हैं जो उठती और गिरती रहती हैं। दूसरे शब्दो मे, हमे मानसिक प्रतिक्रियाओ के माध्यम से व्यक्त होनेवाले उस विशालतर और व्यापकतर जीवन से अपना सम्बन्ध जोडना होगा जिसकी कि हमने उपेक्षा कर रखी है। यह अथाह सागर फुटकल कविताओ मे, क्षणिक उच्छ्वासो मे, क्षणिक प्रतिक्रियाओ मे अपने सर्वपूर्ण सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ विराजमान नही होता। इसीलिए बहुतेरे कवि उपन्यासकार बन जाते हैं या नाटककार—इसी अभाव की पूर्ति के लिए।···

[अप्रकाशित। अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1959]

# कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : एक

मेरी डायरी पर बहुत कम बहस हुआ करती है। लेकिन कल हो ही गयी। वो जो यशराज हैं, न? वही, वही! उस गली मे रहते हैं। नही, नही, उनकी वकालत नही चलती। हाँ, यूँ ही है, यो आदमी क़ाबिल है। बी एस-सी, बी टेक, एल एल बी, लेकिन बिलकुल बेरोजगार हैं। इस शहर म उन्हें सब जानते हैं। हँसते हैं उन पर। वे बेरोजगार हैं न, इसलिए! उनके चेहरे पर हमेशा शनीचरी छाया रहती है।

खैर, तो **वसुधा** के लिए लिखी गयी ताज़ी-ताज़ी डायरी उन्हे सुनाने का मुझे जब सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो मै बडा खुश था। क्या तीर मारा है मैंने! यशराज गरदन नीचे डाले मेरी डायरी को चुपचाप सुन रहे थे। जब सुनाना खत्म हुआ तो बहुत ही मन्थर गति से उन्होंने अपना सिर ऊँचा उठाया। कहने लगे, "यह डायरी

एकदम फ्रॉड है !"

मुझ पर वज्रपात हो गया था। काटो तो खून नहीं। नाड़ी खिसक गयी। यशराज ने अपना चेहरा ऐसा बिगाड़ लिया था, मानो उनकी जबान का स्वाद एकदम कड़ुआ हो उठा हो !

डायरी मैंने बहुत मेहनत से बनायी थी। परसाईजी के पत्र-रूपी पिस्तौलों से सम्प्रेरित होकर मैंने इतनी मेहनत की। नतीजा क्या निकला धूल राख··· बालू !

मैंने अपने मन को काफी नसीहत दी। उसकी पीठ थपथपायी। लेकिन निःसन्देह उस समय मेरा चेहरा बहुत पीला हो गया होगा, क्योंकि मैंने उन क्षणों का अनुभव किया कि चेहरे का खून निचुड़ता हुआ दिल में टपक रहा है। मैंने यशराज की तरफ जब देखा तो मुझे सन्देह हुआ कि वह भी मुझ पर हँस रहा है !

मैंने अपने को सँवारते-सम्हालते हुए, अटकते हुए, और शब्दों के लिए भटकते हुए कहा, "तुम भले ही फ्रॉड कह लो। इसमें व्यक्तिगत ईमानदारी जरूर है ! डायरी मेरी व्यक्तिगत ईमानदारी का सबूत है।"

यशराज ने अपनी मुसकान दबा ली। उसके होंठों की इस छोटी-सी हलचल से मुझे घाव सा लग गया। मैं प्रयत्न करने लगा कि मेरी आँखों में क्रोध या खून दौड़ जाये। लेकिन देह में रक्त ही नहीं था। दूसरे, अगर मैं अकड़ने का नाट्य भी करता तो भी बात न बनती, क्योंकि वैसा करना मेरी बौद्धिक संस्कृति के मानदण्डों के बिलकुल विपरीत था।

अब तक का इतिहास यह है कि मैं अपनी बुद्धि द्वारा हृदय को सम्पादित और संशोधित करता आया हूँ। यह प्रक्रिया बिलकुल बचपन ही से चल रही है। जिन्दगी एक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय नहीं है। वह एक प्राइमरी स्कूल है, जहाँ टाट-पट्टी पर बैठना पड़ता है, जरा-सी बात पर चाँटे के आघात की सारी संवेदनाएँ गालों पर झेलनी पड़ती हैं। जी हाँ ! इस जिन्दगी का यही हाल है ! भय, आतंक, विचित्र आशंकाएँ, अजीबो-गरीब उलझाव, फटी हुई टाट-पट्टियाँ, पुराने स्याही-रँगे टेबिल, गुरुजी की भयानक दुतरफा मूँछ, और घर में माता पिता की डाँट-फटकार, और बच्चे का कोमल छोटा-सा शरीर !

सोचा था कि जल्दी-जल्दी बड़ा हो जाऊँगा। ऊँचा, तगड़ा, मोटा। फिर जिन्दगी प्राइमरी स्कूल न रहेगी। लेकिन, नहीं ! ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, खून सूखता गया। ऊँचा हुआ, साथ ही जर्जर भी। जिन्दगी पहले से भी बदतर प्राइमरी स्कूल होती गयी। जी हाँ, जिन्दगी भर पाठ पढ़ना है। सिर्फ पहाड़े पढ़कर ही काम नहीं चलने का। गुणा-भाग की नयी-से-नयी कतर-ब्योंत करनी पड़ेगी। अँगुलियों में स्याही, कमीज पर नीले दाग, होंठों के एक सिरे पर नीला रंग। मरने तक प्राइमरी स्कूल ही रहेगी यह जिन्दगी ! वही पुरानी फटी टाट-पट्टी, मानो मेरी कविता की एक पंक्ति !

यशराज की बात अलग है। वह आला आदमी है। वह आइंस्टाइन की बात करता है। प्लैंक और ला प्लॉस उसकी जबान पर नाचते हैं। 'मैं' ? इस 'मैं' को

' व्यक्तिगत ईमानदारी का क्या ईमानदारी है। इससे अधिक कुछ

नही ! तुममे तो अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी नही है।"

यशराज न मालूम क्या कहता गया। मैं तो अपने मन मे यह सोच रहा था कि मुझे तो बुद्धि के द्वारा अपने हृदय को सम्पादित और सशोधित करना है, उसमे पाद-टिप्पणियाँ जोडनी है, भूमिका लिखनी है, सबके पीछे निर्देश सूची भी तो जोड देनी है। किन्तु यह सम्पादन और सशोधन क्या कभी भी पूरा होगा ? क्या कभी भी मैं मास्टरपीस की भाँति उसे उपस्थित कर सकूँगा ? शायद यह सम्भव ही नही है। कल ही तो बूढे, बहुत बूढे, पिताजी ने मुझे कहा था कि आखिरी साँस छूटने तक नया सीखना पडता है, अपने-आपमे सशोधन करते रहना पडता है, लगातार सीखते जाना और नये-नये पाठ पढना पडता है। ऐसा !

मैंने यशराज से आत्मस्वीकृति के स्वर मे कहा, "व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ है—जिस अनुपात मे, जिस मात्रा मे, जो भावना या विचार उठा है, उसको उसी मात्रा मे प्रस्तुत करना। जो भाव या विचार जिस स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हुआ है उसको उसी स्वरूप मे प्रस्तुत करना लेखक का धर्म है !"

यशराज ने जिद्दी आवाज मे कहा, "क्या उसका धर्म यही तक सीमित है ? यदि वह यही तक सीमित है, तो वह व्यक्तिगत ईमानदारी भी नही है, अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी नही।"

यशराज से बहस करने की मेरी तबीयत नही हो रही थी। लगता था, अगर कोई व्यक्ति एक कप चाय दे दे तो नसें गरमा जायें। फिर शायद बहस के काबिल हो सकूँ। फिर भी, अगर मैं जवाब न देता तो बहुत बुरा-सा दीखता। आखिर ऐसी भी क्या बात है ! सम्भव है, यशराज के पास भी कुछ ऐसा कहने के लिए हो जो मेरा पूरक हो सके। जरा इत्मीनान से काम लो !

मैंने कहा, "कैसे ?"

यशराज पिस्तौल से छूटी हुई गोली की भाँति उडता गया। उसने कहा, "जो भाव या जो विचार, जिस स्वरूप को लेकर जिस माना मे और जिस अनुपात मे, प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी स्वरूप मे प्रस्तुत करना एकदम नाकाफी है। महत्त्व की बात यह है कि वह भाव या वह विचार किसी वस्तु-तथ्य से सुसगत है या नही। व्यक्तिगत ईमानदारी' का नारा देनेवाले लोग, असल मे, भाव या विचार के सिर्फ 'सब्जेक्टिव' पहलू—केवल आत्मगत पक्ष—के चित्रण को ही महत्त्व देकर, उसे 'भाव-सत्य' या 'आत्म-सत्य' की उपाधि देते हैं। किन्तु भाव या विचार का एक ऑब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है। आजकल लेखन-कार्य मे आत्मपरक पक्ष को महत्त्व देकर वस्तुपरक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। चित्रण करते समय आत्मपरक पक्ष को प्रधानता दी जाती है, वस्तुपरक पक्ष को नही। इस रवैये का असर टैंकनीक पर पडता है।"

यशराज की आँखें देखने के काबिल थी। वह मुझे इस तरह देख रहा था मानो झिडक रहा हो। किन्तु उसके चेहरे की ओर नही, वरन् उसकी बातो की ओर मैं ध्यान देने लगा।

[illegible] महत्त्वपूर्ण अपवादो [illegible] इस प्रवृत्ति ने [illegible] को ही प्रधान स्थान दिया और वस्तुपक्ष को गौण यदि हिन्दी की नयी कविता को साहित्य के

इतिहास मे, या यूँ कहिए कि संस्कृति के इतिहास मे, कोई महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करना है, तो उसे काव्य की प्रकृति तथा शिल्प मे आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष का समन्वय उपस्थित करना होगा।"

यशराज ने विजेता की आँखो से मुझे देखा। नि सन्देह मुझे पराजित होना पडा। मैंने दो सेर का अपना सिर हिलाकर उसकी हाँ म-हाँ मिलायी। तब एकाएक मुझे भान हुआ मानो मेरे मस्तक की सन्दूक म सचमुच आलू और भटे भरे हैं! उनकी तो तरकारी भी नही हो सकती।

इसके बावजूद, मैं यशराज की बात ज्यादा ध्यान से सुनने लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि उसे ऐसा कुछ कहना है जो मेरे लिए मूल्यवान् भी सिद्ध हो सकता है।

मैंने प्रार्थना के स्वर म कहा, "यशराज, मैं नयी कविता का कोई प्रवक्ता नही हूँ। मैं तुम्हारी बात मानने के लिए मान भी लूँ, किन्तु मेरे लिए यह एक बडा रहस्य ही बना रहेगा कि किस प्रकार वस्तुपक्ष से आत्मपक्ष का समन्वय स्थापित किया जाता है।"

यशराज ने बीच ही मे बात काटते हुए कहा, "मैं तो तुम्हारी डायरी के बारे मे बात कर रहा था। उसके प्रसग स नयी कविता पर चला आया। तुमने जगह-जगह, व्यक्तिगत ईमानदारी की जो बात कही है वह बहुत ही कुहरिल है। 'व्यक्तिगत ईमानदारी' की क्या परिभाषा है? मैं बहुत सी 'नयी' कविताएँ पढता हूँ। मुझे उनमे कुछ विशेष ईमानदारी नही मालूम होती।"

यशराज कहता गया, "नयी कविता की भी एक लीक पड गयी है। वह भी एक ढर्रा है। ढर्रे मे सबकुछ खपाया जा सकता है। एक बार शिल्पविधान पर अधिकार हो जाये कि बस · !"

उसने कहना जारी रखा, "यह तो तुम मानते हो कि भाव या विचार का एक वस्तुतत्त्व भी होता है। अर्थात् वह एक ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया है, जो किसी वस्तुतत्त्व के प्रति की गयी है। इस मानसिक प्रतिक्रिया मे सत्यत्व तो तभी उत्पन्न होगा, जब उसमे वस्तुतत्त्व का वस्तुमूलक आविर्भाव हो। साथ ही उसमे यह बोध भी सम्मिलित हो कि जो मानसिक प्रतिक्रिया उस वस्तुतत्त्व के प्रति हुई है, वह सही है या गलत, उचित है या अनुचित, ठीक अनुपात मे है कि ग़लत अनुपात मे। यदि ऐसा नही हुआ तो बडी अजीब बात होगी।"

मैंने मुसकराकर कहा, "हजरत, काव्य की प्रक्रिया ज्ञानात्मक प्रक्रिया नही है।"

यशराज ने जवाब दिया, 'ठीक! किन्तु ज्ञान और बोध के आधार पर ही भावना की इमारत खडी है। यदि ज्ञान और बोध की बुनियाद गलत हुई, तो भावनाओ की इमारत भी बेडोल और बेकार होगी। उसका असर काव्य-शिल्प पर भी होगा।"

यशराज यह कहकर क्षणमात्र चुप रहा, मानो साँस लेना चाह रहा हो। वह आगे कहता गया, "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ, वस्तु का वस्तु-मूलक आकलन करते हुए, लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नही करता, तो उसकी प्रति-क्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव नही होगा।"

मैंने कहा, "तुम्हारी परिभाषा यदि स्वीकार कर ली जाये, तो काव्य के क्षेत्र

की आपसी सिर-फुटौवल कई बार हो भी चुकी है। इसलिए उससे घबरान की बात नही थी।

[वसुधा मे प्रकाशित, मार्च 1960। एक साहित्यिक की डायरी मे सकलित।]

# कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : दो

बात चल रही थी आलोचना और काव्य पर। यशराज न जाने किस बात पर चीखकर टेबिल पर घूँस मारन लगा और बोला, 'हाँ, आलोचना म फ्रॉड होता है, किन्तु काव्य मे भी होता है। एक तो फ्रॉड जान-बूझकर किया जाता है, अर्थात् काव्य म लेखक जो दष्टि अपनाता है, वह उसकी अन्तर्दृष्टिनही होती। कवि एक अभिनेता भी है। सफलतापूर्वक अभिनय करन के बाद भी वह अभिनय है। वह असल की नकल है। उसम असल की बू हो सकती है, लेकिन वह असल नही है।"

मुझे हँसी आ गयी। यशराज के असाहित्यिक शब्द 'असल' और 'नकल' मुझे भा गये। बडे अच्छे शब्द हैं! एक बात और भी महत्त्वपूर्ण हुई। वह यह कि यशराज काव्य का सत्यत्व वहाँ मानता है, जहाँ लेखक अन्तर्दृष्टि को दरकिनार रखते हुए अभिनेतृत्व करता है। तो मतलब यह कि यशराज यह मानता है कि मानसिक प्रतिक्रिया को ठीक-ठीक अनुपात मे ज्यो-का-त्यो रखने के अनुरोध के महत्त्व को स्वीकार करना है! यही न? लेकिन मैंन यह बात जबान से नही निकाली। मैं तो सिर्फ सुन रहा था।

यशराज ने कहा, 'काव्य मे एक दूसरे ढग का फ्रॉड भी होता है।"

मैंने कहा, "कौन-सा?"

यशराज ने जवाब दिया, 'यह फ्रॉड तब होता है, जब लेखक यह जानता ही नही कि वह फ्रॉड कर रहा है। लेखक को पूरा विश्वास होता है कि जो बात वह कह रहा है, सही कह रहा है। अर्थात्, जहाँ लेखक ईमानदारी से मूर्ख होता है। लेखक को यह भी विश्वास होता है कि उसकी बात केवल सच्ची ही नहीं, वरन् वह सुन्दर भी है, और कल्याणकारी भी। लेखक पूर्ण निष्ठा के साथ बात कर रहा है। फिर भी उसकी निष्ठा ही फ्रॉड को जन्म देती है, या जन्म दे सकती है।

" '*मतलब यह कि लेखक की निष्ठा और आत्मविश्वास कोई ऐसी शक्ति* नही है, जो उसके साहित्य को फ्रॉड बन जाने से बचाये दूसरे शब्दो मे, लेखक, सम्पूर्ण निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ भी, बडा ही सन्तुलित फ्रॉड कर सकता है। ध्यान रखो कि इसका अर्थ यह नही है कि निष्ठा और आत्मविश्वास ऐसी शक्ति है, जो अनिवार्य रूप से और हमेशा साहित्य को फ्रॉड ही बनाती है। किन्तु अपनी बात पर निष्ठा और आत्मविश्वास होने मात्र से साहित्य निर्मल, छलरहित

फॉडलेस नहीं होता।"

यशराज की उत्तप्त मुखमुद्रा देखकर मुझे सचमुच हँसी आ गयी। मैंने ठठाकर हँसते हुए कहा, "तो तुम क्या सोचते हो? लेखक अपने ही खिलाफ, अपने वस्तु-तत्त्व के विरुद्ध, अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं के विरुद्ध, जासूसी करे, 'सी. आई. डी. गिरी' करे? इतना बेवकूफ लेखक नहीं होता!"

यशराज ने झुंझलाते हुए कहा, "मजाक मत करो, असलियत को देखो!"

इस बात पर मुझे और हँसी आ गयी। फिर भी यशराज की बात का आदर करते हुए मैंने कहा, "अच्छा, तो इस दूसरे किस्म के फ्रॉड को जरा और समझाइए। मैं ध्यानमग्न होकर सुन रहा हूँ।"

यशराज बोलता गया, "बस, तुम-सरीखा श्रोता मुझे मिल जाये तो मजा आ जाये। आजकल ईमानदार श्रोताओं की बड़ी कमी है। वक्ता तो बहुत ईमानदार होते हैं!"

दोनों की बात ठहाकों में डूब गयी।

यशराज कहता गया, "लेखक ईमानदारी से फ्रॉड वहाँ करता है जहाँ उसे मालूम ही नहीं होता है कि वह स्वयं फ्रॉड को जन्म दे रहा है। दूसरे शब्दों में, उसके विचार या उसकी अनुभूतियाँ वस्तुतत्त्व के वस्तुमूलक आकलन पर आधारित नहीं होतीं। अथवा, वे ऐसी होती हैं कि जो जीवन के यथार्थ से नियन्त्रित न होकर उसके आत्मबद्ध दृष्टिकोण के फलस्वरूप, विक्षेप-ग्रस्त होती हैं। ऐसी स्थिति में लेखक की भावना का ज्ञानात्मक आधार ही ग़लत होता है। इस ज्ञानात्मक आधार की विकृति के फलस्वरूप उसकी भावना भी विकार-ग्रस्त ही होती है। दूसरे शब्दों में, लेखक जब केवल सब्जेक्टिव होता है—भले ही वह आब्जेक्टिविटी का आभास निर्माण करता रहे—अर्थात् जब वह अपनी तथाकथित अन्तर्दृष्टि को वस्तुतत्त्व पर थोपता है, या अपनी [illegible] से वस्तुतत्त्व को देखता

[illegible] मिस्टर, जब हम काव्य के वस्तुतत्त्व की बात करते हैं, तब हम उस भाव-समुदाय की बात कर रहे हैं जो कि कवि की वाणी द्वारा व्यक्त होता है।"

यशराज यहाँ उत्तेजित हो उठा। उसने आवेश से कहा, "मैं काव्य के वस्तु-तत्त्व के बारे में तुम्हारी परिभाषा मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। काव्य में एक मानसिक प्रतिक्रिया या प्रतिक्रियाओं की शृंखला व्यक्त होती है। वस्तुतत्त्व यह मानसिक प्रतिक्रिया नहीं है, वरन् वह तत्त्व है जिसके प्रति और जिसके बारे में यह प्रतिक्रिया हुई है। अर्थात् मैं भावों के आलम्बन की बात कर रहा हूँ। समझ गये, हजरत!"

मैंने खीझकर कहा, "भावों के आलम्बन की बात करो। काव्य के वस्तुतत्त्व में तो भाव और उसका आलम्बन दोनों आ जायेंगे। हाँ, आगे चलो!"

यशराज ने कहा, "मैं तो अपने शब्दों में बात करूँगा।"

मैंने बीच ही में टोककर सवाल किया, जिसका सम्बन्ध उसकी बात से कुछ भी नहीं था। मैंने कहा, "क्या तुम यह मानते हो कि वैसा फ्रॉड बहुत सुन्दर भी हो सकता है, बहुत मनमोहक और बहुत आकर्षक?"

यशराज ने एकदम कहा, "यही तो उसकी खराबी है। चूँकि वह मनमोहक

और आकर्षक होता है, इसलिए वह पाठको को अधिक प्रभावित करता है। किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि फ्रॉड भी एक कला है—एक ललित कला। और जो फ्रॉड है, वह ललित कला भले ही हो, वह व्यक्तिगत ईमानदारी के आधार पर उपस्थित ललित कला नही है।"

मैंने सन्त्रस्त होकर कहा, "आखिर तुम कहना क्या चाहते हो ?"

उसने जवाब दिया, "भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुत शुद्ध है, तभी तक वह भावना फ्रॉड नही है। किन्तु ज्ञान का भी निरन्तर प्रसार और विकास होता है। चूंकि ज्ञान के क्षेत्र म ही भावना विचरण करती है, इसलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थ मूलक और विकसित करने का जो सघर्ष है, वह वस्तुत कलाकार का सच्चा सघर्ष है। यदि कवि या कलाकार यह सघर्ष त्याग देता है, तो वह सचमुच ईमानदार नही है। सच तो यह है कि व्यक्तिगत ईमानदारी के भीतर ही एक बहुत बडा सघर्ष होता है। दूसरे शब्दो मे, कला के क्षेत्र मे व्यक्तिगत ईमानदारी स्वयसिद्ध नही, वरन् प्रयत्न-साध्य होती है।"

"तो क्या इसका मतलब यह है कि जो लेखक लेखन-कार्य के सम्बन्ध मे पूर्णत सचेत नही है, अर्थात् जिस लेखक की रचना अनायास, बिना परिश्रम के, सहज रूप मे प्रसूत होती है, उस लेखक मे व्यक्तिगत ईमानदारी का अभाव है ? हम एक उदाहरण लें। शैले का काव्य भावनाओ का अनायास पूर कहा गया है। चूंकि वह काव्य प्रयत्न-साध्य नही था, वरन् एक विशेष अर्थ मे अनायास था, इसलिए तुम्हारे अनुसार उसमे व्यक्तिगत ईमानदारी का अभाव रहा है !"

यशराज इस जगह आकर कुछ सकोच मे पड गया। वह देर तक मेरी बातो का जवाब न दे सका। व्यक्तिगत ईमानदारी के सम्बन्ध मे उसने आगे जो स्पष्टीकरण दिया, वह बडा ही मजेदार है।

यशराज कहता गया, "तुमने एक बडी अच्छी कठिनाई उपस्थित कर दी। लेकिन, हाँ, उसका भी हल है। शैले की बहुत-सी ऐसी कविताएँ हैं, जिनका ज्ञानात्मक आधार—उस युग विशेष की परिस्थिति के घेरे के भीतर—पहले के कवियो के ज्ञानात्मक आधार से अधिक विकसित था। शैले की रोमैण्टिक दृष्टि, क्लासिकल पुराणपन्थी कवियो की रूढिवादी दृष्टि की तुलना मे, कही अधिक पारदर्शी थी। साथ ही, युग की उत्थानशील शक्तियो ने शैले को जो उत्कृष्ट मानवतावादी स्वप्न देकर रखा था, उस स्वप्न से वह कवि प्रेरित था। व्यक्ति की आत्मगरिमा तथा व्यक्ति के भीतर की उत्थानशील स्निग्ध आध्यात्मिक सम्भावनाएँ शैले के काव्य मे प्रकट होती हैं। शैले के काव्य म जो कुहरिलता है, वह उसके युग की उठती हुई शक्तियो के विचार-सामर्थ्य की सीमा घोषित करती है, तो साथ ही वह यह भी सूचित करती है कि उन उठती हुई शक्तियो मे भावनातत्त्व अधिक था, विचार-तत्त्व आपेक्षिक दृष्टि से कम। शैले के काव्य का ज्ञानात्मक आधार नि सन्देह, अन्य कवियो की अपेक्षा, न केवल सत्यात्मक था, तथ्यात्मक था, वरन् वह अधिक विशद, विस्तृत और निर्णायक भी था। दूसरे शब्दो मे, शैले मे एक विशाल जागरूकता थी। इस ज्ञानात्मक जागरूकता के क्षेत्र मे उसकी भावना विचरण करती थी। दृष्टि रोमैण्टिक होने मात्र से भावना का ज्ञानात्मक आधार *कमजोर नही होता। ज्ञानात्मक आधार कमजोर तब होता है, जब कवि, समाज* को प्राप्त अद्यतन ज्ञान की उपेक्षा कर, अद्यतन ज्ञान द्वारा सम्प्रेरित भावनाओ से

दूर हटकर, केवल अपने ऐकान्तिक निविड लोक मे ही विचरण करता है। ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियो का बोध ही नही है, वरन् समाज की उत्थानशील तथा ह्रासोन्मुख शक्तियो का बोध भी है। शैले के काव्य का सौन्दर्य उस मनोभूमिका से उत्पन्न हुआ है, जो अपने युग मे विकासमान उत्थानशील प्रवृत्तियो से परिपक्व हुई है। शैले को ज्ञान ने स्वप्न दिया, स्वप्न ने भावना दी। उसका

मानवतावादी शक्तियो से आध्यात्मिक सम्बन्ध अनुभव करता था। कला के क्षेत्र मे भी वह इतना अधिक जागरूक था कि वह अपने युग के मनोहर स्पन्दनो को अपने काव्य मे अपने स्वप्नो के माध्यम से व्यक्त कर सका। किन्तु हम अन्य रोमैण्टिक लेखको और कवियो को लें। उनमे से कइयो मे हमे छद्म भावनाएँ देखने को मिलेंगी। छद्म मनोवैज्ञानिकता का भी एक बहुत बडा व्यापार होता है। हिन्दी के रोमैण्टिक कवियो मे ऐसी छद्म भावनाएँ बहुत देखन को मिलेंगी। यह छद्म मनोवैज्ञानिकता एक विशेष प्रकार की अभिरुचि से उत्पन्न होती है, और उस अभिरुचि को वह दृढ करती है। अभिरुचि स्वय इस कपटजाल को जन्म भी देती है।

"अभिरुचि के साथ-साथ कई प्रकार के सेंसर्स लगे रहते हैं। लेखक को अनेक प्रकार के सेंसर्स, यानी गहरे अन्तर्निषेधो का सामना करना पड़ता है। कुछ अन्तर्निषेध ऐसे होते है, जो उसके काव्यसम्बन्धी यथार्थ की सवेदनाओ को भी काटकर फेंक देते हैं। काव्य का जो वास्तविक तत्त्व है, जिसके कारण और जिसके द्वारा सौन्दर्य प्रकट होता है, उसी से पता चल जाता है कि लेखक छद्म भावनाओ का व्यापार कर रहा है या क्या !"

यशराज कहता गया, "ये अन्तर्निषेध उसकी बहुत-सी अच्छी और सच्ची भावनाओं के स्रोत को भी सुखा देते हैं। फलत. जो काव्य प्रसूत होता है, वह जाली होता है। हिन्दी मे जाली कविताओ की कमी नही। कभी-कभी ऐसा जाली

है। कवि के अभ्यास-वश

के फलस्वरूप कुछ लोग

भावनाएँ जाली होने के कारण बहुधा अप्राकृतिक भी हो उठती हैं। कवि का धर्म है—अपनी प्रकृति से और काव्य के वस्तुतत्त्व की प्रकृति से एकाकार होना। व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बडा तकाजा है कि लेखक निर्भीकतापूर्वक अपने अन्तर्निषेधो को सुधारे, उसका सामना करे। साथ ही, वह अपनी प्रकृति मे और वस्तु की प्रकृति में प्रवेश करे। इस अन्त प्रवेश के रास्ते मे जो भी सामने आता हो, उसे जोर से हटा दे। दूसरे शब्दो मे, अपनी अन्त.प्रकृति और वस्तु की प्रकृति मे प्रवेश करने के उद्देश्य से, काव्य-सम्बन्धी अपनी अभिरुचि को भी बदल डाले—वह अपना, अपने स्वय का, लगातार सशोधन और सम्पादन करता जाये··· !"

मैं एकदम बोल पडा, "ओ, हीअर आइ ऐग्री (यहाँ मैं तुमसे सहमत हूँ) !"

यशराज आगे कहता गया, "जो लेखक अपने हृदय को (तुम्हारे शब्दो में)

निरन्तर सशोधित और सम्पादित नही करता है, उसका विकास रुक जाता है। यह संशोधन और सम्पादन, कवि की जीवन-दृष्टि के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए, स्वाँग रचने के लिए नही।"

यशराज बहुत ज्यादा बोल गया था। कभी-कभी मेरा ध्यान भी उचट जाता। फिर भी मैं एकाग्रतापूर्वक उसकी बात सुनने का प्रयत्न कर रहा था। यशराज कह रहा था, "कवि का यह धर्म है कि उसके दिल मे जो नकारशील खटके हैं, जो अन्तर्निषेध हैं, उन्हे विवेकसगत बनाया जाये। केवल विशेषाभिरुचि के वशीभूत होकर उन अन्तर्निषेधो का विकास न किया जाये। ध्यान रहे कि ये अन्तर्निषेध लेखक स्वय अपने लेखन-कार्य के दौरान मे विकसित करता है। उनका विकास किस प्रकार होता है, यह विषय ही अलग है। महत्त्व की बात यह है कि अन्तर्निषेधो का विवेकसगत विकास हो। व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बड़ा तकाजा है। यदि काव्य के वस्तुतत्त्व की प्रकृति और कवि की प्रकृति, दोनो का समाहार करनवाली कवि-दृष्टि ऐसी है, जो जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है, तो नि सन्देह उसका काव्य सारगर्भित और प्रभावशाली होगा। यदि उस कवि-दृष्टि *का महत्त्व अत्यन्त सीमित है, तो उस काव्य को हम भले ही सुन्दर कह लें, वह* हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव नही डाल सकता, अर्थात् वह हमारे जीवन-विवेक को विकसित और पुष्ट नही कर सकता। ध्यान रखिए कि कवि-दृष्टि को मैं जीवन-दृष्टि के रूप मे ही ले रहा हूँ।"

यहाँ यशराज की साँस खतम हो गयी। यशराज की विवेचन-बुद्धि ने नि सन्देह मुझे बहुत प्रभावित किया। मेरे मन मे विचारो का ताँता-सा शुरू हो गया। यशराज को चुप देख मैंने भी अपना कुछ जोडना चाहा।

मैंने कहा, "यशराज, सुनो। अब मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। ध्यान से सुनना! भले ही काव्य-रचना हाथ मे कलम लेकर टेबिल पर की जाती रही हो, किन्तु रचना की सच्ची मनोभूमिका, काव्य-रचना के क्षणो के बाहर निरन्तर *तैयार होती रहती है। यदि इस मनोभूमिका की तैयारी के दौरान मे कवि सचमुच* ईमानदार है, यानी वह अपनी जीवन-दृष्टि व्यापक और गहरी रखने का प्रयत्न करता है, तो उस काव्य-रचना से सम्बन्धित वह मनोभूमिका भी अधिकाधिक विशद और यथार्थ होती जायेगी। ऐसा मेरा खयाल है। इसलिए मैं यह कहता हूँ कि काव्य-रचना एक परिणाम है, किसी पूर्वगत प्रदीर्घ मन प्रक्रिया का, जो अलग-अलग समयो मे बनती गयी, और अपने तत्त्व एकत्र करती गयी है। काव्य-रचना मे जो अनायासता उत्पन्न होती है, वह केवल भाषा और छन्द के अभ्यास के *फलस्वरूप ही उत्पन्न नही होती, वरन् काव्य-रचना की पूर्वगत मनोभूमिका की* समृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसीलिए व्यक्तिगत ईमानदारी का सम्बन्ध काव्य-सम्बन्धी मनोभूमिका से अधिक है। यदि यह मनोभूमिका आत्मपरक और वस्तुपरक, अर्थात् उन दोनो से समन्वित जीवनपरक दृष्टि से तैयार की गयी है *तो उस कवि का क्या कहना! वह नि सन्देह समृद्ध करती है! इस तरह पर मुख्य* प्रश्न दृष्टि का है। मानवता के कवि की दृष्टि विश्व-जनता के उद्देश्यो से एकाकार है, अर्थात् जब कवि की भावनाओ का ज्ञानात्मक आधार, विस्तृत, व्यापक और अद्यतन है, तो ऐसी स्थिति म उस कवि की दृष्टि ही उसके अन्त करण मे एक वातावरण निर्माण करेगी, एक काव्यात्मक मनोभूमिका तैयार करेगी। मनोभूमिका

या वातावरण के बिना सत्काव्य सम्भव ही नहीं। सच तो यह है कि काव्य साधना या कला-साधना, काव्य रचना या कला रचना की प्रक्रिया के दौरान में ही सीमित नहीं होती। काव्य साधना या कला-साधना का अधिकतर भाग काव्य-रचना के क्षणों से बहुत बाहर होता है। इसलिए कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह ज्ञानात्मक आधार का अधिकाधिक विस्तार करे, ज्ञान स्वप्न दे सके, स्वप्न-भावनाएँ उत्सर्जित कर सके। मानसिक प्रतिक्रिया का सम्पादन-सशोधन यदि उस स्वप्न द्वारा प्रस्तुत होता है, तो नि सन्देह वह कल्याणकारी है। उस ज्ञानात्मक आधार पर ही मन अपने को सम्पादित और सशोधित करता रहेगा। कवि के अनुभूतिमय जीवनकाल म ही यह सशोधन-सम्पादन चलता रहेगा।

'किन्तु जब काव्य-रचना एक सृजन प्रक्रिया के रूप म चलती है, उस समय यदि कृत्रिम रूप से सशोधन-सम्पादन चलता रहा, तो कवि पर अभिनतृत्व और स्वाँग का अभियोग-आरोप सही हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञानात्मक आधार पर विकसित जीवन-स्वप्न ही स्वय मानसिक प्रतिक्रिया का सशोधन-सम्पादन करता रहे, तो नि सन्देह वह काव्य-रचना के एक अत्यन्त स्वाभाविक अग के रूप म ही प्रस्तुत होगा।"

यशराज ने कहा "तो व्यक्तिगत ईमानदारी काहे म है? ज्ञानात्मक आधार को विस्तृत से विस्तृत करने, उसे अत्यन्त व्यापक बनाने, उसके आधार पर जीवन-स्वप्न विकसित करने, जीवन-स्वप्न के अनुसार मानसिक प्रतिक्रियाओ को दिशा देने, अर्थात् अपने ही अन्त करण का सशोधन-सम्पादन करने म ही व्यक्तिगत ईमानदारी परिलक्षित होगी। तुम्हारी बात भी सही है। काव्य साधना, अधिकतर, काव्य-रचना के क्षेत्र के बाहर होती है। हाँ, यह बात सही है।"

वह मुझे देखकर मुसकराया। उसके स्मित म एक अजीब-सी तृप्ति थी। जी हाँ, वह बेरोजगार है। गरीब है, ठुकराया हुआ भी है, समाज म उसकी कोई इज्जत नहीं है। लेकिन वह नि स्पृह भी है। क्या वह सुकरात नहीं है? मेरी माँ ने मुझे बताया था कि भगवान् भिखारियों का वेश लेकर अपाहिजों के रूप म भटकते हैं और परीक्षा लेते हैं। भगवान् पर मेरी आस्था नहीं है, लेकिन मनुष्य पर तो है। इतने मे मुझे ख्याल आया कि 'ज्ञानात्मक आधार' की परिभाषा होना आवश्यक है। मैंने यशराज से पूछा, "ज्ञानात्मक आधार से तुम्हारा मतलब वैज्ञानिक जानकारी के अलावा भी कुछ है या नहीं?"

वह हँस पडा। उसने कहा, "जीवन-जगत् का जो बोध है, उसका व्यापक होना, पुष्ट होना, विश्व म ज्ञान का जो आज विकास-स्तर प्राप्त है उसको आत्मसात् करना, और उसमे आगे बढना, आवश्यक है। भावना उसी क्षेत्र म सक्रिय होती है, जो क्षेत्र वस्तुत ज्ञानशक्ति द्वारा गृहीत हो। बोध यानी ज्ञान के क्षेत्र के भीतर ही भावना की पहुँच है उसके बाहर नहीं। इसीलिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन का ज्ञानात्मक आधार व्यापक और विकसित हो। ज्ञान भी एक तरह का अनुभव है, या तो वह हमारा अनुभव है, या दूसरो का। उससे निकलते हैं निष्कर्ष, उससे होता है जीवन विवेक का विकास। यह विवेक ही एक स्वप्न देता है। यह स्वप्न परमावश्यक है। वह जीवन-स्वप्न है। वह आध्यात्मिक है, भौतिक भी।"

मैंने पूछा, "भौतिक का क्या अर्थ है?"

उसने कहा, "हम अपूर्व शब्दावली मे बात करते है। लेकिन जीवन के जिस क्षेत्र की हम बात करें उसकी शब्दावली आना चाहिए। क्या लेखक के लिए परम आवश्यक नही है कि वह विश्व-जनता के अभ्युत्थान को देखे, और समाज का *उत्पीडन करनेवाली शक्तियो से सचेत हो, और उसके प्रति विद्रोह करनेवाली* ताकतो से सक्रिय सहानुभूति रखे। ज्ञानात्मक आधार के विकास मे तो ये बातें भी सम्मिलित हैं। नही हैं क्या ?"

मैंने सिर्फ इतना ही कहा, "तुम तो मेरे बारे मे जानते हो। मेरा तो यह दृष्टिकोण बहुत पहले से रहा है, और उसके लिए कुछ तकलीफ भी उठायी है।"

जब हमने एक-दूसरे की आँखो मे देखा, तो पाया कि हम सचमुच एक-दूसरे के मित्र है।

[किसी पत्रिका मे प्रकाशित। सम्भावित रचनाकाल 1960-61। **एक साहित्यिक की डायरी** मे सकलित।]

# कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : तीन

यह सोचते हुए कि पी. डब्ल्यू डी. वाले इस पुल को चौडा क्यो नही कर देते, मै अपने सामने देखता क्या हूँ कि एक बैलगाडी मे से एक मोटे खद्दरधारी महाशय उतर रहे हैं! मैं जरा रुका। पाया कि मेरे स्नेह मे गुम्फित होकर वे महाशय मेरी तरफ खिंचते आ रहे हैं। मैं चिल्ला उठा, "अरे! यशराज! तुम!"

यशराज ने मेरी तरफ देखा। गाडीवाले को कुछ आदेश और सूचनाएँ दी, और हाथ मे कुछ-एक अखबार और मैगजीनें लिये, वे मेरी तरफ उन्मुख हुए।

*चौकोर-मासल-श्यामल चेहरे के मोटे होठों पर विस्तृत आनन्दमयी* मुसकराहट फैल गयी! उनसे कहा मैंने, "बस से क्यो नही आये?"

"लम्बा किस्सा है···फिर सुनाऊँगा। तुम्हारे सम्बन्ध मे काफी बातें होती रही।"

"मेरे सम्बन्ध मे? वे मुझे जानते हैं?"

उसने मेरे कन्धो पर हाथ रख दिया। हाथ के बालो मे पसीने का गोलापन चमक रहा था। अकस्मात् इस चढती धूप मे मेरा मित्र जब मुझे इस प्रकार मिल *गया तब मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा।* मुझे अपने मित्र का मोटा दबग शरीर, खादी की चमकती हुई सफ़ेद तिरछी टोपी, और मन्द-मन्थर, खरामाँ-खरामाँ, शाही, ऐरिस्टोक्रैटिक चाल—*सभी कुछ भा गया!*

हम लोग यशराज के इस रूप-विन्यास का बडा मजाक करते! लेकिन, असल

मे, आकृति-प्रकृति तो विरासत की चीज है। वह उन्हें पितृ पितामहों द्वारा प्राप्त हुई। अगर हम चार के बीच, या दस-बीस के बीच, यशराज चलते नजर आयें, तो वे हमारे लीडर लगें।

लेकिन वे लीडर नहीं थे। वे एक बी एस-सी, बी टेक, एल-एल.बी, बेरोजगार आदमी थे। वे बात नहीं करते थे, फुसफुसाते थे। असल में, उन्होंने हिरनी का दिल पाया था। पुराने शाही रईस के बुढ़ापे की वैराग्य-भावना पायी थी। वे एक आधुनिक व्यक्ति की विचार-प्रतिभा रखते थे। अर्थात्, वह यशराज था। उसके पास न यश था, न राज्य। इसके विपरीत, बेरोजगारी के कारण, अपने धनी व्यावसायिक समाज म भरपूर बदनामी की धूल से वह व्यक्तित्व भूरा हो उठा था। निर्धनता की तपस्यापूर्ण भयानक जिन्दगी, दिल म वेदना बनकर कौंधती रहती थी।

मुझे यशराज पसन्द था, उसी प्रकार जैसे चिलचिलाती धूप म कोई विशाल भव्याकार काला टीला चिलक रहा हो—ऐसा टीला जिसकी सतह पर कोई भटकी हुई बकरी न मालूम क्या सोचती हुई कब स खडी हो! बकरी-समेत वह चिलचिलाता टीला यशराज है। और, मैं क्या हूँ? उस टीले से मेरा क्या सम्बन्ध है?

"दद्दा क्या कह रहे थे?" मैंने कुतूहल-भाव से पूछा।

"दद्दा वेवकूफ़ है!" यशराज ने कहा।

"फ़िजूल गाली दे रहे हो," मैंने दद्दा के प्रति सहानुभूति बताते हुए कहा। मैं आगे कहता गया, 'आदमी व्यक्तिगत रूप से तो ईमानदार है!"

यशराज हँस पडा। उसने व्यग्य करते हुए जवाब दिया, "भई वाह! जिन्दगी कोई साहित्य थोडे ही है, जहाँ केवल क्षण के भाव को व्यक्तिगत ईमानदारी का सुबूत मान लिया जाये। मेरे सामन आप, ईमानदारी से, मेरे प्रति वास्तविक प्रशसा के भाव अनुभव करते हैं, चेहरे पर, आपकी अग-चेष्टाओं म, यही भाव प्रतिबिम्बित है। किन्तु मेरी पीठ फिरते ही, किसी दूसरे के सामन आप,ईमानदारी से, मेरे प्रति निन्दा के वास्तविक भाव अनुभव करते हैं। आपके चेहरे पर, और आपकी अग-चेष्टाओं से वही भाव झलकता है। आप कहेंगे कि आप मेरी प्रशसा करते वक्त भी ईमानदार थे और मेरी निन्दा करते वक्त भी!"

मैंन कहा, "शायद तुमम प्रशसनीय और निन्दनीय दोनों हो।"

उसने मूखे होठो पर जीभ फेरी और अखबारों का पुलिन्दा मेरी पीठ पर फटकारते हुए कहा, "बात समझिए! प्रशसनीय और निन्दनीय यदि दोनों मुझमे हैं, तो दोनों तरह की बातें मुझमें कही जा सकती हैं। केवल प्रशसनीय मेरे सामने कहना और निन्दनीय मेरे पीठ के पीछे, यह तो व्यक्तिगत ईमानदारी नहीं है!"

मेरी आँखों के सामने 'दद्दा' का चरित्र खडा हो गया था। उन्ही के सन्दर्भ से ये बातें चल रही थीं। लेकिन बात घुमाते हुए मैंन कहा, "हो सकता है! किसी के आमने-सामने बात करते समय की स्थिति-परिस्थिति और होती है, उसके पीठ-पीछे बात करते समय की पोजीशन दूसरी। हो सकता है कि सामनेवाला आदमी सिर्फ़ अपनी प्रशसा ही सुन सकता है, अथवा यह भी सम्भव है कि सामनेवाला आदमी इतना आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व रखता हो कि उसकी उपस्थिति में कोई अनायास प्रेम-प्रवाह और सम्मोहन उमड आये, और हृदय में,

# व्यक्तिगत ईमानदारी और कला

इसी प्रकार जी घबराता रहता है—मानो कोई चीज भूल से कहीं छूट गयी है, उसे ढूँढ़ निकालने का काम भी भुलाया जा चुका है, और अब ''एकाएक सुध आ गयी है कि वह चीज बहुत महत्त्वपूर्ण थी ''उसे भुलाया जाना मूर्खता थी। उसे भुलाये जाने से अपार हानि हुई है। हानि आगे भी होती जायेगी।

धूप बरामदे में सुनहला कालीन बिछा चुकी है। ताजी हवा, ऐसी जो दिल में घुलती है, किसी भूली बात को फिर से जगा देती है। अफ़सोस का एक गहरा काला धुआँ, सुबह के सुनहरेपन में नहाता हुआ, दिल के बाहर निकलता रहता है।

दिल में एक दर्द-भरी ताज़गी भर जाती है। सुनहला प्रकाश घर के भीतरी कमरों में भी फैल जाता है। घर के बच्चे सुनहली ताज़गी में भरकर नाचने लगते हैं। उनके छोटे-छोटे पाँव और छोटे-छोटे हाथ, आनन्द की सहज गति में नाच उठते हैं। स्टोव के पास, नीली साड़ी पहनी हुई पत्नी कहती है कि देखो, सुनो तो, आज मुझे एक सपना आया था'''

मुझे उसका सपना सुनने की फुरसत नहीं है। मैं, सुबह-सुबह, अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी और बच्चों की मूरतें देख, एक अजीब सुनहले दर्द की ताज़गी में डूब जाता हूँ। सुबह की ताजा हवा, सूरज की सुनहली धूप, पत्नी की आत्मीयता, बच्चों के भोले आनन्द और माता-पिता के बूढ़े अनुभवी चेहरों ने मुझे एका-एक भूली-बिसरी बात की याद दिला दी है। निस्सन्देह, यह मेरी ग़लती थी कि मैं उस बात को कतई भूल गया था।

आज तक न मालूम क्या-क्या लिखता रहा। बुरा नहीं किया। ग़लत नहीं लिखा। लिखने में, जानबूझकर, झूठ नहीं बोला। लेकिन, क्या जो सचमुच लिखना था, उसे लिख पाया! जो सचमुच कहना था ''क्या ''उसे कहने की सचमुच कोशिश की!

जब मुझे समुद्र का वर्णन करना था, तब मैं चौपाटी का विवरण देने में उलझा रहा, मैरीन ड्राइव की बात की, जुहू में हुए एक वाकये का बयान करता रहा। अब मुझे लगता है कि केन्द्रीय विषय को टालने के लिए ही मैं उस विषय के आस-पास रहकर विषयान्तर करता रहा। क्यों, ऐसा क्यों? विषयान्तर क्यों हो जाता है? इसलिए कि केन्द्रीय विषय से मुठभेड़ करना आसान काम नहीं है। उस विषय में घुसने से उस विषय की लहरें नाक कान में घुस जाती हैं। तकलीफ़ होती है। पानी कण्ठ में घुस जाता है और श्वास लेना-निकालना मुश्किल हो जाता है। शायद, उस केन्द्रीय विषय ने ज़िन्दगी पर एक लम्बे अरसे [illegible] किये हैं। इसलिए वह दर्द पैदा करता है। दर्द [illegible] जाओ। मतलब यह कि टल्लेनवीसी को मैंने एक [illegible] अपने दर्द से दूर हटने के लिए ही, मैंने मानो [illegible] विकता का सहारा न ले, बुद्धि और काव्य का [illegible] तक, एक अमूर्त कला है, तुलनात्मक दृष्टि में [illegible] एब्स्ट्रैक्शन्स पर आधारित है ही। मतलब [illegible]

है। जिन्दगी मे एक टल्लेनवीसी है, कला मे एक टल्लेनवीसी है। टालू आदमी हूँ। लेकिन क्यो·· ऐसा · क्यो !

इसलिए कि अगर हमने अपने दर्द से ही मुठभेड की तो हमारे ही सामने दर्द की तसवीर नही, वरन् दर्द पैदा करनेवाली स्थिति का मानचित्र खिच जाता है, नक्शा खिच जाता है, खाका खिच जाता है। हम उन विशेप-विशेप शक्तियो की सूरत देख लेते हैं जिनके दर्शन ही से हम एक अबूझ दर्द मे डूब जाते हैं, लेकिन दर्द की तसवीर नही खिचती। तसवीर खिचती है—वास्तविक स्थिति की, जिसने हमे कष्ट के समुद्र मे डुबो दिया। मतलब यह कि काव्य नष्ट हो जाता है। हम आत्मपरक—सब्जेक्टिव—न बनकर बहिर्मुख वस्तुपरक हो जाते-से दिखायी देते हैं। उस वस्तुपरकता से हमे डर लगता है, क्योंकि जिस वास्तविकता के प्रति हम वस्तुपरक हैं उस वास्तविकता ने हमे झिझोड दिया है। ऐसा दर्द भी क्या काम का, जो हमे वस्तुपरक बना दे, वास्तविकता के प्रति उन्मुख करता जाये, गद्यात्मक बना दे, परुष पीडा की सँडासी से दिल के गरम लोथडे को पकड ले, हमे विक्षोभ और चिन्ता के खारे कुएँ मे बोर दे! ऐसी वेदना क्या काम की, जो हमसे क्लास-ऐनेलिसिस करवाये! ऐसा क्षोभ क्या काम का, जो हमे अनजाने ही वस्तुवादी बनाते हुए *मार्क्सवादी-कम्युनिस्ट बना दे! हर! हर!*

इससे तो यह बहुत अच्छा है कि हम घुमक्कड, बेसरोकार, बेघरबार, लोफर बनकर काव्य रचना करें, अथवा अत्यन्त भद्र-पुरुष बनकर, एक उत्तम सुसस्कृत परिवार की स्थापना करें, और उस परिवार के एक ज्येष्ठ पुरुप बनकर हिन्दी की अत्यन्त श्रेष्ठ पत्रिकाओ म अपना श्रेष्ठतम शब्दजाल प्रकाशित करवायें!

इसी जगह मुझे अनेकानेक मित्रो की याद आती है, जो मुझसे भी वडे टल्लेनवीस हैं, अर्थात् मुझसे वडे कवि, वस्तुत कवि—प्रैक्टिसिंग पोएट, प्रोफेशनल लिटरेटूर। उनका बडा सम्मान है, बडी प्रतिष्ठा है। काव्य-गुणो की दृष्टि से निस्सन्देह वे यशस्काय हैं। वे मेरे प्रियजन हैं। अतएव उनकी आलोचना करने का मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मेरे इस अधिकार को उन्होंने, प्रगाढ मैत्री-भाव से प्रेरित होकर, सम्पूर्ण मान्यता प्रदान की है। उनके-मेरे बीच बडे-बडे मतभेद हो सकते हैं, होते रहेंगे। महत्त्व की बात यह है कि वे मुझ पर विश्वास करते हैं। वे मेरे दोस्त हैं—दो टल्लेनवीसो की मित्रता बडी ही घनिष्ठ होती है। कौन-सी बात टाल जाना चाहिए—दोनो जानते हैं।

मुझमे और उनमे एक बात का अन्तर है। वे लोग वडे ही आत्मविश्वासपूर्ण हैं। उनका आत्मविश्वास बहुत दर्शनीय है। मैं भी बातो को टाल जाता हूँ, लेकिन हमेशा यह भाव जाग्रत रहता है कि मैंने गलती की। इसके विपरीत, वे लोग इस तथ्य ही से इनकार कर देते हैं कि उन्होंने कोई बात टाली है।

मुश्किल यह है कि उनकी कसौटी केवल एक है। अगर उन्होंने, अपने अनजाने, कोई बात टाल दी, तो वे यह बात मानने के लिए तैयार नही हैं कि वस्तुत उन्होंने टाल दन का काम किया है। अपने अनजाने अगर कोई भूल हो गयी है, तो वह भूल नहीं है। ऐसी उनकी मान्यता है, या दृष्टि है, या रुख है, या रुझान है—कुछ भी कह लो। दूसरे शब्दो मे, जहाँ तक कर्त्ता का कला से सम्बन्ध है, वे केवल 'व्यक्तिगत ईमानदारी' को कला की कसौटी मानते हैं। वह उनका सत्य है।

जब से इस शहर मे आया हूँ, मेरे सत्यो ने मेरी मुश्किल कर दी। दिमाग़ मे डुगडुगी बजती रहती है। निरन्तर एकरस, एकतान प्रलाप छिडा रहता है। भयकर! मैं बहुत-बहुत बातें कहना चाहता हूँ, अपने से, अपने मित्रो से, सहयोगियो से। लेकिन, कहूँ कैसे? उन्हे सन्दर्भ और प्रसग और प्रकरण ही समझ मे नही आयेंगे। क्या बताया जाय, जी मे एक अजीब घबराहट है!

वैसे घबराहट होने का कोई कारण नही है। भई, तुम्हारे रास्ते अलग हैं, मेरा अलग। उदाहरणार्थ, मैं समझता हूँ कि कला मे 'व्यक्तिगत ईमानदारी' केवल तथाकथित 'भाव-सत्य' पर्याप्त नही है। मेरा खयाल है कि जीवन के कलात्मक चित्रण के लिए जीवन के वस्तु-सत्य की यथातथ्य ग्राहिका-शक्ति आवश्यक है, केवल भाव-सत्य या आत्म-सत्य तब तक अधूरा और लूला है, जब तक कि उसकी स्थिति और गति, जीवन के वास्तविक सत्यो पर आधारित नही है।

'जीवन के वास्तविक सत्य'—इस शब्द-समुदाय पर बहस छिड जायेगी। मैं इन शब्दो का व्यापक-से-व्यापक किन्तु विशिष्ट-से-विशिष्ट अर्थ ले रहा हूँ। मेरा मतलब उस तथ्यात्मक जीवन और उसके सत्यों से है, जो हमारी, समाज की, दुनिया की, जिन्दगी को ढालते हैं। वे कहेंगे कि हमारे भाव-सत्य तो इसी जिन्दगी के आधार पर हैं—वास्तविक परिस्थिति के प्रति की गयी प्रतिक्रियाएँ काव्य रूप में प्रस्तुत हुई हैं। हमारा काव्य एक विशेष अर्थ मे वस्तुवादी है—इस अर्थ में कि वास्तविक परिवेश से की गयी वे हमारी प्रतिक्रियाएँ हैं।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित।]

# सौन्दर्य-प्रतीति की प्रक्रिया

[ 1 ]

दिन-भर बारिश होती रही। स्थानान्तरगामी-वृत्ति की मेरी प्रेरणा इस बुढापे मे असभ्य होकर अब वर्षा मे भीग नही सकती थी। मैंने अपने मित्र से कहा कि अभी कुछ ही वर्ष पहले तक मैं अपने ऑफिस से जानबूझकर भीगता हुआ घर वापिस आता था और पहुँचने पर झिडकियो के बीच, पानी-भरे गीले कपडे उतारा करता था—बडे आनन्द से, खुशी-खुशी, मानो मैं पवित्र और ताजा होकर आया हूँ। चूँकि मैं जवानी मे जगली रहकर बुढ़ापे मे अब सभ्य बनने की कोशिश कर रहा हूँ, तो इसी से आप समझ सकते हैं कि जो लोग जवानी, नौजवानी और बचपन से ही सभ्य हैं, वे भला धुँआधार बारिश मे भीगना कैसे पसन्द कर सकते है?

बारिश मे ऐसे सभ्यो की फजीहती देखने के क़ाबिल हाती है। किसी मकान के बरामदे मे बैलो, खोमचेवालो, हमालो और अन्य ग़रीब वर्गो के बीच, जब उन्हें

जगण्ड-रूप में खड़े हुए देखा जाता है, तो मन-ही-मन वे भी उदास, खिन्न, विषण्ण-मन होकर, बारिश थमने का इन्तजार करते रहते हैं, लेकिन भीगने की औकात और हिम्मत उनमें नहीं होती।

खैर, मैं पाता हूँ कि बारिश का जोर है और मैं अपने मित्र को जबर्दस्ती किसी-न-किसी बात में हिलगाये रखना चाहता हूँ, जिससे कि वे आत्मस्थ और सुखी अनुभव करें, और बारिश थमने का इन्तजार न करें। *बारिश बारिश है,* और, वह घड़ी के काँटे की आज्ञाओं का पालन नहीं करती।

मित्र महोदय उदास हैं। उदास चेहरे को देखते-देखते स्वयं उदास हो जाने के कारण, मैं चाहता हूँ कि वातावरण ज्यादा गरम और रोशन हो। यदि खिन्नता का वातावरण दूर करना है, तो उन्हें मुखर बनाना ही पड़ेगा। कुछ इसी तरह का इरादा रखता हुआ मैं उनका पीला उतरा हुआ चेहरा देख-देखकर स्वयं उदास बनता गया।

गति के लिए उपयुक्त मार्ग न मिलने पर, उसका रास्ता बन्द हो जाने के फलस्वरूप, गति मन में ही छटपटाती रहती है। मित्र महोदय तुरन्त ही घर जाना चाहते थे। बारिश जोरों से हो रही थी। हमारे घर में उस समय कोई छाता नहीं था, जो उन्हें दिया जा सके। भीगने की उनकी तैयारी न थी। आसपास कहीं रिक्शा नहीं था।

ऐसे घने, गीले, साँवले और उदास मौके पर मित्र महोदय का मन रिझाने के लिए, चाय के कई दौर के अलावा, मैंने कुछ कहानियाँ, कुछ चुटकुले, कुछ भाष्य, कुछ जानकारी, कुछ दोहे, कुछ शेर, यहाँ तक कि गीत की एक कड़ी भी सुना डाली।

और, इसमें कोई शक नहीं कि मित्र महोदय का मन धीरे-धीरे, क्रमशः, उदासी की मोटी परतें फाड़ता हुआ जाग्रत हुआ। उनके गालों पर भावों की हलचल दिखायी दी, और आँखों में चालाक रोशनी झाँकने लगी। जिस प्रकार लालटेन की बत्ती धीरे-धीरे ऊँची करने से, काँच की हण्डी पर सुनहली-पीली आभा, ऊपर से क्रमशः नीचे रेंगती जाती है और फिर *पूरी-की-पूरी* हण्डी पीली रोशनी से चमकने लगती है, उसी प्रकार मित्र महोदय का मुख भी चमचमा उठा। माथे से लेकर ठुड्डियों तक का पूरा भौगोलिक प्रदेश किसी कोमल आवेग से आन्दोलित हो रहा था।

उनकी बातचीत को ध्यान से सुनने का नाट्य करते हुए मैं उनकी मुखाकृति के अध्ययन में *लीन हो गया।* फिर धीरे-धीरे मैं लेट गया और मित्र महोदय जो आलथी-पालथी मारे बैठे हुए थे, मेरे-जैसा ध्यान-मग्न अद्भुत श्रोता पाकर, निःसन्देह, खुशी का झरना बहा रहे थे। वे लगातार बोलते जाते थे।

मैं उनके नजदीक लेटा हुआ और वे बैठे हुए होने से मेरी दृष्टि की रेखा नीचे गले से, ठुड्डी से गुजरती हुई छत की *तरफ जा रही थी।* मैं उनकी ठुड्डी की नीचे-ऊपर की हलचल देख*ता जा रहा था।* ठुड्डी क्या थी, बस! *वह डबल ठुड्डी* थी। जबड़े के नीचे का हिस्सा धमनी-जैसा चल *रहा था।* उसे देख मुझमें एक अजीब विरक्तिपूर्ण भावना जगी। सिर्फ *गला* ...

ऊपर-नीचे हो रहा था। ठुड्डी ऊपर-नीचे हो रही थी और मेरे दृष्टि-क्षेत्र के सीमान्त पर मोटे होठ, अजीब आकृतियो मे, मिलते, अलग होते, रहते थे।

मैंने इस ऐंगल से वह मानव-दृश्य कभी नही देखा था। पता नही क्यो, मैं विरक्ति, घृणा, ग्लानि और विक्षोभ मे भर उठा। वह पूरा दृश्य मुझे अजीब लगा। भयानक घिन मेरे मन मे भर गयी। उधर मित्र महोदय की वाग्धारा पहाडी नदी की भाँति निडर, नि सकोच और अपन ही म डूबी हुई बहती जा रही थी। तबीयत तो यह हुई कि कोई आकस्मिक घटना उपस्थित करके इस वाचाल चेहरे को चुप कर दिया जाये।

लेकिन, अपने इस बर्बर उच्छृखल कार्य का उपयुक्त आधार मुझे मिल,नही रहा था। *मित्र महोदय के व्यक्तित्व के प्रति घृणा का कोई सवाल ही नही उठता* था। मुझे उस वाक्-यन्त्र से घृणा हो गयी थी। एक वाक्-यन्त्र मैं भी हूँ, एक आप भी हैं। यन्त्रात्मक गति सुन्दर और आकर्षक तो तब होगी, जब उसे ठीक ऐंगल से देखा जाये। मैंने उन्हे सामने से नही, वरन् नीचे से ऊपर देखा था। उनके वाक्-यन्त्र का वह दृश्य एक अजीब नक्शा पेश करता था। ग्लानि के रोगटे अभी भी मेरे तन पर विराजमान थे। यद्यपि मेरा उद्देश्य एकदम ग़लत था, फिर भी मैंने बदला निकालने की भावना से उन्हे फिर से उदास कर देना ही ठीक समझा, और एक ऐसे मौके की तलाश करने मे लगा जब उन्हे कोई एक गहरा ताना मारा जा सके, *जिससे कि वे हतबुद्धि और हतचेत हो उठें।*

मुझे इस बात पर बहुत आश्चर्य हो रहा था कि आखिर मेरे मित्र महोदय अपनी वाग्धारा के प्रवाह मे इतने अधिक क्यो बहे जा रहे हैं! आखिर वे श्रोता अर्थात् मेरी सम्भावित भावनाओ की तरफ क्यो ध्यान नही देते! वे यह क्यो मानकर चलते हैं कि मैं उन्हे नि सन्देह एकाग्र रूप से सुन रहा हूँ, और कि मेरी उनकी बातो मे कोई खास दिलचस्पी है!

जिन्दगी मे मुझे ऐसे बहुत आदमी मिले हैं, जो केवल अच्छे श्रोताओ की तलाश मे रहते हैं। उनम से एक तो मेरे पडोस मे ही रहते हैं। उनस मैं बहुत-बहुत बचता हूँ। वे सज्जन मुझम नही—मेरी कर्णेन्द्रिय मे इण्टरेस्टेड हैं।

लेकिन, मेरे सामने बैठे हुए मेरे मित्र कुछ और ही भाँति के हैं। वे एक विश्व-विद्यालय मे विषय के डॉक्टर हैं। जवान हैं। प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बहुत प्रयत्न-पूर्वक ज्येष्ठो और श्रेष्ठो से अत्यन्त मधुर सम्बन्ध कायम किये है। उनका माहवार डाक-खर्च कोई दस रुपये है। इसको वे अपना डायनेमिज्म बताते हैं। हाल ही मे मुझे वे काफी उपदेश भी दे रहे थे। उनकी शिकायत है कि मैं बहुत सुस्त हूँ। साहित्यिक जगत् की हर घटना से और घटना के इतिहास से वे आवश्यकता स अधिक परिचित हैं। उनके सब इरादे नेक हैं। असल मे, वे नेकी और बदी से परे, केवल आचार्य हैं, जिसका काम सप्रयत्न प्रदर्शनीय व्याख्या करके सन्तुष्ट हो जाना है। लेकिन, क्या यह सच है?

कुल मिलाकर, मुझे प्रतीत होता है कि वे बहुत भोले हैं—कम-से-कम मेरे सामने। उनका चेहरा चौकोन है, आँखें छोटी और बुझी बुझी-सी रहती है। मुख पर मास के गद्दे हैं जो हरकत करते रहते हैं। माथा काफी छोटा और उसके उत्तरी सीमान्त के बहुत पूर्व ही घने बाल शुरू हो जाते हैं। इससे माथे की आधी पट्टी बालो से ढकी रहती है। गालो के स्नायुओ का पूरा ज़ोर उनकी चौडी डबल

ठुड्डी पर ही है। नाक बहुत कोमल और छोटी बनकर चेहरे का विशेष अंग नही बन पाती। वह एक लघु उपेक्षणीय क्षुद्र जीव-सी 'है और नही' के बीच म रहती है। सारे चेहरे पर एक अजीब बासी क्रॉनिक पीलापन रहता है। यह कोई अच्छा सकेत नही है, उसम भय लगता है।

अकस्मात्, मेरे मन मे यह जिज्ञासा जग उठी कि यह आदमी किस प्रकार का है। साथ ही, यह महसूस हुआ कि मेरे स्वभाव से बिलकुल ही भिन्न यह व्यक्ति है। एकदम भिन्न, एकदम अलग। क्यों न इस अपरिचित जलाशय का तला मापा जाय। उसकी थाह ली जाये।

और, अब मैं उनकी बातें बीच ही मे ध्यान से सुनने लगा। मुझे महसूस हुआ कि बौद्धिक कैंची न उस आदमी के दिमाग़ के जगली पौधो को सुरुचिपूर्ण आकार नही दिया है। पी-एच डी होने के नाते, नि सन्देह, उनकी जानकारी बढ़ी-चढ़ी होगी, लेकिन मन के भीतर ज्ञान की जो रचना होती है, जो एक विशेष व्यवस्था होती है, उस ज्ञान-व्यवस्था का उसम अभाव है। इस ज्ञान-व्यवस्था को विकसित करते रहने के बजाय, उसने सम्भवत, अपने दिमाग को विशेष प्रकार की जानकारियों का कबाडखाना बना रखा है। फलत, ज्ञान जानकारी बनकर रह गया है, प्रतीति और विचार बनकर वह सचरण नही करता। ज्ञान उसके व्यक्तित्व और चरित्र के सगठन म योग नही देता, विश्व के विभिन्न प्रश्नों से अछूता रह जाता है।

और, फिर, अकस्मात् मुझे यह सूझा कि शायद, ज्ञान के क्षेत्र मे रहते हुए भी
वह उस क्षेत्र मे
सरकार से खूब
पहनकर व्यापार
काम ठेके पर मकान बनाना और बीच मे पैसा खा जाना है, एक ऐसा शरणार्थी, जिस रहने के लिए ज्ञान का क्षेत्र मिला, किन्तु इस क्षेत्र मे वह सुखी नही रह सकता। वह कही और जाना चाहता है, शायद वह डिप्टी कमिश्नर या एजूकेशनल सेक्रेटरी बनना चाहता है। वह ज्ञान के क्षेत्र मे सुखी रह ही नही सकता, क्योंकि वहाँ वह अपने को [illegible]

यह असम्भव नही है कि वह बहुत खतरनाक आदमी हो। मैंने महसूस किया कि शायद इस व्यक्ति को डॉक्टर की डिग्री भी उसी प्रकार मिली कि जिन तरीको से कई महाभागो को केन्द्रीय मन्त्रालय से इम्पोर्ट लाइसेंस मिलता है।

एक ओर मेरे मन मे उसके विरुद्ध ऐसे विचार चल रहे थे, तो दूसरी ओर वह व्यक्ति मेरे प्रति सहज विश्वासी होकर बहुत भोलेपन के आत्मनिवेदनात्मक प्रवाह मे बह रहा था। उसकी छोटी आँखो मे कोमल दीप्ति थी, लघु-तुच्छ नासिका सवेदनशील होकर, बात की गहराई को प्रकट करने के लिए, अपने सिरे पर कुछ लाल हो उठती थी। गाल के परदे, हारमोनियम के परदे की तरह चल रहे थे। उसके चेहरे का पीलापन और भी पीला हो रहा था।

मैंने निर्णय किया कि उसकी बात मुझे ध्यानपूर्वक सुननी चाहिए। वह मेरे बारे म सहज-विश्वासी बनकर बडी गहरी, चुटीली भावना के साथ-बात करता

जा रहा है, तो वह मेरे लिए अच्छा आदमी है ही है।

मेरे कान उठ खड़े हुए। जिज्ञासा जाग उठी। मन में उठे हुए पूर्वाग्रहों को झटकारकर मैंने पीछे फेंक दिया और उत्कण्ठापूर्वक सुनने लगा।

कुछ देर तक सुनता रहा। इस बीच, फिर चाय आ गयी। उसका वाक्प्रवाह यहाँ थमा। अब तक उसने जो कुछ बताया, या अब तक जो कुछ मैं समझ सका, उसका साराश यहाँ प्रस्तुत करना काफी कठिन काम है। फिर भी जैसा मुझसे बन सकता है, वैसा सक्षेपीकरण यहाँ दे रहा हूँ। अगले खण्ड में जो 'मैं' आ रहा है, वह मेरा 'मैं' नहीं, उसका 'मैं' है।

[ 2 ]

*ईश्वर ने हर गधे को सींग दे रक्खे हैं—भले ही वे सींग हमें दिखें या न दिखें।* मुश्किल तो तब होती है जब खुद गधे को अपने सींग नहीं दिखायी देते (बहुत से ऐसे भी गधे होते हैं जो सींग लेकर पैदा ही होते हैं), दूसरों को अपने सींग 'डिसकवर' करना पड़ते हैं। अपने सींगों के साक्षात्कार तक आने की प्रक्रिया बड़ी विस्तृत, बड़ी लम्बी है। उसके लिए तजुर्बा, समझदारी, चोरी से दूसरों के मन के भीतर पैठ, सहनशीलता, धैर्य, खुशामद, चमकदार बातचीत, दिखावटी बुद्धि—मतलब यह कि उसके लिए वे तमाम गुण आवश्यक होते हैं, जिनसे ऑल इण्डिया *रेडियो का एक सफल प्रोग्राम-एसिस्टेण्ट बनता है।*

"तो बात यह है कि मैं अपने कष्ट को रेडियो का प्रोग्राम-एसिस्टेण्ट बनाना चाहता था। मैंने उसे दो सौ रुपयों का साहबी सूट पहनाया, टाई लगवायी, होंठों पर शालीन, सभ्य, सुसस्कृत मुस्कराहट विकसित की, उसके होंठों के बीच कैवेण्डर की सिगरेट खोंस दी—लेकिन वह बेवकूफ कष्ट, उसने यह बाना उतार फेंका और चटपट मिडिल स्कूल का शिक्षक बन बैठा! मैं चाहता था कि वह नपुसक बनकर शान से घूमे। लेकिन, वह उल्लू का पट्ठा पुसत्व और पौरुष प्राप्त करके भूखों मरने लगा। तब निस्सन्देह, मुझे गुस्सा आया। और मैंने, उसे अपने दरवाज़े से निकाल बाहर करने के लिए किताब हाथ में ली। पढ़ने की बहुत कोशिश की। पढ़ने की *बजाय अक्षरों का टाइप देखने लगा। किताब के लेखक के नाम का अध्ययन करने* लगा। प्रकाशन-सस्था के सचालकों की तरफ भी ध्यान गया। किताब के पिछले पुट्ठे पर लिखी गयी सम्मतियों का निरीक्षण किया, और फिर, किताब हाथ से छूट पड़ी। और सामने दिखायी दिये वे वृक्ष। चमकते पत्तोंवाला पीपल और उसके पल्लेपार वृक्षों का दैत्याकार साँवला-हरा समूह—जिसके पीछे आकाश जा छिपा है! वहीं आकाश में कोई हवाई जहाज उड़ा जा रहा है। क्या मैं उस हवाई जहाज से विदेश-यात्रा नहीं कर सकता? लेकिन यह असम्भव है। और तब मैं कष्ट के बारे में सोचने लगता हूँ।

"अजीब हैं मन की हलचलें। दिन भर और रात-भर खयालों की पाँत चलती *रहती है, उनका ताँता जारी रहता है। उससे तकलीफ होती है!*

"यह ताँता काम में जी नहीं लगने देता। मन मारकर काम करना आसान *नहीं होता। मन के भरोसे अपने को छोड़ देने से भी कष्ट होता है—उसी प्रकार* कि जैसे एक जगह ठहरी हुई मोटर-लॉरी का गरम इजन धड़धड़ाता ही रहे, लेकिन पहियों को न चलाये। गरम इजन के शोर, तेलिया बू-बास और लॉरी के

अंग-प्रत्यंग में धड़धड़ाता कम्प यात्रियों को बहुत तकलीफ़ देता है। मन भी इसी तरह कष्ट देता है। वह भी इसी तरह का इंजन बन जाता है। लेकिन, लॉरी के पहिए नहीं हिलते। ज़िन्दगी आगे नहीं बढ़ती। विकास और उन्नति की प्रफुल्लता अब गुलाब के बग़ीचों-जैसी ही विरल हो गयी है।

"ऐसी अजीब, किन्तु सर्व-साधारण, ठहरी हुई, लेकिन गरम और भीतर से धड़कती ज़िन्दगी की तकलीफ़ों के लम्बे समय में, शायद, मेरी उद्विग्नता ने अनेकों साहस किये। स्वयं के पंजे से अपने छुटकारे की तलाश में, ज़िन्दगी को ज़बर्दस्ती चला दिया ढाल पर, तीखे उतार पर, खाई में, मैदान में।

"लेकिन, ढाक के पत्ते तीन—चाहे जहाँ भी जाओ। उसमें चौथा पत्ता नहीं उग सकता। फिर भी, मेरे ढाक में कई पत्ते उगे—तीन से भी ज़्यादा! नये-नये क्षेत्रों में नये-नये मित्र मिले। नये-नये अनुभव के साथ, ख़ूब प्रगाढ़ स्नेह मिला। और, अन्त में, यह पता चला कि सबसे बड़ा असत्य मैं ही हूँ, क्योंकि जब मोटर-लॉरी चल नहीं रही थी, तो मैंने उसे ज़बर्दस्ती ठेल दिया। ठेल दिया तो वह चल पड़ी। चली ही नहीं, वह भागने लगी। अगर कोई एक्सीडेण्ट नहीं हुआ तो वह सब मित्रों की स्नेहाकुल कृपा का ही फल है।

"लेकिन, इस मोटर-लॉरी में भीतर से रुकाव का पुर्ज़ा क्यों ज़्यादा काम करता है? ठहराव की प्रवृत्ति उसमें इतनी अधिक क्यों है?

"इस प्रश्न का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है।

" और मेरी कविताएँ और मेरा साहित्य, सब इसी, रुकावट कहिए या बेचैनी कहिए, का परिणाम है।'' "

फिर कमरे में एक निस्तब्धता छा गयी। टेबिल पर रखी हुई टाइमपीस की टिक-टिक के अलावा और कुछ भी नहीं सुनायी देता था।

बिजली की नीली सुनहली रेखाएँ मेरी आँखों के सामने अनेक आकार बनाने लगीं। मैं मेरे मित्र की बातचीत की तह में घुसने की कोशिश करने लगा।

हर गधे को अपने सींग 'डिसक्वर' करने पड़ते हैं—वाली बात मुझे पटी। हाँ, यह होता है। कोई व्यक्ति, स्वभावतः चतुर होता है। किसी व्यक्ति को चतुरता अच्छी ही नहीं लगती। जब तक ज़िन्दगी चाबुक मार-मारकर उसे चतुर होने के लिए मजबूर न कर दे, तब तक वह सीधा-सादा ही बना रहता है—वह नैसर्गिक मनुष्य तथा सुसंस्कारित व्यक्ति ही रहता है।

इस व्यक्ति ने भी शायद अपने सींग डिसक्वर करने के लिए काफ़ी तकलीफ़ें उठायी होंगी। सींग उन्हीं को डिसक्वर करने पड़ते हैं, जिन्हें किन्हीं असाधारण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा हो!

और एकाएक मेरे मन में यह ख़याल दौड़ गया कि सम्भवतः यह आदमी ज़िन्दगी के विभिन्न प्रदेशों में घूमने का आदी है। वह पर्यटक है। इसलिए हर क्षेत्र में वह एक नौसिखिया ही रहेगा, एक 'बिगिनर' ही रहेगा। वह 'बिगिनर' है भी''

नहीं तो कोई कारण नहीं है कि इस समय वह मेरे पास हो और वह साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक श्रेष्ठों और ज्येष्ठों के पास न जाकर इस समय मेरे यहाँ आये। वह मुझसे रब्त-ज़ब्त बढ़ाना चाहता है। कोई कारण नहीं है कि वह मेरे दड़बे में आये और मेरे यहाँ सुखी और सुरक्षित अनुभव करे।

ऐसे बिगिनर की आँखो मे रोमास का एक हलका-सा नशा छाया रहता है—*रोमास ! हाँ, रोमास ! ज़िन्दगी के प्रति एक निश्छल वैज्ञानिक कौतूहल*, एक गहरी जिज्ञासा, एक बेचैन पर्यटन बुद्धि। ऐसा व्यक्ति जकार्त्ता और ताशकन्द, ल्हासा और उलान बाटोर, शिकागो और कैसाब्लाका, जोहासबर्ग और इगार्का, जाये या न जाये, बोर्नियो के जगलो मे, सहारा के रेगिस्तानो मे, काम्सचाटका के ठण्डे प्रायद्वीपी पहाडो मे घूमे या न घूमे—वह व्यक्ति इस जिन्दगी के अपार भौगोलिक प्रदेश मे ही, ये सारे नगर और ये सारे प्रसार ढूँढ लेता है। उसके लिए, जीवन का बदलता हुआ अपार विस्तृत क्षेत्र ही सारी पृथ्वी का रूप धारण कर लेता है। वह घूमता है और घूमता है। भटकता है और भटकता है। वह कभी ऊँट पर, कभी गधे पर, कभी घोडे पर, कभी याक पर बैठा हुआ यात्रा करता है। जिस जीवन-प्रदेश मे वह जाता है, वह जीवन-प्रदेश उसके लिए नया है। एकदम नया, अजीव, बीहड, जगली, भव्य, गहन, विस्तृत, अपार और निःसीम—जिसमे घुसने की, जिसमे अन्त प्रवेश करने की, जिसमे खोज करने की, उसकी दुर्निवार और असाधारण इच्छा उसे अपूर्व अलक्षित कष्टो मे फँसा देती है। और, उसे लगता है कि वह नौसिखिया है, 'बिगिनर' है, अनुभवहीन मूर्ख है।

सम्भवत , कदाचित्, शायद यह व्यक्ति ऐसा ही महामूर्ख हो। चार आराम-कुर्सियाँ, अच्छा वेतन और सामाजिक प्रतिष्ठा के सुखी जीवन की तलाश न कर, यह आदमी अपने स्वप्न-भाव से प्रेरित होकर भटकता हुआ यहाँ तक आ पहुँचा है।।

ज्वलन्त जिज्ञासा और कुतूहलवाला आदमी चीजो को उलट-पुलटकर देखना *चाहता है, अपनी आँखें वहाँ दौडाता है, जहाँ लोगो का ध्यान नही जाता।* वह सामान्यत 'नास्तिक' होता है। केवल धार्मिक अर्थों मे नही, सभी अर्थों मे। वह विरोधी और प्रतिरोधी भी हो उठता है। वह सोचने लगता है, निष्कर्ष पर आता है, निष्कर्ष बदल देता है। इसलिए वहाँ भी हमेशा 'बिगिनर' ही होता है, जिज्ञासा उसे नये-नये क्षेत्रो मे ले जाती है। इसलिए, *उन-उन क्षेत्रो म वह नौसिखिया* ही रहता है। वह चिरन्तन 'बिगिनर', ज्ञान का चिरन्तन उम्मीदवार, और इसीलिए, भौतिक अर्थों मे, जिन्दगी मे असफल रहता है।

वह भद्र और शिष्ट नही हो सकता। भद्रता और शिष्टता के लिए अपनी ही निजता से प्रसन्नता चाहिए। परिस्थिति से अच्छा-खासा सामजस्य चाहिए। लेकिन जिज्ञासावाला आदमी उस जगली बच्चे के समान होता है, जिसे वस्तु से या निज से इतनी अधिक प्रसन्नता अच्छी नही लगती।१ वह आदमी घडी के पुर्जे तोडना चाहेगा और उन्हे फिर जोडना और लगाना चाहेगा। उसकी एक विध्वसक प्रवृत्ति होती है। उसकी निर्माणक वृत्ति होती है, किन्तु निर्मिति दिखे या न दिखे, लोगो को उसकी विध्वसक प्रवृत्ति पहिले दिखायी देती है।

जिज्ञासावाला व्यक्ति एक बर्बर असभ्य मनुष्य होता है। वह आदिम असभ्य मानव की भाँति हरेक जडी और वनस्पति चखकर देखना चाहता है। ज़हरीली वस्तु चखने का खतरा वह मोल ले लेता है। इस प्रकार, वह वनस्पति मे खाद्य और अखाद्य का भेद कर उनका वैज्ञानिक विभाजन करता है। और, वह इसी के पीछे पडा रहता है। वह अपना ही दुश्मन होता है। वह अजीब, विचित्र, गम्भीर और हास्यास्पद परिस्थिति मे फँस जाता है।

इसके बावजूद, लोग उसे चाहते है। उसकी असफलताएँ भयकर होती हैं। वे प्राण-घातक हो सकती हैं। उसका विरोध, प्रतिरोध और बोध अजीब होता है। ऐसे आदमी बहुत थोडे होते है।

मैंने उसके पीले, चौडे चेहरे की तरफ देखा, जिसका सिर कुछ आगे आकर, छोटा [illegible] रूप [illegible]

हो [illegible]
बादलो की झॉलरें मोतिया हो गयीं थी। आकाश का रग-वैभव देदीप्यमान होकर कल्पना-जैसा हो उठा था।

अभी-अभी मैं बहुत प्रभावित होकर लौटा हूँ। कुछ विचलित भी हूँ। आँखो मे एक-के-बाद एक दृश्य उभरते जा रहे हैं। मैं पाता हूँ कि मेरे मन पर उस मित्र के व्यक्तित्व का दबाव बढता जा रहा है। मुझे यह पसन्द नही, इसका मुझे बुरा लगता है। फिर भी, अब बचना मुश्किल है। मुझे उसकी हर बात का जवाब देना होगा।

[illegible]

अधिक है, बाहरी पकड ज्यादा है, वस्तु या व्यक्ति पर उसका दबाव ज्यादा होता है। कभी-कभी लगता है कि वह व्यक्ति 'व्यावहारिक' है। लेकिन, वह व्यावहारिक उद्देश्यो के कारण, व्यावहारिक नही है, किन्ही मानसिक उद्देश्यो से ही व्यावहारिक है। उसकी पकड-बाज व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ उसकी सकर्मकता का लक्षण हैं। वह सकर्मक व्यक्ति है। चूँकि मानसिक उद्देश्यो से क्रियाशील है, इसलिए मेरी उससे पट जाती है। किन्तु, उसके कार्य की द्रुत गति, छोटे-छोटे कामो मे भी पूरे व्यक्तित्व को केन्द्रित कर देने की उसकी आदत, और उसके काम के लिए सुविधा-जनक या विघ्नकारक व्यक्तियो की उसके द्वारा की गयी आलोचना मुझे बुरी मालूम होती है। दूसरे व्यक्तियो की आलोचना अपने कार्य की सुविधा या दुविधा की दृष्टि से नही होनी चाहिए। लेकिन वह अपना बौद्धिक स्तर इतना नीचे गिरा देता है कि वह अपने कार्य की दृष्टि से लोगो का मूल्याकन करने लगता है। मैंने कई बार उसे डाँटा, इस सम्बन्ध मे उसकी बडी भर्त्सना की।

सडक पर दोनों ओर पेडो की कतार है। बिजली के प्रकाश मे पेडो के कारण, राह मनोहर रूप से छायाचित्रित हो गयी है। सुगन्धित, प्रशान्त, निर्जन एकान्त। खूबसूरत! दिल मे एक गहरी खयाली मस्ती छायी हुई है। मैं भीतर से विचलित हूँ और सचलित भी।

यद्यपि मित्र के व्यक्तित्व का दबाव मुझ पर बढता जा रहा है, जिसका मुझे अहसास हो रहा है, किन्तु उसके साथ-ही-साथ, उस व्यक्ति के मन पर मेरी पकड भी मजबूत होती जा रही है, इस बात की भावना भी मुझे चैन नही लेने देती। अगर हम दोनों मित्र एक होकर सचमुच काम करने लगें, तो पहाड हिला देंगे।

उसने मुझसे कहा है कि सौन्दर्य-प्रतीति यानी एस्थेटिक एक्सपीरिएस—ये शब्द

या कल्पना भले ही एक हो, किन्तु अलग-अलग व्यक्तियो के लिए उसकी प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। जब हम सौन्दर्य-चित्रण करते हैं तब वस्तुत हम इन प्रक्रियाओं का चित्रण करते हैं। य प्रक्रियाएँ हम इतने 'कनविंसिंगली' चित्रित करते हैं कि हम पाठक को पटा लेत है, उसको 'कनवर्ट' कर लेते हैं। प्रक्रियाओ का चित्रण इतने युक्तियुक्त ढग से यदि हुआ तो पाठक अपनी आत्मा बदलकर उसे प्रक्रिया को सौंप देता है। यदि वह क्षण-भर के लिए भी अपने-आपको चित्रित प्रक्रिया मे डाल दे तो वह आनन्द प्राप्त करता है। यह विशिष्ट आनन्द ही सौन्दर्य-भावना है।

मैं अपने मित्र के इस मत का कौन-सा अर्थ ग्रहण करूँ? मुझे यह बात पटती है कि एस्थटिक एक्सपीरिएस कोई एक चीज नही, वह विभिन्न मनोवैज्ञानिक तत्त्वो से निर्मित अनुभव है। इस अनुभव को कोई स्वतन्त्र, स्वायत्त, पृथक् और उच्च पद प्रदान नही किया जा सकता, इसलिए कि कलात्मक सौन्दर्य-प्रतीति कलाकारो के हृदय मे ही उत्पन्न नही होती। वह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। जब दर्शक (सब्जेक्ट) अपने ही मन के द्वारा तैयार किये गय दृश्य-स्वप्नो (ऑब्जेक्ट) को अपने मन मे ही देखने लगता है, तब भी सौन्दर्य-प्रतीति हो सकती है। यह सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट-रिलेशनशिप महत्त्वपूर्ण है। अपनी प्रक्रियाओ का चित्रण करने के पूर्व कलाकार का जो सौन्दर्य-प्रतीति होती है, क्या वह सौन्दर्य-प्रतीति आभ्यन्तर लोक म घटित दर्शक-दृश्य-भाव के भीतर से नही उपजी है? इसी विशिष्ट दर्शक-दृश्य-भाव के फलस्वरूप ही, अपनी प्रक्रियाओ का कभी भी चित्रण या प्रेपण न करनेवाले व्यक्ति, मन-ही-मन सौन्दर्यानन्द लूटते हैं! क्या यह बात झूठ है? साधारण जन-मन के भीतर घटित होनेवाले इसी दर्शक-दृश्य-भाव की उपेक्षा क्यो की जाये?

अनुकूल मनोरम आत्मीय वातावरण म हर शब्द की गूँज, एक होने के बजाय, विविध, विभिन्न और पृथक् होती है। विभिन्न इसलिए कि मैं उन शब्दो मे, उसके प्रेषणीय अर्थ के अलावा, वक्ता के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से उत्पन्न भीतरी गुप्त उद्देश्यो और मान्यताओ को भी देखने लगता हूँ। बोले गय शब्दो म तर्क-सगति के साथ-ही साथ, व्यक्तित्व-सगति की छाया दिखायी देने लगती है। यद्यपि मैं युक्तिवाद का उत्तर युक्तिवाद से दे सकता हूँ, और देता भी हूँ, किन्तु बहुत बार दूसरो के तर्कवाद के भीतर प्रतिबिम्बित उनके व्यक्तित्व की आभा मुझे आकर्षित करती है!

मित्र कहता है—चित्रण के बिना सौन्दर्य उत्पन्न नही हो सकता। चित्रण के लिए दर्शक चाहिए। दर्शक म जब प्रभाव उत्पन्न हो, तब समझना चाहिए कि प्रक्रिया सफलतापूर्वक चित्रित की गयी है। हाँ, यह सही है कि दर्शक मे पात्रता आवश्यक है।

मुझे सन्देह होता है कि मेरा मित्र एक अवसरवादी दृष्टिकोण से बोल रहा हूँ। इतनी छोटी-सी बात उसे क्यो समझ मे नही आती कि चित्रण करने के पूर्व, कलाकार की आँखो के सामने जो प्रक्रिया दृश्यवत् नाच उठती है उसस उसे [illegible] है।

[illegible] बना

ती ? इस मूलभूत प्राथमिक स्वप्न का कला की सृजन-प्रक्रिया मे कोई स्थान नही है ? प्रक्रिया का जनक स्वय प्रक्रिया को जब दृश्यवत् देखने लगता है तब क्या वह दूरी, वह तटस्थता, तथा साथ ही उस दूरी के शिखर पर स्थित होकर प्रक्रिया द्वारा प्रभावित होने की तैयारी, प्रक्रिया के जनक के मन मे नही रहती ? यदि मेरी बात सच है तो उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। यह सौन्दर्य-अनुभव केवल कलाकार के मन मे ही नही होता, वह सभी साधारण लोगो के हृदय मे होता है। इसलिए, मेरा खयाल अधिक जनतन्त्रात्मक है।

मेरे मित्र के होठ व्यग्य की मुसकान मे तिरछे हो जाते है। वह मेरा मजाक करते हुए, मेरे कन्धे पर हाथ रखकर, मुझ पर आरोप लगाता है कि मैं 'सब्जे-क्टिव' हूँ, आत्म-ग्रस्त हूँ।

मैं झल्ला उठता हूँ। मुझे यह व्यक्ति बहुत ही जड मालूम होता है। मैं कहता हूँ—गाली देना हो तो सीधी-सीधी गाली दे दीजिए। लेकिन फालतू की बात मत कीजिए। मैं अन्तर्मुख हो सकता हूँ, सब्जेक्टिव नही। अन्तर्मुखता और आत्मबद्धता मे आपको भेद नही दिखायी देता तो मैं क्या करूँ।

लेकिन, वह इस बात की परवाह नही करता। वह कहता है—तुम आत्म-ग्रस्त हो [illegible] मे इतनी इमेजेज़ आती हैं, कि उनसे

[illegible] उतरिए। बात सौन्दर्य-अनुभव की व्याख्या की चल रही है' 'वही रहिए।

वह एक सिगरेट निकालता है। मुझे देता है और फिर एक सुलगाकर उसे पीते हुए कहता है—पहली बात तो यह है कि जिसे आपने पूर्व-स्वप्न कहा, वह पूर्व-स्वप्न स्वप्न के द्रष्टा को सौन्दर्य का कोई अनुभव कराये, यह आवश्यक नही है। हाँ, यह ठीक है कि दर्शक-दृश्य-भाव मे, स्वप्न स्वय ऑब्जेक्ट होकर स्वप्न का दर्शक स्वय सब्जेक्ट हो जाता है। लेकिन, इन दो के घनिष्ठ सम्बन्ध से दर्शक या सब्जेक्ट के मन मे दृश्य या स्वप्न देख हमेशा कोई रसात्मक अनुभव हो, या प्रभावानुभव हो—यह आवश्यक नही है ··

मर्मज्ञ दर्शक (सब्जेक्ट) उस स्वप्न के महत्त्व को यदि समझे तो उसके महत्त्व को समझ, उस स्वप्न या दृश्य, या खयाल या विचार या भाव को चित्रित करने का प्रयत्न करता है। यदि वह भाव को भाव की प्रक्रिया के रूप मे यथार्थ की सवेदना के आधार पर चित्रित करे तो पाठक के मन मे प्रभाव होना अवश्यम्भावी हो जाता है। यह प्रभाव ही सौन्दर्य है, उससे आनन्द यानी कोई रसात्मक अनुभव होना एक बिलकुल ही अलग और पृथक् बात है। यह रसात्मक आनन्द हो भी सकता है, नही भी हो सकता। किन्तु, प्रभाव होता अवश्य है। इसीलिए कहता हूँ कि भाव-प्रक्रिया का वस्तुपरक चित्रण, अथवा वस्तु-प्रक्रिया का आत्मपरक चित्रण, विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। यह प्रभाव सौन्दर्य है। सौन्दर्य-प्रतीति अथवा एस्थेटिक एक्सपीरिएंस की सामान्य श्रेणी मे इन प्रभावो को डाल देना उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि इन प्रभावो के गुण-धर्म अलग-अलग है और सौन्दर्य एकार्थ-बोधक है।

वह कहता चला गया—पहले तो आप यह कहते है कि लेखक या कलाकार को सर्वप्रथम भाव-प्रक्रिया एक दृश्य के रूप मे दीखने लगती है। ऐसा हमेशा हो

ही, यह आवश्यक नही है। यूँ कहिए कि प्रथम क्षण मे वह भाव एक दृश्य के रूप मे दीखने लगता है और दूसरे ही क्षण वह दृश्य स्वय प्रवाहित होने लगता है। यो कहिए कि पहला क्षण एक नदी की चमकती हुई झलक है, और दूसरा क्षण झलक देखनेवाले द्वारा नदी मे गोता लगाकर उसमे प्रवाहित होना है। ये दोनो क्षण व्यक्तिगत अनुभव हैं, उन्हे आप कलात्मक अनुभव भी कह सकते हैं। यह सही है कि ये अनुभव साधारण जन मन को भी होते हैं, इसलिए इस आधार पर उनका बडा महत्त्व होता है, किन्तु व प्रभावकारी तभी होते हैं, जब उनका चित्रण हो।

मैं चुप रहा। केवल यह कह देना कि चित्रण से या प्रेषण स प्रभाव उत्पन्न होता है, मुझे कुछ जँचा नही। प्रेषण या चित्रण की प्रक्रिया काफी उलझी है। प्रेषण और चित्रण तो एक कार्य है। इस कार्य का प्रभाव होता है या जिन पर कार्य किया जाता है, उन तत्त्वो द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है? क्या सच है? कहना मुश्किल है। शायद, दोनों मिलकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

मैं कुछ नही बोला। न बोलना ही ठीक था। किन्तु, मेरा मन इस व्यक्ति के बारे मे सोचने लगा। मुझे लगा कि इस व्यक्ति ने जिन्दगी के बारे म काफी सोचा है। काफी बारीक बातें और बातो की सहसा न दीख पडनेवाली छोटी-छोटी कडियाँ वह पहचान लेता है। इस तरह से वह एक उत्साह-जनक व्यक्ति है, उसके बारे मे उत्साहित हुआ जा सकता है।

मैंने कहा—चित्रण या प्रेषण अन्य बातो के अतिरिक्त एक कलात्मक मेहनत है। किन्तु, जिसे लोग सौन्दर्य-प्रतीति कहते हैं, वह क्या है? मुझे लगता है कि एक साथ दो विरोधी बातो का नाम सौन्दर्य प्रतीति है।

उसने मेरी तरफ सस्मित होकर देखा। मुझे लगा कि वह स्वय किसी सुनहले खयाली बादल मे खो रहा है। वह कुछ और भी कहना चाहता है। उसने कहा—क्या?

मैंने जवाब दिया—आप ही न अभी कहा था, कलाकार का पहला कलात्मक क्षण एक दृश्य है और उसके अनन्तर अनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाला दूसरा कलात्मक क्षण दृश्य-प्रवाह या नदी है जिसम कलाकार स्वय प्रवाहित हो जाता है। दोनो क्षण एक-दूसरे से जुडे हुए है, अविभाज्य है। एक क्षण मे पृथक्ता और तटस्थता, दूसरे मे निमग्नता, गति प्रक्रिया, तल्लीनता और सामरस्य है। एक क्षण मे दर्शक दृश्य-भाव का द्वित्व, तो दूसरे क्षण म केवल प्रवाह और प्रवाह की गतिमान एकता। पृथक्ता और सामरस्य, तटस्थता और तल्लीनता स्थित्या त्मकता और प्रवाहिता, स्थिति और गति की यह जोडी वस्तुत दो विरोधी बातें [illegible] काल की भाँति, एक ही क्षण की दो [illegible] —ऐसा क्यो न माना जाये? जिस क्षण [illegible] ह क्षण है। इन दोनो मे स अगर कोई भी पक्ष निर्बल हुआ, या कम हुआ तो वहाँ कलात्मक अनुभव हीन कोटि का होगा, या होगा ही नही।

उसने अकस्मात् मुझे आलिंगन मे भर लिया। मैं उसके आवेग से आच्छन्न हो उठा। मुझे उस व्यक्ति की प्रतिक्रिया ही समझ मे नही आयी। मैंने उसकी पीठ थपथपाकर कहा—क्या बात है?

वह हँस पडा। उसका चेहरा कुछ लाल हो उठा था, मानो वह किसी भीतरी

प्रक्रिया से तप्त हो उठा हो। उल्लसित होकर उसने कहा—वाह भाई, तुमने खूब उडान मारी !

उसने फिर कुछ सोचते हुए कहा—मैं लगातार ऐसा कुछ अनुभव कर रहा था कि मैं कही तो भी अड रहा हूँ। कभी मैं इस द्वन्द्व के इस पक्ष पर ज़ोर दे देता और कभी उस पक्ष पर ज़ोर दे देता ! और फिर अटककर खो जाता। वे भीतर किस प्रकार एक-दूसरे से एक है अथवा जुडे हुए हैं, इस पर ध्यान ही न जाता। उनकी बुनियादी एकता कभी दिखायी ही नही देती। अब तक क्या होता था कि मैं इन द्वन्द्वो के दो पक्षो को सर्वथा पृथक्, सर्वथा भिन्न-श्रेणी-गत समझता था। देखते नही हो ! सौन्दर्यानुभव या सौन्दर्य-प्रतीति भी इसी प्रकार का कोई अनुभव होना चाहिये, जिसमे एकसाथ तटस्थता और तल्लीनता हो। तभी सृजन सम्भव है।

और, इसके बाद, वह न मालूम किस झोक मे कहता चला गया—मुझे कोई एक पेशा पसन्द नही है। मैंने कई पेशे किये। किसी भी स्थिति के पूर्व मुझे अगली स्थिति के लिए बेचैनी ही रही। कभी मैं कुएँ के रूप मे स्थिर रहा और कभी नदी के रूप म। दोनो स्थितियो मे मैं असन्तुष्ट रहा। किन्तु यदि गति के साथ स्थिति जोड दी जाये और स्थिति को गति मे घुलाने की कोशिश की जाये, तो ज़िन्दगी मे नि सन्देह कुछ सफलता का लाभ होगा।

मैंने उसकी ओर प्रश्नभरी आँखो से देखा।

उसने जवाब देते हुए कहा—सफलता से-मेरा मतलब बैंक-बैलेन्स नही है। अपना दूसरो के लिए उपयोग, और इस प्रक्रिया म दूसरे व्यक्तियो के निजत्व को धक्का देकर आगे बढा देने मे खुद आगे बढ जाने का कार्य, ही सफलता है। जैसे आप—प्रोफेसरी के चक्कर म पडे हुए हैं ! अजी, मैं डॉक्टर हूँ। लेकिन, चूँकि डॉक्टर एक ढेर की एक ईंट के एक कण क अन्तर म एक सत्य-आभास पाने मे ही कुछ साल बिता देता है, इसलिए वह डॉक्टर उस कण के अतिरिक्त दुनिया का कुछ भी नही जानता। उसका उपजीव्य केवल वही कण है। उसका दृष्टि-क्षेप चीटी की निगाह-सा और दिमाग खाली होता है। होना यह चाहिए कि ज्ञान आँखो मे सुनहला अजन लगा दे, दृश्य को नि सीम और अत्यन्त मनोहर कर दे, पैरो मे चलने के नये आवेग भर दे, नया रोमास विस्तृत कर उठे। अगर ज्ञान जीवन को एक रोमास का रूप न दे तो क्या वह ज्ञान और क्या वे ज्ञानी लोग ! *ज्ञान-रूपी दाँत ज़िन्दगी-रूपी नाशपाती म गडना चाहिए, जिससे कि सम्पूर्ण आत्मा* जीवन का रसास्वाद कर सके ! क्या तुम नही ऐसा सोचत ?

और तब मुझे प्रतीत हुआ कि मेरा मित्र एक गरुड है जो सुनहले बादलो मे खोता जा रहा है और स्ट्रैटास्फीयर के वायुकणो पर कॉस्मिक किरणो के प्रभाव के अध्ययन से आनन्दित हो उठा है !

वह एक महान् सवेदना है। वह एक विश्व-सवेदना है ! और, यह एक छोटा-सा आदमी उस भावना को अपने अन्त करण मे अनुभव कर यह सिद्ध कर रहा है' कि मनुष्य की सृजन-शक्ति दुर्दम्य और अनन्त है।

मुझे सहसा यह भान हुआ कि यह डॉक्टर यूनिवर्सिटी की नौकरी छोडकर फिर से किसी नये गोरखधन्धे मे पडनेवाला है। इस गधे को नि सन्देह सीग हैं,

लेकिन उसके सींग प्लास्टिक के नहीं है, वे दैवी सींग है जो सोने की किरण विकीरत कर रहे हैं।

[सम्भावित रचनाकाल 1960 के बाद। लहर, जुलाई 1967 मे प्रकाशित।]

# व्यक्तित्व और रचना का सम्बन्ध

[डायरी का यह तथा इसके बाद का 'इद अहं अस्मि' अश पूर्ववर्ती 'सौन्दर्य प्रतीति की प्रक्रिया' से कुछ बातों में एक दूसरे से मिलते जुलते होकर भी, अलग अलग बातो पर ज़ोर देते हैं। इसलिए कुछ पुनरावृत्ति के बावजूद स्वतन्त्र अशों के रूप मे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। सम्भवत इन तीनों का रचनाकाल 1960 के आसपास ही है।—स०]

अभी-अभी मैं बहुत प्रभावित होकर लौटा हूँ। आँखो म एक-के-बाद एक दृश्य उभरते जा रहे है। यह बात कितनी सही है? बेशक बहुत कीमती।

सडक पर दो ओर पेडो की कतार है। बिजली के प्रकाश से राह छाया-चित्रित हो गयी है। सुगन्धित, निर्जन एकान्त! खूबसूरत! मेरे दिल मे भीनी मस्ती और दिमाग़ मे एक गहरी बौद्धिक खयाली खुमारी! मैं, अकेला, राह के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ!

हलकी-सी आह निकलती है। काश, मैं भी वैसा हो पाता! लेकिन, इस आह मे वेदना नही है। आत्म-आलोचना की क्षमता का एक मीठा भान है। वह मेरे ही रास्ते पर मुझसे आगे बढ गया है, लेकिन है वह मेरे ही रास्ते पर। वह—वह। एक चिन्तक, जो पहले कहानीकार था और अब कवि हुआ! मुझे उसके शब्द अभी भी याद हैं।

उसने कहा—एस्थेटिक एक्सपीरिएस, सौन्दर्य-प्रतीति आत्म-सवेदना का वास्तविक चित्रण न हुआ तो उसका प्रेषण नही हो सकता।

कितनी सही बात उसने कही। चित्रण और प्रेषण का यह सम्बन्ध मननीय है। मैं इसमे निवदन का प्रेषण से सम्बन्ध और जोड दूंगा।

अनुकूल मनोरम आत्मीय वातावरण मे हर शब्द की गूँज एक होने के बजाय, कई, विविध और विभिन्न होती है—कम-से-कम मेरे लिए। विभिन्न इसलिए कि मैं, उन शब्दो मे, अलावा उसके प्रेषणीय अर्थ के, उसके व्यक्तित्व का चित्र, उसकी मान्यताओ के अभिप्राय से उसके व्यक्तित्व का सम्बन्ध, भी देखने लगता हूँ। मतलब कि मुझे उसकी तर्क-सगति के चित्र के साथ-ही साथ एक और सगति का चित्र दिखायी देता है, जिसे मैं उस व्यक्ति के सामने प्रकट करने की हिम्मत नही कर सकता। अगर कहीं प्रकट कर दूँ तो सारा मज़ा किरकिरा हो जाये, शामें खराब हो जायें। इसलिए, व्यक्तिगत सम्बन्धो के मामलो मे, मैं बहुत कायर हूँ। कारण भी है। मित्र वैसे ही नही मिलते। फिर खोये कौन? हाँ, यदि वह घनिष्ठ

हो गया तो बात अलग है।

तो, फिर दुहराता हूँ कि मुझे युक्ति-धारा मे, बौद्धिक तर्क-न्याय में, मात्र तर्क-संगति मे लॉजिक्ल आनन्द, मिलता ही है। उसे मैं छोड ही नही सकता। और उस युक्तिवाद मे युक्तिवादी उत्तर देने के लिए सतत तैयार रहते हुए भी, मैं एक दूसरे प्रकार का आनन्द लेने के लिए तत्पर रहता हूँ। और वह है लाजिक की सायकॉलॉजी जानने का, यद्यपि यह सरासर मूर्खता का काम भी सिद्ध हो सकता है, क्योकि गणित मे मनोविज्ञान नही, शुद्ध अरूप तार्किक तत्त्व-बोध है।

लेकिन, साहित्यिक विचारो से ज़रूर व्यक्तित्व का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होता है, ऐसा मालूम होता है।

नही तो कोई कारण नही है कि साहब, कलकत्ता रेडियो न्यूज़ सैक्शन मे बैठा हुआ एक बगाली मोशाय बँगला भाषा छोडकर हिन्दी मे लिखे और वह भी खास नयी कविता की शैली मे ! उसकी ज़िन्दगी मे, ऊपर से न सही, तो भीतर से, कही कोई तोड-मरोड है, टूट-टाट है, तोड-फोड है। यह उसके चेहरे से नही दीखता। वह अपने से बडा खुश मालूम होता है। यह मैं कह दूँ कि वह बहुत सफल कवि है।

और मैं अपने ही मन म उसका वाक्य दुहरा रहा हूँ—आत्म-सवेदना, एस्थेटिक एक्सपीरिएस, निज-स्थापना, आदि-आदि।

उसकी बातें मुझे अच्छी लगी। आखिर, इस विचित्र, अनास्थाग्रस्त, आशकामय दुनिया मे अगर कोई चीज सन्देह से परे है तो सिर्फ एक। यह कि 'मैं हूँ'। आइ एक्ज़िस्ट। कॉगिटो एर्गो सुम। बात उसने इतनी तीव्रता से कही कि मुझे लगता है कि वह एकदम मौलिक है !

इसी के सन्दर्भ से सारी दुनिया सही है, अगर वह है तो।

बडी-बडी आलीशान इमारतें। रोशन रौनक। अकेला लेखक। ईमानदार प्राणी। मार्क्सवादी साहित्य पढते हुए भी वह कही तो भी भीतर एक सवेदना के रूप मे अकेला है, जहाँ उसे यह मन्त्र-वाक्य दुहराना पडता है—आइ एक्ज़िस्ट। कॉगिटो एर्गो सुम। द वर्ल्ड इज़ माइ आइडिया।

इस लेखक का मैं अपमान नही करूँगा। वह अपनी सारी नि'सगता के बावजूद मुझसे प्रेम करता है। अगर वह लडकी होता तो मैं उससे ज़रूर शादी कर लेता। 'मैं उसके प्रेम मे गिर पडा हूँ।' वह मनुष्यता से लबालब है।

लेकिन, यह बात पुरानी हो गयी। अब वह दिल्ली सेक्रेटेरिएट मे एक अच्छे (यानी मामूली) पद पर है। कम-से-कम उसका ऐसा ख्याल है। जो जन्मभूमि है उसकी, वहाँ से वह निरादृत है। यानी वह बिलकुल कॉस्मोपॉलिटन है। दूसरे शब्दों मे, वह उच्छिन्न-मूल है। जो क़स्बे का निवासी था उसने प्रान्तीय राजधानी मे पढाई की और अब एक वर्ल्ड कैपिटल मे क्लर्क है।

ज़िक्र चला था नयी कविता का। इस कविता का मूल बिन्दु उसने आत्म-सवेदना बनाया। मुझे लगता है कि इस आत्म-सवेदना का एक ढाँचा है।

दूसरे शब्दो मे, नयी कविता की शैली मे जो कविता है उसमें तो आधुनिक आत्म-सवेदना है, लेकिन अन्य मे नहीं। उसमे आधुनिक भावबोध है। यह कविता पाठ्य है, श्रव्य नही। और चूँकि समाज मे एकरूपता नही है, इसलिए इस प्रकार की कविता का स्वागत सर्वत्र हो, यह शायद, सम्भवतः स्वाभाविक भी नहीं है।

उसको इस बात मे बडा सार है। महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है यह। इस पर मुग्ध हूँ। कुछ विचलित और कुछ भीतर से मचलित भी।

छाया-चित्रित इस नैश राजमार्ग के रास्ते पर जो कॉफी की एक दूकान है, वहाँ आकर मेरी गाडी रुक जाती है। मै सोचता हूँ वह कितना सही है ! वह अपने आपके प्रति असन्दिग्ध रूप से ईमानदार है।

मैंने पूछा—ईमानदार से मतलब ?

तो उसकी छायामूर्ति ने कहा—जो वह है, सवेदना का उसके पास जो रूप-तत्त्व और तत्त्वरूप है, उसे वह रखना चाहता है। वहाँ वह बेईमान नही है।

मैंने पूछा—यह कोई परिभाषा नही है। ईमानदार की व्याख्या के बाद ही बेईमान का अर्थ समझ मे आयेगा।

मुझे समझाया गया कि ईमान का अर्थ है—जो रुख, जो रवैया, सवेदनाओ मे सन्निहित है, ठीक वही दृष्टि कविता मे अपनायी गयी है। कविता मे कवि कुशल अभिनेता नही है, वरन् एक भोक्ता भी है।

यहाँ मैं ठहर गया। बात मज़े की है। उसमे अच्छा एक नुक्ता है। पुराने ढग *की कविताओ की सबसे बडी कमजोरी ही यह है कि लेखक शब्दो की ऐसी गूँज* उत्पन्न करता है, और ऐसी भाव-भगिमा प्रस्तुत करता है, जिससे प्रकट होता है कि वह कुशल मार्मिक अभिनेता जरूर है। उसकी चीख-पुकार, हास्य-रुदन, सौन्दर्यानन्द, आदि अनुभूतियो मे अनुभव कम और छिपे अभिनेतृत्व का सूक्ष्म कौशल बडा ही अच्छा है। यही कारण है कि, इतने अच्छे रोमैण्टिक काव्य के बावजूद, सच्चा प्रणय भाव (कुछ अपवाद छोड) उसमे नही है, जैसा कि हमे सूर या मीरा मे मिलता है। वह भोक्ता कम और कल्पक अभिनेता अधिक है। वह अपने निज को एक नया रोल दे देता है। और बडी कुशलता से उसकी अदायगी करता है। रोल, रोल है।

लेकिन मेरा ऐसा खयाल है कि रोल की यह अदायगी आज भी कम नही हुई है। जब से नयी काव्य-शैली चल पडी, नया रोल भी चल पडा। साहित्य बहुत *कुछ हद तक एक धोखा है। खुद को भी धोखा और दुनिया-भर को धोखा।* हे मेरे प्यारे पाठको ! यदि इस बात को नही समझोगे तो अपना ही नुकसान करोगे।

काव्य मे या एक विशेष कृति मे 'रोल' की अदायगी का बडा प्रमुख स्थान है। लेखक या कवि अपने-अपने मनोवैज्ञानिक रुझान के अनुसार अपने को एक विशेष ढग से प्रस्तुत करता है। वह ढग वह खूब निभाता चलता है। वह रोल खूब कामयाब होता है। किन्तु, खतरा ही यही रहता है कि यदि वह रोल अपने जीवन, चरित्र व व्यक्तित्व व इतिहास के मार्मिक यथार्थवादी आकलन पर आधारित हो, तो कवि के व्यक्ति और कृति मे अपनाये गय रोल मे अधिक विरोध नही हो पाता। यह भी कहा जा सकता है कि वह रोल कवि का एक सधा हुआ मनोवैज्ञानिक विक्षेप है। भोक्ता और कलाकार के बीच जो एक आन्तरिक सम्बन्ध है, वही इस रोल का स्थान है। इसीलिए, वह एक नकाब नही है—जैसा कि स्वयं-घोषित *मार्क्सवादी आलोचक लाछन लगाते हैं। नकाब होती तो वह उतरती भी।* कृतिकार अपने को या दुनिया को धोखा देना नही चाहता। उसका वह उद्देश्य नही है। लेकिन धोखा पैदा हो जाता है। जितना बडा धोखा पैदा होगा, उतना वह बडा कलाकार भी माना जायेगा।

नयी कविता मे भी 'एक भीतरी सन्निहित रोल है', लेखक एक खास इम्प्रेशन देना चाहता है। उस इम्प्रेशन के अनुसार, वह व्यक्ति स्वय हो या न हो, अगर एक कवि की आप दो सौ कविताएँ पढ जायें तो उसमे आपको व्यक्तित्व का पूर्ण बिम्ब नज़र आयेगा। लेकिन यह व्यक्तित्व-बिम्ब उसके अपने व्यक्तित्व का एक विक्षेप भी हो सकता है। वह एक-दूसरे की साक्षात् प्रतिच्छाया नही। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से यह मूल व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व एक-दूसरे से सम्बद्ध नही हैं। यह एक मूलभूत तथ्य है।

मैंने एक कवि-मित्र से पूछा कि व्यवहार और सिद्धान्त, कार्य और वक्तव्य के बीच की दूरी कैसे पाटी जाये। यह कहने की जरूरत मुझे क्यो पड गयी? एक [कवि] कहते हैं—"मैं सवेदित सत्य", मैं मृत्युजय आदि-कवि"। किन्तु, वे अपने जीवन म इस प्रकार कुछ भी नही हैं।

मेरे इस सवाल का उसने बडा अच्छा जवाब दिया। उसने कहा—वह एक काव्य सत्य है—पोएटिक ट्रुथ!

मैं हक्का-बक्का रह गया। मैंने पहले सोचा था कि कवि का जो निवेदनीय है, वह उसकी आत्मा से सम्बन्धित है, उसके अपने जीवन और व्यक्तित्व के समूचे और यथार्थवादी आकलन स सम्बन्धित है। हो सकता है कि काव्य मे अतिरजना से काम लिया गया हो, लेकिन वह अतिरजना एक सूक्ष्म सत्य की या सत्याश की ही है—वह एक ट्रुथ का एक्जेजरेशन ही होगा। लेकिन, जब एक ओर कार्य व्यवहार तथा दूसरी ओर सिद्धान्त तथा वक्तव्य के बीच के भेद की बात है, लगता है कि वहाँ वह सत्य भी नही है, ट्रुथ का अभाव है।

इस बात पर आकर मैं गोता खा जाता हूँ। मैं एक कदम आगे नही बढ सकता। मेरी आँखो के सामने एक नही, कई दृश्य नाचने लगते हैं।

एक सज्जन हैं। बहुत ऊँचे प्रगतिशील कवि। अभी भी बडे, पूज्य, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माने जाते है। उनका काव्य क्रान्तिकारी है। लेकिन, जिस नगर मे वे एक आचार्य हैं, उसकी जनता मे पूछिए। जी हाँ, जनता से, विद्यार्थियो स, यहाँ तक कि कार्यकर्त्ताओ स भी। उन्होंने एक बार नही, कई बार हडतालें तोडने का काम किया। पुलिस की गुप्तचरी की। राजा महाराजाओ के दरबार मे रहे। उनके आत्मीय व कृपापात्र बने। यहाँ तक, एक महाराजा की प्रशसा मे उन्होंने कविताएँ लिखी, जो उनके फोटो के नीचे छपी भी।

इसक बाद भी वे एशियायी जागृति के, और शोषित जनता के, क्रान्तिकारी कवि सिर्फ बने ही नही रहे, किन्तु प्रगतिशील आलोचक-प्रवरो न उन्ह जयमालाएँ पहनायी, उनका शखनाद किया! यह बात जग-ज़ाहिर है।

और, इसके बावजूद, प्रगतिशील आचार्यों न अपन विरोधियो पर यह आरोप लगाया कि वे नकाब पहने हुए हैं।

मैं उनके विरोधियो म नहीं था। लेकिन सिर्फ इतना ही सोचता था कि काव्य-सत्य की अपनी कोई नैतिकता, अपना कोई भीतरी नैतिक आग्रह है या नही। यह बात आलोचको पर तो और भी लागू है, क्योंकि नसीहतें और उपदेश देने का उनका जिम्मा रहा है—ऐसा वे समझते रहे हैं।

मान लेता हूँ कि कविता लिखते वक्त हमारी वह अनुभूति रही, जो हमने लिखी। बाद म, खत्म। हमारा इससे कोई सम्बन्ध नही रहा। वह अलग, हम

अलग। मतलब कि व्यक्तित्व का द्विधा-विभाजन है। वह शतधा-विभाजन भी सकता है।

जो बात मैंने उस प्रगतिशील के बारे में कही, वह अन्य प्रकार के साहित्यि पर भी लागू है। बनतूपन साफ दीख पडता है। यदि कलाकार कुशल होगा वह बनतूपन ढांक लेगा। कालिदास कभी इतना शृंगारी नही हो सकता, जित कि उसने अपने को प्रकट किया है। महादेवी वर्मा तो साफ कहती हैं कि उनक जीवन दुःख-कष्ट ग्रस्त नही रहा है। फिर भी, उनका काव्य बडा है। यह तथ्य इ बात का प्रमाण है कि वह जानबूझकर किया गया बनतूपन नही है। वह बनतूप है ही नही। वह एक रोल है। उस रोल की अदायगी के पीछे लेखक का अपना ए निजी स्थायी भाव है। यह केन्द्रीय स्थायी भाव अनेक रूप धारण कर प्रकट होत है। हमारे लिए अनुसन्धान का विषय यह होना चाहिए कि इस स्थायी भाव क लेखक के व्यक्तित्व और मनोरचना से क्या सम्बन्ध है। हो सकता है कि यह स्थाय भाव लेखक के मन की सिर्फ एक गुत्थी ही हो। और चूंकि वह एक गुत्थी है, इस लिए वह अनेक विभ्रम और विक्षेप उत्पन्न करती हो।

(मेरी डायरी लम्बी होती जा रही है) लेकिन, यदि आप उसके स्थायी भाव को गुत्थी मान लेते हैं तो कई बातो का समाधान हो जाता है। कार्य और सिद्धान्त वचन और आचरण के बीच की दूरियो की आप ही-आप व्याख्या हो जाती है इसलिए कि वह गुत्थी है और गुत्थी जीवन मे तीव्रता के साथ-ही-साथ विक्षेप उत्पन्न करती है।

यही एक मजे की बात पैदा हो जाती है। वह है अभिरुचि का प्रश्न। नयी कविता पाठ्य मानी जा रही है, श्रव्य नही। वह आत्मीय है। आपके कान मे फुस-फुसाना चाहती है! इससे आपको कोई विरोध नही होना चाहिए कि ऐसा क्यो और वैसा क्यो नही। फिर, वह गुत्थी है। उसमे दर्द है। उसका काव्य सत्य यही है। अगर आपको दर्द मे भीगकर कोई यह कहे कि मेरी बात सच है, सत्य है, तो वह अनुभूत सत्य होगा, इसम कोई शक है?

लेकिन मुश्किल तब होगी जब अपने-अपने रोल की अभिरुचि यह कहेगी कि केवल यही सच है, यही सत्य है, शेष असत्य और झूठ! नयी कविता, पाठ्य गुण के नाम पर, श्रव्य गुण का बहिष्कार करने की अधिकारिणी है। किन्तु, श्रव्य गुण को पाठ्य गुण से हेय ठहराने की उसे क्यो आवश्यकता पडी। जहाँ तक उसके अपने निज का सम्बन्ध है, वह कुछ भी करे। पर वह यह नही कह सकती कि श्रव्य गुणवाली कविता उससे हीन है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1960]

# इदं अहं अस्मि

अभी-अभी मैं बहुत प्रभावित होकर लौटा हूँ। अगर आप सामने होते, बहुत-सी बातें कह डालता।

सडक पर दो ओर पेडो की कतार है। बिजली के प्रकाश मे राह छाया-चित्रित हो गयी है। सुगन्धित, निर्जन एकान्त ! मेरे दिल मे उद्वेग है। एक भीनी मस्ती के साथ-ही-साथ, एक चिन्ता का भाव। मैं अकेला राह के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ।

क्षमा करें। एकदम आत्म-निवेदन पर उतर आया हूँ मैं। अनुकूल, मनोरम और आत्मीय वातावरण मे, हर एक शब्द की गूँज मेरे लिए विविध और विभिन्न हो जाती है। मेरा स्वभाव कुछ ऐसा है कि निवेदित शब्दो मे मुझे सिर्फ प्रेषणीय अर्थ दिखायी देने के अलावा, उस शब्द के प्रयोगकर्त्ता के व्यक्तित्व का चित्र भी उसमे विम्बित प्रतीत होता है। फलत, अनजाने ही, मैं उसके द्वारा ध्वनित अर्थों मे उसके व्यक्तित्व-चरित्र और जीवन का सम्बन्ध जोड देता हूँ। दूसरे शब्दो मे, निवेदनकर्त्ता के लॉजिक के सगति चित्र म मुझे उसकी सायकॉलॉजी का सगति चित्र भी महत्त्वपूर्ण मालूम होता है। हेगेल का दर्शन एक प्रभावशाली बौद्धिक रचना है। इस बौद्धिक रचना को अन्य बौद्धिक रचना से अलग करके उन दोनो की मनोवृत्तियो का अध्ययन कितना मनोरजक होता है, यह कहने की बात नही। किन्तु, सब जगह तर्क मे मनोवृत्ति देखने की बात असगत है, क्योंकि गणित मे शुद्ध थरूप तार्किक तत्त्व-बोध है, मनोविज्ञान नही।

इस सम्बन्ध मे मैं बरावर सावधानी वरतना चाहता हूँ। यह सही है कि तर्क-सगति मे व्यक्तित्व-चित्र की रग-सगति भी देखी जा सकती है। किन्तु, उसकी प्रतीति बहुत कुछ आपकी कल्पना-शक्ति पर आधारित है—ऐसी कल्पना शक्ति पर, जो सतत-परीक्षित और बारम्बार परीक्षित अनुभव-सिद्ध बातो के आधार पर चले। यह टेढी खीर है। इसलिए, ग़लतियो का एक अनुपात रख लेना हमेशा श्रेय-कर होता है। हम अपने लिए भी ग़लतियो का एक मार्जिन छोड दें, और, खास-कर, अन्यों के लिए भी, जिन पर कि हम कुठाराघात करना चाह रहे हैं।

अब आपको मेरी मनोवृत्ति भी समझ म आ गयी होगी। यह सिर्फ़ इसी बात की भूमिका है कि यदि आप मुझे जानते हैं तो कृपया मेरे व्यक्तित्व की आलोचना जरा सावधानी से करें और यदि नही जानत तो कृपया मेरे विचारो मे यदि भूल-चूक हो तो माफ कर दें। है न मेरा यथार्थवादी दृष्टिकोण !

मेरे एक मित्र की तर्क-सगति मे मुझे उनके व्यक्तित्व की रग-सगति दिखायी दे, तो इसके लिए मैं क्या करूँ ? मैं उन्हे दोष नही देना चाहता। किन्तु, उनके दोषों को चीन्हता जरूर हूँ। और चीन्हता हूँ, इसीलिए निवेदन भी करूँगा ही। किन्तु, यह कह दूँ कि सत्य का अटल होना सत्य की परिभाषा नही है। उसी तरह मेरी बात अडिग होते हुए भी वह ध्रुव सत्य है, यह मैं नही कहना चाहता। सशयात्मा का हमारे यहाँ वडा धिक्कार किया गया है। ऐसा ही एक मैं भी हूँ। विनाश होना ही होगा तो हो जायेगा।

मेरे एक मित्र हैं। रेडियो के बडे अधिकारी। बगाली हैं। हिन्दी म लिखते हैं,

हिन्दी नाम से। वह भी खास नयी कविता की शैली मे। विद्वान के अलावा वे एक अच्छे आदमी भी हैं। मुझे चाहते हैं। हमारी-उनकी मित्रता का आधार भीतरी है। उनका जन्म गाँव म हुआ। शिक्षा प्रान्तीय राजधानी मे। प्रेम-विवाह करने की हिम्मत न थी। किन्तु, भाग्य से, पत्नी ने अभाव पूरा किया। उनका सयुक्त परिवार छिन्न-भिन्न हुआ। भागते-भागते फिरे। जिन्दगी मे उन्होंने कुछ साहस-पूर्ण कार्य भी किये। राजनीति मे चले आये। सरकारी अधिकारी बन। उनका पुराना वतन छूटा, वे दृश्य छूटे। इस समय, एक वर्ल्ड-कैपिटल मे—यानी दिल्ली मे—उनका स्थानान्तर हो गया है। वेचारे रो रहे थे।

उन्होने एक कविता लिखी, जो सचमुच बहुत अच्छी थी। उसे सुनाने के बाद, उन्होने मुँह बनाया और कहने लगे, "इतनी आशका और अनास्था है इस दुनिया मे कि अगर कोई चीज असन्दिग्ध है, सन्देह के परे है, यानी कि जिसके बारे में कोई आशका और अनास्था उत्पन्न हो ही नही सकती, वह सिर्फ एक ही है। वह यह है कि 'मैं हूँ', आइ एक्जिस्ट। यह आजकल सबसे बडा सत्य है।"

मैंने कहा, "हाँ, है तो!"

फिर वे दार्शनिक भाव से कहने लगे, "पुराने जमाने मे कहा जाता था—तत् त्वम असि, वह तू है। अब इसका रूपान्तर हो गया है–इद अह अस्मि, यह मैं हूँ।"

मैंने कहा, "ठीक तो है!"

फिर वे कहने लगे, "मनुष्य वस्तुत आज पहले से ज्यादा अकेला हो गया है। ईमानदार प्राणी। मार्क्सवादी साहित्य पढते हुए भी वह कही तो भी भीतर एक सवेदना के रूप मे अकेला है, जहाँ उसे यह मन्त्रवाक्य दुहराना पडता है—आइ

मुझमे कोई भीतरी अकेलापन है तो वस्तुत वह एक एकान्त है जहाँ मै सोच सकता हूँ, उलझी कडियाँ सुलझा सकता हूँ।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1960]

# विशिष्ट और अद्वितीय

मैंने अपने मित्र की तरफ स्तम्भित दृष्टि से देखा। और जब उस बेहोशी से जागा तो कहा, "मैं क्या कहने जा रहा था?"

मेरे इस प्रश्न को सुनकर मेरा मित्र भी अपनी मूर्च्छना से जाग उठा और बोल पडा, "तुम कोई गहरी बात कहने जा रहे थे।"

मैंने उसकी उक्ति मे कोई व्यग्य-भाव नही पाया। मैं यान्त्रिक रूप से कहने

लगा, "हाँ, कोई गहरी बात।"

मित्र मेरी तरफ दुःखी होकर देखने लगा। साफ था कि वह उकता चुका है, लेकिन चूँकि मैंने उसकी खूब खातिर-तवाजो की है इसलिए अब वह मेरी बातों को सह लेने का धर्म पालन कर रहा है। यह भी जाहिर था कि मुझ पर एक नशा चढ़ गया है—खयालों का गरम, गीला और तेज नशा। लेकिन चूँकि अब वह चढ़ ही गया है तो उसका मजा ही क्यों न लिया जाये! सच तो यह है कि मैं अपने से बिना पूछे उस नशे का मजा लिये जा रहा था, और एक क्षण वह आया था—साहित्यकार उसे चरम क्षण कहते हैं—जब मेरी लौ लग गयी थी, मैं स्तम्भित हो गया था।

खूब खा-पी चुकने के बाद हम जिन्दगी की निरर्थकता के बारे में बहस कर रहे थे। वही दैनिक जीवन का क्रम, वही दफ्तर, वही अफसरोंवाली बातें, सिनेमा और कुछ इधर-उधर की गप। **सारिका और मनोहर कहानियाँ, कादम्बिनी और ज्ञानोदय** खत्म। हमारी जिन्दगी खत्म। जिन्दगी में दिलचस्पी खत्म। दिलचस्पी में दिलचस्पी भी खत्म!

हम सभी खूब पढ़े-लिखे थे—इतने कि अपने से बड़ों के लिए लेख और भाषण लिखते थे, जो उन्हीं के नाम से रेडियो से ब्रॉडकास्ट होते थे। इस तरह न मालूम कितनों ही को मैंने बुद्धिमान् बना दिया है!

किन्तु मैं कौन-सी 'गहरी' बात कहने जा रहा था, भूल गया। यह तो बुरा हुआ। बड़ी मुश्किल से तो एक श्रोता फँसा था। आजकल अच्छे श्रोता मिलते कहाँ हैं। सबको अपनी-अपनी सुनाने की पड़ी है। सच तो यह है कि इस मौके के बाद न मेरे इस मित्र को फुरसत रहेगी, न मुझे।

वैसे मुझे हमेशा फुरसत रहा करती है। फुरसत निकालना भी एक कला है। गधे हैं जो फुरसत नहीं निकाल पाते! फुरसत के बिना साहित्य-चिन्तन नहीं हो सकता, फुरसत के बिना दिन में सपने नहीं देखे जा सकते। फुरसत के बिना अच्छी-अच्छी, बारीक-बारीक, महान्-महान् बातें नहीं सूझतीं।

इन सबके लिए फुरसत चाहिए और उसको पाने की कला चाहिए।

तो मैं कला के बारे में बात कर रहा था। इस सम्बन्ध में मैं काफ़ी-से निबन्ध भी लिख चुका हूँ। उनकी प्रशंसा भी हुई है। अगर वह प्रशंसा सही है तो मैं मूर्ख नहीं हूँ। उसी आधार पर मैं हमेशा सोचता रहता हूँ कि मैं बुद्धिमान् हूँ। किन्तु यह कहते नहीं बनता, क्योंकि मैं मन-ही मन यह महसूस करता रहता हूँ कि अगर मैं मूर्ख नहीं हूँ तो नालायक़ जरूर हूँ। या ऐसी ही किसी श्रेणी का एक विचित्र पक्षी हूँ।

और इसी तरह की कोई बात सोचते-सोचते मैं नयी कविता या उसके पुराने नाम प्रयोगवादी कविता पर आ जाता हूँ।

हुआ यह कि एक थे हमारे डिप्टी डायरेक्टर। किसी जमाने में वे शिक्षा विभाग में थे। वहाँ से हवा खाते-खाते वे रेवेन्यू डिपार्टमेण्ट के अण्डरसेक्रेटरी हो गये। पुराने, बुजुर्ग और खुर्राट।

उनके दुर्भाग्य से उनका एक लड़का अखबारनवीस निकला। एक ढीले-ढाले और ऊँचे क़द का आदमी था जिसका चेहरा चौड़ा, पीला और दुबला था। भौंहें घनी और गुच्छेदार थीं। ठुड्डी के बीच एक गड्ढा था, जिस कारण उसकी दो

ठुड्डियाँ हो जाती थी। मामूली ब्लेड से चेहरे की हजामत नही हो सकती थी। इतने सख्त और घने थे उसके बाल।

उसमे तीन बातें बडी मार्के की थी। एक तो यह कि उसके कन्धे झूलते थे। अगर एक पैर पर ज़ोर देकर खडा हो जाये (जैसा कि वह अकसर करता था), तो वह दूसरे पैर को उससे लपेट-सा लेता था, हाथो को मिलाकर उन्हे जाँघो मे दबा-सा लेता था और दोनो कन्धो को पास-पास लाने की (अनजानी) कोशिश करता था। तब ऐसा लगता था मानो वह पूरे शरीर को बीच म से मोड देगा।

उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि, बावजूद अपने ऊँचे कद के, वह ज़रा-ज़रा-सी बात पर झेंपता था। देखनेवालो को यह खयाल हो आता था कि इस लम्बे-ऊँचे कदवाले और सख्त बालो के घन जगलवाले चौडेपन मे, कही तो भी, किन्तु किसी केन्द्रीय स्थान पर, नारी बैठी हुई है। उनके दिल म कही तो भी कुछ ऐसा ज़रूर है जो अनुचित और अनावश्यक रूप से कोमल तथा सुकुमार है।

उसकी तीसरी विशेषता यह थी कि वह अपन बाप को गाली देता था। हाँ, सही है कि वह सबके सामने ऐसा नही करता था। कुछ लोग थे—और वे काफी थे—जिन्हे वह अपना दोस्त समझता था, उनके सामने, बस, अपने घर की बुरी-बुरी बातें बताता था और दिल हलका करता था।

तो मैंने उसका ज़िक्र क्यो किया?

वह नयी कविता भी लिखता था और उन्हे लेकर वह मेरे पास अकसर चला आता था। चूँकि उसका व्यक्तित्व विचित्र था, और वह अच्छा श्रोता नही था (वह जल्दी उकता जाता था—उसकी सबसे बडी शत्रु थी उकताहट), इसलिए मेरी उससे ज़्यादा नही पट सकती थी।

लेकिन मैं उसको सह जाता था, जिसका एक कारण यह था कि उसका बाप सरकार मे ऊँचे ओहदे पर था, और मुझे आशा थी कि उस आदमी तक पहुँचने के लिए मुझे कोई-न-कोई दरार मिल जायेगी, जिसम से रेंगकर मैं वहाँ तक पहुँच सकूँगा। लेकिन ये सब खयाल थे। कहाँ तक वे कार्य-रूप म सिद्ध हो सकेंगे, यह दूसरी ही बात है!

एक दिन वह मेरे पास आया और मुझसे बहुत-सी किताबें पढने के लिए ले गया। उसने कभी उन्हे लौटाने की तकलीफ नही की।

सच तो यह है कि पुस्तकें मेरे यहाँ शोभा की वस्तु हैं। सुन्दर आलमारियो मे उन्हें सजाकर रखा गया है, मेरी पत्नी द्वारा। मेरे पास बहुत कीमती ढग की लगभग तीन हज़ार पुस्तकें हैं, तीन हज़ार! मेरी कमाई की नही, ससुराल के पैसो से आयी हुई। उन पर मेरा हक़ नही, पत्नी का हक़ है। मैं तो ऐसी पुस्तकें पढता नहीं। खास पढा-लिखा भी नही हूँ। वैसे इस बारे मे मैं आपसे यो ही झूठ बोल गया था। यो ही! झूठ बोलने मे मेरा कोई खास स्वार्थ नही था, यह तो आप जानते ही हैं।

हाँ, तो जिन चीज़ो पर मालदार और मुझसे ज्यादा पढी-लिखी पत्नी (नीरज उनका प्रिय कवि है—प्रिय, अत्यन्त प्रिय) का हक था, उनको लेकर यदि मुझ-जैसे पति का मित्र चम्पत हो जाये, तब आप समझ सकते हैं कि पति की क्या दशा होगी!

तब से उस ऊबड-खाबड दोस्त से तो मुझे घृणा ही हो गयी, उसकी नयी

कविता स भी। इसलिए तमाम नयी कविता से भी मुझे घृणा हो गयी। ये साले नये कवि ऐसे ही होते हैं, दूसरो की चीज़ें वापस नही करत। बाद मे मैंने सुना कि उस शख्स ने अपनी स नीची जातवाली किसी अच्छी खूबसूरत (नमकीन कहिए, नमकीन!) लडकी को अपन यहाँ रख लिया, बाद म रजिस्टर्ड मैरज कर ली, और यह शहर छोडकर दूर देश म चला गया।

किताबें उसने मेरी वापस नही की, नहीं कीं सो नही ही की। उन पुस्तको के कारण आज तक मेरा उससे मानसिक सम्बन्ध बना हुआ है, और उसकी नयी कविता से भी, और इसलिए सारी नयी कविता से भी।

और मैं आपसे साफ कह दूँ कि वह आदमी अपनी जिन्दगी मे कभी भी सुखी नही रहेगा। कभी भी नही। वह एक पूरी दु खान्त कथा होकर रहगी। कारण यह है कि वह आदमी मिसफिट है, मिसफिट! फ़िट वह हो ही नही सकता।

और यह भी मैं आपसे कहना चाहता हूँ (इस वक्त मैं झूठ नही बोल रहा हूँ) कि नयी कविता उनकी अपनी है जो मिसफिट हैं, जो न आत्म-सामजस्य स्थापित कर सकते हैं, न वाह्य-सामजस्य। असामजस्य और असन्तुलन म से ही नयी कविता का जन्म हुआ है। और उसका तथाकथित जो विद्रोह है, वह? वह भी व्यक्ति-आधारित है, इसलिए वह भी गोवी के रेगिस्तान म किसी अनजानी खारी नमकीन झील म जाकर खुदकुशी कर लेगा।

हाँ, ठीक उसी नौजवान की भाँति जो किताबें मुझसे माँगकर ले गया और अब तक नही लौटायीं। भला अपने घर स उसका विद्रोह कभी उसे सफलता और सुख दिलायेगा! असम्भव! सफलता के लिए सामर्थ्य नही, समर्थन लगता है। समर्थन ही सामर्थ्य है—इस महान् सत्य को भूलकर जो लाग काम करते हैं, व अन्धी दीवार स टकराते हैं। आजकल व्यक्तिगत पुरुषार्थ और पराक्रम का कोई मतलव नही—इस प्रचण्ड सत्य को जानना क्या जरूरी नही है? बुद्धिमानी इसम है कि दरारें देखा और उनम चुपचाप रेंग जाओ, और रेंगते हुए 'ऊँची' स 'ऊँची' सतह तक पहुँचो। यह है वास्तविक जीवन-कला! समझे?

मुझे मालूम है (मैं सारिका और नयी कहानियाँ पढता हूँ) कि 'नयी कहानी' नाम की भी एक चीज आ गयी है। बुरी वात नही है। अच्छा है। लेकिन अगर नयी कहानी का मतलब पानी के भीतर घुसकर, उसम डूबकर, फिर आँखें खाल-कर देखना है, तो मैं बता दूँ कि ज्यादा-से-ज्यादा एक धुन्ध दिखायी देगी, और आँखो को तकलीफ़ तो होगी ही, वे देख भी नहीं सकेंगी। हाँ, दख चुकन का स्वाँग भले ही करें। 'नयी कहानी' के मतलव को नय ढग की धुन्ध म अलग किया जाये। क्या मैं इस वक्त झूठ बोल रहा हूँ?

और मेरा तो अपना यह खयाल है कि वह मेरा वेढगा दोस्त अगर 'नयी कविता' लिखता था तो ठीक ही करता था। वैसी कविता पर्मनेन्ट सिच्युएशन की, वैयक्तिक प्रसग प्राप्त और प्रसग-ग्रस्त मनोदशा की, कविता है। लेकिन चूँकि वैस वैयक्तिक प्रसग अनकों के हो सकते हैं, और होते हैं, (भले ही कुछ लाग उन्हें छिपा जायें,) तो उनको एक सामाजिक अर्थ और महत्त्व तो प्राप्त हो ही जाता है। कवि उस प्रसग स्थिति म बद्ध रहकर उसके भीतर से सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है। किन्तु केवल सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ तो किसी भी प्रसग स्थिति का सम्पूर्ण वस्तु-सत्य नहीं हो जाती।

कथाकार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है, तो वह प्रसग-स्थिति मे बद्ध मनुष्य की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ को ही महत्त्व नही देगा, वरन् उस स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले जो वस्तु-सत्य हैं, उनको बनानेवाले तत्त्वो पर, अर्थात् व्यक्ति-स्वभाव की विशेषताओ, वास्तविकता की पेचीदगियो, और अब तक चलते आय इन सबके विकास-क्रम पर, इन सब पर, अवश्य ही ध्यान देकर, इस प्रसग-स्थिति के वस्तु-सत्य के सारे ताने-बाने (कलात्मक प्रभावशाली रूप से, भोडे ढग से नही) प्रस्तुत करेगा। और इस प्रकार व्यक्ति-समस्या को मानव-समस्या बनाकर एक व्यापकतर पार्श्वभूमि मे उसे उपस्थित करेगा। वैसा करना चाहिए।

देखिए, मैंने कैसी शब्दावली आपको पिलायी! (यह बात अलग है कि मैं कभी-कभी 'शब्दावली' की जगह 'शब्दवाली' बोल जाता हूँ)। लेकिन ध्यान रखिए कि मैं समीक्षक होने का भी दावा कर सकता हूँ! (करता ही हूँ। आखिर कौन नही [illegible])

[illegible] ' मे आधुनिक मानव (इसका [illegible] ृ!) की जो विचित्र मनोदशा है, उसको अगर आप उसके सारे सन्दर्भों से काटकर, उसके सारे बाह्य सामाजिक-पारिवारिक इत्यादि सम्बन्धो से काटकर, उस मनोदशा को मानो अधर मे लटकाकर—चित्रित करेंगे तो मनोदशा के नाम पर (कहानी म) एक धुन्ध समा जायेगी। कहानी मे अगर सिर्फ़ भीनरी धुन्ध हो, और सिर्फ वही वह रहे, और उसी की इतनी प्रधानता हो कि वस्तु-सत्यो के सवेदनात्मक चित्रो का प्राय· लोप हो जाये, तो आप वही ग़लती करेंगे कि जो (मेरे खयाल से) नयी कविता ने की। कविता की कला कथा की कला से अधिक अमूर्त तो वैसे ही होती है, इसलिए सम्भवत उसमे वे बाते खप भी जाती हैं। किन्तु कहानी मे? यानी मैं यह चाहता हूँ कि साहित्य मे मानव की पूर्ण मूर्ति (वह फिर जैसी भी हो) स्थापित की जाये। तभी हम अपनी झलक उसमे देख सकेंगे। अगर 'नयी कहानी' (या कोई भी कहानी) वैसा नही करती तो मेरे खयाल से यह उचित नही है। मैं तो सिर्फ एक खतरे की ओर आपका ध्यान दिला रहा हूँ।

अब आप जान गये होंगे कि मैं किस कदर यह चाहता हूँ कि खूबसूरत लडकी को *भगाकर ल गये उस पीले चौडे चेहरे और ऊँचे कदवाले की पूरी जिन्दगी* (साहित्य मे) तसवीर बनकर खडी हो जाये, ऐसी तसवीर जिसमे अपनी भी झलक हमे मिले।

क्योकि, मैं सच कहूँ (आज मैं सच कहने पर आमादा हूँ), कि मुझे बराबर यह लगा है, लगता रहा है कि उसने जो कुछ किया है वैसा, उस हालत मे, कोई भी कर सकता था। मैं होता तो मैं भी करता। हाँ, यह ठीक है कि उच्च कुल-जाति-नाम की लडकी से उसने विवाह नही किया, और इस प्रकार उसने असफलता के रास्ते तैयार किये। लेकिन वह ऐसी औरत से तो बरी रहा जो अपने पिता की शान का रौब अपन खाविन्द पर ग़ालिब करती है, और पति वैसा होने भी देता है, क्योकि सुभीता और खुशहाली का रास्ता भी वही है।

एक बात बताऊँ? कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जिन्हे कामयाबी हासिल करने के नुस्खो से डर लगता है। और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हे उन नुस्खो को सीखना नही

पड़ता। वे आप ही-आप आ जाते हैं।

हर जमाना अपने-अपने ढंग के कामयाब लोग तैयार करता है। बहादुरी के जमाने में, तलवारबाज़ी के जमाने में, हम-सरीखे आदमियों को कौन पूछता? वहाँ तो आबदार आदमियों की ज़रूरत थी। आज ऐसे लोग अपनी इज़्ज़त लेकर अँधेरे में डूबे हुए हैं, आज के ज़माने में ऐसे लोग नाकामयाब होने के लिए ही ज़िन्दा हैं।

तो ऐसे ये जो नाकामयाब लोग हैं, उनके मज़हब अलग-अलग हैं। कोई व्यक्ति कलाकार के धर्म को निबाहता है, तो कोई राजनीति के उग्रतावाद का अग्रदूत है। असल में ये सब फ्रस्ट्रेटेड दण्डिविज़ुअल्स हैं वैफल्यग्रस्त व्यक्ति हैं।

हाँ, यह सही है कि किसी का वैफल्य दिखायी देता है, और किसी का नहीं। वैसे ऊपरी तौर पर सन्तुलित सब हैं। यह अच्छा है या बुरा, मैं नहीं जानता।

क्या मैं नाम लूँ? मान लीजिए, श्री 'क' जो उपन्यासकार, कवि, कहानीकार तथा समीक्षक और सम्पादक रहे आये हैं, बाल-बच्चेदार आदमी होते, तो वे वैफल्य की दीर्घ जीवन-यात्रा करके उत्तमोत्तम रत्न हिन्दी साहित्य को न देते! (आप समझ गये होंगे, मेरा इशारा किस तरफ़ है)। वे हिन्दी काव्य में आधुनिकता-वाद के एक शिखर भी न होते। सम्भवतः व्यक्ति-वद्धना के (यह पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की भाषा है) वे एक सुन्दर उदाहरण भी न होते।

और लीजिए। उत्तर-प्रदेश के एक तीर्थ-स्थान में रहनेवाले एक हमारे मित्र हैं। विभूति हैं। प्रख्यात हैं। नयी कविता के शिरोमणि हैं। विशृंखल छन्दा-त्मकता में रचना करते हैं। सुन्दर किन्तु गोपन चित्र प्रस्तुत करते हैं।

मान लीजिए कि वे बाल-बच्चेदार आदमी होते तो उनकी प्रतिभा व्यापक कोमल भावना या करुणा अथवा ऐसे ही किसी भाव में बदल जाती।

एक हमारे मित्र बहुत दिनों से राजधानी में रहते हैं। यशस्वी हैं। कटुता, क्रोध और वैफल्य उनकी विशेषता है। फिर भी उन्हें अच्छी तरह जाननेवालों को मालूम है कि वे कितने प्यारे हैं।

मान लीजिए कि वे भी बाल-बच्चेदार आदमी होते, तो मैं आपसे कहूँ कि उनकी कटुता, क्रोध और वैफल्य का रंग निराला होता। मैं माने लेता हूँ कि उनका यह स्वभाव है। लेकिन उस स्वभाव का रंग ज़रूर बदला हुआ होता।

पन्तजी से लेकर अद्यतन नवीन कवियों की चरितावली देख लीजिए, तो पायेंगे कि अधिकतर लेखकों में नितान्त वैयक्तिक स्तर पर वैफल्य भावना है, (भले ही उनमें से कुछ अमरीका हो आये हों), जिसका कारण सम्भवतः यह है कि वे विवाहहीन हैं—या जिनकी औरत मर गयी है—या बाल-बच्चेदार वे नहीं हैं।

संक्षेप में, (हाँ, इस शब्द का प्रयोग मुझे ज़रूर करना चाहिए, क्योंकि सार-रूप में मैं कोई बात नहीं कह सकता), इन महोदयों के जीवन में जिसे पारिवारिक सुख कहा जाता है वह नहीं है। कारणों की तरफ़ मत जाइए। वह अपनी-अपनी धारणा और कल्पना का विषय है। इस प्रकार, वे सिर्फ़ अपने लिए रह रहे हैं। (क्या यह अतिशयोक्ति है? वैसे अपवाद तो हो ही सकते हैं।) दूसरे शब्दों में, इनका 'आधुनिक मानव' पारिवारिक व्यक्ति नहीं होता। (मैंने रिवोल्यूशनरी बात कह दी है, लेकिन उससे मुझे डर लगता है, क्योंकि अब सब मिलकर मुझे पीटेंगे।)

और जो पारिवारिक व्यक्ति है, उसमें कहीं-न-कहीं आधुनिकता मे कमी है" या ऐसा ही कुछ।

लेकिन ऐसा क्यो होता है ? मेरे खयाल स इसका कारण यह है कि विवाहोपरान्त अपनी स्त्री को जच्चाखाने मे भरती कराना पडता है, बच्चे के लिए एडिक्सलीन लाना पडता है। महँगाई पर सोचना-विचारना पडता है। स्कूल मे मास्टर साहब को दरखास्त देनी पडती है कि मेरी लडकी किन्ही कारणो से स्कूल नहीं आ सकेगी। लडको-लडकियो के विवाह के सम्बन्ध मे पहले ही सोचकर रखना पडता है। कमाई बढ़ाने की कोशिश करनी पडती है। दूसरों से सहायता लेने के लिए विवश होना पडता है। इसलिए उनमे दया, ममता, करुणा, वात्सल्य, कर्तव्य-बोध, विवशता के भाव होते हैं। और इसके अलावा उन्हे हर क़दम पर समाज के दर्शन होत हैं। वास्तविक समाज के—वह समाज जो सगठित है, विभिन्न सस्थाओ म व्यक्त और कार्यशील है। वह उन्हे डॉक्टर के रूप में, दूकानदार और पोस्टमास्टर के रूप मे, मकान मालिक के रूप म, निरन्तर भेंट देता रहता है। वह उनके लिए प्रत्यक्ष अनुभव और वास्तविक सवेदनात्मक प्रतिक्रिया का विषय है। उनके लिए यह केवल परिवेश या परिधि नही है, वरन् ऐसा जीता-जागता वस्तु-सत्य है, जिसका अगरूप वे स्वय हैं। अगर वे सब मिलकर उसकी परिस्थिति है, तो वह उनसे मिलकर किसी तीसरे की परिस्थिति है। और ये सब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं, यह उसे अपने व्यावहारिक जीवन मे मालूम हो जाता है। समाज उसके लिए भीड-भडक्के का नाम नही। वह अमूर्त कल्पना भी नही, क्योकि उसके लिए पेंशन और प्रॉविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था भी वह करता है। इसलिए समाज उसके लिए जीवन्त और स्पन्दनशील वस्तु है। उस समाज के बिना न उसका गुज़ारा हो सकता है, न उसके बच्चो की शिक्षा, न उनका विवाह, न उनकी नौकरी। अपन और अपने परिवार की अस्तित्व-रक्षा के युद्ध मे भी उसे समाज ही से अनेक स्रोतो और माध्यमो द्वारा सहायता मिलती है। समाज ही के इस प्रत्यक्ष बोध के कारण उसे जनता को ढोर कहन का और भीड कहने का साहस नहीं होता। अपने बाल-बच्चो को लेकर वह लाखो और करोडो मे खोया हुआ रहता है। और उसका उसे बुरा नही लगता। उसे अच्छा लगता है, क्योकि वे लाख-करोड उस जैसे ही होते हैं। उन्ही से वह सुख और दुख, अच्छाई और बुराई, न्याय और अन्याय, आदर्श और यथार्थ, गुण और दुर्गुण का बोध करता है, सघर्ष और मैत्री का भाव धारण करता है। बाल-बच्चेदार होने पर ही मनुष्य की असग अहकारिता काफी हद तक घिस जाती है।

किन्तु हमारे अधिकाश कवि 'अद्वितीय' हैं। वे स्वय इस अद्वितीयता की रक्षा करते है। यो कहिए कि इस अद्वितीयता के कारण ही वे कवि हैं। मैं यह नही कहता कि अद्वितीयता उनका दोप है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि अद्वितीयता की जो परिभापा इन कवियो ने अपने लिए छाँटकर रखी है, वह ग़लत है। वे अपने असग सवेदनशील प्रतिभाशालित्व को अद्वितीयता कहते हैं। और मैं यह कहता हूँ कि समय पर विवाह न होन से उनके सुकोमल तन्तुओ का विस्तार नही हुआ है और वे सुकोमल तन्तु समाज की विभिन्न सस्थाओ स, समाज के विविध रूपो से, घनिष्ठ रूप से जुड नही पाये है। इसलिए समाज का वास्तविक प्रत्यक्ष सवेदनात्मक बोध समाज के भीतर व्यक्त मानवता का—जो उसकी विभिन्न सस्थाओ के भीतर से

ही किसी-न-किसी मात्रा मे व्यक्त होती है—हार्दिक परिचय उन्हे नही है। इसलिए वे मुक्तहृदय भी नहीं हैं। जीवन मे अत्यन्त सारभूत सुकोमल अनुभवो मे वे बच गये हैं। उनके लिए समाज केवल आत्मप्रक्षेप है। रेत का ढेर है, भीड-भाड है, ढोरों की खडपड करती हुई भीड है।

और अगर समाज का उन्हे अनुभव भी है, तो वह कैसा है? गोष्ठी, सभा, महफिल, प्रकाशक, पैसा देनेवाला मालिक, राजनीतिक पार्टी, सरकार और उसके कर्मचारी—ऐसे ही रूपो द्वारा समाज व्यक्त होता है उनके सामने। इन रूपो से हार्दिक आत्म-सम्बन्ध स्थापित हो तो कैसे हो? अधिक-से-अधिक इस समाज मे उनके कुछ परिचित लोग हैं, जो भले आदमी भी हैं। व्यक्तियो के गुण और दुर्गुणो का उन्हे बोध होता है। इसलिए वे समाज मे व्यक्ति को ही देखते है।

ऐसे लोग जो कवि हैं, कहानी भी लिखते हैं, और कहानी मे परिवार का भी चित्रण होता है। परिवार का चित्रण भी ऐसा मनहूस, विकृत और विद्रूप होता है कि लगता है कि उन पारिवारिक पात्रो म केवल घनीभूत असग भावात्मकता है। इससे अधिक या इसके परे या इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। और अगर है भी, तो वह लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण नही। महत्त्वपूर्ण तो वही है जो असग भावात्मक है। दूसरे शब्दो मे, वे अपने पात्रो को भी 'अद्वितीय' बनाने का रुझान (हाँ, रुझान ही) रखते हैं। यह ग़लत है या सही है, मैं नही जानता। लेकिन वह लेखक का आत्मप्रक्षेप अवश्य है।

मैंने कह दिया कि मैं इस वक्त झूठ बोलने के मूड मे नही हूँ। सूत्र कहने पर आमादा हूँ। लकिन इससे मेरी कही हुई बात बिलकुल सच नही हो जाती। उसमे झूठ का कुछ-न-कुछ अश अवश्य ही मिला रहता है।

उदाहरण लीजिए। मैंने ऐसे धनी—बहुत धनी—परिवार देखे हैं जिनमे विवाहित व्यक्ति को समाज दिखायी तो देता है, लेकिन इस तरह नही जैसे साधारण मध्यवर्गीय को दिखायी देता है। उनके यहाँ डॉक्टर, टीचर, इजीनियर, अफसर सब आते हैं। सब उनके कृपापात्र हैं। समाज उनके लिए अपने प्रभुत्व की वस्तु है। और उसके व्यक्ति, खरीदने की चीजें है। और डॉक्टर-टीचर इत्यादि बिकने के लिए तैयार हैं · जिनमे लेखक भी तो शामिल है।

ऐसे लोगों के लिए समाज किन रूपो से व्यक्त होता है? वे चाहे विवाहित हों या अविवाहित—कोई फर्क नही पडता। और हमारे अद्वितीय लेखक तो समाज को खरीद नहीं सकते। मैं तो उनके बारे मे बात कर रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि ऐसे [लेखक] अगर बाल-बच्चेदार होते तो सम्भवत उनके व्यक्तित्व का समाजीकरण अधिक होता।

फिर भी मेरे कहने मे अतिशयोक्ति, अतिरजना और एकागिता हो सकती है। लेकिन मैं चाहता हूँ कि आप सब इस बात पर सोचें कि क्या नयी कहानी मे पात्रो की असग भावात्मकता ही परिलक्षित होनी चाहिए।

हाँ, यह सही है कि असग भावात्मकता का कारण केवल लेखक की विवाह-हीन, सन्तानहीन स्थिति मे ही नही खोजा जा सकता। वैफल्य तरह-तरह के होते हैं। सम्भवत उसके मूल इस वैफल्य की भूमि मे समाये हैं। इसलिए मेरी बहुत-सी बातें यों ही कट जाती हैं। फिर भी आप उन पर सोचें, और यदि वे गलत हैं तो मुझे धिक्कार दें, किन्तु मेरा खयाल है कि सब बातें ग़लत नही हैं।

और जो पारिवारिक व्यक्ति है, उसमें कहीं-न-कहीं आधुनिकता में कमी है" या ऐसा ही कुछ।

लेकिन ऐसा क्यों होता है? मेरे खयाल से इसका कारण यह है कि विवाहोपरान्त अपनी स्त्री को जच्चाखाने में भरती कराना पड़ता है, बच्चे के लिए एडिक्सलीन लाना पड़ता है। महँगाई पर सोचना-विचारना पड़ता है। स्कूल में मास्टर साहब को दरखास्त देनी पड़ती है कि मेरी लड़की किन्हीं कारणों से स्कूल नहीं आ सकेगी। लड़कों-लड़कियों के विवाह के सम्बन्ध में पहले ही सोचकर रखना पड़ता है। कमाई बढ़ाने की कोशिश करनी पड़ती है। दूसरों से सहायता लेने के लिए विवश होना पड़ता है। इसलिए उनमें दया, ममता, करुणा, वात्सल्य, कर्तव्य-बोध, विवशता के भाव होते हैं। और इसके अलावा उन्हें हर कदम पर समाज के दर्शन होते हैं। वास्तविक समाज के—वह समाज जो संगठित है, विभिन्न संस्थाओं में व्यक्त और कार्यशील है। वह उन्हें डॉक्टर के रूप में, दूकानदार और पोस्टमास्टर के रूप में, मकान-मालिक के रूप में, निरन्तर भेंट देता रहता है। वह उनके लिए प्रत्यक्ष अनुभव और वास्तविक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का विषय है। उनके लिए यह केवल परिवेश या परिधि नहीं है, वरन् ऐसा जीता-जागता वस्तु-सत्य है, जिसका अंगरूप वे स्वयं है। अगर वे सब मिलकर उसकी परिस्थिति हैं, तो वह उनसे मिलकर किसी तीसरे की परिस्थिति है। और ये सब परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं, यह उसे अपने व्यावहारिक जीवन में मालूम हो जाता है। समाज उसके लिए भीड़-भड़क्के का नाम नहीं। वह अमूर्त कल्पना भी नहीं, क्योंकि उसके लिए पेंशन और प्रॉविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था भी वह करता है। इसलिए समाज उसके लिए जीवन्त और स्पन्दनशील वस्तु है। उस समाज के बिना न उसका गुज़ारा हो सकता है, न उसके बच्चों की शिक्षा, न उनका विवाह, न उनकी नौकरी। अपने और अपने परिवार की अस्तित्व-रक्षा के युद्ध में भी उसे समाज ही से अनेक स्रोतों और माध्यमों द्वारा सहायता मिलती है। समाज ही के इस प्रत्यक्ष बोध के कारण उसे जनता को ढोर कहने का और भीड़ कहने का साहस नहीं होता। अपने बाल-बच्चों को लेकर वह लाखों और करोड़ों में खोया हुआ रहता है। और उसका उसे बुरा नहीं लगता। उसे अच्छा लगता है, क्योंकि वे लाख-करोड़ उस जैसे ही होते है। उन्हीं से वह सुख और दुःख, अच्छाई और बुराई, न्याय और अन्याय, आदर्श और यथार्थ, गुण और दुर्गुण का बोध करता है, संघर्ष और मैत्री का भाव धारण करता है। बाल-बच्चेदार होने पर ही मनुष्य की असंग अहंकारिता काफ़ी हद तक घिस जाती है।

किन्तु हमारे अधिकांश कवि 'अद्वितीय' हैं। वे स्वयं इस अद्वितीयता की रक्षा करते हैं। यों कहिए कि इस अद्वितीयता के कारण ही वे कवि हैं। मैं यह नहीं कहता कि अद्वितीयता उनका दोष है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि अद्वितीयता की जो परिभाषा इन कवियों ने अपने लिए छाँटकर रखी है, वह ग़लत है। वे अपने असंग संवेदनशील प्रतिभाशालित्व को अद्वितीयता कहते हैं। और मैं यह कहता हूँ कि समय पर विवाह न होने से उनके सुकोमल तन्तुओं का विस्तार नहीं हुआ है, और वे सुकोमल तन्तु समाज की विभिन्न संस्थाओं से, समाज के विविध रूपों से, घनिष्ठ रूप से जुड़ नहीं पाये हैं। इसलिए समाज का वास्तविक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक बोध, समाज के भीतर व्यक्त मानवता का—जो उसकी विभिन्न संस्थाओं के भीतर से

ही किसी-न-किसी मात्रा मे व्यक्त होती है—हार्दिक परिचय उन्हे नही है। इसलिए वे मुक्तहृदय भी नही हैं। जीवन मे अत्यन्त सारभूत सुकोमल अनुभवों मे वे बच गये हैं। उनके लिए समाज केवल आत्मप्रक्षेप है। रेत का ढेर है, भीड़-भाड़ है, ढोरो की खडपड करती हुई भीड है।

और अगर समाज का उन्हें अनुभव भी है, तो वह कैसा है? गोष्ठी, सभा, महफिल, प्रकाशक, पैसा देनेवाला मालिक, राजनीतिक पार्टी, सरकार और उसके कर्मचारी—ऐसे ही रूपो द्वारा समाज व्यक्त होता है उनके सामने। इन रूपो से हार्दिक आत्म-सम्बन्ध स्थापित हो तो कैसे हो? अधिक-से-अधिक इस समाज मे उनके कुछ परिचित लोग हैं, जो भले आदमी भी हैं। व्यक्तियो के गुण और दुर्गुणो का उन्हे बोध होता है। इसलिए वे समाज म व्यक्ति को ही देखते है।

ऐसे लोग जो कवि हैं, कहानी भी लिखते हैं, और कहानी म परिवार का भी चित्रण होता है। परिवार का चित्रण भी ऐसा मनहूस, विकृत और विद्रूप होता है कि लगता है कि उन पारिवारिक पात्रो म केवल घनीभूत असग भावात्मकता है। इससे अधिक या इसके परे या इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। और अगर है भी, तो वह लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण नही। महत्त्वपूर्ण तो वही है जो असग भावात्मक है। दूसरे शब्दो मे, वे अपने पात्रो को भी 'अद्वितीय' बनाने का रुझान (हाँ, रुझान ही) रखते हैं। यह ग़लत है या सही है, मैं नही जानता। लेकिन वह लेखक का आत्मप्रक्षेप अवश्य है।

मैंने कह दिया कि मैं इस वक्त झूठ बोलने के मूड मे नही हूँ। सूत्र कहने पर आमादा हूँ। लेकिन इससे मेरी कही हुई बात बिलकुल सच नही हो जाती। उसमे झूठ का कुछ-न-कुछ अश अवश्य ही मिला रहता है।

उदाहरण लीजिए। मैंने ऐसे धनी—बहुत धनी—परिवार देखे हैं जिनमे विवाहित व्यक्ति को समाज दिखायी तो देता है, लेकिन इस तरह नही जैसे साधारण मध्यवर्गीय को दिखायी देता है। उनके यहाँ डॉक्टर, टीचर, इजीनियर, अफसर सब आते हैं। सब उनके कृपापात्र हैं। समाज उनके लिए अपने प्रभुत्व की वस्तु है। और उसके व्यक्ति, खरीदने की चीजें हैं। और डॉक्टर-टीचर इत्यादि बिकने के लिए तैयार हैं जिनमे लेखक भी तो शामिल है।

ऐसे लोगों के लिए समाज किन रूपो से व्यक्त होता है? वे चाहे विवाहित हों या अविवाहित—कोई फ़र्क नही पडता। और हमारे अद्वितीय लेखक तो समाज को खरीद नही सकते। मैं तो उनके बारे मे बात कर रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि ऐसे [लेखक] अगर बाल-बच्चेदार होते तो सम्भवत उनके व्यक्तित्व का समाजीकरण अधिक होता।

फिर भी मेरे कहने मे अतिशयोक्ति, अतिरजना और एकागिता हो सकती है। लेकिन मैं चाहता हूँ कि आप सब इस बात पर सोचें कि क्या नयी कहानी मे पात्रो की असग भावात्मकता ही परिलक्षित होनी चाहिए।

हाँ, यह सही है कि असग भावात्मकता का कारण केवल लेखक की विवाह-हीन, सन्तानहीन स्थिति म ही नही खोजा जा सकता। वैफल्य तरह-तरह के होते हैं। सम्भवत उसके मूल इस वैफल्य की भूमि मे समाये हैं। इसलिए मेरी बहुत-सी बातें यों ही कट जाती हैं। फिर भी आप उन पर सोचें, और यदि वे गलत हैं तो मुझे धिक्कार दें, किन्तु मेरा खयाल है कि सब बातें ग़लत नही हैं।

अवश्य ही मेरा ध्यान इस बात की तरफ जाता है कि आखिर क्या कारण है कि पारिवारिक व्यक्ति—यद्यपि उनकी सख्या हिन्दी मे निस्सन्देह अधिक है—विशेष मौलिक नही है। मौलिकता से मेरा मतलब अद्वितीयता से है, चमत्कार-पूर्णता से है, ऐसी विशेषता से है, जा उन्हे सबसे भिन्न करके पृथक् स्थापित कर देती है। सम्भवत इसका एक कारण यह है कि अत्यधिक अन्तर्मुखता की उन्हें फुरसत नही मिल पाती। या यह भी सम्भव है कि चूंकि उन्हे किसी-न किसी हद तक कामकाजी आदमी बनना पडता है, इसलिए वे कला के विशेष सवर्धन और विकास के लिए प्रयत्नशील नही होते। या यह भी सम्भव है कि वे स्वय छिछले और सतही ढग की प्रक्रिया करनेवाले लोग हो सकते है। किन्तु इस बात की भी सम्भावना है कि परिवार के भरण पोपण की समस्या से ग्रस्त होकर जो अस्तित्व-सघर्ष वे करते हैं वह अस्तित्व-सघर्ष ऐसे भावसमुदाय उत्पन्न करता है, जो आधुनिक भाव-बोध की परिभाषा के अन्तर्गत नही आता। और जिस लेखक का भाव-समुदाय आधुनिक भाव-बोध की परिभाषा के अन्तर्गत नही आता, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्व तो यो ही घट जाता है।

क्या आप नही जानते कि भक्तिकाल मे एक विशेष भाव-समुदाय को ही कलात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्व प्राप्त था? क्या आप नही जानते कि रीतिकाल मे भी एक विशेष प्रकार के भाव-समुदाय को इस तरह का महत्त्व प्राप्त था? क्या आप नही जानते कि छायावाद-युग मे एक विशेष प्रकार के भाव-समुदाय को ही कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए चुना जाता था? क्या आपको यह नही मालूम कि आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत कुछ विशेष प्रकार के भाव-समुदाय आते हैं, कुछ विशेष प्रकार की सौन्दर्य-परिकल्पनाएँ आती हैं, एक खास काट और एक खास किस्म की अभिरुचि का ही सन्निवेश होता है? तो महोदय, आप जान जायेंगे कि वास्तविक अस्तित्व-सघर्ष मे उत्पन्न विशेष सन्दर्भ-युक्त, विशेष दिशोन्मुख, तथा विशेष भाव-दृष्टि सम्पन्न जो मनोभाव हैं उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करने का कोई अधिकार नही है। और यदि मान भी लिया जाये कि अधिकार है, तो हम यह कह देंगे कि वह अभिव्यक्ति, जो आपने ऐसे भाव समुदायो को प्रदान की, वह कलात्मक नही है। और यदि कही वह सचमुच कलात्मक है, यह सिद्ध हो ही गया, तो हम यह कह देंगे कि वह कृति आधुनिक भाव बोध के अन्तर्गत नही आती। किस्सा खत्म! समझ गये! एक विशेष प्रकार के भाव-समुदायो को ही मान्यता-प्राप्त है, अन्यों को नही।

ज्यो ही इतना सब सोचकर मैंने अपने मित्र की तरफ देखा तो पाता क्या हूँ कि कुरसी खाली है सूनी, एकदम सूनी! मुझ पर घडो पानी पड गया। न मालूम कब वह उठकर चला गया था!

[**नवलेखन** मे प्रकाशित, नवम्बर 1962। **एक साहित्यिक की डायरी** म सकलित।]

# एक लम्बी कविता का अन्त

कल ही मैंने एक लम्बी कविता खत्म की। उसका अन्त मुझे शिथिल-सा जान पडा। उसके अन्त पर जितना अधिक सोचता गया, मुझे लगा कि उस कविता को और बढाना होगा, कि वह अपने आप ही बढ जायेगी। मुझे उसकी सम्भावित लम्बाई-चौडाई को देख भय-सा जान पडा। भय इसलिए कि इतनी प्रदीर्घता हमारे यहाँ अच्छी नही समझी जाती। दूसरे यह कि उसके (मासिक पत्रो मे) प्रकाशन मे बडी असुविधा हो जाती है। अगर किसी व्यक्ति को पकडकर आप उसे अपना श्रोता भी बना लें, तव भी काम नही चलने का, क्योकि उसकी प्रदीर्घता उबानेवाली होगी। तब क्या किया जाये ?

क्या उसको काट-छाँटकर छोटा कर दिया जाये, या उसके भीतर जो बातें, जो गुत्थियाँ, जो समस्याएँ प्रकट हुई हैं, उनके चित्रणात्मक विकास के लिए अवसर और क्षेत्र प्रदान किया जाये ? दूसरे शब्दो म क्या मेरी कविता के वस्तुतत्त्वो को (अभिव्यक्ति के लिए) विकास का अवसर दिया जाये ? मैं उसको विकास और प्रसार का अवसर देने के पक्ष मे हूँ। आज मैं महीने-भर से उस कविता के चक्कर म पडा हुआ हूँ। या यो कहिए कि वह कविता हाथ धोकर मेरे पीछे पडी थी। बीच-बीच म, लोगो के पत्र आते रहे—पिताजी के, मित्रो के, कुछ अपरिचितो के भी। लेकिन मैंने कुछ नही किया। जब लगा कि लोग बहुत बुरा मान जायेंगे, मुझे गाली देंगे, उनसे मेरे सम्बन्ध विगड जायेंगे तब मैंने कलम ली और उन्हे दो शब्द लिख दिये।

इधर वह कविता मेरा पिण्ड नही छोड रही थी। अगर वह कविता भावावशपूर्ण होती, तो एक बार उसकी आवशात्मक अभिव्यक्ति हो जाने पर मेरी छुट्टी हो जाती। लेकिन वैसा हो सकना असम्भव है, क्योकि भावावेश किसी बात को लेकर होता है, वह बात किसी दूसरी बात से जुडी होती है, दूसरी बात किसी तीसरी बात से।

इसी तथ्य को मैं यो कहूँगा यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है, वह भी ऐसा ही गतिशील है, और उसके तत्त्व भी परस्पर गुम्फित है। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नही पाता, और जो छोटी होती हैं वे [illegible] कह रहा हूँ।) और इस [illegible] कर छोड दी हैं। उन्हे [illegible]

इससे भी बडी ट्रैजेडी यह है कि लोग मुझे गद्य लिखने को कहते हैं। एक बार, मैंने एक किताब की रिव्यू की (वह भी ऊपर से दवाव आने पर), तो देखता क्या हूँ कि रिव्यू के लिए किताबो-पर-किताबें आने लगी। अब आप तो जानते ही हैं कि सचाई पर (सचाई वह जिसे आप यकीनन सचाई समझते हैं) किसी-न-किसी हद तक बन्दिश लगी ही रहती है। इसीलिए रिव्यू करना आग से खेल करना है।

मेरे कृपाशील अधिकारीगण! (वे मेरे प्रगाढ मित्र भी हैं, लेकिन लेखक

नामक कार्यशील व्यक्ति का जन्तु समझते हैं)—लेखकीय कार्य के प्रति उनकी अनास्था इस आस्था से निष्पन्न होती है कि मनुष्य को अपनी आर्थिक और भौतिक उन्नति के लिए ही कार्य करना चाहिए। इसलिए साल मे अगर चार किताबें लिखकर चारेक हजार की आमदनी नही की तो क्या किया ! इसीलिए मुझे सलाह दी गयी है कि मैं उपन्यास लिखूं और अपना दलिद्दर मिटाऊँ।

मेरी स्त्री मेरी टेबिल के पास आकर खडी हो जाती है, और उदास होकर मुझसे कहती है कि तुम क्या कर रहे हो ? अच्छा, कविता ? इस पर कितने रुपये मिलेंगे ?

अब मैं यह सोचता हूँ कि कलम घसीटते हुए मेरे बाल तो सफेद हो ही गये। मेरे जीवन का यह अन्तिम कार्यकाल चल रहा है, तो मैं क्यो न अपनी कविताओ का सशोधन-परिशोधन करके, उन्हे प्रकाशन-योग्य रूप दे दूं ?

लेकिन यह कविता है कि हाथ-पाँव पसारती जा रही है। और अब सुना है कि मुझे जल्दी ही एक कुजी लिखने का काम मिलेगा। मेरी आर्थिक कठिनाई कुछ तो हल हो ही जायेगी। इधर माता-पिता भी आ रहे हैं। जरूरी है कि मैं लाभ-जनक कार्य हाथ मे लूं।

लेकिन बुरी बात तो यह है कि मुझे एक काम से दूसरे काम पर जाने मे तकलीफ होती है। अब यह हालत है कि मुझे इस कविता को बार-बार पढने की, उसमे बार-बार सशोधन करने की, इच्छा होती है। लेकिन अब समय नहीं है, फिर कभी देखूंगा।

लेकिन स्त्री मेरी टेबिल के पास खडी हुई है। किसी जमाने मे जब वह छोटी थी (और मैं भी छोटा था) तो बडी आकर्षक थी। आज वह मुझे भयोत्पादक प्रतीत होती है। उसको देखकर मेरे हृदय म करुणा, दायित्व-भाव, यथार्थ का आतक और भय—तरह-तरह की भावनाएँ व्याप्त हो जाती हैं।

कि इतने मे मेरी नजर दो चिट्ठियो पर जाती है जो मेरी टेबिल पर पडी हुई हैं, एक है शरद जोशी की, दूसरी अक्षयकुमारजी की।

दानो मेरे अपने है। बस, यही उनका दुर्भाग्य है, क्योकि अपनो से ऐंठना, अपनो की उपेक्षा करना, उन्हे गले-पडी चीज समझना—आज के बहुत-से कला-कारो का स्वभाव है। मैंने देखा है कि ऐसे कलाकार, साधारणत अपने को बौद्धिक और प्रतिभाशाली और आधुनिक समझते हैं—शायद वैसे होते भी है। दूसरे प्रकार के भी कलाकार होते है जिन्हे अपने लोग बडे प्यारे होते हैं। उनका यह हिसाब होता है कि अगर कोई कवि उनका दोस्त हुआ, तो वह निस्सन्देह ऊँचा और अच्छा कवि तो हो ही गया। किन्तु यदि कोई लेखक किसी दूसरी या तीसरी प्रकार की मण्डली मे रहता है, या नही भी रहता है, लेकिन उनसे अलग है, तो यह धारणा बनाने की प्रवृत्ति सबल हो जाती है कि वह यूं ही लिखता है, बेकार लिखता है, फिजूल लिखता है।

इस प्रकार की मण्डलियो मे जो चीज चलती है एक सीमित क्षेत्र मे, वही श्रेष्ठ और वरणीय दिखायी देती है। उनके वे सब अपने हैं। सगे हैं, इसलिए वे श्रेष्ठ भी हैं, उत्तम भी हैं, अच्छे भी हैं।

दूसरे शब्दो मे, एक विशेष प्रकार के लोग यदि अपनो से ऐंठकर उनकी उपेक्षा करते हैं, तो दूसरे विशेष प्रकार के लोग, उन्ही म रहकर, उनम प्रचलित स्तरो

को कसौटी समझकर, कीर्ति प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। यह भी सम्भव है यह 'घरे-बाहिरे' की समस्या हो, यानी कि जो अत्यन्त आत्मीय हो उन्हे यूँ ही समझा जाये, और जो पराये और परकीय हों उन्हे अपन आकर्षण, विश्वास और श्रद्धा का आस्पद माना जाये।

मेरा खयाल है कि सब लोग ऐसे नही होते। उन्ही मे मैं अपने को गिनवाना चाहता हूँ। लेकिन यह एकदम सच है कि अपनो की उपेक्षा का अपराधी हूँ।

लेकिन मैं उन अपनो स क्या कहूँ कि यह कविता मेरा पिण्ड नही छोडती थी। यह नही कि मैं उससे रात-दिन चिपका हुआ था (क्योंकि वैसा असम्भव है), वरन् यह कि जब भी मैं देखता कि मेरे हाथ म काम आ गया है तो पाता कि वह मेरी कविता है, और कुछ नही। मैंने न मालूम कितने ही महीने और वर्ष उन-जैसी पर खर्च किय हैं। और उनसे मुझ कुछ नही मिला—न धर्म, न अर्थ, न काम, न मोक्ष।

कुछ पागल लोग, कीमियागर (ऐलकेमिस्ट), लोहे को सोना बनाने की फिक्र मे लगातार काम करते हुए नष्ट हो गये। कुछ दूसरे ढग के पागल ज़मीन म गडे खज़ाने को खोजने और कभी भी न पा सकन म इतने मशगूल रहे कि उनकी फैमिली ने, समाज ने, ज़माने ने, उन्हें बेवकूफ करार दिया। कई तरह के पागल हुआ करते हैं, और मुझे अब समझ म आने लगा है कि, हो-न हो, मैं भी उसी श्रेणी म गिने जाने के योग्य हूँ। लेकिन नही, मैं फिर से समझदार बनने की कोशिश करूँगा, और गद्य लिखूँगा।

मैंने इस ओर काम भी शुरू कर दिया है। लेकिन क्या बताऊँ कि एक चीज़ है, जिसका नाम है धुन, जिसका नाम है लौ। ये शब्द 'आधुनिक' नहीं हैं, फिर भी उनके अर्थ का अस्तित्व आज भी विराजमान है। वह मुझे कविता की ओर ही ले जाती है। लेकिन मैं वचन देता हूँ कि मैं कविता नही बल्कि गद्य लिखूँगा। इससे मुझे आमदनी भी हो जायेगी, और कुछ यश भी बढेगा।

मैंने सोचा है कि मैं हर कविता पर एक कहानी लिखूँ। क्या यह असम्भव है? साफ बता दूँ कि मैंने वैसा कभी भी करके नही देखा है। फिर भी सोचता हूँ कि वैसा करूँ। क्यो? अब क्या बताऊँ कि इस तरह मुझे गद्य लिखने की आदत तो पड जायेगी। लेकिन उससे भी बडी बात यह होगी कि अगर कविता नही तो कविता की आत्मा को, कहानी के रूप मे ही क्यो न सही, मान्यता प्रदान करा सकूँगा। यह मेरी अभिलाषा है।

यह सही है कि मेरी कविता 'आधुनिकतावादी' है, घनघोर है। लेकिन मैं आधुनिकतावादियो म भी पुराना हो रहा हूँ, और अब जल्दी ही खुर्राट हो जाऊँगा। मेरे-जैसे बहुत-से पुरान नयो से भयभीत हैं, डर के मारे अपन पुराने कुरतों को उतारकर नया बुशशर्ट धारण कर रहे हैं। आज से कोई पचीस-तीस साल पहले यह हालत थी कि नया लडका भी मूँछें-वूँछें रखकर, और दूसरे तौर-तरीक़ो स, अपन को बुज़ुर्ग-जैसा गम्भीर बनाये रखना चाहता था। आज हालत यह है कि बुज़ुर्ग भी बालक बनना चाहते हैं, और चपल चचलता सूचित करने के लिए उसी तरह की पोशाक भी धारण करते हैं। इसका कारण था। पहले समाज और परिवार पर बुज़ुर्गों का वज़न था, आज नवयुवकों और बालकों का ज़ोर है। दो-एक साल पहले मैं यू पी गया हुआ था। वहाँ जाकर देखता क्या हूँ कि एक

स्वनामधन्य अत्याधुनिक महानुभाव दुःखी हैं। पूछने पर पता चला कि वे नयी पीढ़ी के कारनामों से पीड़ित हैं। जब मैंने उनकी कहानी सुनी तो मुझे भी पीड़ा हुई।

लेकिन सवाल यह है कि अगर समाज और परिवार पर बुजुर्गों का वज़न नहीं है, तो आज, मुख्यतः, वे स्वयं दोषी एवं अपराधी हैं। स्वयं वे कहीं चूक गये, इसलिए मात खा गये।

मेरा अपना विचार है कि जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचार से आज हमारा समाज व्यथित है, उसका सूत्रपात बुजुर्गों ने किया। स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त भारत मे, दिल्ली से लेकर प्रान्तीय राजधानियों तक, भ्रष्टाचार और अवसरवादिता के जो दृश्य दिखायी दिये, उनमें बुजुर्गों का बहुत बड़ा हाथ है। अगर हमारे बुजुर्गों पर नये तरुणों की श्रद्धा नहीं रही, तो इसका कारण यह नहीं है कि वे अनास्थावादी हैं, वरन् यह कि हमारे बुजुर्ग श्रद्धास्पद नहीं रहे। और अगर हमारे युवक अनास्थावादी हैं, तो भी कोई बुराई नहीं है, क्योंकि अनास्था का जन्म आस्था से ही होता है। अनास्था आस्था की पुत्री है। फर्क यह है कि आज के पहले दर्शकों के सामने रंगमंच पर आस्था नाटक खेला करती थी और अनास्था नेपथ्य में सूत्र-संचालन करती थी, तो आजकल रंगमंच पर अनास्था नाटक करती है और आस्था नेपथ्य में बैठकर चुपचाप सूत्र-संचालन करती है। यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि आज के नवयुवकों में केवल धुआँ शेष रह गया है और आग नहीं है। आग है, और वह भीतर-ही-भीतर है। लेकिन नवयुवक पाता है कि आज उस आग की कोई कीमत नहीं रह गयी है। इस व्यावहारिक जगत् में, जिसे कभी ग़लती से समाज भी कहा जाता है, उस आग को 'पुराना भार'-जैसा कुछ माना जा रहा है। वह आग उसकी निज की है, लेकिन उसके कारण सामाजिक हैं—अधिकतर। लेकिन अगर ऊपर कही हुई बात सच है, तो सवाल यह है कि उसके काव्य में वह आग झलकती क्यों नहीं? प्रश्न स्वाभाविक है।

इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जा सकता है। बुजुर्गों ने, सत्ताधिकारियों ने, समाज-संचालकों ने, आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्गों ने, समाज के प्रत्येक स्तर पर प्रकट और अप्रकट, सूक्ष्म और स्थूल, भ्रष्टाचार का विधान कर रखा है। इस भ्रष्टाचार के कई रूप हैं। कभी वह क़ानून के रूप में भी प्रकट होता है, कभी क़ानून की आड़ में ग़ैर-क़ानूनी रूप में। क़ानून या नियम तो आर्थिक शक्ति से सम्पन्न प्रभावशाली लोगों की सुविधा के लिए हैं।

तो इस प्रकार के वातावरण में फिट होने के लिए, हमारी समझदारी का यह तकाज़ा होता है कि किसी-न-किसी तरह शैतान से समझौता करके गधे को भी काका कहो। बड़े-बड़े आदर्शवादी आज रावण के यहाँ पानी भरते हैं, और हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। बड़े प्रगतिशील महानुभाव भी इसी मर्ज़ में गिरफ़्तार हैं। जो व्यक्ति रावण के यहाँ पानी भरने से इनकार करता है, उसके बच्चे मारे-मारे फिरते हैं। और आप जानते हैं कि ख्याति प्राप्त यशोदीप्त प्रगतिशील महानुभाव भी (मैं सबकी नहीं कह सकता) उन पर हँस पड़ते हैं, या कभी-कभी तुच्छ के प्रति दया के भाव से परिप्लुत हो उठते हैं। तो, संक्षेप में, जो व्यक्ति फटे-हाल और फटीचर है, उसे मान्यता देने के लिए कोई तैयार नहीं, चाहे वह कितना ही नैतिक

क्यों न हो।

तो ऐसी दयनीय शनिश्चरी दशा से बचने के लिए, अगर हमारे नवयुवक चतुरता का प्रयोग करें तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वे भी रावण के किसी दास के अनुदास के उपदास से अपना रिश्ता कायम करने में लगे हुए हैं। और रावण के राज्य का एक मूल नियम यह है कि जो अपना अनुभूत वास्तव है उस पर परदा डालो। इसलिए हमारे बहुत-से कवि और कथाकार, मारे डर के, उस वास्तव को नहीं लिखते हैं जिसे ये भोग रहे हैं क्योंकि ये उस वास्तव को इतना अधिक जानते हैं कि, अति-परिचय के कारण भी, उस वास्तव से उड़ जाना और उड़ते रहना चाहते हैं। अनुभूत वास्तव का आज जितना अनादर है उतना पहले कभी नहीं था।

यह नहीं कि आज का कथा-साहित्य अयथार्थवादी है, अथवा यथार्थविरोधी है, बल्कि यह है कि लेखक यथार्थ के नाम पर, अनुभूत यथार्थ (अपने जीवन के वास्तविक यथार्थ) से दूर निकलकर, किसी और के यथार्थ से कहानियाँ और उपन्यास गढ़ना चाहता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे लेखक के पास प्रतिभा नहीं है। बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि उसमें सोशल कॉन्शिएस—मानवीय अन्तरात्मा—मानवीय विवेक-चेतना—की हलचल मचानेवाली पीड़ा नहीं है, क्योंकि वह ज़रूरत से ज्यादा समझदार हो गया है और समझदारी का यह तकाज़ा है कि जिस दुनिया में हम रहते हैं उससे हम समझौता करें।

आज के साहित्यकार का आयुष्य-क्रम क्या है? विद्यार्जन, डिग्री और इसी बीच साहित्यिक प्रयास, विवाह, घर, सोफासेट, ऐरिस्टोक्रैटिक लिविंग, महानों से व्यक्तिगत सम्पर्क, श्रेष्ठ प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकों का प्रकाशन, सरकारी पुरस्कार, अथवा ऐसी ही कोई विशेष उपलब्धि, और चालीसवें वर्ष के आस-पास अमरीका या रूस जाने की तैयारी, किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता से अपनी कृतियों का अँगरेज़ी या रूसी में अनुवाद, किसी बड़े-भारी सेठ के यहाँ या सरकार के यहाँ ऊँचे किस्म की नौकरी!

अब मुझे बताइए कि यह वर्ग क्या तो यथार्थवाद प्रस्तुत करेगा और क्या आदर्शवाद? स्वामी विवेकानन्द आज से कोई सौ बरस पहले यह घोषित कर चुके थे कि भारत के उच्चतर वर्ग नैतिक रूप से मृतक हो गये हैं। वे कहते हैं, 'भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। उच्चतर वर्ग दैहिक और नैतिक रूप से मृतवत् हो गये हैं।'

अगर उच्चतर वर्गों की यह हालत उस समय थी, तो आज हम सिर्फ यह कहेंगे कि इस समय भारत के उच्चतर वर्ग दैहिक रूप से खूब प्रबल हो गये हैं। और जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, वह न पहले कभी थी, न आज है। नैतिकता के स्थान पर आज सिर्फ सौदेबाज़ी और अवसरवादिता है। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार यह भी कहा था, 'मैं एक समाजवादी हूँ इसलिए नहीं कि वह एक सर्वगुण-सम्पन्न सम्पूर्ण व्यवस्था है, बल्कि इसलिए कि रोटी के अभाव की अपेक्षा आधी रोटी बेहतर होती है। अन्य व्यवस्थाओं की परीक्षा की जा चुकी और उनमें अभाव ही-अभाव पाये गये। अब इस (व्यवस्था) की भी परीक्षा कर ली जाये—अगर और किसी बात के लिए नहीं तो केवल नवीनता के लिए ही क्यों न सही!' ध्यान में रखिए, ये बातें, जो स्वामी विवेकानन्द ने कहीं, रूसी राज्य क्रान्ति के पहले कही

भयानक दृश्यो का विस्तार भारत मे आज भी कम नही है।

तो मैंने यह सब क्यो लिखा ? इसलिए,कि आज निर्धन को इस परिस्थिति मे जीवन-यापन करना पड रहा है। और चारित्रिक अध पतन मे मानसिक सकटो और आन्तरिक ग्लानियो का अनुभव करना पड रहा है। इस परिस्थिति से आप इस स्थिति को भी मिलाकर देखिए कि हिन्दी क्षेत्र मे कोई व्यापक सजीवनकारी आन्दोलन या हलचल नही है, जो सम्भवत अन्य भाषा-भाषी प्रान्तो मे है।

ऐसी स्थिति मे, जबकि बाह्य-समाज मे सजीवनकारी उत्प्रेरक आन्दोलन या ऐसी सगठित शक्ति नही है, एक सवेदनशील मन, जिसमे अब तक अवसरवादी कौशल और लाभ-लोभ की समझदारी विकसित नही हुई है, केवल अपने को *नि सहाय अनुभव करता है। यदि वह कवि हुआ, तो सहज मानवीय आकाक्षाओ की* पूर्ति के सामाजिक वातावरण के अभाव मे, उसके काव्यात्मक रग अधिक श्यामल, अधिक बोझिल और अधिक आत्म ग्रस्त हो जाते हैं।

हाँ, तो मैंने अपनी एक कविता मे उन्ही काजली रगो का प्रयोग किया है। अन्तर केवल यह है कि इस श्यामलता के कार्य-कारण सम्बन्ध भी वहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। अब, कविता कोई निबन्ध तो है नही कि जिसमे लोगो को आज के हालात की जानकारी मिले, न वह कोई नाटक है, जिसम पात्र प्रस्तुत होकर मूर्त रूप से *जीवन-यथार्थ उपस्थित करते है। कविता, एक सगीत को छोड, अन्य सब कलाओ* से अधिक अमूर्त है। वहाँ जीवन-यथार्थ केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है, या बिम्ब बनकर, या विचार बनकर। कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुत भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार, कविता के भीतर का कथा-तत्त्व भी भाव का इतिहास है।

तो फिर ऐसी स्थिति मे यह असम्भव नही है कि कविता को अनेक क्रमबद्ध गद्य-चित्रों मे प्रस्तुत किया जाये। अथवा अनेक क्रमबद्ध गद्य-चित्र कुछ इस तरह *आलोकित और दीप्तिमान् हो उठें कि छन्द बन जायें, गतिमान् हो जायें, और एक* विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो सकें।

पता नही क्यो और कैसे, मैंने एक काव्य-कथा लिख दी। निस्सन्देह उसमे कथा का केवल आभास है, नाटकीयता की केवल मरीचिका है। वह विशुद्ध आत्मगत काव्य है और उस काव्य के रग साँवले हैं, बिलकुल साँवले। भय, आतक, अनिश्चय, जिज्ञासा, कुतूहल और समाधान, घबराहट और दुश्चिन्ता उसमे झलक उठती है। वह असल मे एक ऐलिगॉरी है—एक रूपक है।

वह रूपक *क्या है ?*

एक व्यक्ति है, उसे लगता है कि वह एक ऐसे अहाते मे चला आया जहाँ पहुँचना प्रतिबन्धित है। उस अहाते के भीतर एक बँगला है—पुराना-धुराना। बँगला रहस्यमय है। वह सूना है। वहाँ उसे एक आदमी मिलता है जो गुप्तचर प्रतीत होता है। एक दूसरा आदमी मिलता है जो बिलकुल पागल है। कविता के अन्त मे बताया जाता है कि इस बँगले की सीढियाँ ज़मीन के भीतर-भीतर चलती हैं, वे कई देशो मे जा निकली हैं, वे शहर के क्लॉकटॉवर मे भी चुपचाप पहुँच गयी हैं और मानव-मस्तक के भीतर के सर्वोच्च स्थान पर भी। इस बँगले से सबने अपना-अपना सामजस्य स्थापित कर लिया है। इसी सामजस्य स्थापना के फलस्वरूप सब लोग अन्दर से टूट गये हैं, उनके दिल की कई फाँकें हो गयी हैं। इसी कारण से

प्रतीत होता है कि यहाँ एक वानर-सत्ता है। अर्थात् एक नकारवाद है। सक्षेप मे, वह बँगला, लाभ-लोभ की अर्थवादिनी सत्ता का प्रतीक है, जिससे सामजस्य और सन्तुलन स्थापित करके लोगो ने अपने-आपको झुठला दिया है। बँगले के भीतर आत्मा की हत्या हो चुकी है। और इस हत्याकाण्ड से सब लोग परिचित होते हुए भी चुप हैं, क्योकि वे उस बँगले की सत्ता से सामजस्य स्थापित किये हुए हैं।

गद्य मे यह रूपक एक सिलसिले से सामने आता है, लेकिन कविता मे यह *सिलसिला टूट जाता है, उसी तरह जैसे स्वप्न के भीतर स्वप्न आते हो*—उलट-पुलट होकर। कविता मे मैंने उस उलट-पुलटपन का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है।

सोचता हूँ कि अपनी इस प्रदीर्घ कविता को किसी कहानी का रूप दे दूँ। सम्भव है कहानी की कोई मासिक पत्रिका मुझे कम-से-कम पन्द्रह-बीस रुपये दे दे। *इससे मैं अपने मित्रो के सामने यह सिद्ध कर सकूँगा कि मैं अयोग्य नही हूँ और* रुपये कमा सकता हूँ! कुजी लिखने का काम मैं चार दिन के बाद करूँगा। क्यो, ठीक है, न?

[**नवलेखन** मे प्रकाशित, जनवरी 1963। **एक साहित्यिक की डायरी** मे सकलित।]

# गली का लड़का

हमारी गली का लडका इस कस्बे से भागकर जब दिल्ली की एक सडक पर आ निकला, तब हमने देखा कि उसका रूपरग भी बदल गया था। एक साल बाद जब हमने उससे मुलाकात की तो बात-बात मे यह मालूम हो गया कि वह हमें निरा गँवार समझता है। फिर भी चूँकि उससे हमारा रिश्ता बडा पुराना है, इसलिए न हम उसकी उपेक्षा कर सके, न वह हमारी बातों ही को नजरअन्दाज कर सका। इसलिए एक बुनियादी गहराई की सतह पर हम आपस मे कभी छुपे कभी खुले आलोचक हो गये। जो बात हम साफ नजर आयी वह यह कि हमारी गली मे से गायब होकर दिल्ली मे निकल आया हुआ वह लडका अपनी गली की जिन्दगी की असलियत को न सिर्फ भूल चुका है, लेकिन उस गली को—बिना उसके दोनो ओर रहनेवाले मकानो से पूछे—एकदम सडक बनाना चाहता है।

हमारी गली अगर एक शानदार सडक बन जाय तो सचमुच बहुत अच्छा होगा, बशर्ते कि—हाँ, बशर्ते कि उसके दोनो ओर जो टूटे-फूटे मामूली मकान हैं—उनमे रहनेवाले *लोग—सडक के दोनो ओर आलीशान* इमारतो म रहने लगें। लेकिन अगर इसके बजाय, उन्हे दूर कही जगल मे तम्बुओ के नीचे सडने के लिए डाल दिया गया तो नि सन्देह मानव-हत्या होगी।

मुझे नागपुर की बात मालूम है। स्टेशन से चलकर इतवारी तक पहुँचनेवाला जो एक मार्ग था, उसको चौडा किया गया। आज वह अच्छी लम्बी-चौडी खुली-

खुली बढिया सडक है। लेकिन उस पुराने तग रास्ते के दोनो ओर जो टूटे-फूटे मकान थे, उनम रहनेवालो की ऐसी तैसी हो गयी। उनको वहाँ से भगा दिया गया, मकान गिरा दिये गये। मामूली नुकसान-भरपाई करके उन्हे बिल्कुल बेघर बना दिया गया। उनके लिए पहल ही से, दूसरी व्यवस्था—वह मामूली ही क्यो न सही—की जानी चाहिए थी। किन्तु निर्माण-स्वप्न की परिपूर्ति मे, उन बेबस, लाचार ग़रीबो की जिन्दगी तहस नहस कर दी गयी। आन्दालन हुए, विरोध हुआ, बेचैनी बढी। लेकिन तब तक सडक खूब अच्छी तरह बन चुकी थी। क्रमश आन्दोलन ठण्डा हुआ। कुछ को फायदा हुआ। बहुत से मारे गये।

हिन्दी साहित्य मे समीक्षा-कार्य पर सोचते हुए मुझे उक्त घटना की याद आ जाती है। जो प्रवृत्तियाँ हमारे देश-जीवन मे कार्य करती हैं, वे ही साहित्य-क्षेत्र मे भी। अपनी गली मे मे भागा हुआ जो लडका दिल्ली मे आ निकला है, वह डेढ हज़ार रुपये पानेवाला कोई डीन ऑफ दि फैकल्टी ऑफ आर्ट्स, किसी सेठिया चित्र-साप्ताहिक पत्र का सम्पादक, कोई ऊँचे किस्म का डायरेक्टर, किसी ऊँची अकादमी का सेक्रेटरी, या इन सब लोगो के नीचे के पदो मे काम करनेवाला कोई प्रभावशाली असिस्टेण्ट हो सकता है। यानी, जिस गली मे से भागकर वह गायब हुआ है, उस गली के अस्तित्व और उसके अपने अस्तित्व के बीच न लाँघे जा सकनेवाले फासले खडे हो गये हैं। इन फासलो को हटाना अब नामुमकिन हो गया है।

जो आदमी जहाँ से ऊपर उठता हुआ ऊँचा तनता जाता है, वह आदमी अपनी खुद की जमीन से दूर दूर बहुत दूर पड जाता है। और फिर अपनी ऊँचाई पर खडे होकर, वह नीचे की ज़मीन को बदलने की सोचन लगे तो बडी मुश्किल हो जाती है।

साहित्य-समीक्षक अपनी जमीन से ऊपर दूर, बहुत ऊँचा उठा हुआ इन्सान है। जमीन पर चलनेवाली जीवन्त प्रक्रियाओ से उसे खास मतलब नही। वह उस जमीन मे अच्छे-अच्छे फेर-बदल करना चाहता है। उसका लक्ष्य ऊँचा है, ठीक उतना ही, या उससे अधिक ऊँचा, जितना ऊँचा वह खुद है।

सरकार के आर्किटेक्चरल डिपार्टमेण्ट (स्थापत्य विभाग) के मास्टर-प्लैन फॉर
[illegible] ास श्रेष्ठ साहित्य का

[illegible] तम जीवन-मूल्यो का एक कल्पना-चित्र हो सकता है। उसके पास एक उत्कृष्ट निर्माण-स्वप्न हो सकता है। उसकी यह सौन्दर्यपूर्णता मेरे सर-आँखो पर।

लेकिन, वह ज़मीन से बहुत ऊपर, बहुत ऊँचा, बहुत दूर, बहुत अलग है। जमीन पर चलनेवाली प्रक्रियाओ का उसे कोई भान नही, उसस उसका कोई निजी सम्बन्ध नही।

तो क्या वह बुलडोज़र लगाकर, गली के टूटे फूटे मकानो मे आसरा पानेवाले लोगो को बेघरबार कर दे? सिर्फ नाम की मामूली नुकसान-भरपाई करके, उन्हें जगल मे झोंपडी मे रहने के लिए मजबूर करे? और इस तरह उस तग रास्ते को लम्बी-चौडी बढिया, खुशनुमा सडक म बदल दे? वह क्या करे? या तो वह जैसा है वैसा चलने दे, या वह बुलडोज़र लगाकर मकानो को खोद डाले!

तो आप बताइए, वह क्या करे, किस तरह करे? उसकी कार्य विधियाँ क्या

होनी चाहिए ?

इन स्थापत्य-विशेषज्ञो मे से कुछ लोग ऐसे है जो यह कहते है, "हे गली, अगर तुम्हे श्रेष्ठ और मानवोचित होना है तो तुम सडक बन जाओ। सडक बनने के सिद्धान्त इस प्रकार हैं, तुम उनका पालन करो। इस तरह करो कि सडक बन सको, जल्दी-से-जल्दी।"

किन्तु गली सुनती नही, न उन विशेषज्ञो की भाषा समझ मे आती है, न उनके सिद्धान्त। उसे लगता है कि ये विशेषज्ञ उसकी अपनी जिन्दगी को समझते ही नही। वे बडे हैं। उनका प्रभाव होता है। इसलिए एकाएक उनकी अवमानना करने का जी नही होता।

लेकिन वह देखती क्या है कि हजारो लाउड-स्पीकरो से उसे भाषण दिये जा रहे हैं। वह मुग्ध भाव से भाषण सुनती है, और उसके बाद फिर अपने काम-धन्धे मे लग जाती है।

लेकिन, जब बुलडोजर उसके टूटे-फूटे मकानो को खोदने के लिए धडधडाते हुए चले आ रहे हैं, तो वह घबरा जाती है, तितर-बितर होकर इकट्ठा होती है, इकट्ठा होकर कट मरती है।

लेकिन ऐसे स्थापत्य-विशारद बहुत कम हैं, जिनके पास बुलडोजर हो। इसलिए, वे गली पर शाप-वर्षा करके ही चुप हो जाते हैं, चुप रहकर फिर शाप-वर्षा करने लगते हैं।

ऐसे समीक्षक साहित्यिको को पढाने लगते हैं, उन्हे उपदेश देते हैं। उनकी पढाई मे और उनकी उपदेश-प्रियता मे सचाई भी हो सकती है। लेकिन वे गली के सम्बन्ध से, गली के लिए, बहुत विदेशी हो उठे हैं। उनकी सब बातें सत्यपूर्ण होते हुए भी सत्यनारायण की कथा मालूम होती है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1963-64]

# कुछ और डायरी

सुदूर भविष्यत् की भाँति सुदूर-गत अतीत भी अत्यन्त आकर्षक किन्तु धूम्राच्छन्न होता है, अन्तर इतना है कि भविष्यत् वर्तमान की तूलिका से रँगा जाता है और अतीत पहले से ही रँगा हुआ होता है। भविष्यत् की कल्पना हमारे मनोभावों पर अवलम्बित है, किन्तु भूत पर हमारे मनोभाव अवलम्बित है। अतीत हमारी समालोचना है, वर्तमान हमारा गतिमान काव्य है, और भविष्यत् हमारी आशा है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् एक ही इतिहास के तीन भाग है जिसका मध्य भाग नितान्त छोटा है, पर महत्त्वपूर्ण। भविष्यत् का सिनेमा बडा सस्ता है, और भूत का इसके विपरीत। भूत का सिनेमा महँगा इसलिए है कि हमारा नायक और उसका मन दो भिन्न हो जाते है। भविष्यत् के सिल्वर स्क्रीन पर नायक और उसका मन एक ही काम करते है। इस अर्थ मे भूत ट्रैजेडी कहा जा सकता है और भविष्यत् कॉमिडी।

2· भूत ट्रैजेडी तो है, पर उससे मनुष्य दुख म भी सुख अनुभव करते है। जहाँ तक मरा मनोविज्ञान कहता है, वहाँ तक मुझे विश्वास है, मेरे कहने मे, कि भूत हमारी मूर्खताओं से भरा हुआ एक चलचित्र है। क्या मैं अपने मे ही सीमित रहूँ ?

3 यह जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, या जो कुछ मैं लिखा करता हूँ, मेरे ही लिए है, इस अर्थ मे कि मैं अपन को लिखते समय बालाएताक नही रखखा करता। मैं ईश्वर बन रचनाओ मे समाया नही हूँ, पर प्रेमी बन प्रेमिका की आशा किया करता हूँ।

4 एक समय, मुझे याद है, मैं पुराने **किर्लोस्कर** की फाइलें उलट-पुलट कर रहा था कि अचानक एक लेख पर मेरी दृष्टि पडी। उस लेख का शायद नाम यह है—'फिरून पाहिले तर', लेखक शायद प्रो दाण्डेकर हैं। मुझे सबसे बडी बात जो उस लेख मे दिखायी दी, वह है, मेरे जीवन की बातो से उस लेख का विचित्र साम्य। उसमे लेखक स्वय भी घटनाओ का पात्र था। उसमे लिखा था "मेरा बचपन भूलो से भरा हुआ-सा दिखायी देता है, जो भी (अर्थात् जबकि) वर्ड्सवर्थ बचपन को आध्यात्मिक महत्त्व देता है, और कहता है कि बचपन सुखो की खान है, दैवी है। पर मेरे लिए यह बात नही।" मैंने कहा, "बहुत ठीक।" मैं भी बचपन को मेरे जीवन की भूलों का एक पृष्ठ समझता आ रहा हूँ। बच्चो पर जो अत्याचार माता-पिता करते हैं, मुझे याद हैं, मैं उसका कितना प्रतिकार किया करता था, अपनी जिद से, अपने सत्याग्रह से। मैं दाण्डेकर महोदय का कृतज्ञ हूँ, इसलिए कि

उन्होंने पीछे घूमकर देखने की अभिलाषा मुझमें जाग्रत कर दी, जिसके वशीभूत होकर मैंने एक समय आत्मचरित लिखने का निश्चय-सा कर लिया था, और तद्-भव आनन्द दबा न सकने के कारण, मैंने यह बात अपने एक गहरे मित्र को इस शर्त पर कह दी थी कि वह मेरी 'बात' किसी से न कहे।

5. सुदूर अन्धकार में अपनी बात खोज निकालने के लिए किसी दैवी टॉर्च की आवश्यकता नहीं है। अन्धा अपनी वस्तुएँ स्पर्शादि द्वारा खोज लेता है। मैं नहीं जानता, उसे आनन्द होता है या नहीं इस वृत्ति में। पर भई, मेरे लिए अन्धकार तो एक आकर्षण है। अतएव मैं इस ध्वान्त को चीरकर उसके सौन्दर्य को नष्ट नहीं करना चाहता। मैं तो वस्तुओं को टटोलना चाहता हूँ, और उन्हें वैसे ही रखना चाहता हूँ जैसी कि वे मेरे हाथों को लग रही हैं। ना, आप आँख से मत देखिए, पर आपकी स्पर्शानुभूतिवाली अँगुलियों से टटोलिए। सम्भव है, वे छिद जायें। पर इससे आपको नुकसान नहीं होने का। अन्धकार में यही मज़ा है। अन्धकार में कोई द्रौपदी अपनी साड़ी का अंचल फाड़कर अपने घाव को पट्टी नहीं बाँधेगी। आपकी अँगुलियों से रक्त बहता जायेगा, और आपका भार भी हल्का होता जायेगा, और आप वस्तु को पहचान लेंगे। आप उसके रूप को देख न सकेंगे, लेकिन उसकी आत्मा आपकी गीली अँगुलियों को मिल जायेगी। अन्धकार में इतना पा लेना क्या कम है?

6 धूम्र की गहराई या घनापन इतना अधिक हो जाता है कि उसको छेदकर अपनी वस्तु प्राप्त कर लेना सरल काम नहीं है। किन्तु छेदने की हिम्मत करना इतना आकर्षक, उन्मादक होता है कि प्रत्येक व्यक्ति हिम्मत कर ही नहीं सकता। शायद लोगों के पास समय भी इतना नहीं है। और वस्तुतः भूत की ओर दृष्टि डालना इस क्रियाशील जगत् का काम नहीं। अपने साध्य के साधन में जगत् इतना तत्पर है कि न तो उसे भविष्य की चिन्ता है और न भूत पर विश्वास। यह तो प्रो. दाण्डेकर और उन्हीं की श्रेणी के लोगों के लिए है।

7. मैं इसके लिए आपको एक तरकीब बताऊँ। यह तो मानी हुई बात है कि भूत की ओर दृष्टि जमानेवाले व्यक्तियों की एक खास मनोवृत्ति हुआ करती है, वे स्वप्न-चर होते हैं। शायद इस दुखी जगत् में वे ही सुखी रहते हैं, क्योंकि सत्य स्वभावतः निष्ठुर हुआ करता है, और वे सत्य की उतनी परवाह नहीं करते जितने कि और सह-जीवी। आप रात को नौ बजे सोया करते हैं। खैर, आप प्रयोग के लिए आठ बजे सो जाइए। सो जाने से मेरा मतलब बिस्तर पर लेट जाना है, और आँखें मीलित कर लेना है। आँखें मीलित करना अत्यावश्यक तो नहीं है, पर ज़रूरी इसलिए है कि ऐसा करने से आप स्वप्न-भंग के खतरे से बच जायेंगे। आप अपनी दृष्टि उस सुदूरगत पूर्व की ओर लगा दीजिए। वह तो एक सघन धूमाच्छादित प्रदेश है जहाँ आप, ज़माना गुज़र गया, रह चुके थे। हाँ, देखिए, वह कितना आकर्षक है! शायद उस समय का वृत्तान्त आप अपने माता-पिता से पूछ सकते हैं। पर मैं तो कभी नहीं पूछूँगा। वह है ही ऐसा। यदि मैं पूछूँ भी तो मुझे विश्वास नहीं होगा, क्योंकि जिस रीति से मैं उस अन्धकार को देख रहा हूँ वह स्वयं ही एक सौन्दर्य लिये हुए है। वह अन्धकार कितना सुखद, कितना आकर्षक है कि मेरे प्राण ही उस अन्धकार में विचरण कर रहे हैं। यहाँ सघन अन्धकार है। अब धीरे-धीरे कम होता चलेगा। अब प्राण के साथ-साथ शरीर का भी अस्तित्व आता

चलेगा। अब आपके मानो में कोई ध्वनि गूँजती होगी, या कोई चित्र उभरता होगा। हाँ, सम्भव है, यह आपका पहला चित्र हो। इसमें अब आप एक पात्र का काम कर रहे होंगे। या कोई कहता होगा—

गग्गा मम्मो जाव आव
रज्जो को दूध लाव लाव।

हाँ, अब आपको दुःख-सुख का अनुभव भी करते जाना होगा। किन्तु यह चिन्ता तो असम्पूर्ण है, जैसे फ़िल्म बीच में न टूट गयी हो। पर देखा, फ़िल्म तो फिर चालू हो गयी। हाँ, यह दृश्य! पर मैं कितना अल्हड़ था! उसको गाली देने की आवश्यकता क्या थी? पर देखिए तो, मेरे बाबा भी मुझे मार रहे हैं, आह! क्या मेरे बाबा इतना नहीं समझते कि मुझे लग रही है, उनके बाबा उन्हें ऐसा मारते तो! और फ़िल्म टूट गयी। आप अपने बच्चों को रोज मारते हैं। और वे भी ऐसा ही खयाल करते हैं। उनके लिए तो आप एक रहस्य हैं। फिर फ़िल्म चली। हाँ, अब मैं आत्महत्या कर लूँगा। मेरा अपमान हुआ है सबके सामने। मैं गच्ची पर से कूद पड़ूँगा और मर जाऊँगा, फिर मेरे माँ-बाप रोयेंगे, बिलख-बिलखकर। पर, वाह, मेरा क्रोध तो करुणा हो गया, तो अब मैं मुँह नहीं दिखाऊँगा। इस मुँडेर के पीछे छिपा रहता हूँ। कभी नहीं उतरूँगा नीचे! ऊँ हूँ! ह ह, वाह, और मैं तो नीचे उतर गया। कितना बेवकूफ़ था मैं! सचमुच!

8 न मालूम कैसी-कैसी घटनाएँ आपको याद आती होंगी। हाँ, आपको अपने स्नेहियों पर क्रोध भी आता होगा, पर उनके दुःख को देख करुणा भी आती होगी। आप अपना भला-बुरा करने की इच्छा करते होंगे, पर कल्पना-सृष्टि के आँसुओं में आप स्वयं धुल जाते होंगे। आपको हँसी भी आती होगी। इस भूत के सिनेमा में आपके मन के दो भाग हो जाते हैं। एक वह मन जो नायक को सुख-दुःख का अनुभव कराता चलता है, और दूसरा वह, जो समय के प्रभाव में होने के कारण नायक की समालोचना भी करता चलता है। यह भूत की समालोचना, वर्तमान की धारा में बहकर, भविष्यत् की चट्टानों को अपने अनुसार बनाती चलती है।

9 हमारा बचपन वर्ड्सवर्थ की बातों को नहीं समझ सकता। वर्ड्सवर्थ ने 'ओड ऑन इम्मॉर्टेलिटी' अपने बचपन में नहीं लिखी है। यह तो मानी हुई बात है कि बचपन में मनोभाव होते हैं, विकसित न होते हुए भी घने होते हैं। बच्चे अधिक ज्ञानग्राही होते हैं और सेंसिटिव भी। यह लेख बचपन के मानस-विश्लेषण को अपना विषय नहीं बना रहा है, किन्तु यह कह देना आवश्यक-सा प्रतीत [होता] है कि वर्तमान की आँखों द्वारा भूत-गर्भशायी बचपन को जब हम देखने लगते हैं, तब एक बात जो सबसे अधिक खटकनेवाली मालूम पड़ती है, वह यह है कि वयस्क पुरुष बच्चों को समझते नहीं है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ रोक दी जाती है, निसर्ग-दत्त गुणों को दबा दिया जाता है, अपनी बनायी हुई 'लाइन' पर चलाया जाता है। बालक की शंकाओं को शान्त नहीं किया जाता। इससे, वे यदि बोदे हुए तो, उनके मन दब जाते हैं, तेज हुए तो विद्रोही हो जाते है, जो कि एक अच्छी बात है क्योंकि विद्रोह [जीवन] का चिह्न है। बालक का युद्ध बड़ों से सत्याग्रह ही कहलाया जा सकता है। हमारे उस विकास-युग में हमारे माता-पिता अपनी जिम्मेदारी खाने-पीने, कपड़े-लत्तों तक ही समझते हैं, जो अनुचित है। उनके मानस को तैयार नहीं किया जाता है। तैयार करना अप विचारादि को उन पर

जबरदस्ती डालना नही होता। पढाया जाता है : 'माता-पिता देवता हैं'। बच्चो का छोटा-सा सिर इस बात को समझने मे नितान्त अक्षम है। इस 'दैव-तत्त्व' का बालक-मस्तिष्क से सम्बन्ध क्या ? वह तो दुनिया को अपनी दृष्टि स देखता है, आपकी दृष्टि से नही। उसे तो ससार रहस्य का और तद्भूत आश्चर्य का आगार है। *बालक आपको नही समझ पाता। यही तो विग्रह की भूमि उर्वर है।* उसके सरल प्रश्न के उत्तर मे आप हँस सकते हैं। सम्भवत किसी कारणवश रो सकते हैं, पर उसको सन्तुष्ट तो नही कर सकते। उसका प्रश्न इतने विचित्र रीति से सरल होता है कि आप उसके भोलेपन पर मुग्ध होकर उसके प्यारे-प्यारे गाल, छोटे-छोटे होठ—यानी सबको, जो उसका अग मिल जाय—चूम लेते हैं, और वह आपके इस आश्चर्यजनक व्यवहार पर न मालूम क्या सोचता है! यही सोचता है, आप एक रहस्य हैं, एक पहेली हैं। आप उत्तर तो देने स रहे। या तो फटकार देते हैं, या इस तरह टाल देते हैं। कुछ भी हो, बालक पर अत्याचार होता है।

10 हाँ, उस भूत के अन्धकार मे हम बालक का हृदय लिय फिरते हैं, तब हमें आपकी बुराई अच्छाई मालूम देती है। यह तो मानस है। आज हमारा मन दूसरे किस्म का हो गया है, पर उसम मौलिक गुण अब भी है। आज का हमारा युवक-मस्तिष्क जिस बात को अच्छी कहता है, वही बात एक वृद्ध, राजनीतिज्ञ की तरह कहने लगता है। साराश यह कि यदि हम एक-दूसरे का मानस समझने लग जायें तो हममें इतनी अनुदारता न रहे।

11 और ये भूतकालीन चित्र क्या हमारे जीवन मे कम महत्त्वपूर्ण है ? ना, मैंने कहा, ना, जीवन तो विकारो का—कार्यों का—एक पुलिन्दा है, और स्मृतियाँ उसकी सच्ची आलोचना है। हमारे आगे के जीवन के लिए भले ही यह उपयोगी सिद्ध हो, पर उसका सच्चा महत्त्व इसमें अवस्थित नही है। आगे के जीवन को बनाना यह क्रियाशील जगत् का एक कर्तव्य है। पर 'स्वप्न-चर' इन बातो से दूर हैं। वे तो इसे हृदय का टॉनिक समझते हैं, इसलिए नही कि उन्हे जीवन-नैया बहुत देर तक खेना है, किन्तु इसलिए कि टॉनिक मीठा लगता है, और उन्हे लेने मे आनन्द आता है। इन लोगो का जीवन पुष्ट जीवन है। वे तो कल्पना के मन्दिर मे अनुभूति के उपासक हैं। यही उनका धर्म है। ये वे लोग है, जो जगत् की शिशुता पर हँस देते हैं, शाप नही देते। हाँ भैया, यही तो सच्चे साधु हैं।

12 इन लोगों को अपनी मूर्खताएँ प्यारी लगती हैं। वे उनकी चीज हैं। वे अपनी मूर्खता पर रोकर उसे दुलराते हैं। उनके प्यार का यह भी एक अग है। अधजली बीडी के धुएँ मे वे अपने प्रासाद बनाते हैं, जहाँ उनकी प्राण-प्रिया मज-दूरनि रहती है और वे। उनके इतिहास [के दो भाग होते हैं, भूत और भविष्य। या यूँ कहिए कि एक भी भाग नही होता, और वह इतिहास इतिहास] *नही रहता,* वह वर्तमान होता है। (हमारे ससार मे ऐसे कितने ही महात्मा हैं जिनको हम जानते नही, और जगत् को जानने की आवश्यकता भी क्या ?)।

13 भूतकाल ऐसे लोगो के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, वे स्वय इस अनजाने जान लेते है। जो अन्धकार को प्यारी चीज समझता है, जो प्रकाश से डरता है, जिसे अन्धकार से ठोकर लगना अधिक अच्छा लगता है, वही तो कल्पना के जीव हैं। भूत का अन्धकार उनका प्राण होता है भविष्यत् उनके लिए माँ का आशीर्वाद है, वर्तमान उनके लिए *नही होता। वे कर्तव्याकर्तव्य से बँधे नही हैं। वे जिस*

चीज से मुँह मोडना चाहते हैं, वह सामने आ गयी तो उसे भी ले लेते हैं, और उन्हे इसकी खबर भी नही होती। वे अपने मे गायब होते हैं। वे सन्त और व्यभिचारी दोनो हैं। उन्हे जगत् की परवाह नही भूतकाल का अन्धकार इन लोगो को कितना प्यारा लगता होगा !

14 भूतकाल फिर कभी नही आने का। वे बातें, वे मूर्खताएँ, अब हमारी सभ्यता के आवरण मे ढक चुकी हैं। हम अब युवक है, हमारे लिए कितना कार्य-क्षेत्र है ! ये तो राजनीति की बातें हैं। बचपन राजनीति क्या जाने ! हाँ, अब हम कल्पना के पखो से उस ओर उड चलें जहाँ हमारी मूर्खताएँ अब भी बालक की हँसी हँस रही हैं ! चलो, ना !

[रचनाकाल 30 मई 1936, मन्दसौर।]

## [ 2 ]

मैं अभी कुछ काव्य लिखने के मूड मे था कि एक व्यक्ति मेरा मानसिक सुख भग करने के लिए आ गयी। मेरे दिमाग मे एक सनसनी पैदा हो गयी। मैं नही चाहता था कि इस व्यक्ति को देख मुझे वैषम्य मालूम हो। पर मेरी भावनाएँ मेरे वश मे नही हैं। मैं दरवाज़े मे खडा था, और टेबिल के पास कुर्सी पर बैठने ही वाला था कि उसने मुझसे पूछा, "कहाँ जा रहे हो ?" मैंने धुन्नाते हुए उत्तर दिया, "कहीं नही।" और टेबिल के पास जाकर बैठ गया। हाथ मे कलम लेने के बजाय इक़बाल की **इसरार-ए-खुदी** का अग्रेज़ी अनुवाद सरका लिया और पत्ते उलटने लगा। पढता तो क्या खाक ! सिर मे खून तेज़ी से दौड रहा था। और मैं अचानक बहुत ज्यादा गम्भीर था। वह मेरे पासवाली कुर्सी पर बैठ गयी और मुझसे सहज भाव से पूछा, "जब कोई तुम्हारे पास आये, तो क्या तुम उससे नही बोलते ?" मैंने जरा नरमते हुए कहा, "बोलना तो पडता है, पर लगता ऐसा है कि यह न मालूम कहाँ से आ गया।" वह कुछ मिनिट चुपचाप बैठी और फिर कहा, "देखो, मुझे कुछ पेस्टल्स लाना है, तुम ला दोगे ?"

मैंने विवश होकर कहा, "अच्छा", और अपना मुँह किताब मे घुसेड लिया। वह उठकर चली गयी और मैंने जोर से किताब बन्द कर दी और अपने भन्नाते सिर को हाथो मे भर लिया।

अब मुझे एक बहुत पुरानी याद आती है। मैंने जब इसे प्रथम देखा तो मुझे ऐसा लगा जैसे यह कुछ देर तक मेरे देखने के लिए मेरे सामने खडी रहे। मुझे अब तक इसकी हरी साडी याद आती है। मैं बहुत शरमानेवाला आदमी हूँ। मैं स्त्रियों से बहुत कम मिलता हूँ, मानो वहाँ मेरे लिए कुछ खतरा हो। खैर, पर यह स्त्री मुझसे अधिक चतुर और निडर थी। मुझसे इसने कब से बोलना शुरू कर दिया, मुझे मालूम नहीं। मैं इसके साथ झेंपता हुआ बाजार मे जाया करता। वह गर्दन नीची किये न मालूम कहाँ-कहाँ की गप्पें सुनाया करती, मेरे साथ चलते हुए। मैं जब उज्जैन जाने लगा तो मुझे यह अपने भाई के साथ स्टेशन पर पहुँचाने आयी। सचमुच, मैं वह दृश्य कभी नही भूल सकता।

एक और दृश्य मेरे सामने आने से नही रुकता। मैं शाम को बहुत थक चुका

था, बाहर घूमने जाकर। घर आकर खाना खाया, तो नींद बहुत आने लगं
इसका गप्पें सुनाना बन्द ही न होता, यह अपने पलँग पे लेटी हुई थी। मेरे शर
थके हुए से, या न मालूम क्या देख, उसने मुझे पास लेट जाने के लिए कहा और
निर्दोष बालक के समान लेट भी गया। मैं नहीं जानता जगत इसका क्या अ
लेगा।

थोड़े ही दिनो बाद मैं निर्दोष बालक न रह गया। मेरे साथ मेरी आर्थि
मानसिक अवस्था, मेरा दुर्दम यौवन किसी साथी को पुकार उठा। मैं अपने मा
सिक रंगो के पीछे पागल-सा घूमने लगा।

यह मेरे पास आती, मुझसे बोलती, मैं भी बोलता, काफी बोलता, फिर
उसका चेहरा मुझे मेरी नयी प्रियदर्शिनी से बहुत ही कम जँचता, जैसे मैं इस
चेहरे मे अपना व्यंग्य अनुभव करता होऊँ। एक दिन की बात है, हाँ, उस दि
रविवार था, धूप बहुत ही तेज थी, और वह घर मे बैठी हुई थी, मैं भी अपने रू
मे लेटा हुआ था। एकाएक वह आ गयी, और इठलाती हुई मेरे पलँग पर ले
गयी। एकदम मानो किसी स्निग्धता के आवेश से वह मेरे बालो पर हाथ फेर
लगी, कहते हुए, "'बाबू', तुम्हारे कई बाल सफेद हो गये।" मानो वह सारा ध्या
लगाकर उन्हें निकालने लगी कि उसने दूसरा शिथिल हाथ एकाएक छोड़ दिया ज
मेरे नाक से फिसलता हुआ, होठो को स्पर्श करता हुआ, गोद में जा गिरा। व
एक पाँव नीचे रखे थी, एक पाँव पलँग पर। अब उसने दोनो पाँव पलँग पर र
दिये और उकड़ूँ बैठकर मेरे सिर के सफेद बाल चुनने लगी और इस तरह अपन
शरीर का भार मुझ पर डाल दिया, जो मेरे लिए असह्य हो उठा। मैं सोच रह
था, या चिन्ता मे मग्न था, अपनी नयी प्रिया के सम्बन्ध पर। मुझे जैसे इस स्त्री क
खयाल ही न था।

मैं जब अपने जीवन के गहरे प्रश्न पर चिन्तातुर होता हुआ भी विचार करते
हुए जगा, कि मैंने इसकी गोरी जाँघ खुली पायी, उसके शरीर और वस्त्र की
सुगन्ध पायी और इसके हाथ का स्पर्श।

, और
छोड
.ा, तो
मानो मालूम हुआ कि वह कांपती-सी अन्दर सिसक रही हो। सचमुच, मेरी उस
समय बहुत विचित्र अवस्था हो गयी।

उसके दूसरे दिन उसने मुझे मुँह नहीं दिखाया। मैं मानो उसे अब पूरी तरह
समझ गया। और उससे मुझे घृणा हुई, इसलिए कि मैं इसे अब तक बहुत सुशील
और आदर्श नारी समझ रहा था, जो भी (अर्थात् जबकि) मैं स्वयं गिर चुका था।
पर मैंने अपनी घृणा उस पर प्रकट नहीं होने दी।

उसके बाद भी हम लोग मिलते-जुलते रहे, जैसे कोई घटना ही घटी न हो।
इधर मेरी नयी साथिन का विवाह होकर वह अपने पति के घर चली गयी। मैं
बहिष्कृत, निर्वासित अपराधी-सा इधर-उधर छिपने लगा।

हम एक दफा एक अंग्रेजी फिल्म देखने गये, हम दोनो। उसमे कई उत्तेजक
बातें देखीं। सिनेमा भी बेशक अच्छा था। सिनेमा खत्म होने के बाद हम दोनो घर
की ओर चले थे। आम रास्ता छोड़कर हमें सुगन्धित वृक्षों से ढँकी एक छोटी-सी

पतली-सी गली मे घुसना पडा, मैंने उसका हाथ पकड लिया और जल्दी चलने लगा। उसने पूछा, "उफ, तुम्हारा हाथ कितना गरम है, काँप भी तो रहा है, तबियत तो ठीक है ?" पर मुझे उत्तर देने की फुर्सत नही थी। मैं उसका हाथ कसकर पकडे घर की ओर चला। घर आ गया, मैंन उसस हाँफते हुए कहा, "आओ, हमारे घर पर ही सो जाओ।" उसन भी कुछ दिक्कत पेश नही की। हम अन्दर घुसे, उसे साफ बिछे हुए बिस्तर पर लेटन के लिए कह दिया।

उसका इतनी सरल रीति मे मेरे कब्जे मे आ जाना मेरी वासना को उभाडने-वाला बना। मैं समझा कि यह है ही 'बिगडी' हुई, नही तो यह ऐसा न करती। यह सोचते ही मेरे शरीर मे *आग लग गयी*, माना उस पर मेरा पूरा हक हो। मैं उसके पास गया और पाशविक रीति मे उसके अगो का स्पर्श करना चाहा। मैंने पहले अपना हाथ उसके सिर पर रखा, तब तक तो वह कुछ भी नही बोली। पर जैसे ही मैं उद्यत हो उठा, और शरीर मे बिजली चमक गयी, वैसे ही वह भी उठी और मेरे हाथ को दूर करते हुए कहा, "छि-छि, यह क्या करते हो ! मेरे अग खुले करने मे तुम्हे शर्म नही आती ! दूर हो, क्या उस दिन की तुम्हे याद नही ?"

जैसे ही उस दिन की घटना की याद आयी, मेरा दिल धक् करके रह गया। शायद चेहरा भी सफेद हो गया हो। पर उसका चेहरा भी राख-सा सफेद था, शायद दिल मे आग थी। उसने मुझे ठीक बिठला दिया। फिर बिस्तर से स्वय उठी, और मुझे लिटा दिया। स्वय नीचे चटाई पर ही पडी रही। मैं बहुत ही थका हुआ और दुर्बल मालूम होने लगा, पर नीद जल्दी नही आयी। वह स्त्री मेरे लिए एक समस्या-सी बन गयी थी। उफ़ ! मेरा सिर भी कितना दुख रहा था !

मैं यह सब अपनी डायरी मे लिख रहा हूँ, जिससे फिर और कभी इसे पढने म मजा आये। वह अब भी आती है, पर मानो मैं अब उसका मुँह भी देखना नहीं चाहता।

[रचनाकाल 11 नवम्बर 1937]

## [ 3 ]

मनुष्य की दृष्टि बाहर अधिक देखती है, अन्दर कम। इसीलिए उसका न्याय जीवन स अछूता रहता है, उसके मत उसकी परिवर्तनशील बुद्धि की उपज होने से, वे कभी विश्वास होकर जीवन का ध्रुवतारा नही हो पाते। उसने अपनी मधुर बहनें वाली अन्त सलिला के किनारे पर नीहार-तमस का ही अवलोकन किया है। वहो से खडा होकर वह उसी तम की वाणी बोलता है और दु खी होता है। और उस पता नही चलता कि दु ख के बादल किस सागर की लहरों से उठते हैं, किस उग्र धूप से तपकर भाप बनते हैं, और किस तरह गरजकर बरसते हुए उसके चचल दिल को अपने मे बहा ले जाते हैं।

बात तो यह है, कि मनुष्य बहुत प्रकार के आँसू रोता है। आँसुओ की कविता है जरूर, और फिलासफी भी। पर कविता और फ़िलासफ़ीवाले आँसू तो कलाकार की आँखों मे, उषा मे शुक्र तारे की भाँति, कभी-कभी चमकते हैं। मनुष्य के मन मे—दिल म—कई तहखाने हैं, एक-दूसरे के ऊपर। सबमे नीचेवाले तहखाने—

उस शान्त, निविड, तिमिर-मधुर तावाने—में क्या धन छिपा है, कौन-कौन-से हीरे-मोती छिपे हैं, ये जाननेवाले इस दुनिया की नजरों में या तो ऐबनॉर्मल हैं या ढोंगी। उनकी वाणी का ओज, उनके हृदय की प्रथा नहीं है, वह अमर मानवता की पुकार है। वे उस बिन्दु से बोलते हैं जो कालातीत है। कलाकार का ध्येय इसी बिन्दु पर हमेशा खड़ा रहता है।

और यह बिन्दु क्या ऐसे-वैसे मिल जाता है। इसके लिए कई जन्म लेने होते हैं। कई दफा मरना होता है, तब समझ में आता है कि मानव अमर है, क्योंकि उसकी आत्मा प्राणियों से लेकर प्रकृति तक फैली होती है। यह सर्वानुभूति ही तो आत्मानुभूति है।

किन्तु मनुष्य तो, स्पीच में बुरी तरह असफल होने पर उमड़े हुए अपने आँसुओं को हृदय की कोमलता कहकर गौरवान्वित होता है। तब वह क्षीणता के आँसू रोता हुआ जगत् को कोसता है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि कलाकार की ऊँचाई उसके जीवन से मत देखो, उसकी कला-कृति से देखो। उनके इस कहने का अर्थ यह है कि जिस उत्तमता का, कवि परिचय देता है वह उसका स्वप्न है—उसका आदर्श है, जिसके प्रति उसका जीवन सतत प्रयत्नवान रहता है। वैसे, उसका जीवन साधारणतया उसके फेल्योर्स से भरा है।

इन्हीं फेल्योर्स से ही बहुत-कुछ सीखा जाता है। मनुष्य की आदर्श के प्रति आस्था भी इन्हीं सतत फेल्योर्स से बढ़ती चलती है। इसीलिए बहुत अंशों में कलाकार का ज्ञान निगेटिव रहता है। पॉजिटिव उपलब्धि का कलाकार दिल के सबसे निचले तहखाने से हीरे-मोती निकालता है। किन्तु दूसरे, उसके ऊपर के तहखाने में रहनेवाले साधारण प्राणी होते हैं जो मानस का अध्ययन किये हुए होकर आत्मा के प्रति दौड़ने का सतत अभ्यास करते रहते हैं। जीवन के साधारण सुख-दुःखों का मर्म ये लोग पहचानते हैं, और उसका मूल स्रोत ढूँढ़ने में अपना जीवन अड़ा देते हैं।

जो समझदार हैं उनको प्राप्त पर ही सन्तोष कर, अपने अनुसार आगे एक-एक पद बढ़ना चाहिए। जो आत्मानुभूति-लीन हैं, जो जगत् को दया और करुणा से देखते हैं, वे चिर-पूजनीय हैं। उनके प्रति हमारी श्रद्धा है। ईश्वर करे, और ये भाग्यवान आत्माएँ हमें मार्गक्रमण की स्फूर्ति प्रदान करें। किन्तु हमारे सुख-दुख हमारे हैं, उनसे पीड़ित है सम्पूर्ण मानव-सागर। उस पीड़ित मानव-सागर से हमें गाढ़ स्नेह है। हमारे वे पतित भाई हैं। हम उनके साथ हैं।

हमें उन्हीं के साथ चलकर उनके सुख-दुख में अपने को मिलाकर आत्मोन्नति का रास्ता ढूँढ़ना है। उनको छोड़ने से हम और भी गिर जायेंगे। चाहे हममें कोई ख़ास ईश्वरीय देन न हो, पर है हम दिल से स्वच्छ। और निष्कलुष दर्पण में बिम्ब साफ़ दीखता है। ज्ञानार्जन के लिए पहली अवस्था यही है। जीवन-दर्शन अपनी विविधता के साथ सम्पूर्ण रूप से होने के लिए पहली शर्त यही है।

मनुष्य साधारणतः मानस के ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ, अभिमान और बौद्धिक ज्ञान भी, इन्हीं छिछले पानी में पनपने से, उसे बाह्य की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत् में सन्तोष नाम की चीज़ नहीं मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के बजाय जब मानवी मन बाहर भटकता फिरता है, तब

सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद उसे आश्रय नही दे सकता (यदि उसमे कुछ भी भेदक सूक्ष्म दृष्टि है)। आशावाद का दूसरा नाम है आत्मबल।

मानवी सुख-दुख के जाल मे जब मन बेतरह उलझ जाता है, मानसिक सघर्षो से जब जीवन जर्जर हो जाता है, तब एकाएक मुझे मालूम होता है कि आत्मबल नाम की चीज़ मन की कोई ऐटीट्यूड नही है। आत्मबल के लिए किसी ऐसी *विशालता का आश्रय लेना होता है जो हमारे जर्जर अन्ध मन को त्राण दे सके, जहाँ वह अपने प्राणो को टिकाकर—सुरक्षित होकर—जीवन के अन्तर्बाह्य सकटो* से लड सके। अपनी स्फूर्ति का स्रोत—यानी अपने जीवन का स्रोत—एक ऐसे *नित्य-प्रकाश से आता रहे जो हमे अपनी निगूढ आत्मा मे लीन होते हुए* कर्म की ओर प्रेरित करे। हम किसी का डर नही। हम हरेक से युद्ध कर सकते हैं। अरोरा बोरियालिस का मधुर सौन्दर्य हमारे अन्तस म तभी छा सकता है।

तभी हम सचमुच वर्षा ऋतु मे प्रफुल्लित हरे तृणो का आनन्द जी सकते है। ऊषा के समान हम तभी मुसकरा सकते हैं। हमारे स्मितालोक से गुलाब का फूल तभी सुन्दर लगने लगता है। हम तभी फूलो के भाई-बहन कहला सकते है। तभी हम नारी म सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं, और उसे जगत् की ईश्वरीय ज्वाला मान सकेंगे।

पर हम देखते हैं, आजकल हमसे सूर्य चुप है। चाँद हमे देखकर बादलो म छिप जाता है। प्रकृति ने हमको अपनी गोद से चुपचाप हटा दिया है। हमने अपने को धोका देकर समझा लिया है कि बुद्धिवाद से अनन्त समय और अनन्त आकाश की सीमित परिभाषा कर हम 'सम्पूर्ण' का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। अनन्त समय और अनन्त आकाश हमारी कल्पना को ऊँचा क्यो नही करता? कारण यह है कि हमे
[illegible] तो हम इन्ही शब्दो
[illegible] यह है कि आज-
हैं जरूर।

इसीलिए हमारा ज्ञान, जीवन से अछूता रहने के कारण, रगिस्तान के समान नीरस, और अर्थहीन हो जाता है। ज्ञान हम मे रस नही हो पाता। यही तो खराबी है।

[सम्भावित रचनाकाल 1938-40। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

## [ 4 ]

मैं यह अनुभव करता आया हूँ कि गूढ रहस्यो का नाम जिन्दगी है। नही तो कोई कारण नही है कि जिस जिन्दगी को बचाने और बढ़ाने के लिए प्राणिशास्त्र और औषधिशास्त्र से लेकर युद्धशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के समस्त सिद्धान्त और कार्य तत्पर रहते हैं, उस जिन्दगी को एक व्यक्ति क्षण म आकर, एक जरा-सी हरकत से, हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर ले। मेरा मतलब आत्महत्या से है। इस अन्त-कारक कार्य को आप चाहे अच्छा कहे या बुरा कहें, नैतिक कहें या

अनैतिक, कानूनी कहें या गैरकानूनी, वह कार्य उस व्यक्ति को तो खत्म कर ही देता है, जिसमे इतना साहस है कि वह उसे कर गुजरे।

घर मे पास-पडोसियो की चर्चा होती है। चर्चा के दौरान मे, अनेको नौजवान पढी-लिखी छोकरियो द्वारा की गयी आत्महत्याओ का जिक्र आता है, और पिता-जी एक दुखी ग्लानिपूर्ण हँसी हँसकर कह देते है कि जमाना खूब ही बदल गया है। किन्तु माताजी अधिक कठोर होकर समाजशास्त्रीय व्याख्या करने पर उतारू हो जाती हैं, और यह निर्णय दे देती हैं कि यह सब शिक्षा पूरी करने के उद्देश्य से विवाह को टाल देने के फलस्वरूप घटित हुआ है।

किन्तु मेरा मन अस्वस्थ होकर, बेचैनी मे, किन्ही उदास गम्भीर रगोवाली कल्पना की आबोहवा बनाने लगता है। दिल घुटन लगता है, और बुद्धि उन पेचीदगियो के बारे मे सोचन लगती है जिन्होंने व्यक्ति को आत्महत्या के लिए सफलतापूर्वक प्रेरित किया। पास-पडोस के लोगो की कितनी ही कहानियाँ मन मे तैरने लगती हैं, और इस प्रत्यक्ष सत्य के सामने मेरे सारे सिद्धान्तो का अन्त सिद्ध हो जाता है। देखिए न, हमारे पडोस के डॉक्टर ऋषि के एक लडके की बीवी वकील है, जी हाँ, वकालत करती है। उनकी दूसरी सन्तान है लडकी, जो एक एम बी बी एस डॉक्टर है, उसने किसी एक अग्रवाल जैन से विवाह कर लिया, जिसके फलस्वरूप डॉक्टर ऋषि, जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हैं, बद्रीनाथ की यात्रा पर चल दिये। और एक तीसरी सबसे छोटी लडकी है, जिसने आव देखा न ताव, एक दिन नयी शुक्रवारी तालाब मे ठाठ से आत्महत्या कर ली।

इस आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति को मैंने देखा था, गो आज उसकी सूरत मेरे दिमाग से बिल्कुल गायब है। और मैं सोच रहा हूँ कि यदि प्रणय आत्महत्या के लिए जिम्मेदार है, तो वह आत्महत्या कैसी है और वह प्रणय कैसा है जो एक-दूसरे से इतने परस्पर गुम्फित हो गये!

इस स्वार्थ-कुशल दुनिया मे मै इन भोले भावना-प्रधान लडके-लडकियो की जब कल्पना करने लगता हूँ, तो मन दुखी होने के साथ ही आशान्वित हो उठता है। भावना का यह प्रबल सामर्थ्य मेरे अन्त करण मे मूर्तिमान हो जाता है, और प्रतीत होता है कि, मिलावट होने के बावजूद, यह लोहा साफ और शुद्ध किया जा सकता है। सचमुच, भावना एक *लोहा* है, सिर्फ उसे *इस्पात बनाने* की जरूरत है।

फिर भी, यह खयाल मुझे शान्ति नही देता। मैं उस भावना-जगत् मे डूब जाना चाहता हूँ कि जिस जगत् की आबोहवा मे साँस लेकर उन निरीह भोले व्यक्तियो ने आत्महत्या का सहारा लिया। मैं यह नही मानता कि आत्महत्या कायरता है, अथवा वह एक पलायन है। मैं जोर-जोर से यह घोषित करना चाहता हूँ कि पेचीदगियो के चक्रव्यूह को फोडकर बाहर निकलने का वह भीषण प्रयत्न है। हाँ, यह ठीक है कि ये पेचीदगियाँ एक खास तरह की हैं, जिनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि समस्या दूर करने का उपाय यही समझा जाता है कि *समस्या को जमीन मे दफना दिया जाये, या समस्या को चिता पर जला दिया* जाये। वह समस्या का हल नही, बल्कि किसी और गहरी समस्या का लक्षण है। कवि, दार्शनिक, समाजशास्त्री, आदि तथाकथित जीवन-विशेषज्ञो ने इस मूलभूत समस्या पर न मालूम क्या-क्या कहा है। लेकिन बुनियादी बात यह है कि कुछ

लोग समस्याओ के भाग हो जाते हैं । वह पूरी समस्या उनके अन्त करण मे जीवित रहती है । ये लोग पागल नही हैं, फिर भी असाधारण अवश्य हैं । पहले हम उनकी असाधारणता को तो समझें, फिर उन्हे पागल कहें या कायर ।

हाल ही की बात है । मैंने अकारण एक दिन की छुट्टी ली, बीमारी के बहाने । चाय पेट मे भरकर, तिलक-मूर्ति के तिराहे तक जा पहुँचा कि सुबह साढे-दस बजे सेक्रेटेरिएट के लिए रवाना होनेवाले बाबुओ का एक साइकिल-सवार जत्था नयी शुक्रवारी तालाब के एक किनारे रुक गया । जिस बात की मुझे शका थी, वह सही निकली । एक शान्त गम्भीर लाश, जो पानी मे अभी सडी नही थी, सतह पर स्तब्ध खुली-आँखो आसमान देख रही थी । वह किसी बूढी माँ की लाश थी ।

महत्त्वपूर्ण बात थी—बाबुओ के चेहरो पर छायी हुई भावनाएँ । वे सब किसी उदास गम्भीर आर्द्र भाव मे डूबे-से लग रहे थे । एकाएक उन्हे यह प्रतीत हुआ कि जिन्दगी कितनी विलक्षण रूप से कडुई है । हर-एक की भावना, अपनी अनुभव-[illegible] ने लगी । और, मुझे ऐसा प्रतीत [illegible] न्दगी से तग आ गये है, और वे [illegible] की परवाह न करना, उसकी मामूली सुख-सुविधा का भी प्रबन्ध न हो सकना, अपने पालन-पोषण की असुविधा के कारण, अपने पुत्रों पर उसका भार-भूत हो जाना, आदि-आदि, वास्तविक पारिवारिक बातें, उन लोगो के हृदय मे तैरने लगी, और उन बाबुओ के चेहरे किन्ही भयानक करुणाओ से विद्रूप होने लगे । परिवार की कल्याण-कामना हृदय का एक मूलभूत अग है । यदि वह पूरी नही हो पा रही है, तो फिर अपनी जिन्दगी का क्या मतलब ? जो परिवार अपनी जननी को पाल न सके, उस परिवार को गाली देने की भी तबियत नही होती । एक भयानक हाहाकार हृदय मे छा जाता है ।

उस हाहाकार का सामूहिक दर्शन मुझे सेक्रेटेरिएट जाते हुए उन बाबुओ के चेहरों पर हुआ । नि सन्देह, उस जत्थे मे कई जवान लडकियाँ भी थी । वह करुणा, जो उन चेहरो पर छायी थी, कितनी भयानक और रुला देनेवाली थी । यह इस बात से जाहिर है कि कई कमज़ोर लोग, करुणा के आँसुओ की तेजी कम करने के लिए, छाती पर हाथ फेर रहे थे । नही, नही, कौन ऐसा है जो अपनी माँ को आत्म-हत्या करते देख सकता है ।

और मुझे नागपुर की इन शिक्षित लडकियो की तरफ सहसा श्रद्धा हो आयी। मैं [illegible]

[illegible] वर ढूँढ लगा, जो खुद कमाऊ हो । क्योंकि आज की सबसे भयकर वास्तविकता यह है कि बूढे और बालक—जो आज कमा नही सकते—सबसे अधिक उपेक्षित हैं । वे नि सहाय हैं । उनके शरीर और मन आर्थिक अर्जन के योग्य नही हैं । हमारे ग़रीब परिवारों मे उनकी विशेष क़ीमत नही है । और नागपुर की ये लडकियाँ आज, उनके पेट मे दो कौर पहुँचाने के लिए, छोटी-छोटी नौकरियाँ कर रही हैं । कई बार उनके चरित्र पर आक्षेप किया जाता है । सम्भव है कि उनके चरित्र पर

कोई दाग हो, लेकिन जो लोग निष्कलंक हैं, उनके जीवन का कोई ध्रुव-बिन्दु नहीं हैं, उनके पास कोई सर्वाश्लेषी सर्व-ग्राही लक्ष्य नहीं है। ऐसी भयानक और दुष्ट निष्कलंकता किस काम की ! वे अपने-आपमें पूर्ण रहनेवाले *तथाकथित मस्त या* सच्चरित्र लोग हैं, उनकी मस्ती और सच्चरित्रता कितनी सीमित और कितनी अनुदार है !

और अब मैं जीवन के बुनियादी तथ्य पर आ पहुँचता हूँ। आज अन्यों का पालन-पोषण करना वीरता से कम नहीं है, वह एक भयानक योगाभ्यास है, वह चमत्कारपूर्ण प्राणायाम है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1949-1956]

## [ 5 ]

छायावाद के सम्बन्ध में लिखते-लिखते मेरे मन में एक तीव्र आक्रोश भर उठा। छायावाद की क्षमताएँ बताकर मैंने उसकी सीमाओं पर भी प्रकाश डाला, किन्तु ज्यों ही उसके आगे बढ़ता हूँ कि मेरे मन में क्षोभ और उद्विग्नता के धुआँरे भँवर चक्कर काटने लगे। माना कि मेरी कही बहुत-सी बातें सही हो सकती हैं, अथवा यूँ कहिए कि बदली हुई अभिरुचि की दूरबीन से वे चीजें कमजोर और साफ-साफ दिखायी देती हैं। चीजें ही साफ-साफ दिखायी देती हैं, तो हमारे इन्द्रिय-संवेद्य प्रमाण निश्चित ही सही-सही और उचित हैं। और चूँकि जो बातें मैंने कही हैं वे *मुझे साफ-साफ दिखायी दीं, इसलिए न सिर्फ वे बातें सही हैं, वरन् मैं भी सही* हूँ। ज्यों ही मैंने यह सोचा कि मैं स्वयं सही हूँ, तो मुझे बहुत अच्छा लगा। अच्छा मुझे लगता ही रहता—*मैं आत्म-तुष्ट भावनाओं के पोखर में डूबता ही रहता,* बशर्ते कि मुझे कुछ लठैत आलोचकों की याद न आती। उन लठैत आलोचकों का नाम-स्मरण कर, मुझे यह स्पष्टतः प्रतीत हुआ कि आलोचना अहंकार तुष्टि का विधान है, बुद्धि की क्रीड़ा है, आत्मा की चंचलता है। किन्तु, अपने को, अर्थात् स्वयं को कोई चीजें स्पष्टतः प्रतीत होने से ही, न प्रतीति सही होती है, न प्रतीति का विषय सही होता है। प्रश्न यह है कि यह 'स्वयं' क्या है। कभी मैं उसे मशीन मानता हूँ—ऐसी मशीन कि जो मेरे समझ में नहीं आती, जो उलझी हुई है, जिसके कल-पुर्जे न मालूम कैसे चल रहे हैं या चल सकते हैं। सोचता हूँ, यह 'स्वयं' एक प्राणिशास्त्रीय विद्युत् का एक आत्म-प्रकाश है। कभी सोचता हूँ, मुझमें सचमुच *आत्मा नामक अवयव है, जिसे मैं हिला-डुला सकता हूँ।*

इस प्रकार, विचार-यात्रा में फँसकर मैं उल्लू बन जाता हूँ। तब सचमुच बुरा *लगता है। अपनी पत्नी, बालक-गण, मित्र आदि परछाइयाँ मालूम होती हैं—हाँ,* [illegible] उन परछाइयों से मुझे अति- [illegible] उठता हूँ, मुझमें और उनमें [illegible] ध्रुव-भेद है, ग्रह-नक्षत्र-भेद है। मैं उन्हें मंगलवासी प्रतीत होता रहा हूँगा। शायद। एक भयानक निःसंगता के अनन्त दूरियों-भरे अवकाश में लटका हूँ—मैं, मैं जो वास्तव हूँ—मैं, मैं जो क्षुब्ध अन्धकार की सियाह आग हूँ, एक भुतही दहनशीलता हूँ। मैं-रूपी ऐसा दहनशील

किन्तु भुतहा वास्तव किस काम का ! तो उस भुतहे वास्तव को गाड़ दिया जाये —गहरे-गहरे ! आत्म-नाश की अत्यन्त गहन किन्तु खरी-खरी पीड़ा से मैं विक्षुब्ध हो उठता हूँ।

किन्तु, यह आत्म-नाश किसलिए ? मैं के भुतहे वास्तव को नष्ट करने के लिए। लेकिन, पहले तो यह मानना होगा कि मैं एकमात्र वास्तव हूँ, बाकी सब अवास्तव हैं, तभी तो यह एकमात्र वास्तव असत वास्तव है ! मेरी नसें शिथिल हो रही हैं और मैं अदृश्य मनोमय हो रहा हूँ। कि इतने में पत्नी अपनी गोद में बालक लिये सामने खड़ी हो जाती है। कहती है—दूधवाले का हिसाब कर दो, पैसे फिर दे देना।

[illegible]

हूँ [illegible]

कर [illegible]

पसन्द किया। मतलब ये कि भुतहा वास्तव होना ग़लत है। काम-धन्धा सही है। लेकिन, मैं तो रोज़ ऑफिस जाता हूँ। रोज सरकार की ओर से खबरों के झूठे कान्ट्रेडिक्शन निकालता हूँ। मेरी पीठ पर कुर्ता फटा हुआ है, इसका भान मुझे तब भी होता रहता है। कहाँ तक सिलाऊँ—रफ़ू करूँ उसको ! वह कुर्ता भी भुतहा है। साला आप-ही-आप फट जाता है ! उसमें एक स्पॉन्टेनायटी (स्वच्छन्द गति) है, चाहे जहाँ से फट जाता है। असल में मेरा कुर्ता बहुत पुराने ज़माने में राजा भर्तृहरि ने पहना था—उन दिनों जबकि उसे शनिश्चर लगा होगा। मैं तो राजा भर्तृहरि से भी पहले पैदा हुआ था, वह मेरे सामने कल का लौंडा है ! बेवकूफ

[illegible]

पर हँसती है। वह जानती नहीं मैं कौन हूँ। मैं ब्रह्मराक्षस हूँ। अनादिकाल से चला आया वह ब्रह्मराक्षस, जिसने हमेशा सही रहने की कोशिश की और ग़लती करता चला गया।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1948-1954]

[ 6 ]

मेरा पक्का खयाल है कि प्रथम पुरुष, द्वितीय पुरुष और तृतीय पुरुष में से सर्वाधिक भाग्यवान और सुखी है तृतीय पुरुष ही—विशेषकर तब कि जब प्रथम और द्वितीय के बीच गहरा झगड़ा रहा हो या लम्बा संघर्ष चला आ रहा हो। प्रथम पुरुष और द्वितीय पुरुष के बीच प्रकृति भेद और दिशा भेद के अनुसार संघर्ष स्वाभाविक ही है। किसी सिनिक संशयवादी ने कहा है कि जहाँ दो हैं वहाँ झगड़ा होगा ही। तब तृतीय पुरुष, जो प्रथम और द्वितीय से घनिष्ठ अन्त सम्बन्ध रखने

के कारण ही तृतीय है, एक स्वच्छ निर्लिप्त तटस्थ निरीक्षक की हैसियत से दोनो पुरुषो का चरित्र-विश्लेषण करता है, मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरियो को देख दार्शनिक भावना मे तैरने लगता है, तो कभी एक के प्रति अधिक उन्मुख होकर दूसरे पर दबाव लाता है, और इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय—दोनो पुरुषो के जीवन मे दस्तन्दाज़ी करता है। और, चूँकि तृतीय पुरुष की स्वाभाविक स्थिति के अनुसार, उसमे कुछ ऐसी विशेषताएँ आ जाती है, जो प्रथम और द्वितीय के पास नही है, (वे सघर्ष म डूबे हुए हैं, तृतीय ऊपर उठा हुआ है), इसलिए, प्रथम और द्वितीय—दोनो पर उसका रौब पडता रहता है। वह हमेशा सयाना, दूरन्देश, समझदार, गम्भीर और न मालूम क्या बना रहता है!

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रथम और द्वितीय के बीच, तृतीय को ऐसे अवसर लगातार प्राप्त होते रहते है जहाँ वह अपने को समर्थ और महान् अनुभूत कर सके। *प्रथम और द्वितीय के व्यक्तित्व-निर्माण तथा परिस्थिति-निर्माण का इतिहास* सघर्ष से यदि ग्रस्त रहा हो, तो तृतीय को एक लम्बे अरसे से, एक प्रदीर्घ काल से, अपने को महान् और समर्थ अनुभूत करने के इतन अधिक अवसर मिलते रहते है, कि धीरे-धीरे तृतीय सचमुच अपने को जन्मत दुर्दम महान्, विवेकपूर्ण यशस्वी और सत्यवान अनुभव करता रहता है—चाहे वह अपने को कभी-कभी, कुछ क्षणो म इसके विपरीत *क्यो न पाये*! उसके जीवन का स्थायी भाव, इस प्रकार, कुछ और, और भिन्न, हो जाता है। अतएव, उसकी चिढ, उसका क्रोध, उसकी ईर्ष्या, उसका द्वेष, उसका टुच्चापन, उसकी *सत्यपरायण आन्तरिक महानता* से चमकते रहते है। उसका स्वभाव चाहे जितना आक्रमणकारी क्यो न हो, उसे विशेष पश्चात्ताप हो नही सकता, क्योकि वह हमेशा सच्चा रहा है।

प्रथम और द्वितीय के बीच के झगडे को बहुत-बार मूर्खतापूर्ण समझकर, इन झगडो के अपने तटस्थ अनुभवो से लाभ उठाता हुआ, वह स्वय उग्र अतिरेकवादी *कभी भी नही होती। वह सयाना है। वह दार्शनिक है।* इसलिए, सघर्ष के दो केन्द्रो की अतिरेक-भावना का त्याग करता हुआ, वह हर परिस्थिति मे न केवल समझौता करने, वरन् उससे *अधिक-से-अधिक लाभ उठाने, की प्रवृत्ति रखता है,* और उसका विकास करता है। हाँ, उसकी दृष्टि से यह समझौतावाद नही है, सिर्फ विवेकपूर्ण सयानापन है, दूरन्देशी है, गहरी जिम्मेदारी की भावना है। (मज़ा यह है कि जिम्मेदारी की यह महत्त्वपूर्ण भावना हमेशा उसकी व्यक्तिगत सासारिक उन्नति और स्वार्थ के विकास मे योग देती है!) और, इस प्रकार, वह अपने को *समर्थ और महान्* अनुभव करता हुआ परिस्थिति के टुच्चेपन से समझौता किये रहता है।

*परिस्थिति के टुच्चेपन से समझौते के फलस्वरूप, वह सुरक्षित, सरक्षित और* मजबूत तो अनुभव करता ही है, वह दूसरो से भी यह अपेक्षा करता है कि वे भी, उसके महानता क मानदण्ड मे फिट हो। उसका आग्रह है कि मनुष्यता का *मैनिफेस्टो—जो उसके अपने अह का मैनिफेस्टो है—सब पर लागू हो, और उसके* स्वय के जूते मे सबके पैर फिट हो जायें। उसका मानदण्ड उसकी स्वय की उपलब्धियो से निर्मित हुआ है। और, जिसके पास ये उपलब्धियाँ नही हैं, वे भला उसके समकक्ष कैसे हो सकते हैं! वह स्वय चाहे कोई प्रकाण्ड उद्योग न करे, कोई *महत्तम त्याग न करे, किन्तु अन्य व्यक्तित्वो मे किसी ग्रैण्डनेस, किसी आत्यन्तिक*

महानता को देखना चाहता है। परिस्थितियों से ग्रस्त मनुष्य उसे नहीं भाता। वह उसे छोटा, अदना, टुच्चा,, कमज़ोर, दिखायी देता है। तृतीय पुरुष को तो सफलता और उपलब्धि की तलाश है—जिसके पास ये दोनों नहीं हैं, वह तृतीय पुरुष के योग्य नहीं हो सकता !

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1957-58]

## [ 7 ]

एक तसवीर तैर गयी। मकान की दूसरी मंज़िल पर मैं भागता आ रहा हूँ। कोई मेरा पीछा कर रहा है। कोई कौन ? मैं नहीं जानता। क्यों ? यह भी नहीं जानता। वह मुझे पकड़ने की कोशिश कर रहा है। मैं उससे दस कदम आगे हूँ। वह मेरे पीछे है। मैं भाग रहा हूँ। वह मेरा पीछा कर रहा है।

लेकिन मैं अपने पैरों में भार का अनुभव कर रहा हूँ। लगता है जैसे पीछे किसी खिंचाव की ताकत है, कोई चुम्बक है जो पैरों को पीछे खींच रहा है, लगातार पीछे खींचे जा रहा है, फिर भी मैं भागने की कोशिश में आगे बढ़ता रहा हूँ। लेकिन हर कदम पर पैर आगे बढ़ने से इनकार कर रहे हैं, कोई शक्ति उन्हें पीछे खींच रही है। यदि मैं रुका या पीछे हटा तो वह आदमी (या जिन्न या भूत, पता नहीं कौन है !) मुझे पकड़ लेगा, शायद वह खा जाये। इसीलिए मैं जान बचाकर भाग रहा हूँ, इसलिए कि मुझे प्राणों का डर है, लेकिन मैं ज्यादा बढ़ नहीं पा रहा हूँ···पैरों में भार है, किसी दानवी आकर्षण-शक्ति की जंजीर मुझे पीछे खींच रही है।

एक पुरानी जिल्द में बँधी, पुराने पीले पन्नोंवाली रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता-पुस्तक पढ़ते-पढ़ते यह तसवीर मेरी आँखों के सामने तैर गयी है। अक्सर होता है कि पुस्तक और उसका पठन मेरे लिए एक परदे का काम करते हैं, जिस पर मेरे मन की भीतरी तहखानों में पड़ी हुई चीज़ों के अक्स पड़ने लगते हैं। आज भी यही हुआ। और इस तसवीर के बारे में मैं सजग होकर सोचने लगा।

यह तसवीर मेरी ज़िन्दगी की कोई घटना का अक्स नहीं था। ऐसी घटना कभी हुई ही नहीं। मुझे अभी भी याद है कि वह मेरे बाल्यकाल की निद्रा में आने-वाले सपनों में से है। वह स्वप्न—और यही तसवीर मेरे बचपन में बार-बार आयी। मैंने उस तसवीर पर सोचना शुरू किया। बच्चा जितना सोच पाता। मैं सिर्फ इतना जानता था—मेरे मन में भय,, बड़ा आकाश, बड़ी जिज्ञासा और बड़ी बेबसी की भावना है। प्रत्येक बार मैं आगे बढ़ जाना चाहता हूँ, लेकिन कोई दानवी ताकत मेरे पैरों को पूरी तरह पीछे खींच रही है।

बरसों तक यह सपना लौटकर नहीं आया। लेकिन जवानी में इसने निद्रा में भेंट देना शुरू किया—मानो वह कह रहा हो कि मैं मरा हूँ [illegible]। पुरानी-पुरानी छाया। आज भी सपने का वह मर्म ध्यान में आते ही मन जरा बेचैन-सा हो जाता है।

स्टीवेन्सन और वी. एस. के बेटे एक बेहतरीन कहानीकारों में। [illegible], कथा और कठोर। कठोर आकृति में एक भयावह आदि-सुलभ स्वर। इसलिए उन्हें

बहुत चिढाते थे। उन्हे मैंने कभी गुस्से मे नही देखा। असल मे पतजलि के योग मे उन्हे बहुत श्रद्धा थी। बाद मे मुझे पता चला कि वे जगल मे बैठकर प्राणायाम तथा योग-साधना के विविध प्रकार आजमाया करते थे। सिद्धियों मे भी उनकी श्रद्धा थी। एक लम्बे अरसे तक मैं उन्हें एक कतई बेवकूफ, एक सहा जा सकनेवाला मूर्ख समझता रहा। दोनो उज्जैन के रहनेवाले थे, इसलिए बोलचाल का एक रिश्ता यह भी था। होल्कर कॉलेज के सेकेण्ड ईयर मे एक बार उन्होने मुझे बताया कि 'सेक्स' यों होता है।

मेरा सारा शरीर झनझना गया। तब मै समझा कि बच्चे यो पैदा होते हैं, और मनुष्य मे काम-वासना उसकी कविता बन जाती है, यहाँ तक कि दशभक्ति भी बन जाती है, और फ्रायड एक बडा भारी मनोवैज्ञानिक था, जिसने इस महान् सत्य का उद्घाटन किया।

अब मेरी दोस्ती ने ब्रह्मपुत्र का रूप धारण कर लिया। उन्होंने कहा कि योग-साधना मनोवैज्ञानिक व्यायाम है—जिसे मैं भी कर सकता हूँ। उन्होंने बताया कि किसी व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित कर वे घण्टो बैठे रहते है जगल मे। और फिर उसे खत लिखकर यह पूछते हैं, उस व्यक्ति को उनकी याद आयी है या नही। उनका कहना था, अब तक उनका प्रयोग सफल रहा है।

आज मैं यह सोचता हूँ कि वह व्यक्ति बिल्कुल ऐबनॉर्मल था। दस साल बाद, जब मैं बनारस म था, मुझे उसकी आत्महत्या के समाचार मिले। मुझ दुख हुआ। सोचा, शायद उसने किसी के प्रेम मे पडकर अपनी जिन्दगी खत्म कर ली हो। लेकिन मेरे इस अनुमान की कोई पुष्टि नही हुई। प्रेम के समाचार तो समाज मे बिजली की भाँति फैलते है।

लेकिन, फिर भी, वह व्यक्ति मेरे जीवन म स्मरणीय है। कारण स्पष्ट है। एक बार मैंन उससे यह पूछा था कि मेरे फलां-फलां सपन का अर्थ क्या है। उन दिनो, आपको अभी बताया, सपना मुझे बार-बार आता था। एक लम्बे अरसे तक मेरी 'मनोवैज्ञानिक' जाँच-पडताल करने के बाद मेरा दोस्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह स्वप्न इच्छाओ के सघर्ष का प्रतीक है।

और, मै आपसे सच कहता हूँ, उनकी इस व्याख्या से मुझे अत्यन्त भयकर सन्तोष हुआ। एक इच्छा पीछे खीचती है जो शायद, मेरे मत से, बुरी है। मै उससे भागना चाहता हूँ, भाग भी रहा हूँ। लेकिन उसने मेरे पैर जकड लिये हैं। भागने मे छाती आगे, सिर आगे, लेकिन पैर पीछे हैं। मुझम का 'मनुष्य' या 'देवता' (यानी जिसे जैसा मैं साच पाता हूँ) आगे भागते रहने की सलाह देता है, पीछे बुरी इच्छा पैरों मे जजीर डाल रही है। भागने नही देती, फिर भी मैं भागा जा रहा हूँ। किन्तु मैं पकडा जाऊँगा। एक बात बताऊँ। भागने के सपने मुझे अब-अब तक आये हैं, यानी उम्र के अडतीस साल तक। लेकिन यह सपना निराला है। मित्र ने मुझसे यह नही कहा कि इस इच्छा का सम्बन्ध सेक्स से है। यदि होता तो कह देता। उन्होने सिर्फ इतना ही बताया कि यह एग्जाइटी ड्रीम है।

और आज जब मैं बुढापे की मजिल के निकट पहुँच रहा हूँ, रॉबर्ट ब्राउनिंग की पीली किताब पढते-पढते यह सपना तैर आया। मैं नही जानता ऐसा क्यो हुआ। मैं सपने पर सोचने लगा। सपने पर सोचते-सोचते मैं ब्राउनिंग की कविता पर

उतर आया। यह खयाल आया कि ब्राउनिंग टी एस ईलियट की अगवानी कर रहा था। मेरे खयाल आगे न बढ सके। वे पीडित होकर तडप उठे।

असल मे जब मैं शाम को घर लौटा था, तो बडा व्यथित था। व्यथित नही, वरन् घनघोर उदास था। ऐसी उदासी जो जिन्दगी के टुकडे-टुकडे करके बता देती है कि तुम्हारे शरीर मे इतने सेर कार्बन, इतने सेर हाइड्रोजन, इतने छटाँक सोना, इतने छटाँक लोहा, इतने छटाँक चूना और इतने छटाँक फॉस्फोरस है। ज्ञान की यह घनघोर उदासी बडी भयानक होती है। अगर कभी अपना शरीर पूरा पारदर्शी होता, और हमारे अवयवो मे चलनेवाली जैव-रासायनिक प्रक्रियाएँ हमको देखने को मिलती, तो शायद हम इतने डर न पाते। लेकिन चूँकि सारा शरीर स्निग्ध त्वचा से आवृत है, इसीलिए अनुमान के सहारे तक चलता है। प्रमाणो से अनुमान पुष्ट होते है या कट जाते है। लेकिन प्रमाण धीरे-धीरे मिलते हैं। उन्हे खोजने के लिए कडी तपस्या करनी पडती है। कई ज़िन्दगियाँ खप जाती है। इसीलिए, नये सत्य पाने तक की मंज़िल मे भय, आशका, चिन्ता, खोज, गणित, पुन आशका, पुन चिन्ता, पुन खोज, पुन गणित करना पडता है। और यह कार्य चलता ही जाता है। प्रक्रिया की बेचैनी वस्तुत. बडी भयानक है।

मुझे याद है बचपन का एक और स्वप्न, जो अधेडपन तक साथ चलता रहा। वह है—भागते-भागते मुझे कोई चीज़—कोई चमकीला पत्थर, कोई हीरा, या कोई अशर्फ़ी—रास्ते मे मिल गयी। सपना टूटा नही, आगे बढता रहा। हाथ मे वह अत्यन्त अमूल्य वस्तु है। और मैं आगे रास्ते पर बढ गया हूँ या भाग रहा हूँ। मैं कतई भूल जाता हूँ कि मेरे हाथ मे महान् अमूल्य वस्तु है, यद्यपि वह मेरे हाथ मे है। सपने मे एक प्रदीर्घ काल के बाद यह खयाल आता है कि मेरे पास भी तो वह चीज़ है, लेकिन जब मैं अपनी बँधी मुट्ठी खोलता हूँ तो पाता हूँ उसमे कुछ नही है। वह चीज़ अपनी भुलक्कड लापरवाही मे मैंने कही गिरा दी। अब मैं बुरी तरह बेचैन हूँ। अपनी बेवकूफी तथा भयानक लापरवाही के प्रति आत्मग्लानि, खुद को कचोटकर खा जानेवाला एक राक्षसी दर्द, अपन-आपके प्रति भयकर सियाह निराशा मेरे मन मे भर जाती है, और मैं ऐसी ही उद्विग्न मन स्थिति मे जग पडता हूँ और सोचता हूँ कि ऐसा क्यो हुआ। सिवाय अपनी सूनी निगाह की चेतना के और क्या पल्ले पड सकता है।

आज इस सपने का मुझे खयाल आता है, तो लगता है कि ज़िन्दगी के कई अनमोल सत्य हमे ऐसे ही प्राप्त होते हैं और खो जाते हैं। हम ललककर उन्हे उठा लेते हैं, किन्तु उनकी रक्षा के लिए आवश्यक सजगता के अभाव मे, उन्हे खो देते हैं। और फिर वही पुराना भीषण अकिंचन दीन-भाव हमे जकड लेता है।

ठीक ऐसा ही दीन-भाव भयानक उदासी बनकर आज शाम को मेरे मन मे घिर आया। किन्तु, यह दीन भाव इसलिए नही था कि मैंने वस्तु खो दी है, वरन् इसलिए था कि जो अमूल्य अशर्फ़ी खोयी थी, वह पुन प्राप्त हो गयी। लेकिन क्यो और कैसे ?

जिस व्यक्ति को मैं निरा खोखला, निरा उदरंभरि अवसरवादी और सिर्फ़ चालाक आदमी समझता था, उसने मुझे वह अशर्फ़ी बतायी। उसको यह नही मालूम था कि यह अशर्फ़ी मेरी है। उसने तो हाथ खोलकर बता दिया कि देखो

यह अशर्फी ! पहले तो मुझे विश्वास नही हुआ कि वह अशर्फी है। बाद मे पता, चला कि हो ! हो ! यह मेरी अशर्फी है ! अब तक मै इसे क्यो भूला था ? खोयी अशर्फी पुन. उपलब्ध करने के आनन्द से अधिक अपनी बेवकूफी का चिन्न इतना भयानक हो उठा था कि मुझमे वही अकिंचन भाव तैरता रहा, और मैं जब घर लौटा तो घोर उदासी के बादलो मे अधर मँडराता रहा।

ये सज्जन अपने अजाने मे मुझे बता गये है कि ज़िन्दगी यो है, राष्ट्र यो है, समाज यो है। क्या मैं जानता नही था ? जानता था, और खूब जानता था। लेकिन इसके अलावा कुछ और भी जानता था। और इस अतिरिक्त ज्ञान की परिवर्तनकारी शक्ति पर भरोसा रखता था, विश्वास रखता था। नयी पीढी, नया समाज, नयी ऐतिहासिक शक्ति, क्रान्तिकारी प्रवृत्ति, इत्यादि बहुत-सी सही बातो पर मेरी अगाध श्रद्धा थी, जो अब भी है। किन्तु कल ज़िन्दगी की कालिमा ने लालिमा और निर्मल श्वेतता को परास्त कर दिया।

समझते हैं। बुद्धि-
और खयाल मुझे
और सूक्ष्मता से
नही किया जा सकता। असल मे वे स्वय अव्वल हरामी होते है। और इस क्षेत्र की वे रग-रग पहचानते हैं। मुझे निरीह जान, आत्म-प्रकटीकरण की गहरी चौकन्नी लालसा के वशीभूत होकर वे मेरे सामने अपने तजुर्बे रख देते है। आत्मोद्‌घाटन के आनन्द और अपने सत्यो के साक्षात्कार के बाद, फिर वे अपने हरामी काम मे सलग्न हो जाते हैं।

इसलिए, जब ये सज्जन मेरे सामने प्रकट हुए, तब वे मेरे लिए नये नही थे। नयापन सिर्फ इतना ही था कि उनका दिमाग बहुत तत्पर, उनकी बुद्धि बहुत चौकन्नी, उनकी आँखें बहुत सजग और सदय तथा मन इतना उदार अवश्य था कि वह मुझ-जैसे आदमियो के महत्त्व को समझे। चालाक आदमियो को निश्चल, सजग, बुद्धिमान व्यक्तियों की आवश्यकता होती हैं।

कह दूँ कि वे और मैं दोनो अखबारो के धन्धे मे हैं। वे मैनेजमेण्ट के आदमी है। मैं मामूली अखबारनवीस। दूसरे पचवर्षीय आयोजन और राष्ट्र की आज की नैतिक हालतो के बारे मे चर्चा चलते ही, उन्होने राष्ट्र का बहुत ही निराशाजनक चित्र खीचा। एक विचारक अखबारनवीस के नाते मैंने कहा कि वस्तुतः सरकार बुद्धिजीवी चलाते हैं। खास तौर से वे लोग जो विशेषज्ञ हैं, टेकनीशिएस हैं, नीति-नियामक हैं। केन्द्र मे अनेको कमेटियों मे ये लोग हैं। नेताओ को ये इसलाह देते हैं। पचवर्षीय आयोजन पण्डित नेहरू के दिमाग की उपज नही है। इन विशेषज्ञो द्वारा वह बनायी गयी है।···

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1957-58]

[ 8 ]

सागर है। हम लोग विश्वविद्यालय हॉस्टल मे बैठे हुए हैं। अशोक वाजपेयी मेरी

गद्य-भाषा के सम्बन्ध मे कुछ कहता है।

आलोचक की भाषा चिन्तक की भाषा से भिन्न होती है। आलोचक, शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हुए व्यवस्था-बद्ध रूप से मूल्यांकन करते हुए अपनी बात रखता है। चिन्तक, विचारो के अन्त प्रवाह के साथ बहते हुए, वाक्यो की रचना उस प्रवाह के अनुकूल बनाता जाता है। फलत, उस भाषा में सर्व-स्वीकृत वह व्यवस्था और लालित्य या फिसल नही जो आलोचक की भाषा मे पायी जाती है।

वाजपेयी कहता है (कहते है) आपकी भाषा (मेरी) [म] वही गुण है। (उखडी उखडी रहती है)।

मैं ध्यान से सुनता हूँ। कभी प्रसन्न भी हो जाता हूँ, चिन्तित भी हो उठता हूँ। हाँ, इसमे सन्देह नही कि मेरी गद्य-भाषा अच्छी नही है।

शिवकुमार श्रीवास्तव का घर। हम लोग अन्दर के कमरे म सोते है। मुझे उसकी शहतीरें दिखायी देती है, मोरी और बजनदार। उसके ऊपर रोशनदान है। सबके ऊपर छत का पुराना त्रिकोण। मैं देखता ही रहता हूँ।

बचपन म ऐसे घरो म मैं खूब सोया और जागा हूँ। मुझे वह कमरा पसन्द है। सोनेवाले के ऊपर एक शून्य-सा होता है जिसका आकार एक मकान सा हो जाता है। मैं कभी अपने बालपन के बारे म, तो कभी श्रीवास्तव के स्वर्गीय पिताजी के सम्बन्ध मे सोचता रहता हूँ। मुझे नीद लग जाती है।

मेरा खयाल है श्रीवास्तव श्रेष्ठ राजनैतिक कवि हैं और हो सकते हैं, लकिन वे मेहनत करना नही चाहते। या उन्हे श्रम करने का अवसर नही मिलता। परन्तु उनमे बहुत शक्ति है। यदि मैं सागर म होता, मजा आ जाता।

मैं श्रीवास्तवजी के सामने बैठा हुआ हूँ, आग्नेय भी हैं। कविता के सम्बन्ध म खूब बातचीत होती है। आग्नेय कविता सुनाते हैं। उनकी काव्य भाषा पर बेहद विलायती प्रभाव है। शायद इसीलिए नामवरसिंहजी ने नयी कविता की कडी आलोचना की।

किन्तु, विलायती प्रभाव के बावजूद, उनकी कविताएँ बहुत अच्छी हैं।

मुझे आग्नेय अच्छे लगते हैं। उनके व्यक्तित्व मे कुछ है जो एकदम सक्रिय है। वे सही मानी मे जवान हैं। उनके तारुण्य मे भोला पौरुष है। वह शक्ल महत्ता है।

खूब पढते लिखते हैं ये लोग—अशोक वाजपेयी और आग्नेय। जापानी कविताओ और उपन्यासो से लकर तो अद्यतन अमरीकी साहित्य तक। कोई शक नही कि वे मुझस ज्यादा पढे लिख हैं। दोनो मुझे अच्छे लगते हैं। अशोक वाजपेयी मे सूक्ष्मता अधिक है।

राष्ट्रपति (जितेन्द्र कुमार) से बातें होती हैं। वे गम्भीर, उदास, प्रशान्ति की मूर्ति से दिखायी देते हैं, मानो कही कोई लालटेन चुपचाप जल रही हो।

लखनादौन मे वे शिक्षक हैं। अलग और दूर जा पडे हैं। स्वय कहते हैं कि इस अलगाव के कारण वे न केवल निष्क्रिय हो उठे हैं, वरन् एक विचित्र निश्चेतन और निस्सज्ञता छा गयी है, किसी बात का महत्त्व ही नही, केवल काल सरकता जाता है।

मैं उनकी स्थिति की कल्पना करता जाता हूँ और कल्पना मे डूब जाता हूँ। बार-बार अनुभव होता है कि वह व्यक्ति गम्भीर है, गम्भीर और उत्तरदायी। उन सबमे वह ज्यादा समझदार, धैर्यशाली और सूक्ष्मदर्शी।

सब लोग मुझे स्टेशन पर पहुँचाने आते हैं। शिवकुमारजी, वाजपेयीजी, राष्ट्रपतिजी (जितेन्द्र कुमार) आदि। मेरे सामने आकाश खुल जाता है, पृथ्वी मेरी होती है। सब लोग मुझे मेरे भाई मालूम होते हैं।

सागर से लौटने पर मुझे हमेशा भरापूरापन मालूम हुआ। ये लोग मुझे बहुत कुछ दे देते है।

जबलपुर है। परसाईजी है। पीली दुबली लम्बी काया। मज़ाक। गम्भीरता। हास्य और बिलकुल तह मे बैठी हुई दिखायी न दे सकनेवाली एक ऐसी अन्त सलिला, जिसका हम कभी कभी स्पर्श कर सकते है।

उनकी विधवा बहिन गगा के समान पवित्र। तीन बच्चे, जो पढते भी है, घर का काम भी करते है। बहिन परसाईजी के समान है। मैं उसके जीवन की कल्पना करते बैठता हूँ। रात मे हम सब सोये हुए हैं। मैं चीखकर जाग उठता हूँ। परसाईजी पूछते हैं, 'क्या हुआ।' मै जवाब नही देता। एक बुरा सपना आया था।

वसुधा के सम्बन्ध मे बातें होती हैं।

हनुमानप्रसादजी से मुलाकात होती है। मेरे मित्रो का समुदाय बढ गया है।

रायपुर। अखिल भारतीय आकाशवाणी कवि सम्मेलन। निहायत रद्दी और प्रतिभाहीन, साथ ही सुप्रतिष्ठ और भद्र कवियो का सम्मेलन। उनके कोट, उनका रग-ढग सूचित करता है कि हर-एक व्यक्ति अपना महत्त्व जानता है। मेरे दिल से घृणा की भाफ निकलती रहती है और उस भाफ मे से मुझे उनके चेहरे दीखते हैं—बदलती हुई विकृतियो स भरे चेहरे। मैं उनका नही उनमे का नहीं हूँ, उनमे अलग हूँ।

मैं अपने पुराने मित्रो से मिलता हूँ। बाहर एक दाढीधारी भयानक-सा लगने वाला चेहरा! एक फैण्टेसी! वह फैण्टेसी मेरे साथ चलती है। वह फैण्टेसी स्टेशन तक चलती चलती दीन दुनिया का जिक्र करती है। हम क्या हैं!

ओफ!

अभी इतना ही।

*[सम्भावित रचनाकाल 1959]*

## [ 9 ]

*घर मे बैठने की जगह ही कहाँ है! और अगर है भी तो वहाँ तरह-तरह* की चिन्ताएँ घेर लेती हैं। ये चिढते हैं, वो झटक देते हैं, इससे अनबन उससे बे-बनाव। हर-एक का व्यक्तिगत इतिहास कहाँ तक देखते जायें, कौन गलत है कौन सही है, इसका निर्णय करने से सुख थोडे ही मिलता है!

लिहाजा, पैर दरवाजा, गली फाँदकर, भीड मे खो जाते हैं। कुछ बुद्धिमान

कहते हैं कि भीड मे व्यक्तित्व खो जाता है। लेकिन मैं कहता हूँ कि इसमे बुराई क्या है। मुझे तो भीड मे अपन से मुक्ति मिल जाती है। चहल-पहल, रौनक, रफ्तार, और शोर मे ही क्यो न सही, खुद का भूलना तो होता ही है। बहुतेरे लोग निन्दा के आनन्द मे खुद को भूल जाते है, बहुतेरे शराब के मजे लेते हुए खुद को और दुनिया को भूल जाते हैं। बहुत-से लेखक और कलाकार अपनी चेतना को इस तरह जगाते हैं कि निजी व्यक्तित्व आँखो से ओझल हो जाता है। यह तो कहने की बातें हैं कि हम उच्चतर स्तर पर जागे हुए हैं। असलियत यह है कि खुद स छुटकारे का एक तरीका है कला की साधना। व्यक्तित्व-बोध निरा भ्रम है, क्योकि कोई भी अपने को नही जान सकता। और यदि वह सचमुच अपने को जान लेता है तो इसका मतलब यह है कि वह 'स्व' नही है, वह एक वस्तु है क्योकि वस्तु ही को जाना जा सकता है, 'स्व' को जानने के पहले उसे वस्तु बनना होगा। जानने की पहली शर्त है बाह्य इन्द्रिय-सवेदनाओ द्वारा जाना-पहचाना जाना। इस तरह सिर्फ वस्तुएँ जानी जा सकती हैं। यदि आप कहें कि अनुभूति द्वारा हम अपने-आपको जानते हैं, तो यह भी गलत है, क्योकि अनुभूति द्वारा आप अपन-आप का अनुभव कर सकते है। गरमी का सिर्फ अनुभव करके गरमी के रूप-स्वरूप को और उसके कारण-कार्यो को नही जाना जा सकता। इन सब बातो को जानने के

न-किसी रूप म। रहस्य को जानना, जानना नही होता। कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र, अपने व्यक्तित्व को जान नही सकता। हाँ, यह सही है कि कुछ हद तक वह अपना बोध कर सकता है। लेकिन बोध तो ज्ञान नही हुआ। बोध बहुत बार मिथ्या बोध भी होता है, इसीलिए मिथ्या ज्ञान होता है। हम अपने बारे में ज्ञान के स्थान पर मिथ्या ज्ञान अवश्य रखते हैं। यह मिथ्या ज्ञान ही है कि जिसकी प्रतारणाओ के कारण हम अपने से छुटकारा चाहते हैं। यह हमारे अहकार की जादुई ताकत है कि हम मिथ्या ज्ञान के सहारे, कल्पना और अनुमान का प्रयोग करके, सुविस्तृत जीवन-चित्र खडा कर देते है, और यह विश्वास करने लगते हैं कि वह जीवन-चित्र सही ही है।

विश्वास! यह एक अद्भुत शक्ति है! सत्य वह है जिसे हम यह समझते हैं, और यह विश्वास करते हैं, कि वह सत्य है। यदि कोई वस्तु है, या वस्तु की क्रिया है, इन्द्रिय-सवेदनाएँ हमे यह विश्वास दिला देती हैं कि उसम अमुक-अमुक गुण हैं। लेकिन, 'स्व' के रहस्य के सम्बन्ध मे विश्वासपूर्वक अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इसी 'स्व' के रहस्य को लिये मैं भीड मे खो जाता हूँ। और, समझता हूँ कि हर-एक के पास अपने-अपने रहस्य हैं। मैं उन सबके रहस्यों का आदर करता हूँ। फ़र्क़ यही है कि मैं कुछ रहस्यो के चिह्नों से भडकता हूँ।

[सम्भावित रचनाकाल 1963]

[ 10 ]

मुझे याद है कि मेरे बचपन मे मेरे कई साथी दूसरो के पत्र पढ लिया करते थे। वह [illegible]

ता आता ही है, साथ-साथ चिढ भी।

चिढ इसलिए कि मुझे महसूस होता है कि यह प्रवृत्ति किसी अस्वस्थ, वृथा-जिज्ञासु-मन की द्योतक है, कि वह अन्यों म सहज विश्वास नही कर पाती, इसीलिए ताक-झांक करना आवश्यक समझती है, कि वह इसीलिए चोरी-चोरी दूसरो के निजी पत्र दूसरो की डायरियां पढ जाना आनन्दप्रद समझती है।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो यह काम बहुत चतुरतापूर्वक करते हैं। साथ ही, मैंने यह भी पाया कि उनकी प्रवृत्ति रहस्य भेद की प्रवृत्ति होती है। महत्वपूर्ण बात रहस्य है जो उनका अपना कल्पित किया गया है। इस रहस्य के प्रति वे प्रवृत्तिवश खिचते चले जाते हैं, और तब उन्हें यह परवाह नही होती कि वे वस्तुत दूसरो के जीवन मे हस्तक्षेप कर रहे हैं—ऐसा हस्तक्षेप, जो बहुत ही टुच्चा, बहुत अकारण, बहुत अकारथ और अत्यन्त दीन है।

प्रत्येक व्यक्ति पूरा उजागर होने पर भी, कही कुछ अँधेरे मे रखता जरूर है, जैसे पैण्ट के नीचे चड्डी पहनना। लेकिन यदि लोगो की जिज्ञासा चड्डियो-जैसे अण्डरवेअरो मे ही हो तब गुस्सा आना स्वाभाविक ही होता है। यह चिढ तब तो और भी जोरदार हो जाती है जब रहस्य भेदी व्यक्ति अपना जाना-पहचाना हो। तब लगता है कि हर आलमारी के हर दराज मे हाथ डालकर देखने की उसकी इच्छा, ऐबनॉर्मल है, अस्वास्थ्य का लक्षण है।

ऐसे लोग मौजूद हैं और मौजूद रहेंगे। वे आपके भी आस-पास होगे।

लेकिन आप लोगो को क्या कहेंगे, जो जानबूझकर अपने अण्डरवेअरों को दूसरो के सामने नमूनो के समान पेश करते हो। वे अपनी प्राइवेट-से-प्राइवेट चिट्ठियाँ आपके सामने धर देंगे। अगर उन्हें कोई महत्वपूर्ण और गुप्त प्रेमपत्र प्राप्त होगे तो आप विश्वास रखिए कि वे आपको पढने को मिल जायगे। बस, केवल एक ही शर्त है। वह यह कि आप मिलनसार हों। देखिए, फिर आप पर कितना गहरा विश्वास करते हैं।

यह गहरा विश्वास जितना सहज होता है, उतना ही वह शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। सच मानिए, वे आप पर वस्तुत कतई विश्वास नही करते, यानि कि आप उनके हृदय क निकट नही पहुँचे हैं। अगर आप कही उनके उस विश्वास का बदला लेने लगें तो आप पायेंगे कि वस्तुत उनका वह विश्वास, विश्वास नही था, केवल एक उच्छ्वास था। एक क्षणिक उच्छ्वास।

आज तक मुझे इन लोगो का मन समझ म नही आया है। मेरे खयाल से, अपनी गुप्त रखने योग्य बातें उद्घाटित करने की सहज लालसा के पीछे उनकी आत्मप्रदर्शन-भावना काम करती है। एक हीन प्रकार की आत्मप्रदर्शन-भावना।

[रचनाकाल अनिश्चित]

अजीब है ! मेरे पास इतने अधिक दिये हैं, इतने गैस, इतने अधिक टॉर्च मैंने ले लिये हैं ! बाँट दिये उन्हें और कहा—क्विक मार्च ! मेरे दोस्तो !

बाँटता नहीं तो क्या करता ? उनका उजाला इतना अलग-अलग और इतना अधिक था कि किताबों के पत्ते भी भभक उठते थे और एक की छाया दो नहीं कई हो जाती थी।

और, आज मैं उन सबको वहाँ लिये जा रहा हूँ जहाँ एक दुर्घटना हुई थी (दो कगारों के बीच चढ़ान नयी-नयी थी)। इंजन भी नया था। मेरा यार ड्राइवर था, मैं खुद गया था।

भयानक पुल था। पर, वहाँ पहुँचने के पहले ही सावधान किया था। मेरे शब्दों में बल था। मैंने कह दिया था—यहाँ-वहाँ कीलें उखड़ गये हैं। भयानक पुल ! स्क्रू ढीले पड़ गये हैं। तुम ऐसे नहीं कि साध सको रफ्तार। यह डीज़ल इंजन कैनेडियन ! इसका यह बटन दबाया न रखना ! दबाने से बढ़ती है तेज़ी, भारतजी ! पर भारत भूषण इंजन ड्राइवर ने अनसुनी कर दी। 'उँह' के शब्द में बुद्धिमानी भर दी। फिर भी मैंने कह डाला—लोहे के पुल के नीचे बाढ़ का पछाड़ता पानी है। दिमाग़ ग़ैर हाज़िर रख इंजन चलाना नादानी है। बेवकूफी सरासर। पर ड्राइवर ने चाँटा रसीद किया, समय को जीत लिया। दुख है कि जो कुछ मैंने कहा, सच निकला। मैं खुद बच निकला, इसका मुझे अफ़सोस ! मुकदमा चलाकर अब क्या होगा। बिगड़ी हुई घड़ी थी। भयानक पुल पर से एकाएक मुसाफिरों-समेत "रेल गिर पड़ी थी ! भयानक धड़ाके से लोग-बाग कूच कर गये, कुछ धक्के से बीच ही में मर गये, और उनके अवशेष समय का पानी बहा ले गया ! कहाँ-कहाँ गये वे सब, कहाँ गये !

और उस भयानक शून्य की नारकीय यातना के फेफड़ों से उठकर, खून-सा बहा मैं, कि एकाएक सोचता हूँ उस इंजन ड्राइवर का क्यों हुआ बुद्धिनाश !

अजीब-सी जानने की तबीयत होती है कि पुल ही पर पहुँचकर देखा जाय नीचे का भयानक विभ्राट !

हाँ लोहे का पुल टूटा हुआ है ! ऊँची-ऊँची ज्यामेट्रिक भीतें लटक रही हैं ! पटरियाँ उखड़कर गोल घूम गयी हैं।

अचानक देखता हूँ, मेरा एक साथी है। अनजाना आदमी। कोहनी के नीचे ही फटी हुई शर्ट ! पीछे-पीछे चला आ रहा ! पुकार कहता हूँ—सँभलकर चलना, टूटी हुई पट्टियों के बीच-बीच चौड़े अन्तरालों के आसमानी सूने में झाँककर देखो मत ! ग़श आ जायेगा ! गिर पड़ोगे। चल नहीं सकोगे ! पर, वह नहीं मानता ! उसके पैर काँपते ही रहते हैं, आँखों में साँवली-सी जाली छा जाती है, फिर भी नहीं मानता ! ध्वस और दुःख और नाश के भीषण दृश्यों पर टिकी हैं वे निगाहें ! भयानक निःस्तब्ध चेहरा मुग्ध है, भीषण मृत्यु के दयनीय दृश्य पर गहरा।

पुकारता हूँ फिर से—ज्यादा मत देख, अरे, ग़श आ जायेगा। आगे चलो, अभी पूरा पुल पार करना है, यहाँ नहीं मरना है !

बादल अभी बाकी हैं। बाढ़ में रेलगाड़ी की लोहे की गड्डमड्ड हड्डियों पर पानी बह रहा है। कत्थई पसलियाँ दिखायी दे रही हैं। उनमें कहीं आदमी दिखायी नहीं दे रहा है। सब मर गये हैं। पास के गाँव तक चलना है, सूचना देना है !

**कामायनी एक पुनर्विचार** ग्रन्थ पहले कुछ सक्षिप्त रूप मे **कामायनी (एक अध्ययन)** शीर्षक से नागपुर के किसी प्रकाशक ने आधुनिक प्रकाशन नाम से शायद 1950 मे प्रकाशित किया था। इस सस्करण की एक मुद्रित प्रति पाण्डुलिपियो म मिली है। प्रारूप मुद्रित तो हुआ पर प्रकाशित-वितरित न हो सका, जिसका जिक्र स्वय लेखक न अपने 1961 वें सस्करण की भूमिका म किया है।

इस पहले मुद्रित प्रारूप म लेखक ने अनक सशोधन-परिवर्धन किये जो मुद्रित प्रति के साथ कुछ अलग-अलग अध्यायो के रूप म पाण्डुलिपि म प्राप्त हैं। किन्तु ऐसा जान पडता है कि 1961 मे हिमाशु प्रकाशन, जबलपुर को दने के लिए लेखक ने जो पाण्डुलिपि तैयार की, उसमे कुछ और भी सशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन किये। क्योकि 1961 मे जबलपुर मे प्रकाशित सस्करण का पाठ उपलब्ध सशोधित पाण्डुलिपि से भिन्न है।

रचनावली मे प्रकाशन के लिए 1961 के पाठ को ही प्रामाणिक माना गया है, यद्यपि बीच बीच म विशेषकर कोई पाठ-विषयक शका होने पर, उपलब्ध पाण्डु-लिपि भी देखी गयी है।—स०

## प्रथम संस्करण (1961) की भूमिका

# दो शब्द

आज से कई वर्षों पहले, **कामायनी** के सम्बन्ध मे मेरे कुछ निबन्ध **हंस** तथा **आलोचना** में प्रकाशित हुए थे। उन्ही के आधार पर, मेरे मन्तव्यो के सम्बन्ध मे रायें बनायी गयी। यह स्वाभाविक ही था। **कामायनी** के सम्बन्ध म विस्तृत रूप से लिखने का मुझे मौका नही मिला था। सन् 50 के बाद, मैंने एक पुस्तक लिखी। वह पूर्ण रूप से छपी भी, किन्तु ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र मे कार्य करनेवाले एक प्रकाशक महोदय की सज्जनता के फलस्वरूप, मुद्रित होकर भी पुस्तक प्रकाशित न हो सकी। इस घटना के कई वर्ष बाद, मैंने फिर से उसी पुस्तक को सशोधित किया, उसमें नये अध्याय जोडे और कुछ पुराने मतो मे परिवर्तन किया। अब यह पुस्तक कृपालु पाठको के सम्मुख है।

हिन्दी के एक यशस्वी तरुण नाटककार यदि डण्डा लेकर मेरे पीछे न पडते, तो यह पुस्तक शायद लिखी ही न जाती। आगे चलकर, हिन्दी के समाज-द्रष्टा गद्य-कार और कहानी लेखक श्री हरिशकरजी परसाई ने मुझे आगे ढकेलने का बीडा उठाया। इन दोनो मित्रों के प्रति आभार व्यक्त करना सिर्फ एक रस्मी बात है। इस रस्म को मैं पूरा कर रहा हूँ। सच तो यह है कि उनकी मुझ पर अकृत्रिम कृपा रही, स्नेह रहा। अन्त मे मैं अपने प्रकाशक श्री शेषनारायण राय के प्रति कृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने निजी दिलचस्पी लेकर पुस्तक प्रकाशित करने की जिम्मेदारी उठायी। आशा है कि ये मित्र इसी तरह कृपा बनाये रखेंगे।

**गजानन माधव मुक्तिबोध**

## प्रथमतः

हमारा जीवन त्रिकोणात्मक है। उसकी एक भुजा हमारे बाह्य जगत्, यानी मानव-सम्बन्धो के विशिष्ट क्षेत्र अर्थात् वर्ग-जगत्, और उस जगत् के विविध जीवन-मूल्यो और आदर्शों के बीच से होती हुई, उस छोर तक पहुँच जाती है, जिसे हम देश और जाति की राजनैतिक-सामाजिक स्थिति कह सकते हैं, कि जो स्थिति मानवेतिहास के विकास के एक विशेष स्तर और विशेष अवस्था का नाम है। इस त्रिकोण की दूसरी भुजा हमारा वह अन्तरग जीवन है कि जो अन्तर्जीवन बाल्यकाल से ही बाह्य को, बाह्य की क्रियाओ और रूपो को आत्मसात् करता हुआ, उस बाह्य के विरुद्ध या अनुकूल प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, उन प्रतिक्रियाओ के विभिन्न सवेदनात्मक पुज बनाता हुआ, और उन पुजो के सहारे जीवन ज्ञान का विकास करता हुआ, और उस जीवन-ज्ञान के सहारे स्वय को बाह्य से मिलाने और बाह्य को अपने से मिलाने—अर्थात् उस बाह्य के साथ स्वय को द्वन्द्व रूप मे या सामजस्य रूप मे अथवा इन दो स्थितियो के सगत-असगत सम्मिलित रूप मे स्थापित करने, बाह्य की काट-छाँट कर उसे अपने अनुकूल बनाने या स्वय ही काट छाँट कर अपने को उसके अनुसार बनाने—का प्रयत्न करता रहता है। अन्तर्निहित इच्छाएँ जो मूलत आत्मरक्षा और आत्मविकास की बुनियादी वृत्तियो से सचलित और परिचलित होती रहती हैं, उनकी तृप्ति के, तथा बाह्य से सामजस्य की स्थापना के, द्विविध किन्तु एकीभूत प्रयत्न, मनुष्य स्वभाव ही का धर्म है। मनुष्य के अन्तर्जीवन का इतिहास बाह्य द्वारा दिये गये तत्त्वो से बना हुआ होता है।

मनुष्य के हृदय मे सचित जो अनुभव होते हैं उनका एक पक्ष आभ्यन्तर और दूसरा पक्ष बाह्यगत होता है। अनुभव मे जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है वह अनुभव का आत्मपक्ष है। अनुभव के अन्तर्गत जो बिम्ब, भाव अथवा विचार प्रस्तुत होते हैं, वे बाह्य के ही सम्पादित, सशोधित रूप हैं।

हमारे जीवन के इस त्रिभुज की आधार-रेखा हमारी अपनी चेतना है, कि जो चेतना उपर्युक्त दो भुजाओ के बिना अपना स्वरूप और आकार ही स्थापित नही कर सकती। उन दो मे से यदि एक भी लुप्त हो तो चेतना का कोई अर्थ ही नही रहता। हमारा अन्तर्जीवन और उसका क्रम अपने बाह्य परिवेश और परिस्थिति से आवयविक सम्बन्ध रखता है, और दोनो—अन्तर तथा बाह्य—अगागिभाव से एकीभूत होकर हमारा जीवन बनाते हैं।

समाज रेत का वह ढेर नही जिसमे का प्रत्येक कण एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क

रखते हुए भी एक-दूसरे से विलग और स्वतन्त्र रहता है। समाज एक वृक्ष की भाँति है, जिसका प्रत्येक भाग, प्रत्येक अश, प्रत्येक कण और प्रत्येक बिन्दु एक-दूसरे से और अपने पूर्ण अखण्ड से आवयविक सम्बन्ध रखता है।

मानव-चेतना की प्रक्रियाएँ प्राणिशास्त्रीय आधार पर खडी होते हुए भी, मूलत मनोवैज्ञानिक है, अर्थात् चेतना की प्रक्रियाओ के अन्तर्नियम प्राणिशास्त्रीय आधार पर स्थित होते हुए भी उससे भिन्न हैं। किन्तु चेतना के तत्त्व बाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप है।

दूसरे शब्दो मे, अन्त प्रवृत्तियो मे तथा उनके द्वारा प्राप्त अनुभवो मे परस्पर वैभिन्न्य है। चेतना के तत्त्व बाह्य क आत्मसात्कृत बिम्ब हैं। उनका आधार बाह्यगत है, आकार बाह्यगत है, किन्तु उनकी अग्नि और उनका तेज आत्मगत है।

जीवन, स्वरूपत त्रिकोणात्मक होने के कारण, उसकी व्याख्या किसी एक भुजा

वरन् विकृत और

परस्पर-सम्बन्ध

ानिक व्याख्या न

केवल अपूर्ण होती है, वरन् असगत भी।

**कामायनी** का जो विश्लेषण मैंने किया है, वह एक ओर प्रसादजी का युग तो दूसरी ओर उनका व्यक्तित्व—इन दोनो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओ के सघनित *योग को ध्यान मे रखकर ही। **कामायनी** उस अर्थ म कथा-काव्य नही है कि जिस* अर्थ म **साकेत** है। **कामायनी** की कथा केवल एक फैंटेसी है। जिस प्रकार एक फैंटेसी मे मन की निगूढ वृत्तियो का, अनुभूत जीवन-समस्याओ का, इच्छित विश्वासो और इच्छित जीवन-स्थितियो का, प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार **कामायनी** मे भी हुआ है। **कामायनीकार** के हृदय म चिरकाल से सचित (किन्ही विशेष बातो के सम्बन्ध मे), जो सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं, जो तीव्र दश है, जो निगूढ आघात हैं, उन सबमे एक जीवन-आलोचनात्मक व्याख्यान के सूत्र है। य सब प्रतिक्रियाएँ, य सब दश और आघात, जीवन-आलोचनात्मक वेदना से युक्त होकर उस फैंटेसी मे प्रकट हुए हैं जिस हम **कामायनी** कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, प्रसादजी के अन्त-करण मे जो एक जीवित और जीवन्त, छटपटाती हुई, दुखती हुई ग्रन्थि है—वह आभ्यन्तर ग्रन्थि, अपने पूरे दु ख, अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अपने पूरे आवेग और अपने सम्पूर्ण भान, और भान के उलझाव के साथ **कामायनी** मे प्रकट हुई है। इस आभ्यन्तर ग्रन्थि का प्रतिनिधित्व करनेवाला पात्र है मनु। मनु मानव-मात्र का, मन का, मानव-मात्र के मन का, प्रतीक नही, वह केवल उस मन का प्रतीक है जो प्रसादजी का अपना या उन-जैसा मन है। इस बात को हम दूसरे शब्दो म यो कहेगे कि मनु उस जीवन समस्या का प्रतीक है, कि जो जीवन-समस्या, किसी न-किसी अश में, प्रसादजी की अपनी समस्या रही है। इस जीवन समस्या पर प्रसादजी चिरकाल चिन्तन करत रहे। प्रसादजी ने स्वय इस जीवन-समस्या को मानव सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नो से जोड दिया, उसे मानव-आदर्शों और जीवन मूल्यो सम्बन्धी प्रश्नो से सलग्न किया। इतना ही नही, वरन् उन्होने उस जीवन-समस्या का एक दार्शनिक निदान भी प्रस्तुत किया।

अतएव, **कामायनी** का अध्ययन और उसक मूल सूत्रो का आकलन तब तक नही हो सकता जब तक कि हम मानव-जीवन को उसके समस्त परिवेश और परि-

स्थिति से, आवयविक रूप से सम्बन्धित करके न देख सके। **कामायनी** की केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या अपर्याप्त है, असंगत भी। आलोचक का यह धर्म है कि वह **कामायनी** में उपस्थित जीवन-समस्या की, उस आवयविक रूप से संलग्न परिवेश-परिस्थिति की, तथा इन दोनों के सम्बन्ध में कवि-दृष्टि की, तथा उस जीवन-समस्या के कवि-कृत निदान की, समीक्षा करे। मैंने वैसा करने का प्रयत्न किया है।

कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है। यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत, कलाकृति यथार्थ के अन्तर्नियमों के अनुसार, यथार्थ के बिम्बों की क्रमिक रचना प्रस्तुत करती है। किन्तु भाववादी रोमैण्टिक शिल्प के अन्तर्गत, कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषताओं को समष्टि-चित्रों द्वारा, प्रतीक-चित्रों द्वारा, प्रस्तुत करती है। फैण्टेसी के अन्तर्गत कवि-कल्पना, जीवन की सारभूत विशेषताएँ प्रकट करते हुए, एक ऐसी चित्रावली प्रस्तुत करती है कि जिससे वह तथ्यात्मक जीवन जिसकी कि स्वानुभूत विशेषताएँ प्रोद्भासित की गयी हैं, अधिकाधिक प्रच्छन्न, गौण और नेपथ्यवासी हो जाय। संक्षेप में, फैण्टेसी के अन्तर्गत भाव-पक्ष प्रधान और विभाव-पक्ष गौण और प्रच्छन्न तो होता ही है, साथ ही यह भाव-पक्ष, कल्पना को उत्तेजित करके, बिम्बों की रचना करते हुए, एक ऐसा मूर्त विधान उपस्थित करता है, कि जिस विधान में उस विधान ही

नहीं हो सकता।

फैण्टेसी के अन्तर्गत कल्पना का मूल कार्य, मन के निगूढ़ तत्त्वों को प्रोद्भासित करते हुए, विभिन्न रंगों में उन्हें अपने समस्त सौन्दर्य के साथ उद्घाटित करना रहता है। मन के ये निगूढ़ तत्त्व, अन्तर और बाह्य की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध, सम्पादित और संशोधित होनेवाले वे जीवन-सत्य हैं, कि जो सत्य, आन्तरिक संवेदनाओं और बाह्य तथ्यों को परस्पर-समन्वित और एकीभूत करके, अपना रूप-स्वरूप विकसित करते हैं। संक्षेप में, चेतना प्रवृत्ति-रूप में, अपनी स्वयं की है और तत्त्व-रूप में बाह्य की। प्रवृत्तियों द्वारा प्राप्त जीवनानुभव में संवेदना अपनी, अग्नि अपनी, किन्तु तत्त्व बाह्यगत होते हैं। संक्षेप में, चेतना के तत्त्व बाह्य का सम्पादित और संशोधित आभ्यन्तर रूप हैं। अन्तःकरण में चिरकाल से उपस्थित जीवन-समस्या, बाह्य और अन्तर के द्वन्द्व से उत्पन्न समस्या है—जिसका यदि एक छोर अन्तर है तो दूसरा बाह्य। बाह्य और आभ्यन्तर आपेक्षिक शब्द हैं। वे एक-दूसरे की परिस्थिति है।

दूसरे शब्दों में, प्रसादजी ने **कामायनी** में एक विशाल फैण्टेसी के अन्तर्गत

वास्तविक जीवन-सन्दर्भ को, अर्थात् अपने मूल वास्तविक मानव-सम्बन्ध क्षेत्र को—जिससे कि वह आवयविक सम्बन्ध रखती है—भूमिगत बना चुकी है—उस क्षेत्र को नेपथ्य में डालकर ही वह समस्या कल्पना-चित्रों के रूप में उद्घाटित हुई है

और कल्पना के गति-नियमों मे बँध गयी है।

अतएव मैंने उस जीवन-समस्या के, उसकी परिवेश-परिस्थिति के, प्रसाद-कृ
अध्ययन की समीक्षा और उस समस्या के कविकृत निदान की आलोचना करने क
यत्न किया है।

साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करत
है। जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की उ
पुनर्रचना होती है, वह सारत: उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, कि जो जीव

स्वय द्वारा तथा अन्यो द्वारा

। उस पुनर्रचित जीवन मे, तथ

जीवन मे, गुणात्मक अन्त

उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे गये जीवन से सारत: ए
होते हुए भी स्वरूपत भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन
नि सारत: एक हो, सिर्फ ऊपरी तौर पर एकसापन रखता हो, तो वह पुनर्रचि
जीवन निष्फल होता है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अल
गाव है, उनकी जो पृथक्-पृथक् स्थिति है, उस अलगाव और पृथक् स्थिति के कारण
ही, कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद, उस कला मे मूलबद्ध रूप से एक
अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न होता है।

यह अमूर्तीकरण इसलिए उत्पन्न होता है कि जीवन की पुनर्रचना, जिये औ
भोगे गये जीवन से सारत एक होते हुए भी, उससे कुछ अधिक होती है। यह बात
महत्त्व की है कि जीवन की यह पुनर्रचना, जिस वास्तविक जीवन से सारत: एक है
और जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है, वह पुनर्रचना जिये और भोगे गये या जिये
और भोगे जानेवाले जीवन की वास्तविकताओ के साथ ही तत्समान सारी वास्त-
विकताओ और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसी-
लिए उसमे सारभूत 'विशिष्ट', विकसित और परिणत होकर, 'सामान्य' बन जाता
है। इसी को हम प्रातिनिधिकता कहते हैं।

कल्पना-बिम्ब दो प्रकार के होते हैं। एक वे है जिनका कार्य ऊपरी-सतही तथ्यो
का उद्घाटन है। किन्तु दूसरे वे होते है जो जिये और भोगे गये जीवन से सारभूत
एकता रखने के कारण प्रातिनिधिक हो उठते है। उनकी यही प्रातिनिधिकता
गम्भीर बन जाती है। यह कवि-बुद्धि पर निर्भर है कि जिये और भोगे गये जीवन की
सारभूत विशेषता कौन-सी है और कौन-सी नही। यह आवश्यक नही है कि जिया
और भोगा गया जीवन कवि का अपना नितान्त व्यक्तिगत जीवन हो। किन्तु उसकी
कलाकृति मे वास्तविक का साक्षात्कार और आत्म-चरित्रात्मक सस्पर्श तो होना ही
चाहिए। कल्पना-बिम्बो द्वारा जीवन की पुनर्रचना करते समय लेखक, जाने-अन-
जाने रूप से, जीवन की व्याख्या भी करने लगता है।

यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत यथार्थ के बिम्ब, यथार्थ के स्वरूप और गति के
नियमो मे बँधकर, प्रस्तुत होते हैं। दूसरे शब्दो मे, यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत
विभाव-पक्ष (वस्तु-पक्ष) का चित्रण होता है, और उस पक्ष के आधार पर ही
भाव-पक्ष का उद्घाटन। इसके विपरीत, भाववादी रोमैण्टिक शिल्प के अन्तर्गत
भाव-पक्ष का ही चित्रण होता है, और विभाव-पक्ष को नेपथ्य मे डाल दिया जाता
है, अथवा उसे यत्र-तत्र सूचित कर दिया जाता है। भाव-स्थितियो से ही हम

विभाव-स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। रोमैण्टिक भाववादी आत्मपरक कला मे, कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर, अधिकतर, भाव-पक्ष ही का मूर्त विधान करती है, और विभाव-पक्ष को प्रतीको अथवा अन्य प्रकार से मात्र सूचित अथवा ध्वनित कर देती है। फैण्टेसी मे विभाव-पक्ष के कल्पना बिम्ब प्रतीकात्मक होकर अपनी मूल भूमि से इतने दूर जा पडते है कि वे विभाव-पक्ष का भूगोल और इतिहास छोडकर, उसका दिक्काल त्यागकर, अपना एक स्वतन्त्र भूगोल और इतिहास अपना स्वतन्त्र दिक्काल, स्थापित कर लेते हैं।

कलाकृति मे यथार्थवादी रूप-विधान का अर्थ यह नही है कि लेखक ने वास्तविकता को वैज्ञानिक दृष्टि से, यथार्थवादी दृष्टि से, समझा हो और वैसा उसका आकलन और मूल्याकन किया हो। सक्षेप में, यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण मे अन्तर है। यह बहुत ही सम्भव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है—उस शिल्प के अन्तर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो। कवि के जीवन-ज्ञान के स्तर पर और कवि व्यक्तित्व की अनुभव-सम्पन्नता के स्तर पर, उसकी दृष्टि पर, यह निर्भर है कि वह कहाँ तक वास्तविक जीवन-जगत् को, उसके सारे वास्तविक सम्बन्धो के साथ ग्रहण कर, उसे वस्तुत समझता है। सक्षेप म, कला के शिल्प और उसकी आत्मा मे अन्तर करना होगा। यह बहुत ही सम्भव है कि तथाकथित यथार्थवादी कलाकार [ने] यथार्थ को रगीन चश्मे से देखकर, उस यथार्थ की अशुद्ध व्याख्या करते हुए, उसका अशुद्ध मूल्याकन करते हुए, और इस प्रकार उस यथार्थ ही को विकृत वनाकर, किन्तु यह विश्वास करते हुए कि उसकी अपनी समझ के अनुसार जो यथार्थ है सचमुच वही उसका यथार्थ स्वरूप भी है—उसने अपनी कल्पना को यथार्थ के [illegible] को जांचने [illegible] हो, उस [illegible] रिचालित [illegible], तथा वह अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान जो कल्पना के भीतर की सामग्री बनता है—इन सब बातो के स्वरूप और स्तर को हम देखना ही होगा।

भाववादी कला मे कल्पना वास्तविकता के यथार्थ बिम्बो मे न उलझकर उस वास्तविकता को मात्र प्रतीको द्वारा, समष्टि चित्रो और उपमा-दृश्यो द्वारा, सूचित-भर कर देती है। सक्षेप मे, फैण्टेसी के अन्तर्गत, भाव-पक्ष प्रधान होकर विभाव-पक्ष मात्र सूचित होता है, मात्र ध्वनित होता है, अथवा केवल प्रतीको मे प्रकट होता है। इस प्रकार के शिल्प मे वास्तविकता प्रतीकात्मक रूप से ही झलकती है।

फैण्टेसी के प्रयोग म कई प्रकार की सुविधाएँ होती हैं। एक तो यह कि जिये और भोगे गये जीवन की वास्तविकताओ के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को, अर्थात् जीवन-ज्ञान को, (वास्तविक जीवन-चित्र उपस्थित न करते हुए) कल्पना के रगो मे प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार की ज्ञान-गर्भ फैण्टेसी वास्तविक जीवन ही का प्रतिनिधित्व करती है। लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। वह, सक्षेप मे, ज्ञान-गर्भ फैण्टेसी द्वारा, सार-रूप मे, जीवन की पुनर्रचना करता है। किन्तु फैण्टेसी का प्रयोग कुछ विशेष असुविधाएँ भी उत्पन्न करता है,

जिनमे से एक यह है कि फैण्टेसी मे कभी-कभी जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं कि उन्हें पहचानना भी मुश्किल होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी उनका क्रम स्थापित करने मे भी अडचन होने लगती है। प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत होने के कारण वास्तविकता या जीवन-तथ्य, अधिकतर अनुमान से ही, सवेदनात्मक अनुमान ही से, पहचाने जा सकते हैं। सक्षेप मे, फैण्टेसी एक झीना परदा है जिसमे से जीवन-तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं। फैण्टेसी का ताना-बाना कल्पना बिम्बो मे प्रकट [illegible] दूसरे शब्दो मे, तथ्यो [illegible] उन तथ्यो के प्रति की [illegible]

ऐसी स्थिति मे, मेरे खयाल मे, फैण्टेसी का विश्लेषण इस प्रकार होना चाहिए —सबसे पहले हम फैण्टेसी मे गुँथी हुई क्रिया-प्रतिक्रियाएँ जानें, और उन क्रिया-प्रतिक्रियाओ के सूत्र से हम प्रच्छन्न और अर्ध-प्रच्छन्न जीवन-तथ्यो तक जायें। ये जीवन-तथ्य सवेदनात्मक उद्देश्यो की अपनी निधि हैं—अर्थात् जीवन की वह विशेष सामग्री है कि जिसके प्रति कवि द्वारा क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उपस्थित की गयी हैं।

फैण्टेसी मे प्रतिच्छायित जीवन-तथ्य फैण्टेसी के अपने फ्रेम के अग ही हों, यह आवश्यक नही है। आवश्यक इतना ही है कि फैण्टेसी के रग जीवन-तथ्यो के रग से मिलते-जुलते हो, अथवा उन तथ्यो के रग से अनुस्यूत हो। हम एक उदाहरण लें :

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ<br>
इसमे क्या है धरा, सुनो।<br>
मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित<br>
मेरे क्षितिज उदार बनो।

इस फैण्टेसी का फ्रेम, उसका ढाँचा वस्तुत अध्यात्मवादी-रहस्यवादी है, इसीलिए प्रिय सौन्दर्य को क्षितिज कहा गया है। 'तुम कौन ?' 'मैं कौन ?'—ये प्रश्न भारतीय दर्शन के अग रहे है। इन प्रश्नो मे आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध द्योतित है।

किन्तु उपर्युक्त काव्य-पक्तियो की सारी अर्थ-दीप्ति कहाँ से उत्स्फुरित हुई है ? प्रियतम और प्रेयसी के परस्पर-सम्बन्धो के जीवन-तथ्य से। सक्षेप म, कवि जीवन के प्रणय-तथ्य का उद्घाटन कर रहा है। यही नही, इस प्रणय के क्षेत्र मे वह अपनी जीवन-दृष्टि भी प्रकट कर रहा है। तुम कौन और मैं कौन हूँ, हमारी वास्तविक स्थिति और स्तर क्या हैं—इससे हम मतलब नही। हम प्रेम करते हैं इतना काफी है। सक्षेप मे, इस फैण्टेसी का ढाँचा अध्यात्मवादी-रहस्यवादी है। किन्तु उसका मूल तथ्य प्रणय-तथ्य है, कि जिसने सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार कल्पना-विधान किया। उस तथ्य के जो रग है, वे फैण्टेसी मे भी है। निष्कर्ष यह कि फैण्टेसी का आकार तो अपना होता है, किन्तु उसमे के रग *जीवन-तथ्यों* से उद्गत होते हैं।

वास्तविकता अनेक प्रतीको द्वारा प्रस्तुत होती है। सामाजिक क्रान्ति को, युद्ध और सघर्ष को, प्राय प्राकृतिक विप्लव द्वारा ही सूचित किया जाता है। इस प्राकृतिक विप्लव मे कभी-कभी *अति-प्राकृतिक शक्तियाँ भी काम करती दिखायी* जाती हैं। जब प्राकृतिक विप्लव मे, आकस्मिक रूप से, अति-प्राकृतिक शक्तियाँ

याग देती हुई बतायी जाती है, तब यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि फैण्टेसी का अकनकर्त्ता निर्यातवादी है।

कभी-कभी फैण्टेसी जीवन की विस्तृत वास्तविकता के लिए, और उसको लेकर, उपस्थित होती है। **कामायनी** मे यही हुआ है। ऐसी स्थिति मे फैण्टेसी के रूप मे जो कथा प्रस्तुत होती है, और कथा के अन्तर्गत जो पात्र, चरित्र और कार्य प्रस्तुत होते हैं, वे सब प्रतीक होते है वास्तविक जीवन-तथ्यो के। यही कारण है कि फैण्टेसी का चित्रण करते हुए लेखक पात्रों, चरित्रो और उनके कार्यों के बारे मे अनेकानेक ऐसी बातें कह जाता है, कि जो बातें पात्र-चरित्र और पात्र कार्य के भीतर से उद्‌गत नहीं होतीं—नहीं हो सकती, क्योकि वस्तुत वे उन चरित्रो और कार्यो की अगभूत नही है। उदाहरणत, मनु, इडा और श्रद्धा के सम्बन्ध मे ऐसी-ऐसी बातें कही गयी हैं जो उनके अपने-अपने चित्रित चरित्रो द्वारा न उद्‌गत होती हैं, न वैसा होना ही स्वाभाविक है। सक्षेप मे लेखक आरोप कर रहा है अपने भावो का, अपनी दृष्टियो का, अपने पात्र-चरित्रो पर। फैण्टेसी की आत्मपरक शैली के कारण ऐसी असगतियाँ यूँ ही खप जाती हैं, और हम उस आरोप को एकदम पहचान नही पाते। उदाहरणत श्रद्धा अपने बारे मे कहती है

मैं लोक-अग्नि म तप नितान्त  
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त

श्रद्धा का यह आत्म-निवेदन पाठक को बहुत कम अखरता है। किन्तु श्रद्धा का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमे श्रद्धा कही भी अपनी आहुति नही देती, न वह लोक-अग्नि के प्रति कोई विशेष आकर्षण रखती है। फिर भी श्रद्धा का यह [illegible] वहाँ दिव्य रूप मे प्रस्तुत की [illegible] । सक्षेप मे, पाठक प्रसाद की [illegible] असगतियो को अपनी आँखो से ओझल कर देता है।

और वह फैण्टेसी ही क्या जिसम असगतियाँ न हो? किन्तु असगतियाँ भी [illegible]

[illegible] है कि या तो यह आवेग और आग्रह अनावश्यक है (और, इसलिए अनुचित है), अथवा वह आवेग और आग्रह धारण करनेवाली प्रतिक्रियाओ के मूल उत्स, कथा या पात्र या चरित्र अथवा घटना या परिस्थिति मे न होकर, और कही उपस्थित हैं। हाँ, यह तो ठीक है कि ये प्रतिक्रियाएँ कथा या पात्र या चरित्र के सन्दर्भ से उपस्थित हुई हैं, किन्तु यह सन्दर्भ क्षीण है और भावो का आलोडन विलोडन अत्यधिक। ऐसी स्थिति म यह अनुमान स्वाभाविक हो उठता है कि कथा या पात्र या चरित्र इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है कलाकार की अपनी सचित अनुभूतियाँ, अपना स्वय का जीवन, अपना स्वय का इतिहास। सक्षेप मे, फैण्टेसी म कलाकार का व्यक्तित्व प्राथमिक है। फैण्टेसी म इच्छित विश्वासो का सन्निवेश हो जाता है, और व्यक्तित्व की कुछ मूलभूत कमजोरियो या कमियो की भी मनोवैज्ञानिक-मानसिक पूर्ति हो जाती है।

**कामायनी** की कथा के रूप मे प्रस्तुत फैण्टेसी वस्तुत लेखक के आभ्यन्तर भाव-उत्सो को मुक्त कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि कथावस्तु, पात्र इत्यादि गौण होकर, कवि की भाव-दृष्टि ही प्रमुख रहती है। सच तो यह है कि वैदिक साहित्य के मनु कथानक का आधार लिये जाने के बावजूद, **कामायनी** की फैण्टेसी कलाकार के आभ्यन्तर उत्सो द्वारा अपना रूप प्रकट कर रही है। फलत उस फैण्टेसी के अन्तर्गत पात्र, चरित्र, घटनाएँ आदि लेखक के सवेदनात्मक उद्देश्यो द्वारा उपस्थित और परिचालित दिखायी देते हैं। ये सवेदनात्मक उद्देश्य लेखक की जीवन भूमि के अविच्छिन्न अग हैं, तथा उस जीवन-भूमि से प्राप्त ज्ञान-अज्ञान, अनुभव-अनुभूति तथा अन्त प्रवृत्ति आदि की राशियो से अन्वित हैं। **कामायनी** की फैण्टेसी के कैनवास पर लेखक का 'स्व' प्रकट हो रहा है—ऐसा 'स्व' *जो अपनी भावुक आदर्शवादी आँखो से वास्तविक जगत् को, जिसका कि प्रत्यक्ष-*अप्रत्यक्ष अनुभव लेखक को रहा आया, उस आधुनिक जगत् की आलोचना कर रहा है। **कामायनी** मे प्रसाद का आत्मरूप प्रकट हुआ है, और इस आत्मरूप म वह विश्वरूप समाहित है कि जो विश्वरूप आधुनिक जगत् की वास्तविक आधार-भूमि पर, उसी आधुनिक जगत् का मनोमय-मन कृत बिम्ब विधान है। दूसरे शब्दो म, आधुनिक वास्तविक जगत् प्रसादजी के मनालोक मे अन्त प्रवृत्तियो द्वारा सम्पादित और सशोधित होकर व्याख्यायित और आलोचित होकर, अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान के रूप म तथा उसके चिन्तनात्मक निष्कर्षों के रूप मे सचित रहा आया। एक विशेष कथावस्तु का आधार मिलते ही, वह अन्त समृद्धि भावनात्मक रूप से, अनेक पात्र स्थितियो तथा जीवन-स्थितियो के माध्यम से, प्रवाहित हो उठी। लेखक की कल्पना ने कथावस्तु को अपने रग म डुबो दिया। कथावस्तु की आत्मा म लेखक की स्वानुभूत *जीवन समस्या झलकने लगी। फलत* इच्छित विश्वासो और इच्छित जीवन स्थितियो के अतिरिक्त, उस फैण्टेसी के फलक पर, हृदय के गहन अन्तराल म सचित अन्तर्वासी अनुभूतियाँ ज्ञान-रूप मे उपस्थित जीवन-निष्कर्ष, आत्म चरित्रात्मक स्वजीवन-जन्य अनुभव आदि तजस्वी होकर प्रोदभासित हो उठे। यहाँ तक कि वे जीवन निष्कर्ष और सचित अनुभव पात्र की वाणी मे चढकर, अथवा लेखकीय व्याख्यानो द्वारा, अनायास प्रकट होने लगे।

हम पहले बता ही चुके है कि **कामायनी** उस अर्थ मे कथा काव्य नही है कि जिस अर्थ मे **साकेत** अथवा **प्रियप्रवास**। **कामायनी** की कथावस्तु पात्र, चरित्र, घटनाएँ आदि वे माध्यम हैं जिनके द्वारा लेखक के हृदय-अन्तराल मे सचित जीवन निष्कर्ष और जीवन-अनुभव प्रकट हो रहे है। सक्षेप मे, **कामायनी** म प्रधान हैं लेखक के जीवन निष्कर्ष और जीवन-अनुभव, न कि कथावस्तु और पात्र। *साधारणत, कथावस्तु के भीतर पात्र अपने व्यक्तित्व चरित्र का स्वतन्त्र रूप से* विकास किया करते हैं अर्थात् लेखक की अपनी इयत्ता से स्वतन्त्र होकर पात्र चरित्र विकसित होते हैं। किन्तु **कामायनी** मे पात्र और घटनाएँ लेखक की भावना के अधीन हैं। कथानक, घटनाएँ पात्र आदि तो वे विशेष सुविधा रूप है, कि जो सुविधा रूप लेखक को अपने भाव प्रकट करने के लिए चाहिए। इसीलिए **कामायनी** मे कथावस्तु फैण्टेसी के रूप म उपस्थित हुई है और उस फैण्टेसी के माध्यम से लेखक आत्म जीवन को और उस आत्म-जीवन म प्रतिबिम्बित जीवन-जगत् के बिम्बो को, और तत्सम्बन्ध मे अपने चिन्तन को, अपने जीवन-निष्कर्षों को, प्रकट

कर रहा है।

किन्तु यह जीवन-जगत् कौन सा है ? *यह वह जीवन-जगत् है जो प्रसादजी* ने जन्मत प्राप्त किया, और अपनी आयु-वृद्धि के साथ जिसमे उन्होंने परिवर्तन की तीव्र प्रक्रियाएँ दखी और पहचानी। यह जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धो का वह क्षेत्र है, कि जिस क्षेत्र के सामाजिक और राजनैतिक अर्थ होते है। इस जीवन-जगत् मे प्रवहमान आदर्शवादी विचारधाराओ और भाव-दृष्टियो को भी उन्होने प्राप्त किया। उनको प्रसादजी न अपनी अन्त प्रकृति के अनुसार सुसम्पादित और सशोधित किया। सक्षेप मे, प्रसादजी के पास ऐतिहासिक बुद्धि थी। वे मानव-भाग्य के सम्बन्ध मे दार्शनिक दृष्टिकोण से तो चिन्तन करते ही थे, समाज और जाति के भाग्य के सम्बन्ध मे भी उन्ह सोचना पडा। प्रसादजी के पास कोई वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि नही थी। किन्तु मानव-सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नो पर उनका चिन्तन बराबर चलता था। प्रसादजी को समाज और जाति ने, अर्थात् आधुनिक जीवन जगत् ने, जो दृष्टि प्रदान की वह थी राष्ट्रवादी सास्कृतिक अभ्युत्थान से प्रेरित। प्रसादजी न अतीत के गौरवमय चित्र उपस्थित कर इस राष्ट्रीय सास्कृतिक अभ्युत्थान मे योग दिया। किन्तु उन्होंने राष्ट्रवाद और उस वाद की आर्थिक-सामाजिक भूमि, अर्थात् पूँजीवादी समाज-रचना, पर भी दृष्टिपात किया। प्रसादजी के पास मानव-इतिहास—सभ्यता के इतिहास—का वैज्ञानिक अध्ययन न था। वे इस राष्ट्रवाद और उसके आर्थिक मूलाधार पूँजीवादी का उसी तरह विरोध करने लगे, कि जिस प्रकार पश्चिम के आदर्शवादी विचारक करते रहे। इन विचारको का प्रभाव बगाल से होते हुए भारत पर भी पडा। और पश्चिम की ओर से राष्ट्रवादी भारत को यह कहा जाने लगा कि पश्चिम की ग़लती भारत मे न दुहरायी जाये। प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर का यह काल था। इस सम्बन्ध मे रवीन्द्र की पुस्तक **नेशनलिज़्म** पठनीय है।

प्रसादजी ने अतीत की भावुक गौरव छायाओ से ग्रस्त, वेदोपनिषदिक आर्य वातावरण से अनुप्राणित, समाजादर्श से प्रेरित होकर अपनी विश्व-दृष्टि तैयार की। यह विश्व-दृष्टि **कामायनी** मे प्रकट हुई। सक्षेप म, कामायनीकार अपने युग *से न केवल प्रभावित था, वरन् अपनी युग समस्याओ के प्रति उसने बहुत आवेग* और विश्वास के साथ प्रतिक्रियाएँ की हैं। ऐसी स्थिति मे, **कामायनी** का अध्ययन तब तक सुचारू रूप से नही हो सकता जब तक कि हम लेखक का व्यक्तित्व, उस व्यक्तित्व के सामाजिक सन्दर्भ, और उस व्यक्तित्व के अपने परिवेश-परिस्थिति से आवयविक सम्बन्ध, उसका जीवन-जगत्-सम्बन्धी भाव-लोक, उसके जीवन-निष्कर्ष आदि का अध्ययन नही करते।

अब तक **कामायनी** का अध्ययन मेरे द्वारा इस प्रकार हुआ है—प्रथमत, काव्य का आस्वादन और उस काव्य के अन्त सूत्रों की राह से कवि-व्यक्तित्व के आकलन की चेष्टा और उस व्यक्तित्व के माध्यम से उससे सम्बन्धित समाज और विश्व का अध्ययन। दुबारा फिर, समाज और विश्व और उसके प्रति प्रसाद की प्रतिक्रियाएँ, और प्रसाद-व्यक्तित्व की अन्त प्रकृति, इस अन्त प्रकृति के सूत्रो के मार्ग से कलाकृति का अध्ययन। इस प्रकार अध्ययन की ये दो यात्राएँ हैं, जो दो प्रकार की हैं। वे एक-दूसरे की कमी या अतिरजना को पूरा करती हैं।

**कामायनी** को लेकर इस प्रकार से अध्ययन होना चाहिए। प्रथम, भावानु-

भूति का आकलन और उसके साथ कथावस्तु और पात्र-चरित्र से उस भावानुभूति की संगति या असंगति की खोज का प्रयास; द्वितीय, उस जीवन-तथ्य की खोज जो लेखक का अपना जीवन-तथ्य है, अर्थात् काव्यानुभूति के आत्म-चरित्रात्मक रंग खोजने का प्रयास, तृतीय, उस जीवन-तथ्य का भूगोल और इतिहास अर्थात् दिक्काल, और इस दिक्काल के प्रति कविकृत प्रतिक्रियाएँ और उन प्रतिक्रियाओं के भीतर झलकते हुए जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टि; चतुर्थ, उस जीवन-तथ्य का प्रसादकृत आलोचन और इन सब बातों पर स्वयं की टिप्पणी।

यदि मैं इस तरह की योजना के अनुसार प्रस्तुत प्रबन्ध लिखता तो वह पुस्तक न मालूम कब तैयार होती। ज़िन्दगी ने मुझे कभी इतनी सुविधा ही न दी कि मैं अपने समय का सुन्दर उपयोग कर सकूँ। इस कारण मन की बातें मन ही में धरी रह जाती हैं। प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत, जैसा मन में उतरता चला गया, लिखता गया। यदि वैसा न करता, तो व्यवस्थित रूप से लिखने की व्यवस्था का इन्तजार करते हुए मैं खत्म हो जाता।

पिछले बीस वर्षों से मैं **कामायनी** का पठन-पाठन और अध्ययन करता आया हूँ। मुझे बार-बार लगा कि प्रसादजी फैण्टेसी द्वारा, जीवन-ज्ञान, इच्छित विश्वास और अपनी मूल्य-भावनाओं के अतिरिक्त, एक जीवन-समस्या प्रकट कर रहे हैं—ऐसी जीवन-समस्या जो प्रसाद के आभ्यन्तर लोक में छटपटाती रही है, ऐसी वह कि जो उनकी अपनी है, और जिस पर वे चिरकाल से मनन और चिन्तन करते आये हैं, उन्हें वैसा करना पड़ा है। प्रतीत होता है कि वह जीवन-समस्या प्रसादजी की आभ्यन्तर ग्रन्थि है। चूँकि वह जीवन-समस्या फैण्टेसी के भीतर उपस्थित की गयी है, इसलिए वह अपने मूल वास्तविक प्रकृत रूप में तो उपस्थित हो ही नहीं सकती थी। वह समस्या तो फैण्टेसी की अपनी संगति और असंगति के अनुसार ही प्रकट हुई है। वह जीवन-समस्या व्यक्तिवाद की समस्या है, जो एक विशेष समाज और काल में विशेष रूप और प्रकार से उपस्थित हो सकती है। उस समस्या को प्रसादजी के व्यक्तित्व से मिलाकर देखना उचित ही है, क्योंकि **कामायनी** वस्तुतः एक आत्मपरक काव्य है, उसमें गहन-गूढ़ भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। उस समस्या को प्रसादजी के व्यक्तित्व से मिलाकर देखने से, और उस व्यक्तित्व को उसके अपने दिक्काल से मिलाकर देखने से ही, **कामायनी** का अध्ययन हो सकता है, होना चाहिए। यथार्थ अत्यन्त विस्तृत है, वह अविच्छिन्न और एक है। फलतः, विशेष दिक्काल में उपस्थित जीवन-जगत् लेखक के आभ्यन्तर लोक में किस प्रकार रूप धारण करता है, यह एक मनोरंजक विषय है।

संक्षेप में, **कामायनी** जीवन की पुनर्रचना है—ऐसे जीवन की पुनर्रचना, कि जिस जीवन के प्रति लेखक अत्यन्त दीर्घकाल से संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता आया, जिसे वह अपने अन्तस्तल में अनुभूत करता रहा, मानो वह उसकी निजी गोपनीय सम्पत्ति हो। लेखक ने उन संचित प्रतिक्रियाओं और अनुभूतियों द्वारा एक फिलासफी तैयार की। लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों ने स्वानुभूत जीवन का कथासार एक फैण्टेसी के रूप में बाँध दिया, और अपने इच्छित विश्वासों को दार्शनिक रूप देते हुए, फैण्टेसी में प्रस्तुत जीवन-समस्या का, उन इच्छित विश्वासों के आधार पर, समाधान उपस्थित किया। फलतः, उस फ़ैण्टेसी में लेखक का पूरा व्यक्तित्व, पूरा स्वानुभूत जीवन-सार, पूरा इच्छित दर्शन, उतर आया, और साथ

ही मानव-सम्बन्धो का वह क्षेत्र द्योतित हुआ, कि जिस मानव-सम्बन्ध-क्षेत्र मे लेखक ने साँसें ली, अपना जीवन जिया, और जिसके मूल्यो और आदर्शो को सम्पादित कर उस मानव-सम्बन्ध-क्षेत्र की, अर्थात् अपने वर्ग की, दृष्टि ही को दार्शनिकत्व प्रदान किया। अपने जीवन जगत् का प्रसाद-कृत आकलन किस काटि का है, और उस जीवन-जगत् की, अर्थात् उस मानव-सम्बन्ध क्षेत्र की, कमियो को, अभावो को मूर्त करनेवाले जीवन-मूल्य और आदर्श किस प्रकार के है, यह अगले अध्यायो मे वताया जायेगा।

# 1

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धो के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे सामने विशेष रूप से दो प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह, जिसम युग प्रवृत्तियो से सचालित-नियन्त्रित होते हुए भी, साहित्यकार सचेत रूप से उन प्रवृत्तियो को ग्रहण नही करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपन मे उन प्रवृत्तियो का विकृत असस्कृत प्रतिबिम्ब ही लिये रहता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमे उन युग-प्रवृत्तियो के वास्तविकअभिप्राय गर्भितार्थ तथा उनके निर्माणकारी अथवा विनाशकारी आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है, और वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है।

प्रश्न यह है कि **कामायनी** को हम किस श्रेणी मे रखेंगे? क्या यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने अपने युग की विशेष विशेष प्रवृत्तियो के समीक्षात्मक आकलन के आधार पर **कामायनी** की सृष्टि की?

कुछ लोग इस सवाल को गलत ही समझते हैं। उनके अनुसार, **कामायनी** ऐतिहासिक महाकाव्य है। अतएव उसमे वेदकालीन युग-प्रवृत्तियो को अकित किया गया है, न कि प्रसादकालीन। यह मत निराधार और भ्रामक है। **कामायनी** लिखने में प्रसादजी का उद्देश्य वेदकालीन जीवन चित्रण नही है, वरन् वे आधुनिक प्रवृत्तियो तथा भाव-विचारो को कल्पनात्मक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। वैदिक कथानक उनके लिए एक विशाल फैंटेसी (स्वप्न-चित्र) का काम करता है, जिसके द्वारा वे एक ओर आधुनिक जीवन-तथ्यो तथा स्वय सोचे हुए उनके निष्कर्षों को चित्रात्मक पद्धति से उपस्थित करना चाह रहे हैं, तो दूसरी ओर, वह फ़ैण्टेसी उन तथ्यो तथा निष्कर्षों की वर्तमानता को, अपने काल तथा स्थान से अलग हटाते हुए और इस प्रकार उन तथ्यो और निष्कर्षों को दूरी प्रदान कर, न केवल आकर्षक बना रही है, वरन् वह फैण्टेसी अपने आवर्षण के द्वारा वर्तमान जीवन मे प्राप्त उन तथ्यो की सप्रश्नता को मिटा रही है। इस प्रकार वह फैण्टेसी एक ही साथ दो काम करती है। एक तो यह है कि उसके द्वारा जीवन-तथ्यो तथा निष्कर्षों को एक कैनवास तथा वस्तु-रूपता मिल जाती है, तो दूसरी ओर, उनकी आधुनिक

सप्रश्नता के अस्तित्व को कल्पना के रवर से मिटाने का प्रयास किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि **कामायनी** एक आधुनिक काव्य है, जिसमे आधुनिक प्रवृत्ति तथ्यो तथा प्रश्नो को उपस्थित किया गया है। चूँकि इन आधुनिक तत्वो विशाल फैण्टसी (तथा उसके भीतर अनेक अन्य फैण्टसियो) मे घुला-मिला दि गया है, तथा वर्तमान जीवन से आकर्षक दूरी पैदा की गयी है, इसलिए **कामाय** हमे ऐतिहासिक महाकाव्य-जैसी कुछ मालूम होती है।

बहुत बार यह देखा गया है कि महान्-से-महान् साहित्यकार (जैसे टॉलस्टॉय सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जि अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचता है (उनका सर्वमान्य हो सकना या न होना अल बात है, किन्तु), उनसे डर तो यह हो जाता है कि कही उसके वे अन्तिम निष्क अवैज्ञानिक तथा हानिप्रद तो नही हैं ? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षात्म कला मे, समीक्षा जीवन-गत तथ्यो की हुआ करती है। अत (ललित साहित्य चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यो के उपरान जब साहित्यकार उन तथ्यो पर आधारित सामान्यीकरणो के क्षेत्र मे अपन स्वभावगत तथा प्रभावगत प्रवृत्तियो के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दु साहस पूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड लगाता है, तब उसके चर निर्णयो को जरा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना तथा उनका उचित वैज्ञानि विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। जीवन-तथ्यो की समीक्षा के कलाका की सफलता, उसके स्वय के जीवन-विवेक की अनुभवजन्य व्यापकता से नि सृत हो हुए भी, उन तत्त्वो पर मूलत आधारित है, जिन्हें हम 'दृष्टिकोण' के तत्त्व क सकते हैं। चूँकि मानव चेतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है वरन् भौतिक-सामाजिक विज्ञानो के अधिकारियो द्वारा भी वह सम्पन्न होता (उनके सहकार्य के बिना वह असम्भव भी है), अतएव आलोचको के लिए यह देखना आवश्यक है कि जीवन-समीक्षात्मक कला तथा उसके निर्माता के निर्णय [illegible] अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल त [illegible] सम्बन्ध मानव स्थिति के उत्थान [illegible] साहित्यालोचक का कर्त्तव्य तथा [illegible] तक ही सीमित न [illegible] तथा विश्व की [illegible] के केवल भीतरी सौन्दर्य मे ही समाहित न रहकर, समीक्ष्य साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षों की मजिल के अन्दर घुसकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या यह मजिल न्यायोचित, सगतिपूर्ण, उपादेय तथा लाभप्रद है।

इस प्रकार के समीक्षा-सम्बन्धी प्रयास **कामायनी** के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं। **कामायनी** मे इडा, श्रद्धा और मनु को लेकर प्रसादजी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज, सभ्यता तथा मुक्ति आदि सभी विषय प्रसादजी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के भीतर आते हैं—यह बात अलग है कि उनके सामान्यीकरणो से मतभेद रखते हुए, हम उनकी मान्यताओ पर आघात करें जिसका हमें पूरा अधिकार है। उपर्युक्त प्रश्नो को उठाकर प्रसादजी ने एक महत्त्वपूर्ण काम किया है। ये प्रश्न चित्रात्मक रूप से

उठाये गये हैं। उन्हे मानव-चरित्रात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार का प्रयास-मात्र ही **कामायनी** को मूल्यवान तथा महत्त्वपूर्ण बना देता है। किन्तु समीक्षक का कार्य केवल निन्दा नही है, न केवल प्रशसा। वह तो यह देखना चाहेगा कि हमारे वास्तविक जीवन के लक्ष्यों की दिशा मे **कामायनी** कहाँ तक उपयोगी हो सकती है। क्या **कामायनी** के सामान्यीकरण तथा निष्कर्ष यथार्थ से सगति रखते हैं? क्या वे निष्कर्ष अनुभव-सिद्ध, तर्क-शुद्ध, अद्यतन ज्ञान-विज्ञान के प्रतिकूल तो नही हैं? **कामायनी** मे प्रश्नो की सच्चाई कही उनके उत्तरो की झुठाई मे तो पर्यवसित नही है? प्रश्नो की वास्तविकता तथा उत्तरो की भ्रामकता की मूल सामाजिक भूमि, जिनसे कि वे नि सृत हुए है, कौन-सी है? सत्य का विश्लेषण जिस भाँति आवश्यक है, उसी तरह असत्य का विवेचन, व्याख्या तथा विश्लेषण भी जरूरी हो जाता है। रोग-विज्ञान की महत्ता कौन नही स्वीकार करेगा? **कामायनी** मे जिस विश्व-दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है, जिन जीवन-मूल्यो की वकालत की गयी है, और साथ ही जिस वास्तविकता को अकित किया गया है, उसका विश्लेषण एक ऐसा कर्त्तव्य है जिसे किये बिना **कामायनी** की निन्दा या प्रशसा तो की जा सकती है, लेकिन उसे ठीक तरह समझा नही जा सकता। ध्यान मे रखने की बात है कि प्रसादजी ने **कामायनी** मे अपनी भाववादी, आदर्शवादी [illegible] मा चढाया है। उदाहरणत [illegible] रोप किया गया है। हमे यह [illegible] से उसके मानव-चरित्र पर काई प्रभाव हुआ है या नही। क्या इडा का चरित्र इस बात की गवाही देता है कि वह बुद्धिवाद का प्रतीक बनायी जा सकने के योग्य है? और फिर बुद्धिवाद का भी अर्थ क्या है? उसके क्या अभिप्राय हैं? यदि इडा बुद्धिवाद का प्रतीक नही है, तो वह किन तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करती है, या वह प्रतिनिधित्व करती भी है या नही? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इनके अतिरिक्त, **कामायनी** की कला से सम्बन्धित समस्याएँ भी कम नही हैं।

प्रसादजी की जीवन-समीक्षात्मक भावानुभूति किन मूल सामाजिक स्रोतो से उद्गत हुई है? उनकी कला की सीमाएँ तथा क्षमताएँ क्या हैं? और, अन्तत, **कामायनी** ने जीवन की जिन समस्याओं को प्रस्तुत किया है, क्या वे समुचित रूप से उठायी गयी हैं? क्या उनका हल उपयुक्त, उपादेय, अनुभवसिद्ध, तर्कशुद्ध तथा न्यायसगत है? प्रसादजी के आलोचको ने **कामायनी** को प्रधानतया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक काव्य माना है। यह धारणा कहाँ तक न्यायसगत है? आदि प्रश्न हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखा जाना चाहिए। एक तो, वह किन स्रोतो से उद्गत होता है, अर्थात् किन वास्तविकताओ के परिणामस्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ है। दूसरे, उसका कलात्मक प्रभाव क्या है, और तीसरे, उसकी *अन्त.प्रकृति, रूप-रचना कैसी है*। इस तीसरे *प्रश्न* को बिना पहले प्रश्न से मिलाये, हम दूसरे सवाल का जवाब ही नही दे सकते। अडचन तो यह है कि जिन जीवन-पक्षो की वास्तविकता से साहित्य उत्पन्न होता है, उनका वास्तविक चित्रण कलाकार कर ही रहा हो, यह निश्चित नही होता। यथार्थ के प्रति बहुत बार न केवल अयथार्थ दृष्टिकोण दिखायी देता है, वरन् यथार्थ को उपस्थित करने का

तरीका काल्पनिक तथा फैण्टेसी-प्रधान भी हो सकता है। इसका फल यह होता है कि यथार्थ अपनी विकृतावस्था में उपस्थित होता है—इतना कि बहुत बार उसे पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। उस पर वृथा-दार्शनिकता, अति-मनोवैज्ञानिकता, अस्पष्ट प्रतीक-विधान तथा अर्थहीन भावुकता के आवरण पर आवरण चढ़ाये जाते हैं। लेखक उन साहित्य-तत्त्वों को जनता से बहुत दूर ले जाता है। अपनी विश्व-दृष्टि, जीवन-मूल्य तथा परम्परागत विचार तथा अभिरुचि आदि के कारण, यथार्थ को उसके परस्पर-सम्बन्धों में ग्रहण करने की क्षमता भी लेखक में घटती या बढ़ती रहती है। इसलिए आलोचक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं उस यथार्थ को, लेखक से भी ज्यादा समझे, और उस यथार्थ के सम्बन्ध में लेखक जो कुछ कहता है उसे प्रामाणिक न मान ले। आलोचक के लिए—लेखक का व्यक्तित्व, यथार्थ प्रस्तुत करने की उसकी पद्धति, तथा उसके तत्सम्बन्धित भाव-विचार, और अन्ततः, वह यथार्थ जिसको प्रस्तुत किया गया है—उन सबका वैज्ञानिक चित्र उपस्थित करते हुए यह देखना जरूरी हो जाता है कि उसके साहित्य [illegible] तथा उसकी सीमाएँ

[illegible] र किया है, उसका निर्वाह कहाँ तक हो सकेगा, यह नितान्त शंकास्पद है। बहरहाल, यह बात सही है कि अगर मेरी इस रचना की ओर आलोचकों का ध्यान गया तो निश्चय ही मतभेदों की टंकार सुनायी देगी। यह आवश्यक भी है। **कामायनी** हमारे लिए मूल्यवान ग्रन्थ है। मतभेदों की सक्रियता के द्वारा ही हम मतैक्य का विकास कर सकेंगे, तथा न केवल साहित्य के, वरन् साहित्यालोचना के प्रधान सिद्धान्तों के बारे में भी कतिपय निष्कर्षों की तरफ बढ़ सकेंगे। तो आइए, अब हम **कामायनी** की तरफ मुड़ें।

## 2

**कामायनी** के सम्बन्ध में बात करते वक्त हम यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसादजी इडा, श्रद्धा, मनु आदि की ऐतिहासिक सत्ता भले ही स्वीकार करें, काव्य-ग्रन्थ में इन तीनों का जो मानव-चरित्र प्रस्थापित हुआ है, उसी के आधार पर **कामायनी** की व्याख्या की जा सकती है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि लेखक मनु, इडा तथा श्रद्धा को अपनी दार्शनिक मनोवृत्तियों के अनुकूल चाहे जैसा प्रतीकत्व प्रदान करे, **कामायनी** में वर्णित मानव-चरित्र ही वह मूलाधार है, जिसके द्वारा हम पात्रों पर आरोपित प्रतीकत्व के औचित्य अथवा अनौचित्य की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। अतः **कामायनी** के सत्य को पाने के लिए हम अंकित मानव-चरित्रों की वास्तविकता को समझना होगा। उसके अनन्तर ही हम यह कह सकेंगे कि मनु वस्तुतः मनन के, मन के, प्रतीक हैं, अथवा मानव-मात्र के प्रतीक हैं (जैसा

कि नन्ददुलारे वाजपेयी समझते है, नही तो वे कामायनी को 'मानव-मात्र, नर-नारी-मात्र की प्रतिनिधि कथा या जीवनी का स्वरूप' न कहते), अथवा किसी अन्य विशेष प्रवृत्ति के। तभी हम यह जान सकते हैं कि श्रद्धा अपने चरित्र द्वारा, इडा अपने चरित्र द्वारा, तथा मनु अपने चरित्र द्वारा, प्रसाद-प्रदत्त प्रतीकत्व का निर्वाह करते हैं, अथवा किन्ही अन्य ऐसी वास्तविकताओ के प्रतीक रूप हैं जिन पर लेखक का कोई वश नही था, ऐसी वास्तविकताओ के असस्कृत प्रतिविम्ब हैं जिनकी पूरी वैज्ञानिक विचारानुभूति प्रसादजी के पास न थी, ऐसी वास्तविकताओ की साहित्यिक रेखाएँ है जिनकी ऐतिहासिक-सामाजिक अन्त प्रकृति प्रसादजी की साहित्यिक चेतना के बाहर थी। वे पूरी वास्तविकता नही बरन् उसके ऊपरी लक्षणो को देखते थे। साथ ही, उन लक्षणो को वे भाववादी-आदर्शवादी चश्मे से देखते थे। फलत , चरित्र खडा किया जा रहा है मनु का (जो एक विशेष स्थान तथा काल मे ही उपलब्ध हो सकता था), तथा उसको बतलाया जा रहा है कि वह मनन का, मन का, मानव-मात्र का, देशकालातीत प्रतीक है। मनु एक विशेष प्रकार की ऐतिहासिक-सामाजिक भूमि मे ही पैदा हो सकता है। वेदकालीन मनु कामायनी का मनु नही है। प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है, जिस वर्ग के स्वय प्रसादजी हैं। उस मनन-मात्र का, मन-मात्र का, मानव-मात्र का, प्रतिनिधि कहना सरासर ग़लत है। मनु एक टाइप है, उस वर्ग का टाइप, जिसकी शासन-सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया हो। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु म है। अहकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बन्ध उच्छृ खलता, व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्मग्रस्त, निविड आत्म-विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयो की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है। मनु पराजय का पुत्र है, जो अपनी पराजय को पलायन से ढाँकता है, तथा ज़बर्दस्ती लाये गये सामरस्य से छिपाता है। वस्तुत , मनु की प्रकृति ठीक उस पूँजीवादी व्यक्तिवाद की प्रकृति है जिसने कभी जनतन्त्रात्मकता का बहाना भी नही किया, केवल अपने मानसिक खेद, अन्तर्विप्लव और निराशा से छुटकारा पाने तथा स्वस्थ-शान्त अनुभव करने के लिए श्रद्धा और इडा के समान अच्छी साथिनो का सहारा लिया, जो उसके सौभाग्य से उसे प्राप्त भी हुई।

इस प्रकृति के मनु को मनन, मन अथवा मानव-मात्र का प्रतिनिधि वे कह सकते हैं, जो जान-बूझकर भ्रम फैलाना चाहते हैं। ध्यान रहे कि प्रसाद ने कभी भी मनु का आदर्शीकरण नही किया। किन्तु उसे अपनी भूमिका मे मनन का प्रतीक घोषित कर, उन्होंने स्वय ऐसे भ्रम का विस्तार किया है जिसके लिए उन्हे कभी क्षमा नही किया जा सकता।

हमारे सामने यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि आखिर क्यो मनु जनतन्त्रात्मकता का भी बहाना नही करता ? अपनी अहग्रस्त स्पृहाओ को शान्त करने के लिए, और यदि वे तृप्त नही हो रही हैं तो अपनी लोकप्रियता न खोने के लिए, वह छलमूलक चातुर्य का सहारा ले सकता था, किन्तु उसने ऐसा नही किया। यह [illegible] वाद का पुत्र नही है। वह सामन्त-
ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के
पनी सामन्ती परम्परा से विच्छिन्न
तानाशाहियत को अपने खून मे

लिये हुए है। चूंकि उसका पुराना वर्ग उद्ध्वस्त है, (वह अपनी शासन-सत्ता खो चुका है), इसीलिए वह हताश, एकाकी और निराशाग्रस्त है। अतएव मनु को मन का, मानव-मात्र का, मनन का, प्रतीक घोषित करना भयानक अन्याय है, जब तक कि आप यह न मानें कि मन स्वभावतः ही मनु-जैसा टुच्चा ओछा, अहग्रस्त, पाप-सकुल होता है। मनुष्य का मन सम्पूर्णतः ऐसा कभी नही होता। अच्छे और बुरे का वह योग है। उसमे आत्मगरिमा, त्याग, श्रद्धा, आस्था, बुद्धि, विवेक और सकल्प की ऊँची कल्याणकारी दिशाएँ भी होती है। मनु की अच्छाई उसकी वृथा-भावुकता है। क्षणिक उच्च भावानुभूति से ऊँचे चरित्र का निर्माण नही होता। मनु जन्मजात कमज़ोर प्राणी है। उसकी कमज़ोरी पर श्रद्धा को दया आती है, इडा [illegible] करते हैं। उसे अपना [illegible] सिद्ध भावुकता के [illegible] शक्ल नही लेती।
मानव-चरित्र के क्षेत्र म सत्-असत्, मगल तथा अमगल, शिव और अशिव के बीच, **कामायनी** मे न कभी घनघोर युद्ध छिडता है, न शिव द्वारा अशिव की वास्तविक *पराजय ही वतलायी जाती है। यहाँ तक कि शिव को अशिव की तानाशाही* के कारण जो महत्त्वपूर्ण हानियाँ हुईहैं, उनके प्रति शिव की उपेक्षा है (और सहानुभूति भी है)। शिव उस अशिव से समझौता करता है। क्यो ?

प्रसग इडा का है। मनु के सहयोग से इडा ने सारस्वत सभ्यता का पुन निर्माण किया, और मनु ने अपने अहकार की मूर्खतापूर्ण विलासिता की झक मे आकर उसे तोड फोड डाला। *यह बिलकुल ठीक है कि इडा अपने सहयोगी के प्रति सहानुभूति रखे।* किन्तु *श्रद्धा* के सामरस्य के अचल मे दुलराये गये मनु के व्यक्तित्व के प्रति, उसके चरित्र के प्रति, इडा का हृदय क्रोध अथवा घृणा से जल नही रहा है। स्पष्ट शब्दो मे कहा जाय तो मनु इडा की इच्छा के विरुद्ध, शारीरिक रूप से उस पर आक्रमण करने के लिए तत्पर था। ऐसी स्त्री के स्त्रीत्व का यह तकाज़ा स्वाभाविक था कि वह उसे क्षमा न करे। कम स-कम प्रसादजी को यह बतलाना था कि इडा को मनु से, *कुछ काल के लिए ही क्यो न सही, घृणा हो गयी है।* किन्तु *उसके मन* मे क्षमा और प्रतिशोध दोनो थे, यह एक जगह कहकर प्रसादजी ने छुट्टी पा ली, इडा के विक्षोभ को उभारा नही। (श्रद्धा ने भी मनु का करुण मुख देखा और दया से पिघल गयी। उसने उसे धिक्कारा भी नही।)

ये हैं छायावादी जीवन मूल्य, जिनकी वकालत श्री नन्ददुलारे वाजपेयी करते हैं, और प्रसाद की **कामायनी** का समर्थन करते हुए स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल की **रामचरितमानस** के प्रति व्यावहारिक आदर्श लक्ष्यवादी सामाजिक-मगलवादी दृष्टि को स्थूल वतलाते हैं। वे कहते है कि रामचन्द्र शुक्ल की जीवन दृष्टि ऊपरी तथा सतही थी। वे मनु को मानव मात्र का मन का, मनन का, प्रतिनिधि बतलाते है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि रामचन्द्र शुक्ल ने अन्याय नहीं किया। उन्होंने कबीर के साथ अन्याय किया, छायावादियो के साथ भी उन्होंने कशमकश की। किन्तु छायावादियो के सम्बन्ध मे जब उन्होने समझौता भी किया, तो अपनी न्याय-बुद्धि को दर किनार नही रखा। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे उन्होंने छायावादियो के बारे मे जो कुछ लिखा है उसम महत्त्वपूर्ण सत्याश है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी को **कामायनी** के सम्बन्ध मे लिखते लिखते **रामचरितमानस** की याद आयी।

रामचरितमानस की याद आते ही वे रामचन्द्र शुक्ल पर बरस पडे और उन पर स्थूल आदर्शवाद का अपराध आरोपित किया।*

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी मनु के चरित्र को (अथवा किसी अन्य चरित्र को) स्थूल नैतिक मानो से मापने के लिए तैयार नही है। क्यों नही हैं? क्या इसलिए कि समाज-परिवर्तन के अनुसार नैतिक मान भी बदलते रहते हैं? बिलकुल नही। वे इसलिए ऐसा करते है कि उनके मतानुसार 'यथार्थवादी' लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति, भले और बुरे—इन ' द्वन्द्वो का समाहार एक नित्य सत्ता म करत हैं और खुली आंख से उस सत्ता की समस्त लीला का रस लेते हैं। यह लीला या अभिव्यक्ति ही रस है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की कोई लीक न बनाकर यथार्थवादी सामने आयी जगत् की स्थिति-मात्र का साक्षात्कार करना चाहता है, और उन स्थितियो मे मानव-मन की गतियो का सकलन और कर्तव्य का निर्धारण करने की चेप्टा करता है। वह आध्यात्मिक ऐकान्तिकता या नपी-तुली प्रवृत्ति-निवृत्ति की शिक्षा देकर ससार की परिवर्तनशील यथार्थताओ से हाथ समेटने और आंखें मूंदने का अभ्यास न कर, ससार की विविध वास्तविकता के अभिज्ञानपूर्वक सर्वव्यापक आत्मा का जागरूक अनुभव करना चाहता है। काव्य मे यह स्वभावत मनोवैज्ञानिक विश्लेपण की ओर अधिक आकर्पित है। यह आंख मूंदकर भले-बुरे का द्वन्द्व नही देख सकता। खुली आंखो सारे रगो, रूपो, उनकी सम्पूर्ण भगिमाओ का रस लेगा। सक्षेप मे, वह रहस्य की ओर लक्ष्य रखेगा, भल और बुरे के द्वैत की ओर नही। इसकी दृष्टि मुख्यत बौद्धिक होगी और किसी गतानुगतिक 'सु' और 'कु' का पल्ला नहीं पकड सकेगी। प्रवृत्ति और निवृत्ति इसके लिए कोई पूर्व-निर्दिप्ट लीक नही होगी, जीवन के पग-पग की ताजी पहचान होगी।"

हमने जान-बूझकर यह उद्धरण दिया है। प्रसाद से भी अधिक हमारे नन्ददुलारे वाजपेयी भले और बुरे के द्वन्द्वो का समाहार नित्य सत्ता मे करते है। प्रसादजी ने मनु को उसके आत्म-विश्लेपण के द्वारा भी निन्दित किया है, तथा घटनाओ की स्वरूप-विशिप्ट रचना के द्वारा भी। मनु की इतनी आत्मालोचनाओ के द्वारा, तथा सारस्वत सभ्यता के पुनर्निर्माण मे मनु के सहयोग की घटना प्रस्तुत कर, वे पाठको की सहानुभूति भी अपने चरितनायक को दिलवा देते है। इससे स्पप्ट है कि मनु पर प्रसाद का क्रोध नही है, यद्यपि उसके अपराधो के प्रति उनकी उपेक्षा भी नही है। यदि उपेक्षा होती तो **कामायनी** की मूल समस्या को कोई आकार ही नही मिल पाता। किन्तु वाजपेयीजी हैं कि उस समस्या की ओर ध्यान न देकर, मनु को मन-मात्र, मनन-मात्र का प्रतिनिधि बनाने पर तुल है, और मनु की विलक्षण असगतियो तथा अपराधो से कन्नी काट जाते हैं।

वस्तुत प्रसादजी पश्चिम के उपन्यासकारो की विचारधारा से प्रभावित थे, जो बुरे को भी मानव-सुलभ सहानुभूति प्रदान करते हैं। किन्तु उन विचारको ने भले और बुरे के इस द्वन्द्व का समाहार नित्य सत्ता मे नही किया, परन्तु प्रसादजी ने किया। इस प्रकार के समाहार के कारण, असत् और अशिव तथा अनैतिक को व्यक्तिवादी धरातल पर ही देखा गया। उसका फल यह हुआ कि आदर्शवादी शब्दावली मे हमने व्यक्तिवादी वासनाओ का आध्यात्मिक औचित्य स्थापित किया।

* देखिए 'जयशकर प्रसाद' नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 64, 65, 66

हमारा यह सुदृढ मत है कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही के युग मे, अद्वैतवादी रहस्य के पुनर्जन्म ने व्यक्तिवाद की मनोवैज्ञानिकता को सुदृढ बनाया, किन्तु सामन्ती सामाजिक शृखलाओ से व्यक्ति की मुक्ति के लिए जिन भयानक सामाजिक सघर्षो का सामना करना पडता है, उस कार्य को अद्वैतवाद न कोई सहायता नही पहुँचायी। फलत , सामन्ती विचारग्रस्त, सामन्ती परम्पराग्रस्त समाज के भीतर, इस व्यक्तिवाद को, अपनी कामनाओ की परिपूर्ति के लिए सामाजिक सघर्षो से भागने का रास्ता भी उसने बतलाया। फलत , आधुनिक हिन्दी छायावाद मे स्त्री अप्सरा हुई देवी हुई, श्रद्धा हुई। किन्तु उसे साक्षात् मानवी, सहचरी, साधारण मनुष्य, जिसका अपना निजत्व तथा व्यक्तित्व होता है, नही समझा गया। अद्वैतवाद ने एक ओर सामाजिक सघर्ष से बचने का न केवल भाववादी या रहस्यवादी रास्ता तैयार किया, वरन् व्यक्तिवादी अन्तर्मुख अभिप्रायो को आत्मगरिमा भी दी। किन्तु सामन्ती सामाजिक बन्धनो से व्यक्ति की मुक्ति के वास्तविक सामाजिक सघर्ष को न उसने गति दी, न उस सघर्ष के लक्ष्य-आदर्श, तथा उसके दौरान मे सृजित होनेवाले व्यावहारिक जीवन-मूल्य, ही प्रस्थापित किये। छायावादी कवि की घुटन का मूल कारण ही यह है। बात यह है कि अद्वैतवाद का दर्शन सघर्ष का दर्शन नही है। [illegible] एक असामाजिक दर्शन है। अतएव उसने असामाजिक प्रणाली पर ही [illegible] प के परस्पर [illegible] उसे नवीन

तुम हो कौन, और मैं क्या हूँ,
इसमे क्या है धरा, सुनो।
मानस-जलधि रहे चिर, चुम्बित,
मेरे क्षितिज उदार बनो।

यही कारण है कि प्रसादजी स्वय मनु के श्रद्धा-परित्याग के अपराध के बारे मे मौन है। मनु की आत्म निन्दा द्वारा ही हम यह समझ पाते हैं कि मनु के इस अपराध के बारे मे प्रसादजी का क्या मत है। किन्तु मनु को आत्मालोचन का अवसर देकर, श्रद्धा-त्याग के कारण उसके प्रति सहानुभूति का जो अभाव हो सकता था उस अभाव को अल्प कर दिया गया है। श्रद्धा-परित्याग के इस अपराध के कारण मनु कही भी दण्डित नही है। दण्डित तो वह तब होता है जब वह इडा पर बल-प्रयोग करना चाहता है। मनु की निन्दनीय अक्षमताओ पर स्वय न चिढकर प्रसादजी न लोक-विप्लव, प्रकृति-विप्लव तथा रुद्र क्रोध के नाटकीय घटना-समुच्चय द्वारा उसके अपराध की चण्डता बतलायी है। किन्तु पाठक का ध्यान इन घटनाओ की नाटकीयता पर जाता है मनु के अपराध की विशालता पर नही। इस दण्ड के उपरान्त, मनु की आहत मूर्च्छितावस्था को देखकर पाठक उससे घृणा नही कर पाता। इस प्रकार मनु के प्रति न किसी पात्र की, न पाठक की, विरोधी प्रतिक्रिया हो पाती है। केवल बौद्धिक रूप से ही वह इस बात से सचेत रहता है कि मनु स्वय एक समस्या है, जो अपने हर कदम पर नया सवाल खड़ा कर देता है। श्रद्धा के पुर्नमिलन के उपरान्त, मनु का जिस प्रकार का अपने किये पर जीवन निर्णयात्मक पश्चात्ताप होना चाहिए वह भी नही होता। एक कमज़ोर चरित्र की हैसियत से वह फिर भाग खडा होता है।

प्रसादजी मनु को कर्म-क्षेत्र से हटाकर रहस्यात्मक आनन्दवाद की स्थापना करते हैं, मानो उसकी कमजोरियो का सुधार (अथवा उनका पर्यवसान ?) उस भाववादी ऐकान्तिक व्यक्तिवाद मे ही हो सकता है। कर्मक्षेत्र के वास्तविक सघर्ष से मनु को भगाकर, हिमालयीन अचलो मे उसे नित्य लीला के, सर्वव्यापी चेतना के, दर्शन करवाये जाते हैं, और वह समस्त प्रकृति तथा समस्त जगत् स सामरस्य का अनुभव करता है।

जिन प्रसादजी ने अपने नाटको तथा कहानियो मे कर्म-क्षेत्र के अत्यन्त भव्य, वीर तथा सकल्पनिष्ठ चरित्रो को खडा किया, आत्मगरिमामय व्यक्तित्वो को उभारा, वे ही प्रसादजी **कामायनी** मे आकर मनु-जैसे अक्षमताग्रस्त चरित्रो को न केवल सहानुभूति प्रदान करते हैं वरन् उसके उद्धार को पुन कर्मक्षेत्र की अग्नि-परीक्षाओ द्वारा उपस्थित न कर, मात्र वायवीय दार्शनिक, मानसिक धरातल पर ही प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुत, कहानी कृत्रिम रूप से बढायी जाती है, सिर्फ इसलिए कि उसमे प्रसाद-जी के दर्शन का प्रदर्शन हो (यह बात अलग है कि उनका 'रहस्य' सर्ग उत्तम है)। मनु के चरित्र का उसमे कोई स्वस्थ स्वाभाविक विकास नही होता। मनु श्रद्धा के अचल छोर को पकड, दिव्य ज्ञान का अधिकारी होता है, और उस ज्ञान के अर्जन से उसकी आँखे खुलती है। किन्तु वह ज्ञान कौन-सा है? प्रसादजी ने जिन समस्याओ को उठाया, क्या उनके निराकरण-मार्गो का वह ज्ञान है? नही, समस्या वास्तविक जीवन की है। उसका हल, जो प्रसादजी ने बतलाया है, कर्मक्षेत्र से सम्बन्धित नही, उसके परे वह आध्यात्मिक है।

हमे इस आध्यात्मिक निराकरण से भी कोई आपत्ति न होती, बशर्ते कि मनु की अन्त प्रकृति मे से उस अध्यात्म का विकास होता, यानी चरित्र की भीतरी प्रवृत्ति-शक्तियो के उच्चतर विकास के प्रकाश-रूप वह अध्यात्म उपस्थित होता। हमारे भक्तिकालीन सन्तो की अध्यात्म-भावना—उनके चरित्र की जीवनानुभव-सम्पन्न ज्ञान-शक्तियो की दार्शनिक परिणति थी। किन्तु मनु के सम्बन्ध म यह बात नही कही जा सकती। यदि प्रसादजी उसके आध्यात्मिक ज्ञान के विकास को उपस्थित करना चाहते, तो निश्चय ही **कामायनी** दो खण्डो मे विभाजित होती, उस आध्यात्मिक ज्ञान की वास्तविक जीवन-भूमि के फलस्वरूप, मनु के व्यक्तित्व-विकास के पक्तिबद्ध क्रम चित्र प्रस्तुत किये जाते। मध्ययुगीन भक्तिकाल के सन्तो की सामाजिक मानवीयता, जो कबीर, रैदास, मलिक मुहम्मद जायसी, सूर और तुलसीदास मे प्रकट हुई, वह प्रसादजी का आदर्श नही थी। किन्तु उनका आदर्श आधुनिक अभिजातवर्गीय रहस्यात्मक अद्वैतवाद था, जो प्राचीन अद्वैतवाद के पुन. संस्करण के रूप मे उपस्थित हुआ, जिसका प्रचार विवेकानन्द आदि ने किया, और जिसको रवीन्द्रनाथ ने अपनी **गीताजलि** द्वारा काव्यात्मकता प्रदान की। हम इस बहस मे नही पडना चाहते कि प्रसादजी का दर्शन शैवागमो से प्रसूत है, या तान्त्रिको से, या किसी और चीज से। हम यह मानते हैं कि प्राचीन शैवागमो से उन्होने कुछ प्रतीक लिये हैं, जिनका उद्देश्य एक ऐसी विराट् (कॉस्मिक) फैण्टेसी खडी कर देना है, जो चित्रमयी होने के साथ ही कुछ इस प्रकार धुँधली हो कि वह रहस्यात्मक प्रतीत हो सके। हम तो केवल यह सूचित करना चाहते हैं कि प्रसादजी ने मनु-समस्या को खडी कर उसका पर्यवसान जिस अद्वैतवादी धरातल पर किया है,

उससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकताओं के उच्चतर विकास की समस्याओं के सम्बन्ध मे, प्रसादजी का दर्शन, न केवल व्यक्ति को ससार-पलायन सिखलाता है, वरन् वह इस पलायन को डिफैण्ड करता है, उसकी स्थिति-रक्षा करता है, तथा साथ ही, जड और चेतन मे महाचेतन की आनन्दमयी अभिव्यक्ति को भले और बुरे, शोषक और शोषित, मगल और अमगल, दोनो मे तथा दोनों के परे देखते हुए, वह दर्शन अन्तत विषमताग्रस्त समाज, सभ्यता और व्यक्ति की वर्तमान स्थिति को कायम रखते हुए प्रतिक्रियावादी शोषक नीति, राजनीति और समाज-नीति को ही नित्यता प्रदान करता है।

अधिक-से-अधिक, प्रसादजी के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उनका दर्शन एक उदार पूँजीवादी-व्यक्तिवादी दर्शन है, जो यदि एक मुँह से वर्ग विषमता की निन्दा करता है, जो दूसरे मुँह से वर्गातीत समाजातीत, व्यक्तिमूलक चेतना के आधार पर, समाज के वास्तविक द्वन्द्वो का वायवीय तथा काल्पनिक प्रत्याहार करते हुए, 'अभेदानुभूति' के आनन्द का ही सन्देश देता है। निश्चय ही समाजातीत-वर्गातीत व्यक्तिमूलक आनन्दवादी अद्वैतवाद अपने अन्तिम निष्कर्षो मे, उसी विषमतापूर्ण समाज की स्थिति म कुछ सतही-ऊपरी परिवर्तन करके सन्तुष्ट है। यही कारण है कि इड़ा के पास मनु-पुत्र को रखा है, जिसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अन्तर्विरोध-ग्रस्त इडा-निर्मित समाज को इडा के नेतृत्व मे, श्रद्धा के अद्वैतवादी उपदेशो मे समन्वित कर, उसे इडा तथा मनु-पुत्र के जिम्मे लगाकर, स्वय श्रद्धा तथा मनु हिमालय प्रदेश मे जाते हैं, और जड और चेतन मे व्यक्त महाचेतना का आनन्द लूटते हैं। इसमे क्या आश्चर्य है, यदि प्रसादजी इडा निर्मित समाज की अगली विकास-स्थितियो को न बतलाकर, भव-ताप से तापित उस इडा को तीर्थाटन करने के लिए हिमालय ले जाते है। प्रसादजी का अद्वैतवाद न अपने द्वारा उठायी गयी उन समस्याओ का निराकरण करता है, जो सभ्यता से सम्बन्धित हैं, न उनका जो व्यक्ति से सम्बन्धित है। प्रसाद दर्शन के प्रश्न को हम आगे चलकर फिर उठायेंगे। हम सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि इस दर्शन के जरिये प्रसादजी ने मनु समस्या के सम्बन्ध मे दुनिया को कोई नया सन्देश नही दिया है, और उस रूप मे जो कुछ प्रस्तुत किया है वह न सन्देश है न मनु-समस्या का हल।

निश्चय ही, ताॅलस्ताय ने भी बहुत-से कमजोर पात्र रेखांकित किये है। उदाहरण के लिए, **रिसरेक्शन** उपन्यास लीजिए। उसके प्रमुख पात्र का उच्चतम विकास किस प्रकार होता है? कर्मक्षेत्र के त्याग मे? नही। सामाजिक कर्तव्यो को सासारिक कहकर किसी धार्मिक रहस्यात्मक भावानुभूति मे? नही।

जिन अर्थो मे ताॅलस्तॉय, अपने अन्तिम निष्कर्षो मे, मानवतावादी है, क्या उन्ही अर्थों मे, **कामायनी** को देखते हुए, प्रसादजी मानवतावादी है? बिलकुल नही।

मानवतावाद कमज़ोर चरित्रो को उभारता तो है किन्तु उन पात्रो को अपनी कमजोरियो का ज्ञान कराकर उनके प्रकृतिगत वैषम्य के अमानवीय स्वरूप को उन्ही के सामने उद्‌घाटित करते हुए वह उनके व्यक्तित्व का सामाजीकरण-मानवीकरण उपस्थित करता है। मानवतावाद व्यक्तित्व की समस्याओं का वायवीय निरूपण-निराकरण नहीं करता। मानवतावाद वास्तविकता के क्षेत्र मे मानवादर्शों की वास्तविकता के द्वारा ही, कमजोर चरित्रो मे ऐसा रूपान्तर उपस्थित करता

है, जिसके फलस्वरूप वे अधिकाधिक वास्तविक रूप से समाजोपयोगी, मानवगुण-सम्पन्न तथा कल्याणकारी होते चलते हैं।

कमज़ोर चरित्रों का प्रस्तुतीकरण गुनाह नहीं है। गुनाह है उनका वायवीय उच्चतर रूपान्तर। जिन भौतिक, व्यक्तिगत-सामाजिक वास्तविक सन्दर्भों से कमज़ोर चरित्र कमज़ोर होते हैं, उन्हीं सन्दर्भों से उनका रूपान्तर भी आवश्यक होता है। इन सन्दर्भों को बदलने से मूल समस्या ही रद्दी की टोकरी में डाल दी जाती है, तथा वायवीय रूपान्तर को खड़ा करने से वास्तविक रूपान्तर के सम्बन्ध में जो मानव-आस्था होनी चाहिए उसका अभाव और लोप दृष्टिगोचर होता है। वायवीय के विपरीत वास्तविक रूपान्तर के लिए अत्यधिक मानव-श्रद्धा की आवश्यकता होती है। जो कलाकार कमज़ोर चरित्रों की वास्तविक भीतरी समस्या खड़ी कर उसका समाधान, उसका निराकरण, व्यक्तित्व के वायवीय रूपान्तर द्वारा उपस्थित करता है, निश्चय ही वह लेखक मानव-जीवन की उन्नतिपरक शक्तियों की वास्तविकता के प्रति अश्रद्धा ही प्रकट करता है। यदि मनुष्य अपनी कमज़ोरियों पर विजय प्राप्त कर सकता है, तो वह इस सामाजिक विश्व में रहकर ही। इसको हटाकर जो तथाकथित हल खड़ा किया जाता है, वह मनुष्य का अपना हल नहीं है। ऐसे हल में कल्याणपरक मानवी शक्तियों की क्रियमाण गतिमान वास्तविकता का मनोहर प्रकाश नहीं है—अतएव उसमें वास्तविक मानव श्रद्धा भी नहीं है।

भौतिक-सामाजिक जगत् के वास्तविक मानव कल्याणकारी वैषम्य-विरोधी रूपान्तर के संघर्ष के माध्यम से ही, मनुष्य में वे सभी मानव-गुण उत्पन्न तथा प्रस्फुटित होते हैं, जिनके अभाव में हमारा चरित्र कमज़ोर ही रहता है। जिस हद तक तथा जिन क्षेत्रों में, हममें उन मानव-गुणों का अभाव होता है, उतना ही हमारे चरित्र में अमानवता भी रहती है। इस अमानवता की वास्तविकता के विरोध में, मानवता की वास्तविकता को उपस्थित करना, कलाकार का सबसे बड़ा धर्म है—विशेषकर उस कलाकार के लिए, जिसने अपनी कला की केन्द्रीय समस्या के रूप में कमज़ोर चरित्र उपस्थित किया हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि विश्व के मानवतावादी साहित्य में प्रसाद की कामायनी का स्थान उपेक्षणीय है, और, चूँकि हमारा यह विश्वास है कि मनुष्य को भीतर से हिला देनेवाला, तथा साथ ही उसके उच्चतर रूपान्तर को विकसित करनेवाला साहित्य वस्तुतः मानवतावादी साहित्य ही हो सकता है, इसलिए हमें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी, कामायनी के द्वारा, साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ते-चढ़ते बीच ही में लुढ़क पड़े। हमें उनकी इस बाधाग्रस्तता के प्रति न केवल साहित्यिक दिलचस्पी है, वरन् ऐसी ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय दिलचस्पी भी है, जिसकी पूर्ति के द्वारा हम उन मूल निष्कर्षों पर पहुँच जायेंगे जिनके कारण प्रसादजी-जैसा ऊँचा कलाकार भी धोखा खा जाता है। प्रसादजी की सभ्यता समीक्षा तथा अन्य जीवन व्यापारों की समीक्षा की समीक्षा करते हुए हम इसी सूत्र को आगे बढ़ायेंगे। इस समय इतना ही पर्याप्त है।

उससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकताओं के उच्चतर विकास की समस्याओं के सम्बन्ध में, प्रसादजी का दर्शन, न केवल व्यक्ति को संसार-पलायन सिखलाता है, वरन् वह इस पलायन को डिफ़ैण्ड करता है, उसकी स्थिति-रक्षा करता है, तथा साथ ही, जड और चेतन में महाचेतन की आनन्दमयी अभिव्यक्ति को भले और बुरे, शोषक और शोषित, मंगल और अमंगल, दोनों में तथा दोनों के परे देखते हुए, वह दर्शन अन्तत विषमताग्रस्त समाज, सभ्यता और व्यक्ति की वर्तमान स्थिति को कायम रखते हुए, प्रतिक्रियावादी शोषक नीति, राजनीतिऔर समाज-नीति को ही निश्यता प्रदान करता है।

अधिक-से-अधिक, प्रसादजी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनका दर्शन एक उदार पूँजीवादी-व्यक्तिवादी दर्शन है जो यदि एक मुँह से वर्ग-विषमता की निन्दा करता है, जो दूसरे मुँह से वर्गातीत, समाजातीत, व्यक्तिमूलक चेतना के आधार पर, समाज के वास्तविक द्वन्द्वों का वायवीय तथा काल्पनिक प्रत्याहार करते हुए, 'अभेदानुभूति' के आनन्द का ही सन्देश देता है। निश्चय ही समाजातीत-वर्गातीत व्यक्तिमूलक आनन्दवादी अद्वैतवाद अपने अन्तिम निष्कर्षों में, उसी विषमतापूर्ण समाज की स्थिति में कुछ सतही-ऊपरी परिवर्तन करके सन्तुष्ट है। यही कारण है कि इडा के पास मनु-पुत्र को रखा है, जिसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अन्तर्विरोध-ग्रस्त इडा-निर्मित समाज को इडा के नेतृत्व में, श्रद्धा के अद्वैतवादी उपदेशों से समन्वित कर, उसे इडा तथा मनु-पुत्र के जिम्मे लगाकर, स्वयं श्रद्धा तथा मनु हिमालय प्रदेश में जाते हैं, और जड और चेतन में व्यक्त महाचेतना का आनन्द लूटते हैं। इसमें क्या आश्चर्य है, यदि प्रसादजी इडा-निर्मित समाज की अगली विकास-स्थितियों को न बतलाकर, भव-ताप से तापित उस इडा को तीर्थाटन करने के लिए हिमालय ले जाते हैं। प्रसादजी का अद्वैतवाद न अपने द्वारा उठायी गयी उन समस्याओं का निराकरण करता है, जो सभ्यता से सम्बन्धित हैं, न उनका जो व्यक्ति से सम्बन्धित हैं। प्रसाद दर्शन के प्रश्न को हम आगे चलकर फिर उठायेंगे। हम सिर्फ़ यह कहना चाहते हैं कि इस दर्शन के ज़रिये प्रसादजी ने मनु-समस्या के सम्बन्ध में दुनिया को कोई नया सन्देश नहीं दिया है, और उस रूप में जो कुछ प्रस्तुत किया है, वह न सन्देश है, न मनु-समस्या का हल।

निश्चय ही, तॉलस्तॉय ने भी बहुत-से कमज़ोर पात्र रेखांकित किये हैं। उदाहरण के लिए, **रिसरेक्शन** उपन्यास लीजिए। उसके प्रमुख पात्र का उच्चतम विकास किस प्रकार होता है ? कर्मक्षेत्र के मार्ग से ? नहीं। सामाजिक कर्तव्यों को

ादी है, क्या उन्हीं अर्थों में, **कामायनी** को देखते हुए, प्रसादजी मानवतावादी है ? बिलकुल नहीं।

मानवतावाद कमज़ोर चरित्रों को उभारता तो है, किन्तु उन पात्रों को अपनी कमज़ोरियों का ज्ञान कराकर उनके प्रकृतिगत वैषम्य के अमानवीय स्वरूप को उन्हीं के सामने उद्घाटित करते हुए, वह उनके व्यक्तित्व का सामाजीकरण-मानवीकरण उपस्थित करता है। मानवतावाद व्यक्तित्व की समस्याओं का वायवीय निरूपण-निराकरण नहीं करता। मानवतावाद वास्तविकता के क्षेत्र में मानवादर्शों की वास्तविकता के द्वारा ही, कमज़ोर चरित्रों में ऐसा रूपान्तर उपस्थित करता

है, जिसके फलस्वरूप वे अधिकाधिक वास्तविक रूप से समाजोपयोगी, मानवगुण-सम्पन्न तथा कल्याणकारी होते चलते हैं।

कमज़ोर चरित्रों का प्रस्तुतीकरण गुनाह नहीं है। गुनाह है उनका वायवीय उच्चतर रूपान्तर। जिन भौतिक, व्यक्तिगत-सामाजिक वास्तविक सन्दर्भों से कमज़ोर चरित्र कमज़ोर होते हैं, उन्हीं सन्दर्भों से उनका रूपान्तर भी आवश्यक होता है। इन सन्दर्भों को बदलने से मूल समस्या ही रद्दी की टोकरी में डाल दी जाती है, तथा वायवीय रूपान्तर को खड़ा करने से वास्तविक रूपान्तर के सम्बन्ध में जो मानव-आस्था होनी चाहिए उसका अभाव और लोप दृष्टिगोचर होता है। वायवीय के विपरीत वास्तविक रूपान्तर के लिए अत्यधिक मानव-श्रद्धा की आवश्यकता होनी है। जो कलाकार कमज़ोर चरित्रों की वास्तविक भीतरी समस्या खड़ी कर उसका समाधान, उसका निराकरण, व्यक्तित्व के वायवीय रूपान्तर द्वारा उपस्थित करता है, निश्चय ही वह लेखक मानव जीवन की उन्नतिपरक शक्तियों की वास्तविकता के प्रति अश्रद्धा ही प्रकट करता है। यदि मनुष्य अपनी कमज़ोरियों पर विजय प्राप्त कर सकता है, तो वह इस सामाजिक विश्व में रहकर ही। इसको हटाकर जो तथाकथित हल खड़ा किया जाता है, वह मनुष्य का अपना हल नहीं है। ऐसे हल में कल्याणपरक मानवी शक्तियों की क्रियमाण गतिमान वास्तविकता का मनोहर प्रकाश नहीं है—अतएव उसमें वास्तविक मानव श्रद्धा भी नहीं है।

भौतिक-सामाजिक जगत् के वास्तविक मानव कल्याणकारी वैषम्य विरोधी रूपान्तर के संघर्ष के माध्यम से ही, मनुष्य में वे सभी मानव-गुण उत्पन्न तथा प्रस्फुटित होते हैं, जिनके अभाव में हमारा चरित्र कमज़ोर ही रहता है। जिस हद तक तथा जिन क्षेत्रों में, हममें उन मानव-गुणों का अभाव होता है, उतना ही हमारे चरित्र में अमानवता भी रहती है। इस अमानवता की वास्तविकता के विरोध में, मानवता की वास्तविकता को उपस्थित करना, कलाकार का सबसे बड़ा धर्म है—विशेषकर उस कलाकार के लिए, जिसने अपनी कला की केन्द्रीय समस्या के रूप में कमज़ोर चरित्र उपस्थित किया हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि विश्व के मानवतावादी साहित्य में प्रसाद की कामायनी का स्थान उपेक्षणीय है, और, चूँकि हमारा यह विश्वास है कि मनुष्य को भीतर से हिला देनेवाला, तथा साथ ही उसके उच्चतर रूपान्तर को विकसित करनेवाला साहित्य वस्तुतः मानवतावादी साहित्य ही हो सकता है, इसलिए हम यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी, कामायनी के द्वारा, साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ते-चढ़ते बीच ही में लुढ़क पड़े। हम उनकी इस आधारग्रस्तता के प्रति न केवल साहित्यिक दिलचस्पी है, वरन् ऐसी ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय दिलचस्पी भी है, जिसकी पूर्ति के द्वारा हम उन मूल निष्कर्षों पर पहुँच जायेंगे जिनके कारण प्रसादजी-जैसा ऊँचा कलाकार भी धोखा खा जाता है। प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा तथा अन्य जीवन-व्यापारों की समीक्षा की समीक्षा करते हुए हम इसी सूत्र को आगे बढ़ायेंगे। इस समय इतना ही पर्याप्त है।

पिछले अध्याय म हमने मनु का वह चरित्राकन प्रस्तुत किया जा **कामायनी** म प्राप्त होता है। साथ ही हमने उस चरित्राकन के सत्यो को उसकी वास्तविकताओ को छूने का प्रयत्न किया। **कामायनी** के प्रत्येक सग के साथ चलकर अब हम मनु चरित्र के अन्य गर्भितार्थों का समझन का प्रयास करेंगे। इस रास्ते पर चलकर **कामायनी** की मूल समस्या अर्थात मनु समस्या भी हमारे सामने सम्पूर्ण रूप स प्रकट हो जायगी।

पहली बात जो हमारी समझ म नही आती वह यह है कि आखिर मनु अपने बारे मे इतना निराशाग्रस्त क्यो है ? इसके जवाब म यह कहा जा सकता है कि उसकी परिस्थिति ही ऐसी है। पुरानी देव सभ्यता नष्ट हो गयी है। उसका भी सब कुछ उदध्वस्त हो गया है। वह ससार म अकेला है और उसे यह नही सूझता कि जिन्दगी म वह क्या करे।

किन्तु यह उत्तर अधिक स-अधिक उसकी निराशा के एक ही तत्त्व को उदघाटित करता है। हमारी दृष्टि से उसका यह भाव तो बहुत व्यापक है नही तो वह यह नही कहता

> बुद्धि मनीषा मति आशा चिन्ता
> तेरे हैं कितन नाम।
> अरी पाप है तू जा चल जा
> यहा नही कुछ तेरा काम।
> विस्मृति आ अवसाद घर ल
> नीरवते बस चुप कर दे
> चेतनता चल जा जडता स
> आज शून्य मेरा भर दे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि स मनु की इतनी घनघोर निराशा का मूल कारण उसकी विद्यमान स्थिति मे केवल अपनी नि सग असहायता न होकर उस प्राचीन सुख का लोप है जो देव-सभ्यता के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हुआ। उस विलास-सुख की घनीभूत प्रभाव छायाए मनु के मन म अभी भी विद्यमान हैं। अभाव दु खो क पीछे मनु की देव स्वभाव सहज वासना सुख लोलुपता भी छिपी हुई है। नही तो यह न कहा जाता

> अब न कपोलो पर छाया सी
> पडती मुख की सुरभित भाप
> भुजमूलो म शिथिल वसन की
> व्यस्त न होती है अब माप।
> वह अनग पीडा अनुभव-सा
> *अगभगियो का नतन*
> मधुकर के मरन्द उत्सव सा
> मदिर भाव से आवत्तन।

देव-सभ्यता के इस लोलुप विलास-सुख की स्मृतियाँ मनु के मन मे बार-बार आती हैं।

अपनी आपद्ग्रस्त स्थिति मे मनु को अपनी जीवन-रक्षा के आवश्यक उपायो की चिन्ता इतनी नही सता रही है, जितनी कि विगत विलास-सुख की स्मृतियाँ। नही तो उसका हृदय उस देव-सभ्यता के विध्वस के अनन्तर इस प्रकार स्मृतिग्रस्त न होता.

भरी वासना सरिता का वह,
कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि मे सगम जिसका,
देख हृदय था उठा कराह।

हृदय कराह उठने की बात ही क्या थी! उसको दु ख इस बात का है कि अनग-पीडा-अनुभव-जैसा अगभगियो का नर्तन अब लुप्त हो गया।

उसकी निराशा का मूल केन्द्र यही है। यही कारण है कि वह अपने बारे मे श्रद्धा से कहता है

पहेली - सा जीवन है व्यस्त,
उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृति का मार्ग,
चल रहा हूँ बनकर अनजान।

उसे इस बात का भी दु ख है कि आवश्यकतावश उसे विस्मृति का मार्ग ग्रहण करना पड रहा है, जो वह वस्तुत चाहता नही है। इसीलिए वह कहता है

भूलता ही जाता दिन रात,
सजल अभिलाषा कलित अतीत।
बढ रहा तिमिर-गर्भ मे नित्य,
दीन जीवन का यह सगीत।

वह कौन-सी सजल अभिलाषा है? वह है—उन्मत्त विलास-सुख-आत्मकेन्द्री वासना-सवेदनाओ की मोहमाया, जो उसके हिमालय जाने के पूर्व तक उससे छूटी नही।

[illegible]

अकेल [illegible]

है, कि [illegible]

निराशा को और भी भयानक बना देती है। भयानक निराशा (फ्रस्ट्रेशन) के इन्ही आवेग-क्षणो मे अपने बारे मे वह कहता है

क्या कहूँ, क्या कहूँ मैं उद्भ्रान्त,
विवर मे नील गगन के आज,
वायु की भटकी एक तरग,
शून्यता का उजडा-सा राज।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब,
और जडता की जीवन-राशि,
सफलता का संकलित विलम्ब।

तथा

शैल निर्झर न बना हृतभाग्य,
गल नही सका जो कि हिमखण्ड,
दौडकर मिला न जलनिधि-अक,
आह, वैसा ही हूँ पाखण्ड।

निश्चय ही मनु की य अन्तिम दो पक्तिया बहुत ही उद्घाटक है। वह हिमालय जाने के पूर्व तक, 'जलनिधि' स नही मिल पात"। कई 'जलनिधि' उसके रास्ते मे पडते हैं। वह उनके तट पर बैठता है। उनके मनोहर रम्य दृश्य देखता है, उनमे नहाता भी है। किन्तु उनसे वह कभी एकाकार नही हो पाता। अन्त तक नहीं हो पाता, जब तक कि श्रद्धा उसे हिमालय नही ले जाती। वह अपनी 'आत्म-स्वीकृति' के अनुसार, एक 'पाखण्ड' भी है, वास्तविक पाखण्ड—इसलिए कि वह भावुकता के क्षणो मे बह सकता है। किन्तु वह भावुकता मात्र आत्म-मोहजन्य है। उसकी भावुकता, उसके हृदय का गीलापन, एक भयानक आत्मकेन्द्री व्यक्तिगत वासना-बद्धता तथा अहकार मे उत्पन्न है। इस आत्ममोह के पीछे उसका भयानक अहकार (ईगो) बोल रहा है। मनु के बारे म यह बिलकुल ही सच है कि वह ऐसा हिमखण्ड है जो कभी गल नही सका। इस वासना बद्ध अहकार क कारण ही उसकी कामनाएँ कभी तृप्त नही होती, इसलिए कि वे हरदम अपनी तृप्ति के लिए नव-नवीन सामग्री चाहती है। मनु 'ईर्ष्या' सर्ग म श्रद्धा न कहता है

तुम फूल उठोगी लतिका-सी,
कम्पित कर सुख-सौरभ तरग,
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा,
वन - वन बन कस्तूरी - कुरग।

तो मनु स्वय ही कस्तूरी-मृग बनकर अपनी मस्ती तथा आत्म-सम्मोह मे सौरभ खोजते रहेगे। यह सौरभ क्या ? उनके सघन आत्ममोह की तृप्ति की सामग्री ! स्वय को 'कस्तूरी-कुरग' क्यो कहा गया है ? इसलिए कि स्वय के वासना-मूलक सौन्दर्य स्वप्न, कल्पना म बसकर, मनु के हृदय म सघन मोहभाव उत्पन्न कर रहे हैं। अपने ही वासनामूलक सौन्दर्य स्वप्न के प्रति आग्रहमयी मोहमाया, *निश्चय ही, मनु को अपने कामना स्वप्नो के सम्पूर्ण रूप स अनुकूल व्यक्ति के दर्शन* नही कराती। अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति उसके जीवन म आते है, किन्तु उनके मनोभावो को समझने, उनके जीवन विस्तार की उचित दिशाओ के प्रति ममता प्रकट करने, उन्हे अपने जीवन म सुखी देखने तथा सुखी करने के लिए उन व्यक्तियो के प्रति जा गहरा सूक्ष्म दृष्टि-पूर्ण मानव-आस्थामय प्रेमभाव चाहिए, जो गहरी मनुष्यता चाहिए, उसका **कामायनी** के चरित्र नायक मे नितान्त अभाव है। मनु की यही सबसे बडी विशेषता है। वह सच्चे हृदय से प्रेम नही कर सकता। वह प्रेम करता है रूप-रग-गन्ध से। वह स्नेह करने मे नितान्त असमर्थ व्यक्ति है। फलत उससे वस्तुपरक यथार्थग्राही दृष्टिकोण का भयानक अभाव है। जिस मनुष्य का तथाकथित प्रेम भाव अपनी ही भावनाओ की मृदुता, आवेग तथा आग्रह स परिचालित-नियन्त्रित होना है वह प्रेम-भाव अपने प्रेम-पात्र को वस्तुत अपने जीवन मे आने ही नही देता। वह अपने प्रेम-पात्र की छाया पकडता है उसका शरीर भी ग्रहण करता है, किन्तु उसका अन्त करण, उसका मन तथा जीवन वह

ग्रहण नहीं कर सकता, न उसे वह स्वयं अपना अन्तःकरण, अपना मन, अपना जीवन दे सकता है।

मैं यह नहीं कह सकता कि जो प्रेम-पात्र होता है, उसके जीवन की समस्त परिधि प्रेमी की जीवन-परिधि से पूरी-की-पूरी मिले। प्रेमी और प्रेम-पात्र की मनोरचनाएँ भिन्न हो सकती हैं, उनकी मानसिक विकासावस्थाएँ तथा संस्कार, शिक्षा आदि भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किन्तु अपनी प्रेमानुरक्त गहरी भीतरी मनुष्यता के नाते, प्रेमीजन न केवल एक-दूसरे का संग चाहते हैं, न केवल वे एक-दूसरे के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन की प्रवृत्ति-शक्तियों तथा प्रतिभाओं को समझते हैं, वरन् जीवन-विकास के पथ में जो गलतियाँ होती हैं, जो असावधानियाँ होती हैं, जो अयथार्थ दृष्टि होती है, उनको वे परस्पर-सहानुभूति से समझकर दूर करने का प्रयास भी करते हैं। इस गहरी मनुष्यता के बिना प्रेम असम्भव है। और मनु प्रेम नहीं कर सकता, इसलिए कि उसमें इतनी मनुष्यता नहीं है। गहरी मनुष्यता के बिना वस्तुपरक यथार्थग्राही दृष्टिकोण असम्भव है। इसलिए व्यक्तित्व का विकास भी असम्भव है। फलतः मनु अपनी प्रवृत्तियों का शिकार है वह चाहे जितना भावुक रहे। वह काव्यात्मक शब्दों में कभी-कभी इस बात का उद्घाटन भी करता है। नितान्त दुर्दम तथा कठोर व्यक्तिवाद उसमें इस प्रकार मूलबद्ध है कि, अपने पराजय के क्षणों में, जब दुःखी होकर वह आत्म-विश्लेषण की ओर उन्मुख होता है, तब वह आत्म-स्वीकृतियाँ तो करता है, किन्तु उनसे वह सबक नहीं ले पाता। इसी भाव-स्थिति में उसने एक बार अपना उद्घाटन ही तो कर दिया। वह कहता है

> मुझमें ममत्वमय आत्ममोह,
> स्वातन्त्र्यमयी उच्छृंखलता,
> हो प्रलय-भीत तन-रक्षा में,
> पूजन करने की व्याकुलता।

जी हाँ! मनु को आत्मोत्सर्ग करने तथा 'पूजन करने की व्याकुलता' तभी होती है, जब प्रलय से भीत होकर अपने तन की रक्षा की उसको आवश्यकता प्रतीत होती है, अन्यथा नहीं।

जब ऐसे क्षण निकल जाते हैं, तब उन विश्लेषण निष्कर्षों की ऐसी तैसी हो जाती है। भाड़ में जायें अपने बारे में ऐसे निर्णय! और मनु महोदय अपनी आत्म-ग्रस्त स्पृहाकांक्षाओं के घोड़ों पर बैठकर दिग्विजय करने निकलते हैं, मुस्तैदी के साथ। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को चरित-नायक बनाकर प्रसादजी ने एक बहुत बड़ा काम किया है। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि इस प्रकार के व्यक्तियों की इस दुनिया में कमी नहीं है। ऐसे लोग उच्चतम सिंहासन पर पहुँचे होने पर भी पराजित ही रहेंगे। मनु अपने जीवन में पराजित ही होता आया है। यहाँ तक कि उसकी सारस्वत सभ्यता इड़ा की प्रेरणा तथा उसके सक्रिय सहयोग से ही निर्मित हुई है। अतएव, उस सभ्यता निर्माण का मूल श्रेय मनु को न होकर इड़ा ही को है।

तो आइए, हम एक बार पुनः प्रारम्भिक सर्गों की ओर उन्मुख हों। ध्यान में रखने की बात है कि मनु देव-सभ्यता के भीतर अपने जीवन के हार्दिक प्रेम-सम्बन्धों की स्मृतियों को जाग्रत नहीं करता। हृदय-सम्बन्ध मानो थे ही नहीं। उसे याद

आते हैं मात्र विलास-दृश्य, और कुछ नहीं। हमारी प्राचीन कथाओं तथा आख्यानों में देवगण भी प्रेम करते दिखाये गये हैं। किन्तु मनु को वे हृदय-सम्बन्ध याद नहीं आते। इसका अर्थ ही यह हुआ कि प्रसादजी मनु को विशेष रूप में ही प्रस्तुत करना चाहते हैं—वह यह कि मनु में सघन वासनाकेन्द्रिता, आत्म-मोह तथा पराजय-ग्रस्त निराशा (फ्रस्ट्रेशन) विद्यमान है। किन्तु क्या कारण है कि वे मनु को इसी रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं?

ध्यान में रखने की बात है कि अपने नाटकों में उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक वीरों के उज्ज्वल चरित्र अंकित किये, गौरवपूर्ण मानवतामय चरित्र प्रस्तुत किये, और इधर **कामायनी** में उन्होंने मनु जैसा आत्मग्रस्त अहंकारी चरित-नायक उपस्थित किया। अगर वे चाहते, मनु के सम्बन्ध में नाटक भी लिख सकते थे।

किन्तु प्रसादजी स्वयं मनु के आत्म-मोह पर मुग्ध हैं। यहाँ तक कि हमें यह सन्देह होता है कि मनु प्रसादजी के व्यक्तित्व की बहुत भीतरी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि चरित्र है। **आँसू** काव्य को पढ़कर, उनकी अन्य कविताओं को देखकर, हमारे सन्देह की पुष्टि होती है, तथा हम इस वस्तुतथ्य पर पहुँचते हैं कि यदि मनु प्रसादजी की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि चरित्र न होता, तो प्रसादजी अवश्य ही मनु के अंकन विश्लेषण में अधिक कठोर होते, जो कि वे नहीं हैं। वे मनु द्वारा मात्र आत्मभर्त्सना करवाते हैं, और इस आत्मभर्त्सना के कारण मनु के प्रति पाठक की समीक्षा दृष्टि कमज़ोर हो जाती है, वह मनु से सहानुभूति करने लगता है। मनु के सम्बन्ध को लेकर, उसके जीवन सम्बन्ध-विस्तार को लेकर, स्वयं प्रसादजी ने बहुत मनन किया है। नहीं तो वे इतने लिरिकल तरीके से, इतने अनुभवात्मक, आवेगात्मक रूप से, जीवन-तथ्यों के सामान्यीकरणों की पंक्तियों पर पंक्तियाँ नहीं खड़ी कर देते। मनु-समस्या, जो वस्तुतः प्रसाद-समस्या है, आत्मानुभूत समस्या है। अगर वह ऐसी न होती, तो प्रसादजी उस पर इतनी सहज तथा इतनी स्वाभाविक और आत्मपरक रीति से अपने जीवन का सारा चिन्तन न्योछावर न कर देते। प्रसादजी का चिन्तन ही इस समस्या से उत्पन्न है। यही कारण है कि वे मनु को खड़ा कर, अपने को खड़ा कर रहे हैं। तथा उसको अपनी कुछ मूलभूत प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि बनाकर प्रसादजी ने अपने जीवन की सारी वासना, वासना की कठोरता, आत्मसम्मोह की छलना, वासना-स्वार्थ के पीछे छिपा हुआ अहंकार, अहंकार की कठोरता, शासन तथा अधिकार भावना की उच्छृंखलता, आदि के जो दृश्य उपस्थित किये हैं, वे वस्तुतः प्रसादजी की ही कुछ भीतरी प्रवृत्तियों के काल्पनिक दृश्य चित्र हैं। किन्तु इसके साथ ही, प्रसादजी में मनुष्यता भी तो थी, महानता भी तो थी। उस मनुष्यता की ही यह पुकार थी कि इन प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण उद्घाटन किया जाना चाहिए था। निश्चय ही, इस उद्घाटन में प्रसादजी ने सारा ज़ोर लगा दिया, अपने जीवन के सारे चिन्तन, मनन, विश्लेषण को प्रस्तुत कर दिया। इसका फल यह हुआ कि प्रसादजी की **कामायनी** उनके व्यक्तित्व तथा विचार-मनोभावों की सर्वाधिक प्रतिनिधि रचना हुई। फलतः, कुछ अन्तिम सर्गों को छोड़कर, और अंशतः उनमें भी, पूरी **कामायनी** में आत्मपरकता, आत्ममयता (पर्सनल क्वालिटी) उत्पन्न हुई। इसलिए **कामायनी** कथा काव्य होते हुए भी चरित-काव्य न हो सकी। फलतः, वह मनोवैज्ञानिक छायावादी महाकाव्य हुई। इस आत्ममयता के कारण ही, **कामायनी** में प्रस्तुत

चिन्तन, मनन, विश्लेषण जब अभिव्यक्त होता है, तब उसकी तथ्यात्मकता पूरे जोर से अपने को प्रस्थापित करती है, और उसको इस प्रकार प्रकट करने मे कल्पना अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ सहयोग करती रहती है। इसी से यह प्रकट होता है कि **कामायनी** अपनी कथात्मकता-चरित्रात्मकता के बावजूद भी, वस्तुत, प्रमुख रूप से आत्मपरक काव्य है। उसकी यह आत्मपरकता ही है कि जो मनु की आत्मभर्त्सना मे भी मानवी रस उत्पन्न करती है। यह आत्मपरकता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि **कामायनी** के पात्र किसी-न-किसी रूप मे लेखक की भीतरी निगूढ प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व न करते हो। आत्मभर्त्सना तक मे प्रसादजी की कल्पना तथ्यात्मक यथार्थग्राही रूप से चित्र उपस्थित करती हुई दिखायी देती है। इस तथ्यात्मक यथार्थ-ग्राहिता के कारण ही, वह आत्मभर्त्सना भी आत्मपरक हो गयी है, उसमे लिरिकल काव्य की पर्सनल क्वालिटी उत्पन्न हुई है।

एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिए। वह यह कि जब हम यह कहते हैं कि मनु प्रसादजी की किन्ही बहुत भीतरी प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करता है, तो हम यह नही कहते कि मनु प्रसादजी के मन अथवा व्यक्तित्व का पूर्णत प्रतिनिधित्व करता है। नि सन्देह नही। प्रसादजी ने, **कामायनी** के अतिरिक्त, अपने विशाल साहित्य मे बहुत गौरवपूर्ण तथा भव्य चरित्र खडे किये हैं। अतएव प्रसादजी के पूरे जीवन अथवा उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से मनु की सगति स्थापित नही कर सकते, न हम यह करना ही चाहते हैं।

हमारा आशय तो यह है कि निश्चित रूप से मनु की स्वभाव-समस्या प्रसादजी की एक भीतरी केन्द्रीय समस्या है, जिसके सम्बन्ध मे उन्होंने अपने अन्त करण मे बहुत वर्षों तक मनन किया है, बहुत दिनो तक वे इस समस्या की गहराइयो मे पैठे हैं। निश्चय ही, जब हम श्रद्धा तथा इडा के चरित्र का अध्ययन करते हैं, तब हमे इस समस्या के सम्बन्ध म प्रसादजी की स्वाभाविकता का और भी पता चलता है, और हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वस्तुत श्रद्धा, इडा तथा मनु को लेकर जो कथा अकित की गयी है, उसके विकास की गति के बाधित होने का मूल कारण मनु-समस्या के निराकरण के सम्बन्ध मे प्रसादजी की विचार-पद्धति ही है। जब वे यह कहते हैं कि 'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यो पूरी हो मन की', तो वस्तुत वे इन तीनो के सामजस्य पर जोर देते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि यह सामजस्य किस प्रकार उत्पन्न हो? प्रसादजी इस सम्बन्ध मे कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित नही करते, न वे कर ही सकते हैं। उसका कारण यह है कि वे स्वय भाववादी-व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी दृष्टि से ही सोचते है। इसका फल यह होता है कि वे वास्तविक जीवन की प्रतिक्रियाओ को नहीं देख पाते। यदि व्यक्ति मे मनुष्यता है तो, निश्चय ही वह अपने जीवन मे प्राप्त वास्तविक मूर्त आदर्शों और लक्ष्यो की तरफ बढेगा, उस बढना पडेगा। अपने जीवन की भीतरी तथा बाहरी प्रेरणाएँ उसे लक्ष्योन्मुख बनायेंगी ही, उन आदर्शो की ओर ठेलेंगी। वह अपने जीवन के अनुभवो का वैज्ञानिक आकलन करता रहेगा, और अपने तथा दूसरो के अनुभवो से वह सीखेगा ही, उसे सीखना पडेगा। किन्तु—और यह सबस बडा 'किन्तु' है—आदमी मे इतनी मनुष्यता रहती ही नही। साथ ही उसका अभाव भी कभी नही होता। किसी मे वह कम होती है, किसी मे ज्यादा, किसी में बहुत

**कामायनी** में एक विशेष प्रकार का रहस्योद्घाटन करती है।

यहाँ हम प्रसादजी की समस्त अन्तर्मुख छायावादी शृंगारात्मक कविताओं को सामने रखकर यह कह सकते हैं कि उनके उस विलास-सुख-मूलक स्मृति-काव्य की महत्त्वपूर्ण प्रतिध्वनियाँ **कामायनी** में भी हैं, यद्यपि वे मनु की देव सभ्यतामूलक विलास-स्मृतियाँ बनकर सामने आयी हैं। हम जिस निष्कर्ष पर आना चाहते हैं, वह यह कि यह देव-सभ्यता वह सामन्ती सभ्यता तथा उसका विलास-वातावरण है, जिसने प्रसादजी की कल्पना को शृंगारात्मक निविड रूप-सौन्दर्य-प्रधान बनाया। **आँसू** में प्रसादजी केवल अपनी अतीत-विलास की स्मृतियों से पीडित हैं। **कामायनी** में वह विलास देव-सभ्यता का प्रधान लक्षण बनकर सामने आता है। निश्चित ही, यह देव-सभ्यता वह सामन्ती विलास-प्रिय शासक-वर्ग है, जिसके रूप धन और शासन-सत्ता के उपभोग से प्रसूत अहंकार को सहज की जाना जा सकता है। उत्तरप्रदेश में बडे-बडे सामन्ती तत्त्व अभी भी वर्तमान हैं। समाज में उनके सुख-वैभव की चर्चाएँ भी होती रहती हैं। *'साहब, वो कैसे थे ? ऐसे थे।'* प्रसादजी की नवयौवनावस्था में निश्चय ही ऐसे सामन्ती वातावरण का घनीभूत प्रभाव होना चाहिए, उसके बिना सामन्त वर्ग की विशिष्ट रूप-सौन्दर्य-संवेदनाओं का इतना घनीभूत जाल प्रसादजी के मन में न उलझा होता। किन्तु प्रसादजी को एक ज़माना यह भी देखना पडा, जब इस सामन्त वर्ग के विलास-वातावरण को जीवन में विशेष स्थान न मिल पाया। सामन्तवर्गीय विलास-वातावरण जीवन से ही तिरोहित हुआ, और उसकी स्मृति उनके हृदय में कुण्डली मारकर बैठी रही।

सघन सामन्ती शृंगार-विलासशील वातावरण तो गया, किन्तु वह शृंगार-भावना, नवीन व्यक्तिवाद में समाहित होकर, व्यक्तित्व के भीतर नये-नये प्रश्न उपस्थित करने लगी। निश्चय ही, प्रसादजी की भावना पर तत्कालीन अद्वैतवादी-भाववादी विचारधाराओं का प्रभाव पडा जो उन दिनों प्रचलित थी। ये विचार-धाराएँ यदि एक ओर भीतरी व्यक्तिवाद को अपने आत्मवाद से पुष्ट करती थीं, तो, दूसरी ओर, सामन्ती मूल्यों के विरुद्ध व्यक्तिवादी मूल्यों की सामाजिक प्रस्थापना के लिए आवश्यक सामाजिक संघर्ष से भी बचाती थीं। फलत, इच्छा और क्रिया में झगडा होना स्वाभाविक ही था। किन्तु भाववादी दर्शन (आइडियलिज़्म) इस झगडे को वायवीय धरातल पर 'सुलझाता' था। प्रसादजी के दर्शन के सम्बन्ध में आगे चलकर हम अपने मन्तव्य प्रकट करेंगे। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि प्रसादजी की विचारधारा पर पर्याप्त रूप से सामन्ती प्रभाव थे। उदाहरणत., उनके व्यक्तिवादी रहस्यवाद को सघन सामन्ती पूर्व मध्ययुगीन शैव रहस्य ने बल प्रदान किया, प्रतीक प्रदान किये, तथा अंशत विचारधारा प्रदान की। यह ध्यान में रखने की बात है कि सघन अन्तर्मुखी निविड विलासमूलक शृंगारिकता न केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति को उलझी हुई तथा वायवीय बनाती है, वरन् उसे किसी आत्मबद्ध रहस्य-सत्ता से भी जोडती है। इस प्रकार की निविड शृंगारिकता रहस्यभावना की सृष्टि करती ही है। इस प्रकार की भावनाशीलता का *यदि एक सिरा निविड शृंगारिकता है, तो दूसरा सिरा है रहस्य। यह रहस्य दार्शनिक* आवरण में लिपटकर कण-कण में परमात्मसत्ता का दर्शन भले ही कर ले, उसका मूल गुण व्यक्तिगत-मनोवैज्ञानिक है। स्वर्गीय शुक्लजी का यह कहना बिलकुल ही ठीक है कि "संवेदन, जागरण, चेतना आदि के परिहार का बीच-बीच में जो अर्थ-

लाभ है, उसे रहस्यवाद का तक़ाज़ा समझना चाहिए।" ध्यान रहे कि यह उन्होंने प्रसादजी की **कामायनी** के सम्बन्ध मे लिखा है। प्रसादजी के इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक रहस्य पर निश्चय ही सूफी काव्य और तान्त्रिक दर्शन का प्रभाव पडा है। चूंकि प्रसादजी का रहस्यवाद हमारा मूल विषय नही है, अत हम अब इस चर्चा से हटकर केवल इसी निष्कर्ष के साथ यह अध्याय समाप्त करना चाहते हैं, कि प्रसादजी की विचारधारा पर भी सामन्ती छायाएँ कम नही थी वे उनके छायावादी व्यक्तिवाद मे योग देती थी, तथा इस प्रकार उनकी अन्तर्मुखता को और भी अधिक घनीभूत करती थी।

## 4

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्रसादजी का यह वेदकालीन आख्यान, **कामायनी** को ऐतिहासिक काव्य न बनाकर, केवल एक ऐसी फैण्टेसी का काम करता है, कि जिसके भीतर प्रसादजी अपने चरित्रो का विस्तार कर सकें, तथा उनके द्वारा, अथवा उनके माध्यम से अथवा उनके बहाने जो कुछ कहना हो कह सके। हमने यह भी कहा था कि यह फैण्टेसी **कामायनी** मे दो काम एक साथ करती है। एक तो यह कि आधुनिक जीवन-तथ्यो तथा अपने सोचे हुए निष्कर्षो को चित्रात्मक पद्धति द्वारा उपस्थित करती है। दूसरी बात यह कि वह फैण्टेसी उन तथ्यो तथा निष्कर्षो की विद्यमानता को अपने काल तथा स्थान से अलग हटाकर—और इस प्रकार उनको दूरी प्रदान कर—न केवल उन्हे आकर्षक बना रही है, वरन उस आकर्षण के द्वारा आधुनिक जीवन म उनसे सम्बन्धित तथ्यो की तीव्र सप्रश्नता को मिटा भी रही है। इस प्रकार वह फैण्टेसी एक ही साथ दो काम करती है। एक, आधुनिक जीवन के तथ्यो तथा निष्कर्षों की चित्रात्मक समीक्षा के लिए उसके द्वारा एक विशाल कैनवास मिल जाता है। दो उन तथ्यो तथा निष्कर्षों की तीव्र आधुनिक सप्रश्नता को काल तथा स्थान स हटाकर उसके अस्तित्व के तीखेपन को समाप्त कर दिया गया है।

हम यह फिर दुहरा देना चाहते है कि यह वेदकालीन आख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से **कामायनी** म उपस्थित नही किया गया। अगर ऐतिहासिक दृष्टि से उपस्थित किया गया होता तो **कामायनी** म बहुत-सी महत्त्वपूर्ण असगतियाँ आती ही नही। उदाहरणत, देव सभ्यता म यज्ञ विधान माना गया है। जैसे, 'सजग हुई फिर से सुर सस्कृति, देव-यजन की वर माया'। अब प्रश्न यह है कि यदि 'सुर-सस्कृति' मे यज्ञ-विधान था, तो फिर मनु देव-सभ्यता के अन्तर्गत ही, उन समस्त भावस्थितियो से गुज़रा हुआ होना चाहिए जो यज्ञ विधान की सम्पूर्ण विकासावस्था तक चलती आ रही थी। निश्चय ही देव-सभ्यता के धर्म को—उन धार्मिक भावो को—क्या वह भूल गया था? अगर नही भूला था (वह नही ही भूला था, क्योकि उसने देव-यजन के नमूने पर ही फिर से अपना यज्ञविधान आरम्भ किया)

तो फिर इन पंक्तियों का क्या औचित्य है :

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते - से सन्धान।
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गंभीर धीरस्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

मनु से सम्बन्धित यह उक्ति है, भले ही मनु के द्वारा कहलायी न जाकर सागर के नाम से प्रस्तुत की गयी हो। मनु से उसका सम्बन्ध हटा दीजिए, तो उस उक्ति का कोई अर्थ रह नहीं जाता। निश्चय ही, देव-सभ्यता में यदि धर्म था तो उसका कोई रूप तो होना ही चाहिए, साथ ही धार्मिक भावों का अस्तित्व भी। पुरानी देव-सभ्यता में, स्वभावतः, 'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?' वाली सप्रश्नता की अवस्था को पार करके ही यज्ञ विधान आदि नियोजित हुए होंगे। अथवा इसके विपरीत, यूँ कहिए कि उनका धर्म मन्तर-तन्तर, जादू-टोना, झाड़ फूंक, आदि प्रारम्भिक आदिम बर्बर क्रियाकलापों तक ही सीमित था। किन्तु यह नहीं हो सकता था। कारण यह कि देव-सभ्यता का जो रूप **कामायनी** में यत्र-तत्र उपस्थित किया गया है उससे तो यही पता चलता है कि वह अत्यन्त विकसित सभ्यता थी।

किन्तु मनु—जो देव-सभ्यता का पुत्र है—जीवन के निर्माण-कार्य को मानवी प्रयत्न के आदिम बर्बर रूपों से शुरू करता है। वह शिकार खेलता है। श्रद्धा एक पर्ण-कुटीर बनाती है। माना कि उसके पास सामग्री न थी, किन्तु देव सभ्यता की विकसित कला की स्मृतियाँ तो थीं। देव-सभ्यता के अपने जीवन-अनुभव तो थे। उनके नमूने पर बहुत-सी बातें की जा सकती थीं। और नहीं तो केवल बातें ही की जा सकती थीं। किन्तु मालूम तो ऐसा होता है कि देव-सभ्यता की विलास-प्रवृत्तियों और स्मृतियों के अलावा मनु के पास कुछ था ही नहीं।

किन्तु क्या यह सम्भव है ? क्या यह स्वाभाविक भी है ? बिलकुल नहीं।

स्वभावत , हमे फिर इसी निष्कर्ष पर आना पडता है कि वेदकालीन आख्यान एक फैण्टेसी के रूप मे ही खडा किया गया है। निश्चय ही, इस वेदकालीन कथानक के कारण कई बार हम तथ्यो की आधुनिकता मे बहते हुए आग बढना चाहते हैं कि यज्ञ, बलिवेदी, सोमपान आदि वैदिक बातें बीच मे आ जाती है।

किन्तु ध्यान मे रखना चाहिए कि वे भी फैण्टेसी का एक अग हैं। अगर बीच मे इस प्रकार की बातें न आती, तो भला बौद्ध करुणा, अहिंसा आदि मूल मनोभावो के आधुनिक सस्करण को (जो कि गाँधीवादी युग मे रवीन्द्र से लगाकर मैथिलीशरण गुप्त तक मे प्रचलित था) व्यक्त करने का श्रद्धा को अवसर कैसे मिलता? श्रद्धा फिर किन अर्थो मे आधुनिक हो पाती? निश्चय ही आधुनिक गाँधी-युग के भीतर प्रचलित भाववाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, मानवतावाद आदि अनेक सम्मिश्र विचार-प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व श्रद्धा कैसे कर सकती थी? अहिंसा से लगाकर तो कण-कण मे चेतन-तत्त्व के दर्शन करने की आधुनिक प्रवृत्ति के भीतर, एक व्यक्ति का जो वैचारिक टाइप है, वही तो श्रद्धा है।

बहरहाल, देव-सभ्यता फैण्टेसी का ही एक अग है या उसका कोई विशेष अर्थ है? क्या वह मात्र चित्र है? या उसका कोई विशेष अभिप्राय है? ये प्रश्न हमारे सामने हैं।

प्रसादजी की यह देव-सभ्यता निश्चित ही वह सामन्ती सभ्यता है जिसका अब जीर्णोद्धार नही हो सकता। वे सम्बन्ध गये। वह प्राचुर्य गया। वह विलास गया। अब केवल उसकी स्मृतियाँ शेप हैं। वह ज़माना गुज़र गया। प्रसादजी के मत मे उस ज़माने का प्रमुख लक्षण है विलासिता। अवध की नवाबी, बडे-बडे ताल्लुकेदारों की रँगरेलियाँ, तथा अपने खानदान का वह पूर्वकालीन वैभव, जिसमे विलासिता पलती थी, सब गये। प्रसादजी के मन मे उस विलासिता ने शत-सहस्र मोहमाया-जालो का विस्तार किया। लेखक का नवीन अन्तर्मुख छायावादी-व्यक्तिवादी मन उस विलासिता की भीतरी प्रवृत्तियो की प्रक्रियाओ को लिये, नवीन यथार्थ से—जिस प्रकार भी हो सके—टक्कर लेने लगा। फलत, नवीन प्रश्न उत्पन्न हुए, नयी समस्याएँ मिली। किन्तु ऐसी नवीन विचारधारा न मिल पायी, जो बाहरी सामाजिक और भीतरी व्यक्तिगत समस्याओ का आन्तरिक तथा बाह्य सामजस्य-सन्तुलन स्थापित कर सके। जो मिली, वह भाववादी, अद्वैतवादी थी, जिसमे वास्तविकता के आधार पर वास्तविक समाधान तो न था, किन्तु भाववादी-व्यक्तिवादी के लिए भाववादी-व्यक्तिवादी समाधानवत् कुछ ज़रूर था। प्रसादजी को उसे ही ग्रहण करना पडा। भारतीय परिस्थिति मे, फिर विशेषकर उत्तरप्रदेश के सामन्ती ध्वसावशेषो की घनीभूत सास्कृतिक-सामाजिक छायाओ से ग्रस्त, तथा उन्ही अभिजात सामन्ती धनी वर्गो से उद्गत, मध्यवर्ग के लिए—जिसको नयी हवाएँ तो लग रही थी, लेकिन सामाजिक-पारिवारिक क्षेत्र मे जो अभी सास्कृतिक-धार्मिक परम्पराओ तथा जातीय रीति-रिवाजो से ग्रस्त था उसके लिए—एकदम जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्यक्तिवादी-जनतन्त्रीय मूल्यो का विस्तार करना, तथा उनकी स्थापना के लिए सघर्ष करना, और उसी प्रकार उस सघर्ष को आगे बढाते हुए उन मूल्यो को वास्तविक मानवतावादी मूल्यों मे विकसित करना, असम्भव-सा ही था।

उत्तरप्रदेश तथा बगाल मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत, पूँजीवादी

अर्थतन्त्र के भीतर, सामन्ती तत्त्वों की प्रभाव-छायाएँ बड़ी सघन, बहुत लम्बी-चौड़ी और विस्तीर्ण रहीं। पूँजीवादी जनतन्त्र की (आरम्भिक) क्रान्तिकारी विचारधारा ने जीवन के सभी क्षेत्रों में इतना व्यापक, विस्तृत और उग्र रूप धारण नहीं किया, जितना कि, उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र में। बंगाल में आती हुई भाववादी, आदर्शवादी, अद्वैतवादी विचारधारा ने महाराष्ट्र के साहित्य-क्षेत्र पर उतना असर नहीं किया जितना कि उत्तरप्रदेश पर। वह भाव विचारधारा कभी भी साहित्य अथवा संस्कृति की प्रधान विचारधारा अथवा प्रवृत्ति नहीं रही। सामन्ती प्रभाव-छायाओं से जितना व्यापक और उग्र संघर्ष महाराष्ट्र में हुआ, उतना उत्तर में नहीं। इस अर्थ में वह प्रान्त उत्तर से अधिक आधुनिक रहा।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि अभेदानुभूतिशील अद्वैतवाद ने (उसकी शाखोपशाखाएँ चाहे जो हों) एक ओर नवीन व्यक्तिवाद को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान किया, किन्तु, दूसरी ओर, सामन्ती सांस्कृतिक प्रभाव-छायाओं में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, व्यापक संघर्ष का रास्ता नहीं बताया। वह दृष्टिकोण ही ऐसा था। प्रसादजी ने इस अद्वैतवाद का अपना एक नया संस्करण उपस्थित किया। उत्तरप्रदेश के मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना के वह अनुकूल ही था, इसलिए कि वह मध्यवर्ग स्वयं सामन्ती सांस्कृतिक छायाओं से ग्रस्त रहा—यद्यपि अखिल भारतीय पैमाने पर पूँजीवाद का ही विस्तार हो रहा था। राजनीति समाजनीति के क्षेत्र में इस प्रक्रिया ने गाँधीवादी अर्थ-तन्त्र की प्रवृत्ति को जन्म दिया। मशीनों के विरुद्ध, व्यापक औद्योगीकरण के विरुद्ध, राष्ट्र के केन्द्रस्थ शासनतन्त्र के विपरीत ग्राम प्रजातन्त्र की स्थापना के पक्ष का समर्थन करनेवाली विचारधारा एक ऐसी विचारधारा थी, जो भारत की अविकसित, आर्थिक अवस्था का कायम रखना चाहती थी, बढ़ते हुए पूँजीवाद के प्रति शंकालु थी, वैचारिक क्षेत्र में उसका विरोध करती थी, तथा भारत के पिछड़े हुए स्वरूप को समाप्त करने के बजाय उस स्वरूप में आदर्शवादी रंग मिलाना चाहती थी। पूँजीवाद ने कुशलता-पूर्वक इस विचारधारा का अपने लिए उपयोग कर लिया, और वह स्वयं आगे बढ़ता ही गया।

उत्तर के इस मध्यवर्ग ने सामन्ती छायाओं से मुक्ति के संघर्ष का कोई युगान्तरकारी इतिहास नहीं बनाया। लेखकों ने भी नहीं, छायावादी कवियों ने तो और भी नहीं।

किन्तु सामन्ती तत्त्वों की सामाजिक उच्चता तथा प्रभाव के बावजूद, शेष समाज पर आधुनिक रहन-सहन, पाश्चात्य विचार तथा नवीन पूँजीवादी राष्ट्रवाद का प्रभाव भी तो नहीं पड़ रहा था। यद्यपि यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि सामन्ती तत्त्वों ने सामाजिक-राजनैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अटूट समझौता कर रखा था, फिर भी उच्चकुलोद्भव कुछ सामन्ती तत्त्व राष्ट्रवादी आन्दोलन में भी आये, और कांग्रेस के भीतर उन्होंने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवाद से समझौता किया। अर्थात्, कुल मिलाकर सामन्ती तत्त्वों के प्रति जो आमूल परिवर्तनकारी व्यापक उग्र प्रतिक्रिया होनी चाहिए थी, वह न हुई। मध्यवर्ग अपनी विशाल शैक्षणिक योजनाओं की अर्थ-पूर्ति के लिए इन्हीं सामन्ती तत्त्वों की शरण में जाता था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि हमारे कतिपय छायावादी कवियों के आश्रयदाता सामन्ती तत्त्व ही थे, चाहे उन्होंने (उन सामन्ती तत्त्वों ने) सुधारवाद का, राष्ट्रवाद

ना, जामा ही क्यो न पहन रखा हो।

उधर मध्यवर्ग की सास्कृतिक चेतना भारतीय प्राचीनता की गौरव-भावना के नाम पर, सामन्ती सस्कार लिये हुए थी। उन सस्कारो को विभिन्न प्रकार से गौरव भी प्रदान किया गया, अर्थात् उन सस्कारो के नये सस्करण भी हुए।

इसका अर्थ यह नही है कि इस वर्ग ने व्यक्तिवादी धरातल पर कुछ दिया ही नही। इसका अर्थ यह भी नही है कि राष्ट्रीय मुक्ति के प्रति उसके मन मे उपेक्षा थी। इसका अर्थ यह भी नही है कि यह वर्ग नवीन मुक्तिकामी सामाजिक आन्दोलनो का विरोध करता रहा। इसका अर्थ केवल यह है कि उसके सृजनशील व्यक्तिवाद की सीमा रेखाएँ सामन्ती सस्कारो के नये सस्करणो द्वारा निश्चित की जा चुकी थी। उदाहरण के लिए, नारी-समस्या के सम्बन्ध मे वह वर्ग केवल यही तक जा सकता था, इसके आगे नही

आँचल मे है दूध और
आँखो मे पानी,
अबला जीवन हाय तुम्हारी
यही कहानी।

अथवा,

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत नग पगतल मे,
पीयूष-स्रोत - सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल मे।

नवीन व्यक्तिवाद जहाँ कही जन्मा, उसने सामाजिक कुसस्कारो तथा अन्याय-उत्पीडनो के विरुद्ध आवाज उठायी। किन्तु उसने सर्वाधिक जोर लगाया सामाजिक पारिवारिक क्षेत्र मे। पुराने सामन्ती सयुक्त परिवार टूटने लगे। नये व्यक्तिवादी परिवार बनने लगे। निश्चय ही, सामन्ती सभ्यता मे सर्वाधिक दास नारी थी। अत उसके उद्धार का व्यापक आन्दोलन समाज मे होना था। किन्तु उत्तरप्रदेश के सामाजिक धरातल पर नारी का मुक्ति-आन्दोलन क्षीण रहा, जबकि अन्य प्रान्तों मे यह अत्यन्त प्रमुख आन्दोलनो मे से एक हुआ। हमने नारी को देवी बनाया, अप्सरा बनाया, उसके सौन्दर्य का, कोमलता का आदर्शीकरण किया, किन्तु सामन्ती सामाजिक वेडियों से उसकी मुक्ति का कोई समाजव्यापी विशाल, निर्णयकारी आन्दोलन हमारे यहाँ खडा न हो सका। नारी को हमने श्रद्धा बनाया, नारी की दुःख-भरी कष्टग्रस्त स्थिति तो हमने देखी (**नारी**—सियारामशरण गुप्त, **कल्याणी**—जैनेन्द्र, **त्यागपत्र**—जैनेन्द्र, **यशोधरा**—मैथिलीशरण गुप्त), किन्तु उसके उद्धार-निर्णय के बीच सामन्ती-प्रभावग्रस्त हमारी सारी उच्च मध्यवर्गीय 'भारतीय सस्कृति' आडे आ गयी।

नवीन व्यक्तिवाद ने—वह जहाँ कही भी हो—सामन्ती वेडियो से मनुष्य की निविड प्रवृत्तियों को भी मुक्त किया, अर्थात् उसके नये जीवन-मूल्यो और नये आदर्श तैयार किये, जो व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा जनतन्त्री भावना के अनुकूल थे। छायावाद मे इसके प्रथम स्पन्दन हम सुनायी देते हैं। किन्तु जिस समाज मे नारी की वास्तविक सहचरता तथा वास्तविक स्वतन्त्रता की यथार्थ भावना के आधार पर, रोमास की सामाजिक सम्भावना नही हो, वहाँ अन्तर्मुख रूप-सम्मोह

के अतिरिक्त आत्मग्रस्त वासना के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? अधिक से-अधिक हम इस स्थिति म देवसेना और श्रद्धा-जैसी आदशमती नारियां ही तो खड़ी कर सकते हैं। यह आकस्मिक बात नही है कि सामाजिक सघर्ष की अग्नि परीक्षाओ म से गुजरनेवाली महादेवी वर्मा जैसी महिलाएँ इससे अधिक और कह ही क्या सकती है प्रियतम को भाता है तम के पर्दे म आना ओ नभ की दीपावलियो तुम पल भर को बुझ जाना ?

हम फिर से यह बात कह रह हैं कि अद्वैतवाद स युक्त होकर व्यक्तिवाद ने निबिड वासनाओ को औचित्य प्रदान किया उनको नये जीवन मूल्य दिये। किन्तु सामाजिक सघर्ष से बचे रहन के कारण उसक परिस्फुटित न हो सकने के फन स्वरूप व्यक्तिवाद ने निबिड वासनाओ तमन्नाओ और अरमानो आशा आकाक्षाओ को तो घनीभूत किया किन्तु उनकी वास्तविक पूर्ति क साधनो के औचित्य की सामाजिक स्थिति-परिस्थिति तो उत्पन्न की ही नही। फनत छायावाद म रूप सम्मोह न अपना मायाजान फैनाया। कल्पना न इस मायाजान म रग भरे। परिणाम यह हुआ कि वास्तविक प्रणय भावना का छायावाद म अधिक विकास न हो सका वह वास्तविक प्रणय भावना जो वास्तविक मानवीय धरातल पर अनुभव की जाती है। ईश्वर के नाम पर ही क्या न सही प्रणय की वास्तविक भावना मध्ययुगीन भक्ति काव्य म जितनी शुद्ध परिष्कृत और मानवीय रूप म प्राप्त होती है उतनी भी हम छायावाद मे नही मिलती। तो व्यक्तिवाद ने हमारी वासना को घनीभूत किया रूप सम्मोह को घनीभूत किया किन्तु उसकी पूर्ति की सामाजिक विकास स्थिति के अभाव मे वास्तविक प्रणय वास्तविक सहचरत्व उपस्थित नही किया जा सका। फलत प्रणय मे परिणत न हो सकनेवाना वह रूप सम्मोह रूप सम्मोह ही रहा उसमे मनुष्यता न आ पायी।

फलत हमारे प्रसादजी की दृष्टि जब देव-सभ्यता की ओर मुडी तब उन्हे उसमे प्रमुख रूप से विलास लोलुपता ही दिखायी दी। ह्रासकालीन भारतीय सामन्ती समाज-व्यवस्था के अन्तगत सर्वोच्च सामन्ती तत्त्वो मे अवध के वाजिद अली शाह से लेकर उत्तरप्रदेश के बड-बड ताल्लुकेदारो म यह विलास-वासना नही थी यह कौन कह सकता है? ब्रिटिश साम्राज्यशाही से समझौता कर चुकने के बाद सामन्ती तत्त्वो के पास अगर किसी बात का सामर्थ्य रह गया था तो केवल लोलुपता का ही। प्रसादजी की नवयौवन-कालीन अनुभव भावनाएँ भी ऐसी ही रही होगी अन्यथा **आँसू** मे विगत वैभव विलास वासना की स्मृतियो के इतने कमनीय चित्र उपस्थित न किये जाते।

ऐस थे य सामन्ती देवगण जो अपन को अमर समझत थ। वह लम्बा चौडी सामन्ती सभ्यता जो अनगिनत सदियो से चनी आ रही थी डूब मरी। इस सभ्यता की एक विशेषता यह भी तो थी

सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल वैभव आनन्द अपार
उद्वलित लहरो सा होता
उस समृद्धि का सुख-सचार।

प्रसादजी के व्यक्तित्व, उनके काव्य, उनके जीवन तथा कामायनी में वर्णित देव-सभ्यता के चित्रों के सामाजिक-ऐतिहासिक विश्लेषण से, हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ा है कि देव-सभ्यता वह ह्रासकालीन सामन्ती सभ्यता है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजीवाद के धक्कों से, विश्व-पूँजीवाद के भूकम्पों से, धराशायी हो गयी। निश्चय ही, इस सामन्ती सभ्यता के लिए यह प्रलय ही था। पूँजीवाद के देशी और विदेशी प्रहार उसके लिए प्रलय के समान ही रहे, जिनकी युगान्तरकारी शक्तियों पर उसका कोई ज़ोर न था। वह सभ्यता तो अपनी विलास-भंगिमा की बारीकियों में ही डूबी हुई थी, कि एकाएक बन्दूकें चलने लगीं, तूफ़ान चलने लगा, और सामन्ती शासन इस जल-प्रलय में सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इस तथ्य पर रोने के लिए कुछ उसके ऐसे उत्तराधिकारी बच रहे, जिन्होंने उस विलास-वासना का सुख देखा था। प्रसादजी ने इस देव-सभ्यता का वर्णन इस प्रकार किया है :

भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह
प्रलय-जलधि में संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह।
विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये,
आह! जले अपनी ज्वाला से
फिर वे जल में गले, गये।
कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
अरुण किरण-सी चारों ओर,
सप्त सिन्धु के तरल कणों में
द्रुम-दल में आनन्द-विभोर।
शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पदतल में विनम्र विश्रान्त,
कँपती धरणी उन चरणों से
होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।
स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे, अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि।

इन पंक्तियों में पहली बार सामन्ती सभ्यता की अत्याचारी शोषण-नीति, आक्रमणशीलता का वर्णन आया है। हम फिर से दुहरा दें

शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पदतल में विनम्र विश्रान्त,

कँपती धरती उन चरणो से
होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।

निश्चय ही, इस प्रकार के आक्रमणो और युद्धो का विनाशकारी परिणाम होने ही वाला था

स्वय देव थे हम सब, तो फिर
क्यो न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे, अचानक हुई इसी से
कडी आपदाओ की वृष्टि।
गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर-बालाओ का शृगार,
उषा-ज्योत्स्ना-सा यौवन स्मित
मधुपसदृश निश्चिन्त विहार।

पराजय के फलस्वरूप सुखभोग की वह हानि मनु के मन मे टीस उठाती रही। और इस सामन्ती विलास का जरा वर्णन तो देखिए

चिर-किशोर-वय नित्य विलासी
सुरभित जिससे रहा दिगन्त,
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह
मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त।
कुसुमित कुजो म वे पुलकित
प्रेमालिगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें
और न सुन पडती अब बीन।
अब न कपोलो पर छाया-सी
पडती मुख की सुरभित भाप,
भुज-मूलो में शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।
वह अनग - पीडा - अनुभव - सा
अगभगियो का नर्तन,
मधुकर के मरन्द उत्सव-सा
मदिरभाव से आवर्तन।
सुरा-सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।
विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाय चले गये,
आह! जले अपनी ज्वाला से
फिर वे जल में गले, गये।

और इस प्रकार की देव-सभ्यतावाली अप्सरा का पुत्र मनु विपण्ण होकर अपने बारे मे यह कहता है

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह, सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ।

यह पराजय-भावना मनु की एक बहुत बड़ी विशेषता रही है। यह भावना उस सभ्यता की हार के साथ मनु की एकात्मता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इसलिए निम्नलिखित छन्द में वह अपने बारे में जो कुछ कहता है, वह ठीक उस सभ्यता के ध्वंसावशेषों पर भी लागू है

ओ जीवन की मरुमरीचिका
कायरता के अलस विषाद,
अरे, पुरातन अमृत अगतिमय
मोह-मुग्ध जर्जर अवसाद।

सामन्ती मोहावरणग्रस्त व्यक्ति की यह कायरता इसीलिए उत्पन्न है कि उसमें सामन्ती सभ्यता की पुनःस्थापना के लिए भी कोई विशेष उत्साह उत्पन्न हो सकना सम्भव नहीं है। वह सम्भव इसलिए नहीं है कि, यद्यपि मनु को सामन्ती विलास-वासना-सुख बहुत प्यारा है, किन्तु उसके अनिवार्य विनाश की भावना भी उसके मन में थी। और वह विनाश अनिवार्य रूप में घटित इसलिए हुआ कि एक ओर विलास-वासना के मद में देवगण डूबे हुए थे, किन्तु, दूसरी ओर उन्हीं के चरणों से धरती प्रतिदिन आक्रान्त होती रहती थी। इसलिए देव-सभ्यता के विनाश की अवश्यम्भाविता भी मनु के मन में रही। मनु स्पष्ट रूप से यह कहता है-

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में,
भूले थे हाँ, तिरते केवल
सब विलासिता के नद में।

अर्थात्, प्रकृति की दुर्जेयता के बावजूद, अपनी पराजयों के बावजूद, वे देव विलासिता में ही डूबे हुए थे।

यह किस सभ्यता का चित्र है? क्या उस शासक सामन्ती वर्ग का चित्र नहीं है जो, अंग्रेजों के देश-व्यापी आक्रमणों के बावजूद, अपनी ही विलास निद्रा में सोया हुआ था? और यहाँ 'प्रकृति' किस शक्ति की प्रतीक है 'प्रलय' किस बात का संकेत है? ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तलवारशाही का। और फिर उसे 'प्रकृति' क्यों कहा गया? इसलिए कि प्रकृति के कोप पर, भूकम्पों पर, अवर्षण पर, जल प्रलय पर, कम-से कम हिन्दुस्तान में अब तक किसी का वश नहीं रहा। उसी प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद पर भी किसी का वश न चलता था। किन्तु दोष किसका है? दोष सामन्तशाही का है, जिसने, प्रसादजी के अनुसार, अपनी शक्ति के मद में और विलास की मोह-निद्रा में अपना सब कुछ खो दिया

शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पदतल में विनम्र विश्रान्त,
कँपती धरणी उन चरणों से
होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।

स्वय देव थे हम सब, तो फिर
क्यो न विश्रृखल होती सृष्टि,
अरे, अचानक हुई इसी से
कडी आपदाओ की वृष्टि।
गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर-बालाओ का शृगार।

जरा ध्यान दीजिए इन दो पक्तियो पर 'स्वय देव थे हम सब, तो फिर क्यो न विश्रृखल होती सृष्टि' और 'कँपती धरणी उन चरणो से होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।' 'देव' शब्द मे कितना व्यग्य भरा हुआ है!

ध्वसावशिष्ट सामन्ती तत्त्वो के पराजय-ग्रस्त निराशा-भाव को प्रसादजी छायावादी-व्यक्तिवादी शब्दावली मे, मनु द्वारा इस प्रकार कहलाते हैं

ओ जीवन की मरुमरीचिका,
कायरता के अलस-विपाद,
अरे, पुरातन अमृत!अगतिमय
मोह-मुग्ध जर्जर अवसाद।
मौन! नाश विध्वस! अँधेरा,
शून्य बना जो प्रकट अभाव!
वही सत्य है अरी अमरते,
उसको यहाँ कहाँ अब ठाँव!

विलास-ग्रस्त सामन्ती सभ्यता इस प्रकार नष्ट हुई। किन्तु देव-सभ्यता के पुत्र मनु मे, विलास-सुख-स्मृति के अतिरिक्त, उसके अनिवार्य विनाश की भावना भी बसी, और मनु को नयी जिन्दगी की तलाश हुई।

प्रसादजी की साहित्यिक आत्मचेतना की आँखें तब उन्मीलित हुई थी, जब देश म भारतीय पूँजीवाद का प्रारम्भ हो चुका था। उदार मतवादी, पाश्चात्य-शिक्षा-प्राप्त नेतागण सरकार से शासनाधिकारो की माँग कर रहे थे। उधर हिन्दी-साहित्य मे देशभक्तिपूर्ण, साम्राज्यवाद-विरोधी गीत गाये जाने लगे थे, भारतीय कष्ट और दु ख की साहित्यिक अभिव्यक्ति जोरो से शुरू हो चुकी थी। अतएव प्रसादजी को अपने कैशोर्य-काल मे एक ओर तो उदार-मतवादी राजनैतिक नेताओ की देशव्यापी कीर्ति, तथा, दूसरी ओर, भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानो द्वारा भारतीय सस्कृति की गरिमा की पुन स्थापना, तीसरी ओर, रामकृष्ण, विवेकानन्द-जैसे प्रभावशाली सन्त-दार्शनिक, चौथी ओर, बगाल का साहित्यिक-सास्कृतिक नवोन्मेष तथा ब्रह्मसमाज आदि का सुधारवादी आन्दोलन प्राप्त हुआ था। अग्रेजी साम्राज्यशाही के बावजूद, देश के हृदय मे यह नवीन परिस्फुटन प्रसादजी की आत्मा म नवीन परिस्पन्दनो को जाग्रत करने लगा। उनकी सौन्दर्य-वादी तथा अन्वेषणशील भावनाएँ भी जाग उठी। छायावाद का विकसन-क्रम आरम्भ हुआ।

नवीन पूँजीवादी उत्थान-काल मे नया उन्मेषशील व्यक्तिवाद भी अपने समस्त आनन्द के साथ विकसने लगा। इस वास्तविकता का प्रतिबिम्ब प्रसादजी ने

'आशा' सर्ग मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है .

यह क्या मधुर स्वप्न-सी झिलमिल,
सदय हृदय मे अधिक अधीर।
व्याकुलता-सी व्यक्त हो रही,
आशा बन कर प्राण समीर।
यह कितनी स्पृहणीय बन गयी,
मधुर जागरण-सी छविमान।
स्मिति की लहरों-सी उठती है,
नाच रही ज्यो मधुमय तान।
जीवन जीवन की पुकार है,
खेल रहा है शीतल दाह।
किसके चरणों मे नत होता,
नव प्रभात का शुभ उत्साह।
मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यो,
लगा गूँजने कानो म।
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानो मे।

यह 'मैं' वाली आत्मचेतना अब अपन को पूरे ज़ोर से, अपने रक्त की पूरी ऊष्मा मे, स्वय को सस्थापित करने लगी। किन्तु दश के वातावरण म—विशेषकर हिन्दी के पुराणपन्थी वातावरण मे—यह नया रोमाण्टिक व्यक्तिवाद निज को अकेला अनुभव करता था। इसलिए

विजन जगत् की तन्द्रा म तब
चलता था सूना सपना।
ग्रहपथ के आलोक वृत्त से
काल जाल तनता अपना।
प्रहर-दिवस रजनी आती थी
चल जाती सन्देश-विहीन।
एक विरागपूर्ण ससृति म
ज्यों निष्फल आरम्भ नवीन।

किन्तु इस विरागपूर्ण ससृति म निष्फल आरम्भ को तुरन्त ही शक्ति भी मिली। क्योकि यद्यपि यह आरम्भ निष्फल-सा लगता था, फिर भी—

धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ।
जिसमे शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

यद्यपि ससृति विरागपूर्ण थी, किन्तु प्रकृति (ऐतिहासिक विकास) अपनी मनोहर रूप माया दिखला रही थी। प्रकृति के सागर,चाँदनी, समीर—सभी एक नवीन उन्मेष के स्पन्दनो से उदास व्याकुल थे। इसीलिए प्रकृति यह दृश्य प्रकट कर रही थी

नीचे दूर दूर विस्तृत था
ऊर्मिल सागर व्यथित अधीर,
अन्तरिक्ष में व्यस्त उसी-सा
रहा चन्द्रिका-निधि गम्भीर।

जब आकाशीय चाँदनी के नीचे सागर इस प्रकार ऊर्मिल, व्यथित और अधीर था, उस समय—

खुली उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें।
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।
व्यक्त नील में चल प्रकाश का
कम्पन सुख बन बजता था।
एक अतीन्द्रिय स्वप्न-लोक का
मधुर रहस्य उलझता था।
नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिरपरिचित-सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।

फिर सौन्दर्य-भावना भी उत्पन्न हुई, जिसमें सौन्दर्य-तृषा, वासना तथा कमनीय कल्पना का योग हुआ। रात्रि अब मधुर हो उठी। वह विश्व-कमल की मधुर मधुकरी हो गयी। इसीलिए कवि ने कहा :

विकल खिलखिलाती है क्यों तू,
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिनकणों फेनिल लहरों में
मच जावेगी फिर अन्धेर।
पगली हाँ, सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख बिखरती है मणिराजी,
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नीलवसन क्या,
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता,
तेरी छवि भोली भाली।

यह है व्यक्तिवादी छायावादी भावुकता के प्रारम्भिक विकास का दृश्य। इस नवयौवनकालीन उन्मेषशीलता को कभी प्रकृति पर आरोपित कर, कभी सुकुमार वातावरण के मनोहर दृश्यों को प्रस्तुत कर, जिस प्रकार प्रसादजी ने चित्रित किया है, वह बहुत ही मनोहर है। किन्तु इसके साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब तक देश में नवीन सामाजिक-राजनैतिक-पूँजीवादी-राष्ट्रवादी सांस्कृतिक उत्थान न होता, और उस उत्थान की चतुर्मुखी लहरें पूर्व और दक्षिण से आकर सारे देश को अपने में सराबोर न कर लेतीं, तब तक न रोमैण्टिक व्यक्तिवाद के

उल्लास का ही जन्म होता, न उसे सांस्कृतिक-साहित्यिक भूमि पर अधिष्ठित ही किया जा सकता था, न उस रोमैण्टिक व्यक्तिवाद में अपनी स्वयं की आत्मचेतना का आग्रह दुर्दम हो पाता, न उसमें देश, विश्व, मानवता आदि से सम्बन्धित आशा-आकांक्षाओं का समाहार ही हो पाता। यदि इस रोमैण्टिक व्यक्तिवाद में सबलता न आती, तो आगामी उन समस्याओं का जन्म भी न होता जिनका चित्रण मनु की समस्या के रूप में उपस्थित हुआ है। अतएव जब छायावादी-व्यक्तिवादी उत्थान की बात कही जाती है, रोमैण्टिक व्यक्तिवादी भावुकता की बात कही जाती है, तब यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय पूँजीवाद तथा देश के मध्यवर्ग का इतना विकास हो चुका है कि वह रोमैण्टिक व्यक्तिवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति कर सके।

अब छायावादी-व्यक्तिवाद को एक ऐसे मनोहर मूर्त व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, जिसके चरणों में वह अवनत हो सके, जिस व्यक्तित्व में वह अपने सम्पूर्ण भाव-स्वप्नों का, भावादर्शों का समाहार देख सके, जिस पर वह मन्त्रमुग्ध होकर अपने को सम्पूर्ण रूप से न्योछावर कर सके, जीवन समर्पित कर सके।

यहाँ प्रसाद ने इस छायावादी-व्यक्तिवादी रोमैण्टिक आवश्यकता की पूर्ति श्रद्धा द्वारा प्रस्तुत की है।

इस आदर्श-व्यक्तित्व के सामीप्य-लाभ की अनुपस्थिति में रोमैण्टिक व्यक्तिवाद जो निःसंगता अनुभव करता है, जो अकेलापन अनुभव करता है, जीवन में जो विफलता अनुभव करता है, वह तो इन पंक्तियों में प्रकट होती ही है

शैल-निर्झर न बना हतभाग्य,
गल नहीं सका जो कि हिम-खण्ड।
दौड़कर मिला न जलनिधि-अंक,
आह, वैसा ही हूँ पाखण्ड।

किन्तु इस व्यक्तिवाद की दूसरी सीमाएँ भी प्रकट होती हैं। और वे ये हैं कि उसमें कर्म के अनुष्ठान का आत्मविश्वास नहीं है। प्रसादजी का ज़ोर इस बात पर नहीं है कि मनु ने अपने नवीन जीवन के कर्म में जो सफलताएँ प्राप्त कीं, उन्होंने उसको आत्मविश्वास दिलाया। यदि प्रसादजी का ज़ोर कर्म-अनुष्ठान के आत्मविश्वास पर होता, तो मनु दूसरे 'टाइप' का व्यक्ति होता। किन्तु प्रसादजी मनु के चरित्र द्वारा एक विशेष प्रकार के 'टाइप' का निर्माण कर रहे हैं, जिस कर्म के द्वारा सृजनशील आत्मविश्वास प्राप्त नहीं होता। 'चरैवेति-चरैवेति' अथवा 'एकला चलो रे' वाली अन्त प्रवृत्ति मनु में नहीं है। कर्मशील पुरुष का व्यक्तित्व मनु का व्यक्तित्व नहीं है। उसका प्रधान लक्ष्य जीवन निर्माण नहीं है। जीवन-निर्माण के लिए लक्ष्य के प्रति आत्मोत्सर्ग करने की, कष्ट सहन करने की शक्ति की यथार्थ-ग्राही दृष्टि की, अविरत श्रम की, अविरत उत्साह की, आवश्यकता होती है। मनु को अपने कर्म में इस प्रकार का उत्साह नहीं है। अब तक नवीन बाह्य जीवन में कर्म ही मनु का प्रधान अंग रहा है—उसके बिना तो वह जीवित ही नहीं रह सकता था—किन्तु उसके प्रति उसे कोई विशेष उत्साह नहीं है (क्योंकि उसमें कर्म के अन्त स्रोत नहीं हैं, रॉबिन्सन क्रूसो में वे थे), इसलिए वह सूक्ष्म रूप से अपने इस भीतरी अभाव से भी परिचित है। वह कह उठा

शैल - निर्झर न बना हतभाग्य,
गल नही सका जो कि हिम - खण्ड।
दौडकर मिला न जलनिधि - अक,
आह, वैसा ही हूँ पाखण्ड।

किन्तु अपने बारे मे इस प्रकार सोचने और कहने की उसे कोई प्रसग सिद्ध आवश्यकता ही नही थी। फिर भी उसने आत्मस्वीकृति के रूप म यह कहा। अपने वास्तविक जीवन की परिस्थिति से जूझने के लिए, आवश्यक कर्म-व्यवहार आदि मे मन न लगने के कारण, (आवश्यकता की भावना के अनुसार कर्म की वास्तविकता प्रस्तुत न करने के कारण,) भीतर जो ग्लानि, जो कचोट पैदा होती है, आत्मबल की हीनता का जो भाव उत्पन्न होता है, वह एक गुत्थी बनकर मन म बैठा रहता है। इसके साथ ही, अप्रिय कार्य न करने की प्रवृत्ति के पीछे जो एक भीतरी स्थायी अहकार होता है, वह, ग्लानि के वशीभूत हो जाने के बावजूद, शिला सा अडा रहता है, भले ही उस समय वह ग्लानि के पानी से घुल रहा हो। मनु का यह चरित्र, जो अन्त तक कायम रहता है, इन्ही उपर्युक्त शब्दो मे प्रकट हुआ है। निर्माणकारी लक्ष्यो की ओर प्रवृत्त होनेवाली कर्मभावना से रहित जो छायावादी रोमैण्टिक व्यक्तिवाद है, उसका एक 'टाइप' मनु इसी प्रकार का है।

ध्यान म रखने की बात है, मनु अपने को 'एक उल्का-सा जलता भ्रान्त, शून्य मे फिरता हूँ असहाय' कहता ह, स्वय को पाखण्ड कहता है। किन्तु श्रद्धा तो अपने बारे मे यह नही सोचती, यद्यपि वह भी नि सग रही है और उसने भी सघर्ष किया है। मनु की वास्तविक गुत्थी वह समझती है। इसलिए वह कह उठी

दु ख के डर से तुम अज्ञात,
जटिलताओ का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।

कार्य-जटिलताओ की प्रक्रिया मे जो कष्ट होते है, उनको सहन कर, बहुत धैर्य तथा साहसपूर्वक, अन्तिम विजय मे अपना विश्वास न खोते हुए, जो लोग आगे बढ जाते हैं, वे ही जीवन-निर्माण कर सकते हैं। अन्य जन इस कार्य जटिलता से घबराते हैं, इसलिए किसी वास्तविक मूर्त्त लक्ष्य के प्रति अनुशासन-बद्ध गति से वे चल ही नही सकते। फलत उनका मन भी उस भविष्यत् से अनजान बना बैठा रहता है, जो भविष्य उनकी वास्तविक प्रतिभाओ, क्षमताओ तथा सृजनशील ज्ञान-शक्तियो की विकसित सक्रियता के यथार्थ परिणाम के रूप मे दृष्टिगोचर हो सकता है। अपने इस स्वाभाविक भविष्यत् के प्रति अनजान बने बैठे रहने का मनोवैज्ञानिक अर्थ केवल यही है कि वे इस प्रकार के अनजानपन को अपनी अकर्मण्यता के लौह-कवच के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। किन्तु इस प्रकार की अपनी गतिविधि से स्वय वे नित्य अपरिचित रहे, यह आवश्यक नही। कम-से-कम मनु तो इससे परिचित है। इसलिए वह अपने बारे मे यह कहता है 'कायरता के अलस *विषाद*'।

इस विवेचन का अर्थ केवल यही है कि मनु का लक्ष्य जीवन निर्माण नही। जीवन-निर्माण के लिए जिस व्यापक भावभूमि की आवश्यकता होती है, उसके विविध क्षेत्रो पर अपने अधिकार के लिए जिस सघर्ष-विवेक की आवश्यकता होती

है, वह मनु मे नही है। जीवन निर्माण का स्वप्न मनु का स्वप्न नही है। निर्माण-शील व्यक्तियो मे यह स्वप्न, कर्म-दिशाओ की ओर गति की परिवृद्धि करने के लिए हृदय को भीतर से धक्का मारता है। किन्तु मनु के लिए यह सबकुछ नही है। कर्मक्षेत्र मे भी व्यक्तिवाद होता है, अह-प्रेरित गति होती है, भावुकता होती है, निर्माण-स्वप्नो म (चाहे वे स्वार्थमूलक ही क्यो न हो) रोमैंण्टिसिज्म होता है, दुनिया के प्रति रोमैंण्टिक दृष्टि हो सकती है, अपन कर्तव्य-कार्य के प्रति रोमैंण्टिक दृष्टि भी सम्भव है (जैसे कोई बचपन मे ही यह समझे कि वह नैपोलियन होनेवाला है)। किन्तु उसकी जीवन-निर्माणकारी (चाहे वह जीवन निर्माण अह प्रेरित, स्वार्थमूलक ही क्यो न हो) कर्मण्यता नही छूटती, तथा उसके विशिष्ट कार्य एक [illegible]

सगठन इस प्रकार के अन्तर्मुख वासना-लक्ष्यो की पूर्ति से अपने को बाधित नही करता। वह अपने को इन क्षणो पर समर्पित नही कर देता।

साराश यह है कि मनु कर्म-प्रधान व्यक्ति नही है। वह टाइप' ही दूसरा है। उसमे वासनाशीलता इतनी प्रधान है कि वह किसी ध्रुव लक्ष्य (चाहे वह लक्ष्य स्वार्थप्रेरित ही क्यो न हो) के प्रति अनुशासित गति से चल नही सकता। वह एक भावुक, छायावादी, अन्तर्मुख व्यक्ति है (जिसम अहकार, अधिकार-भावना तथा मन स्थितियो के अनुसार अपनी गति को दिशाओ को बदलने की प्रवृत्ति है, जैसा कि आगे चलकर प्रकट होगा)।

प्रसादजी ने मनु को एक विशेष प्रकार के टाइप के रूप मे प्रस्तुत कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। अतीत स्मृतियो मे रमनेवाले मनु-मानस के लिए श्रद्धा का यह कथन कितना युक्तियुक्त है

प्रकृति के यौवन का शृगार
करेंगे कभी न बासी फूल।
काम मगल स मण्डित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

मनु के विषादमय, नि सग, रोमैंण्टिक, छायावादी भावुक मन के लिए श्रद्धा (सूखी भूखी धरती पर बरसात जैसा) मधुर सन्देश देने लगी। उसकी बातो मे कही भी अस्वाभाविकता नही है, कही भी उलझाव नही है। जीवन के प्रत्येक क्षण को जो व्यक्ति आशावादी [illegible]

स्वरूप-ज्ञान है [illegible] पुरुष के कमजोर अन्धकार-
[illegible] उसमें कठिन कार्यों के प्रति
[illegible] न की प्रेरणा प्रदान करती
है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रकार की स्त्री शिक्षिता हो। स्त्री की उपर्युक्त शक्ति उसकी भीतरी मनुष्यता है, जो अपने आराम, सुविधा, वासना के टुच्चे,

ओछे, टटपूँजियेपन से ग्रस्त नहीं होती। हमारे गरीब भारतीय जनों में (जैसे कि सभी देश के लोगों में) ऐसी स्त्रियाँ अनगिनत हैं। काश, हमारी गरीब स्त्रियाँ आज मुक्त हो पाती, शिक्षित होकर प्रभावकारी हो पाती। अतएव श्रद्धा का जो 'टाइप' है, वह भारतीय जनों में (जैसा कि अन्य देशों की जनता में) प्रचुर संख्या में वर्तमान है।

इस 'टाइप' को, उसके अपने वास्तविक जीवन-स्वरूप से अलग कर, प्रसादजी जिस प्रकार आगे चलकर उसका (श्रद्धा का) वायवीय आदर्शीकरण करते हैं, वहाँ वे नितान्त अवास्तव हो उठते हैं, भले ही उनके द्वारा प्रदत्त प्रतीकत्व का उसस निर्वाह होता रहे।

रोमैण्टिक उत्थानशील भावुक व्यक्तिवाद को जब आत्मविश्वास मिला, अपने भविष्य के प्रति आस्था मिली, तथा अपने जीवन-कार्य की महत्ता ज्ञात हुई, तब वह फलने-फूलने और विकसने लगा। उसकी निःसंगता छूटी, एकाकीपन हटा। यह इसलिए हुआ कि उसने अपने सामने अब वृहत्तर आदर्श रखे। कल्पना से नहीं, वरन् साक्षात् जीवन-सम्बन्धों से, मानव-सम्बन्धों से उसने अपने को बाँध लिया। श्रद्धा कहती है

> *दया, माया, ममता लो आज*
> मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
> हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ
> तुम्हारे लिए खुला है पास।

प्रसादजी ने इस सबल व्यक्तिवादी भावुकता से प्रेरित होकर अपने ऐतिहासिक नाटकों और कहानियों में जो पात्र प्रस्तुत किये हैं, वे मधुर और भव्य मानव-गरिमा से सम्पन्न हैं। मानव-मानव के बीच परस्पर-सम्बन्धों की दृढ़ आस्था के आधार पर ही उन पात्रों की भावुकता तथा उनका आदर्शवाद खड़ा किया गया है। प्रसादजी के सबल पक्ष का विस्तार कामायनी में, अथवा उनके इतर काव्य में, उतना नहीं है जितना कि उनके नाटकों तथा कहानियों में है। यह बिलकुल सही बात है कि प्रसादजी की भावुकता की मूलभित्ति मानव-सम्बन्धों के दृढ़ आधार पर खड़ी हुई है। इन्हीं सम्बन्धों के सामाजिक-राष्ट्रीय विस्तार के फलस्वरूप उन्होंने प्राचीन भारतीय गौरव के ऐतिहासिक चित्र (अपनी रोमैण्टिक भावभूमि पर) प्रस्तुत किये, और उनमें हमारे प्रथम भारतीय राष्ट्रीय जागरण के स्पन्दनों की वेला सामने आयी। इस अर्थ में प्रसादजी की कहानियाँ और नाटक (चाहे उनकी पार्श्वभूमि ऐतिहासिक ही क्यों न हो) छायावादी युग के सर्वोत्कृष्ट भावों और आदर्शों से सम्पन्न हैं। अतएव प्रसादजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे कामायनी में भी उन देश-व्यापी जीवन-आशाओं को व्यक्त करें। श्रद्धा कहती है :

> डरो मत अरे अमृत सन्तान
> अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
> पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
> खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावो का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरो से अंकित हो नित्य।
विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर बिखरें ग्रह - पुंज
और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण।
उन्हे चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खडी सानन्द,
आज से मानवता की कीर्त्ति
अनिल - भू-जल मे रहे न बन्द।
जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप कच्छप डूबें - उतरायँ,
किन्तु, वह खडी रहे दृढ मूर्ति,
अभ्युदय का कर रही उपाय।
विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का वढता व्यापार,
हँसाता रहे उसे सविलास,
शक्ति का क्रीडामय सचार।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय।

ये पक्तियाँ इस बात की साक्षिणी हैं कि हमारा छायावादी रोमैण्टिक व्यक्ति-वाद देशव्यापी जीवन-आशाओ तथा आदर्शों से न केवल समन्वित हो चुका था, वरन् वह अब इतना सबल भी हो गया था कि वह देश और व्यक्ति मे परिव्याप्त मानव-गरिमा को प्रस्तुत भी कर सके। 'श्रद्धा' सर्ग इस बात का जीवन्त प्रतीक है कि राष्ट्रवाद मे अब इतना आत्म-गौरव तथा आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया था कि वह अब अपने को वर्तमान तथा भविष्य का निर्णायक-निर्माता समझता था, तथा अपनी अन्तिम विजय मे उसे सम्पूर्ण विश्वास हो गया था—ऐसा विश्वास जो जीवन-तथ्यो पर, मानव-सम्बन्धो पर, जीवन की सृजन शक्तियो पर, आधारित है।

सामन्ती सभ्यता का विध्वस हो चुका। नवीन पूँजीवादी समाज रचना के भीतर राष्ट्रवाद अब जम चुका, तथा काव्य मे छायावादी भावुकता, रोमैण्टिक व्यक्तिवाद नवीन जीवन-व्याकुलताओ को लेकर अपना अगला कदम बढा चुका था।

अब हमारा लेखक अपने ढग से आगे बढता है। काम' सर्ग म, भाववादियो भाति, मानव जगत् का मूल गति-सचालन-सूत्र 'काम' को सौंप दिया जाता है।

स्पृहा-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तथ्य सबल कल्पना द्वारा व्यापक कर दिये हैं। कर्म जगत् के भीतर भी काम-वृत्ति (सेक्स नहीं) को मान्यता देकर, तथा स्त्री पुरुष-सम्बन्धी भावना के भीतर काम-वृत्ति को मानकर, प्रसादजी ने काम-शक्ति का मूर्तीकरण किया है। यह वह इसलिए कर सके कि कर्म उनके लिए कर्म-सघर्ष होते हुए भी, उसके भीतर भी तो स्पृहा है, किन्तु इस स्पृहा का, उस रमणीय लोक से कोई सम्बन्ध नही, जिसे हम काव्य-जगत् कह सकते हैं।

काम', 'वासना' तथा लज्जा' सर्गों म, प्रणय-जीवन सम्बन्धी प्रारम्भिक विकास और अन्तिम परिणाम से सम्बन्धित जीवन तथ्यो को मार्मिकता, यथार्थ ग्राहिता तथा पूरी शक्ति के साथ इस प्रकार उभारा गया है कि निश्चय ही प्रणय-जीवन के वास्तविक सत्यो के उज्ज्वल रूप म अपनी सम्पूर्ण मानव-गरिमा के साथ प्रकट हुए है।

चूंकि प्रसादजी भाववादी-आदर्शवादी विचारक हैं, इसलिए वे मनोवैज्ञानिक तथ्यो को ही अन्तिम मानकर उन्ही का सामान्यीकरण करते हैं। किन्तु वे कभी कभी भाववाद-आदर्शवाद के उस वास्तविक पूंजीवादी स्वरूप पर आ टिकते हैं जिसका सम्बन्ध ससार स, समाज से, होता है। कभी-कभी यह प्रवृत्ति बहुत खतरनाक मान्यताओ को जन्म देती है। इनम से एक का उदाहरण तो 'काम' सर्ग म ही दे सकते हैं। काम अपने बारे म कहता है

यह नीड मनोहर कृतियो का,
यह विश्व कर्म रग - स्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ

है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो म अगर हम जीवन-स्पर्धावाले सिद्धान्त (स्ट्रगल फार ऐक्ज़िस्टेंस एण्ड दि सर्वाइवल ऑफ़ दि फिटेस्ट) को लागू करते हैं, उसे जीवन-व्यवहार का सिद्धान्त बना लेते हैं, तो बडो द्वारा छोटो के खाये जाने के अनौचित्य का उद्घाटन करने की बजाय हम उसका औचित्य प्रस्थापित करते हैं। किन्तु 'काम' सर्ग मे तो ठीक इसीलिए इस विश्व को मनोहर कृतियो का रगस्थल कहा गया है कि उनमे प्रतिस्पर्धा है, और अपन बल के अनुसार ही मनुष्य के जीवन की सम्भावनाएँ भी हैं।

किन्तु आगे चलकर प्रसादजी इस दृष्टिकोण को त्याग देते है। वे इसे इडा का दृष्टिकोण मानते हैं, अपना तथा श्रद्धा का दृष्टिकोण नही। किन्तु निश्चय ही, वे उस इस दुनिया का सार्वभौम चिरकालिक तथ्य जरूर मानते हैं। वे शायद यह कल्पना ही नही कर सकते कि ऐसा समाज भी हो सकता है जिसमे सभ्य, सुरक्षित, विकसनशील जीवन-यापन के लिए स्पर्धावाली शर्त की आवश्यकता ही नही। वहाँ 'सर्वाइवल ऑफ़ दि फिटेस्ट' का सिद्धान्त लागू ही नही होता। और वह समाज है—समाजवादी समाज-रचना। प्रसादजी इस वैषम्य स बचन क लिए भाववादी आदर्शवाद की आड लेते हैं, अमूर्त सामरस्य का सिद्धान्त उपस्थित करते है। अद्वैतवादी अभेदानुभूति के झण्डे के तले, वे वास्तविक वैषम्यो को इडा के भरोस लगाकर खुद छुट्टी ले लेते हैं। आगे चलकर हम इस बात की चर्चा और करेंगे।

जो लोग **कामायनी** का केवल मनोवैज्ञानिक अर्थ ही लेते हैं, उसके भीतर घुसकर सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियो का दर्शन नही करते—उन शक्तियों का जिन्होंने हिन्दी म व्यक्तिवादी रोमासवाद, छायावादी भावुकता तथा भाववादी-आदर्शवादी विचारधारा का प्रणयन किया—वे लाग **कामायनी** के सत्यो को, वास्तविक पूँजीवादी समाज रचना के भीतर पनपनवाले जीवन-तथ्यो पर घटित न करते हुए, उन वैचारिक कल्पनाओ को स्वय भी चरम मान बैठते हैं जिनको कवि ने भी अन्तिम माना है।

प्रसादजी का मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, सुनिश्चित रूप स, लेखक को तथ्यो के निकट रखते हुए भी, उन जीवन-तथ्यो के तर्कसंगत निष्कर्षों की ओर न मोडकर —वास्तविक जीवन-अनुभवो के वैज्ञानिक निष्कर्षों की ओर न ले जाकर—उसे जिस भाववादी-आदर्शवादी स्तर पर उपस्थित करता है, वह स्तर एक युग विशेष की, काल-विशेष की अर्थात् वर्ग-विशेष की, प्रवृत्तियो का परिचायक है। कवि का वास्तविक दर्शन करने के लिए केवल उसी की वाणी का भरोसा करना खतरे से खाली नही है। कवि जो कुछ कहता है वह सत्य ही है, यह सोचना हमारी अन्धता है। साराश यह है कि हम यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि प्रसादजी, मनु-आख्यान की फैण्टेसी खडी कर, अपनी युग-प्रवृत्तियो को—एक विशेष काल-खण्ड के अन्तर्गत पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर एक विशेष वर्ग, मध्यवर्ग की प्रवृत्तियो को—प्रकट कर रहे हैं।

इतना ही नही, प्रसादजी स्वय, अपने अनजाने ही, **कामायनी** को प्राचीन इतिहास के रूप मे उपस्थित न कर वर्तमान पूँजीवादी समाज के विकास का छोटा-सा इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसम उस समाज की प्रमुख समस्या—अह, व्यक्ति-

गो (चाहे जो कह लीजिए)—को काव्य-क्षेत्र मे, उसके नग्न रूप में, उपस्थित
क्या गया है।

पूँजीवादी समाज मे व्यक्ति की स्वाधीनता का सिद्धान्त माना गया है। गरीब
नता के लिए वह रिक्त स्वाधीनता है—इस अर्थ में कि व्यक्तित्व के सर्वपक्षीय
वकास की परिस्थितिगत सम्भावनाओं को अत्यन्त संक्षिप्त और सीमित कर दिया
या है। व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए समाज मे वास्तविक समानता की
र्त स्थापना की आवश्यकता है। जब तक यह न होगा, तब तक व्यक्तित्व का
वकास सबके लिए असम्भव है। अपने व्यक्तित्व का विकास तो उन्ही लोगो के
नए सम्भव है, जिन्हे जीवन में अपनी आर्थिक, सास्कृतिक, कलात्मक उन्नति के
नए अवसर मिलता रहे। जिस देश मे शोषण होता है, वहाँ शोषक-वर्गों अथवा
नके मित्र-वर्गों को शोषण की स्वाधीनता होती है, तथा शोषित वर्गों को शोषित
ोते रहने की स्वाधीनता। कानून के सामने सब व्यक्ति समान है, किन्तु अपनी
न्नति के लिए आवश्यक सामाजिक-आर्थिक स्थिति तो विषमताग्रस्त होती है।
तएव गरीब, वंचित वर्गों के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता तब तक थोथी ही रहेगी,
ब तक उसको उभारने के लिए समान अवसरो की सामाजिक स्थिति से सयोजित
ही किया जाता।

किन्तु स्वाधीनता तथा समानता का वास्तविक अभिप्राय तो यही है कि हम
ोग सामाजिक तथा आर्थिक दासता से न केवल मुक्त हो, वरन वर्गहीन समाज
मानव-लक्ष्यो स अपने को एकाकार करते हुए आग वढे। स्वाधीनता तथा समा-
ता का लक्ष्य दूसरे को गुलाम बनाना नही है, उसे अपने से नीचा बनाना नही है।
च्ची स्वाधीनता तथा समानता की स्थापना तो तभी होती है, जब हम उसे पूरे
र्गहीन समाज के सामाजिक लक्ष्यो से एकाकार करें। निश्चय ही, हमारी नैति-
ता के नये मानदण्ड तो सच्ची मानव-मुक्ति के इन्ही लक्ष्यो की प्राप्ति की दृष्टि से
ी निर्णीत होंगे। जब तक हम वर्गहीन समाज की सामूहिक शक्ति से, उद्योगों और
त-खलिहानो का सामाजीकरण नही करते, तथा देश का औद्योगीकरण नही करते,
ृष्टि तथा प्रकृति के वैभव को मानव-मात्र के समान उपयोग के लिए उपलब्ध नही
रते, तब तक हम देश को, समाज को, जनता को सुखी तथा समृद्ध भी नही कर
कते, उसको समान रूप से शैक्षणिक-सास्कृतिक तथा आर्थिक लाभ भी नही
सकते। इस उद्देश्य की पूर्ति की पहली शर्त पूँजीवाद का अन्त तथा समाजवादी
माज-रचना की स्थापना है। निश्चय ही, तब व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा समा-
ता को मानवीय सर्वाश्लेषी लक्ष्य तथा वास्तविकता प्राप्त होती है, जब मनुष्य
पने अनुभवो से, अपने ज्ञान से यह जान लेता है कि समाज, मुनाफे के आधार पर
ही, वरन् सबके समान हित के लिए चल रहा है, शोषण सत्ता का अन्त हो गया
, शोषण का अन्त हो गया है, और सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए सामूहिक-
ामाजिक प्रयत्नो की ही आवश्यकता रह गयी है। तब मनुष्य अपनी अन्त -
रणाओ के दरवाजे मुक्त कर देता है, और अपने सामूहिक प्रयत्नों से नयी धरती,
या आसमान, नया चाँद और सूरज बनाता है।

किन्तु इन सब बातो के अभाव म शोषण की स्वतन्त्रता, यदि उसकी परि-
स्थितिगत सम्भावना हो, हर क्षेत्र मे गतिमान होती है। पूँजीवादी तथा जमींदार
ोषण करता ही है। वह तो आर्थिक प्रणाली से योजनाबद्ध रूप मे शोषण कर,

सामाजिक राजनैनिक विधानो से गुनाम बनाकर, देश की बहुसख्यक जनता की हड्डी-पसली एक कर देता है। ये सब बातें तो सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक आधार पर चलती हैं। किन्तु जनता के ग़रीब वर्गों म भी, व्यक्तिगत धरातल पर एक-दूसरे का शापण चलता ही रहता है। दूसरे की कीमत पर अपना लाभ प्राप्त करन की प्रवृत्ति के दृश्य सब जगह बहुत ही घन गम्भीर हैं। किन्तु साथ ही ग़रीब वर्गों म उपर्युक्त प्रवृत्ति के विपरीत, परस्पर सहायता का मानवता भाव भी बहुत ही प्रबल रूप स प्रकट होता है। अपन कष्टानुभवो की सामाजिकता से अपनी वर्गीय विशेषता के फलस्वरूप, वे तुरन्त सघबद्ध होकर अपने दीघकालीन तथा सुविस्तृत सघर्षों को क्रान्ति के रूप म परिणत कर देत हैं। ग़रीब वर्गों क लिए क्रान्ति मनुष्यता का तकाजा है।

किन्तु शोषक वर्गों म अथवा उन वर्गों की आश्रय छाया म रहनवाने वर्गों म व्यक्तिवाद की स्वार्थ भावना खूब पनपती है। व्यक्तिवाद का मूल अर्थ यह है कि यह सारा जगत यह सारी सृष्टि मेरे लिए सारा दश सारा समाज मेरे लिए—मरी स्पृहाओ की तृप्ति के लिए है। सामन्ती समाज व्यवस्था से जब कभी यह व्यक्तिवाद टकराता है तब वह व्यक्तिगत स्वाधीनता के सिद्धान्त के अनुसार पुरानी बेडियाँ तोडन म समर्थ हो जाता है। किन्तु उसक उपरान्त वह आदशहीन हो जाता है। फलत व्यक्तिगत ईमानदारी के धरातल पर जब वह मानवता की दुहाई भी देता है तब भी वह समाज की मूल शोषण-पद्धति पर आघात नही कर पाता। न केवल यह वरन् वह समाज-कल्याण के नाम पर अनेक धर्मार्थ सस्थाएँ खोलकर शोषण की कमाई के पाप को पुण्य बनान और पुण्य का यश कमाने की भी व्यवस्था करता है। व्यक्तिवाद के अन्तगत मानवतावाद कितना रिक्त है यह श्रद्धा क अगल विकास म ज्ञात होगा। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि यद्यपि श्रद्धा न **कामायनी** म विजयिनी मानवता हो जाय' का नारा लगाया था (हम उसकी व्यक्तिगत ईमानदारी म सन्देह करन की कोई आवश्यकता नही) किन्तु उसकी सारी सदिच्छाओ के बावजूद मानवता के विजयिनी होने की वास्तविकता को उपस्थित करने के लिए जिन उपायो का अवलम्बन होना चाहिए उन उपायो को हम तब तक समझ नही सकते, जब तक कि मानवता के सम्बन्ध मे हम अपनी व्यक्तिवादी धारणाएँ त्यागकर मानवता का आधुनिक स्वरूप तथा उसम रूपान्तर घटित करने के वैज्ञानिक लक्ष्य और उन लक्ष्यो को प्राप्त करने के वैज्ञानिक उपायो को नही समझ लेत। दाशनिक व्यक्तिवाद म विश्व तथा सृष्टि को आत्मा के नमूने पर आत्मा के आईने म ही देखा जाता है। फलत, व्यक्ति के भीतर यह आत्मा सारे विश्व तथा सृष्टि की चेतन सत्ता हो जाती है, जिसे हम परमात्मा कहने लगते हैं। इसका फल यह होता है कि व्यक्तिवादी नैतिकता के अनुसार हम आत्मोज्ज्वल गुणो को प्रधानता देत हैं जैस, करुणा, दया माया, ममता इत्यादि। व्यक्तिगत सम्बन्धो के धरातल पर तो य गुण उपयोगी हो जात हैं किन्तु जहाँ मानवता के शोषण से मुक्ति का प्रश्न खडा होता है, वहा य गुण नैतिकता के मानदण्ड नही हो सकते। उदाहरणत मानवता के उद्धार के लक्ष्यो को सामने रखकर ही (जो कि तत्कालीन परिस्थिति द्वारा ही शोषित वर्गों क सम्मुख उपस्थित होते हैं) उनके अनुसार नैतिकता के मानदण्ड प्रस्तुत होते हैं। किन्तु व्यक्तिवादी दया माया-ममता समाज के वास्तविक प्रश्नो के वैज्ञानिक उत्तरो

के आधार पर अपना स्वरूप निर्धारित नहीं करती, वरन् वे शोषक और शोषित दोनों के विरुद्ध काम करती-सी दिखायी देते हुए भी, वर्गातीत दिखायी देते हुए भी, वस्तुतः प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में, उस वर्ग की ही परिपुष्टि करती है जो शासक वर्ग है। इडा को मनु-पुत्र सौंपकर श्रद्धा का हिमालय की ओर निकलना, और 'भवताप-तापित' इडा का हिमालय की ओर प्रयाण करना, इस बात को सिद्ध करता है कि इडा अपने पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों में कोई मूलभूत परिवर्तन न कर शासन-चक्र चला रही है। (यदि वह कोई मूलभूत परिवर्तन करती तो प्रसादजी बेखटके उसे सूचित करते। यह बात अब स्पष्ट हो जानी चाहिए कि समाज के दुख-दैन्य-कष्ट को मात्र दया-माया-ममता से नहीं, वरन् वैज्ञानिक-सामाजिक उपायों से दूर किया जाता है, *आध्यात्मिक धरातल पर उन्हें मिटाया नहीं जा सकता*, शोषक का हृदय-परिवर्तन नहीं किया जा सकता।) व्यक्तिवाद, दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा को प्रधानता देकर भाववादी तरीके से संसार की ओर देखता तथा उसकी व्याख्या करता है। इसलिए वह किसी भी मूलभूत सामाजिक समस्या का सदा-सर्वदा के लिए निराकरण नहीं कर पाता।

किन्तु व्यक्तिवाद प्रवृत्ति रूप में, हममें इस प्रकार प्रकट होता है कि वह आत्मबद्धता का ही दूसरा नाम हो जाता है। वस्तुतः, व्यक्तिवाद वह सूक्ष्म प्रवृत्ति है जो अहं को आँच नहीं आने देना चाहती, वह अपने लिए लाभ-ही-लाभ का संकलन करना चाहती है, चाहे वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो। सत्य के प्रति, अन्यों के प्रति तथा अपने प्रति, वैज्ञानिक रूप से जो मनुष्यतापूर्ण दृष्टि अपेक्षित है, उसका अभाव व्यक्तिवाद की बहुत बड़ी विशेषता है। इसका फल यह होता है कि परिपक्व समुन्नत व्यक्तित्व में भी, करुणा दया-माया, बुद्धि तथा संकल्पशक्ति आदि गुणों के बावजूद, वह पर्सपेक्टिव—वह दिशा दृष्टि उत्पन्न नहीं हो पाती जो उसे वास्तविक समस्याओं के यथार्थ हल की ओर प्रवृत्त करे। ऐसे परिपक्व व्यक्तियों की मनुष्यता अपनी भावुक आत्म-केन्द्रिता के फलस्वरूप भले ही छटपटाये, वह बद्ध परिकर होकर अनुभव सिद्ध तर्क-शुद्ध मार्गों का वैज्ञानिक अवलम्बन नहीं कर पाती। इसका प्रधान कारण यह है कि, अपनी भावुकता, भावावेग, सहानुभूति-क्षमता, मर्मस्पर्शी मनोवैज्ञानिकता के सारे वैभव के बावजूद, यह आत्मबद्ध व्यक्तिवाद, अपनी आत्मबद्धता के फलस्वरूप, ज्ञान और भाव तथा कार्य के बीच दीवारें खड़ी कर देता है। वर्ग विभाजन तथा वास्तविक वर्ग-संघर्ष की यथार्थता के, तथा समकालीन सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के क्षेत्र में मानवता के, जो प्रधान उद्धार-लक्ष्य हैं, उनसे आँखें मूँदकर—उनके लिए वैज्ञानिक उपायों का उपयोग न करते हुए—वह अपने विचार, अपनी धारणाएँ तथा मान्यताएँ निश्चित करता है। हिन्दी में **कामायनी** इस बात का सबसे बड़ा सबूत है। दुःख-कष्टग्रस्त मनुष्यता के मूर्त, वास्तविक उद्धार-लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए चलनेवाले सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष के सन्दर्भ से ही, तथा उसमें योग देते हुए, हम नैतिकता के मानदण्ड, अपनी दिशा दृष्टि, अपने जीवन मूल्य तथा अपनी विश्व-दृष्टि विकसित कर सकते हैं। शेष दृष्टि *अन्यथा-दृष्टि* है, भले ही उसमें इक्के-दुक्के सत्य, लाल-बुझक्कड मर्म और भड़कीले रंग दिखायी दें। **कामायनी** इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि किस प्रकार ज्ञान-क्रिया इच्छा के सामंजस्य के प्रश्न को आध्यात्मिक प्रश्न बना दिया गया है, और अद्वैतवादी सामरस्य के द्वारा

उसको सुलझाया गया है। ज्ञान-क्रिया-इच्छा के सामंजस्य का प्रश्न व्यावहारिक जगत् का तथा मानव-मन का—दोनो का—प्रश्न है, उसे रहस्यवादी ढंग से हल नही किया जा सकता।

ज्ञान-क्रिया-इच्छा के सामंजस्य का प्रश्न केवल बुद्धिवादियो का, केवल कवियो का, केवल दार्शनिको का, केवल सांस्कृतिक जनो का, प्रश्न नही, वह मनुष्य मात्र का प्रश्न है। उसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व के आन्तरिक संगठन तथा व्यावहारिक जगत् के संगठन से है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति-प्रवृत्तियो, इच्छाओ तथा ज्ञान-शक्तियो के एक ऐसे संगठन से है, कि जो आत्म-संगठन, व्यक्ति को अपने तथा मानवता के इतिहास-प्राप्त समकालीन उद्धार-लक्ष्यो की ओर न केवल प्रवृत्त कराये, वरन उसे बुद्धि, कार्य तथा अनुभूति की सम्पूर्ण क्षमताओ से सम्पन्न करते हुए, उसकी वास्तविक कार्य-क्षमता की मात्रा को लक्ष्यो की आवश्यकता के अनुसार प्रणीत कर सके। निश्चय ही, यह आत्म-संगठन वस्तुत जीवन-संगठन है। यह जीवन-संगठन साक्षात् सामाजिक, राजनैतिक, मानवीय संघर्ष मे सम्पूर्ण योग के बिना असम्भव है। इन्ही संघर्षानुभवो से उसकी सभी शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ विकसित होगी, तथा उसके व्यक्तित्व मे सामर्थ्य तथा क्षमता, आनन्द तथा उत्साह, साफल्य-भावना तथा विजयिष्णु युयुत्सा उत्पन्न होगी। इन साक्षात् अनुभवो के आधार के बिना, संघर्ष की प्रक्रिया मे लीन मानवता के वास्तविक सम्पर्क की ऊष्मा के अभाव मे, ज्ञान-क्रिया-इच्छा के भीतरी सामंजस्य को सम्पन्न ही नही किया जा सकता।

जड और चेतन मे प्रकट आध्यात्मिक परमात्म चेतना की कल्पना मे व्यक्तित्व-सामंजस्य की कल्पना को घोल देना, आत्मबद्ध व्यक्तिवाद का ही तो एक ऐसा घनघोर नमूना है, जो हमारे नैतिक मानदण्डो को, दिशा-दृष्टियो को, जीवन-मूल्यो को, शीर्षासन कराता है, और इस अधःस्थित शीर्ष में बसे हुए नेत्रो को गगनगामी बनाता है।

निश्चय ही, परिपक्व व्यक्तित्व का व्यक्तिवाद अपरिपक्व व्यक्तित्व की अपरिपक्वताओ और सीमाओ को तो देख ही लेता है, चाहे वह उन्हे वैज्ञानिक दृष्टि से न देख पाये। हमारी हज़ारो सालो की संस्कृति ने हमे जो कुछ प्रदान किया है, उसमे तथ्य-ग्रहण की शक्ति भी एक है। निश्चय ही, अपरिपक्व व्यक्तित्व के व्यक्तिवाद के तथ्यो को प्रसादजी ने पकडा है, और मनु-समस्या के रूप मे उनको प्रस्तुत किया है।

मनु-समस्या इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके प्रतिबिम्ब हमे समाज मे सर्वत्र दिखायी देते हैं। तो आइए, अब हम वास्तविक जीवनगत व्यक्तिवाद को लें, जो हमारे कार्य-व्यवहार मे निरन्तर प्रकट होता रहता है।

मनु-समस्या को स्वय प्रसादजी ने ही बहुत कुशलतापूर्वक प्रकट किया है। मनु स्वय अपने बारे मे यह कहता है

> मुझमे ममत्वमय आत्ममोह
> स्वातन्त्र्यमयी उच्छृखलता,
> हो प्रलय भीत तन-रक्षा म
> पूजन करन की व्याकुलता।

पहली पक्ति मे प्रसादजी न व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक, जीवनगत क्षेत्र मे सक्रिय रहनेवाले व्यक्तिवाद का—सूक्ष्म रूप से काम करनेवाले अह का—चित्र प्रस्तुत कर दिया है। दूसरी पक्ति म उस अह का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो अपनी सुरक्षा की हानि की सकटापन्न स्थिति के अन्तर्गत लक्ष्यो-आदर्शों, ऊँचे चरित्रो, ऊँचे सिद्धान्तो, ऊँचे व्यक्तियो की छाया मे, उस सकट-काल के दौरान तक, अपनी रक्षा करना चाहता है, आदर्शवादी और भावुक हो जाता है, किन्तु उस सकट काल के लुप्त होते ही फिर वह अपनी पर आ जाता है अपनी मूल अहकार-वृत्ति को फिर स खुल-खेलन का अवसर देता है। इतने सारे आदर्शों और लक्ष्यो, सस्कारो और सिद्धान्तो के बावजूद वह फिर उसी तरह क्यो हो जाता है? इसलिए कि वस्तुत वह अहभाव अपनी रक्षा मात्र के लिए आदर्श और सिद्धान्त का कवच पहने रहता है, जैसा कि आजकल हमारे सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र के दृश्य हमे बतलाते है। मनु म भी अपनी रक्षा के लिए ही पूजन करने की व्याकुलता बढ जाती है। अन्यथा नही,—अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या है? और इस अह को जीवित रखनवाली कौन-सी चीज है? ऐसी आत्मग्रस्त अभिलाषा जो दूसरो का खयाल नही करती, जो दूसरो के हितो की चिन्ता नही करती, जो दूसरो की भावनाओ की चिन्ता नही करती! ऐसे व्यक्ति का रूप ही क्या हो सकता है, सिवाय इसके—

> लू-सा झुलसाता दौड रहा
> कब मुझसे कोई खिला फूल।

अथवा

> किस पर उदारता से रीझा?
> किससे न लगा दी कडी होड!

जब श्रद्धा मनु से कहती है कि तुम

> सुख को सीमित कर अपन मे
> कवल दुख ही दुख जोडोगे।

तो मनु सोमपात्र आगे कर उत्तर देता है

> श्रद्धे पी लो इसे, बुद्धि के
> बन्धन को जो खोले।

इसीलिए, देव-सभ्यता का पुत्र मनु सुरवर्ग के सम्बन्ध म यह कहता है (वस्तुत वह अपने बारे म ही कह रहा है)

मैं स्वयं सतत आराध्य
आत्ममंगल उपासना में विभोर।
उल्लासशील मैं शक्ति-केन्द्र
किसकी खोजूँ फिर शरण और।
आनन्द उच्छलित शक्ति स्रोत
जीवन-विकास वैचित्र्य भरा।
अपना नव-नव निर्माण किये
रखता यह विश्व सदैव हरा।

अपने स्वयं के जीवन विकास में विश्व विकास माननेवालों की नव-नव निर्माणवाली मान्यता कट्टर पूँजीवादी व्यक्तिवाद की धारणा है, और अगर मनु उसे अपने सन्दर्भ में उपस्थित करता है तो उसमें आश्चर्य ही क्या है। वह तो आधुनिक पूँजीवादी समाज-रचना में पलनेवाले व्यक्तिवाद के सम्बन्ध दृश्यों को ही प्रस्तुत कर रहा है।

ध्यान में रखने की बात है कि मनु के मुख्यतः दो स्वरूप हैं। एक तो वह जिसका सम्बन्ध कर्म से है, समाज से है, सभ्यता के विकास से है, और एक वह जिसका सम्बन्ध अपने हृदय की इच्छाओं तथा वासनाओं से है। दोनों स्वरूप वस्तुतः एक ही हैं, किन्तु हमने क्षेत्र भेद के अनुसार उनका वर्गीकरण इसीलिए किया है कि मनु के सम्बन्ध में *कामायनी* में जो बातें आती हैं उनको सुविधापूर्वक रखा जा सके।

निश्चय ही, 'जीवन विकास वैचित्र्य-भरा' के पीछे मात्र अपनी इच्छा तृप्ति की ही भावना है। पुराने में अब मज़ा नहीं रहा, इसलिए नया चाहिए। इसलिए इस जीवन विकास-वैचित्र्य की मनु के लिए आवश्यकता है। उसमें अनन्त अभिलाषाएँ हैं। इन अहग्रस्त अभिलाषाओं के सम्बन्ध में हम स्वयं कुछ न कहकर प्रसादजी को ही बोलने देंगे

जीवन निशीथ के अन्धकार!
तू घूम रहा अभिलाषा के
नव ज्वलन-धूम-सा दुर्निवार।
जिसमें अपूर्ण लालसा कसक
चिनगारी-सी उठती पुकार।
यौवन मधुवन की कालिन्दी
बह रही चूमकर सब दिगन्त।
मन शिशु की क्रीडा-नौकाएँ
बस दौड़ लगाती हैं अनन्त।
कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन
हँसती तुझमें सुन्दर छलना।
धूमिल रेखाओं में सजीव
चंचल चित्रों की नव कलना।
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में
छायी पिक प्राणों की पुकार।
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

तो जीवन-प्रवास के पथ मे पिक-प्राणो की पुकार छायी हुई है। इसको हम अह-ग्रस्त वासना न कहे तो क्या कहे ? श्रद्धा से मनु कहता है

तुम फूल उठोगी लतिका-सी
कम्पित कर सुख सौरभ-तरग,
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा,
वन-वन बन कस्तूरी कुरग।

स्वय मृग बनकर भटकने के क्या मानी हैं ? अपनी ही मस्ती मे भटकना। यह भटकना किसलिए ? सुरभि के लिए ? असली बात तो यह है कि मन ऐसे गहन आकर्षणमय व्यक्ति-मूर्ति की खोज म है जो उसके सारे अहग्रस्त भाव, उसके समस्त आत्म सम्मोह, को पी सके। किन्तु क्या कभी किसी को ऐसा व्यक्ति मिला है जो किसी की स्वानुरूपता की चौखट म बैठ जाय ? निश्चय ही, नही। सच्ची बात तो यह है कि मनु कस्तूरी-कुरग नही, भृग है। भृग की सारी वासना उसमे है। अन्तर केवल आत्म-चेतना का है। भृग मे आत्म-सम्मोह नही है। कस्तूरी-कुरग मे आत्म सम्मोह है। छायावादी व्यक्तिवाद म अपने अभिलाषा-लोक की [illegible] क्योंकि उसमे अभिलाषा की अन्तर्मुख सारी सृष्टि का, जगत्

यह जलन नही सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पचभूत की रचना मे
मै रमण करूँ बन एक तत्त्व।
तुम दानशीलता से अपनी,
बन सजल जलद वितरो न बिन्दु,
इस सुख-नभ मे मैं विचरूँगा,
बन सकल-कला-धर शरद इन्दु।
भूले से कभी निहारोगी,
कर आकर्षणमय हास एक,
मायाविनि, मैं न उसे लूँगा,
वरदान समझकर, जानु टेक।

मनु तो पचभूत की रचना म रमण करना चाहता है, क्योकि उसको तो अपनी सत्ता को दुर्निवार रखना है। साथ ही साथ उसकी अभिलाषा भी एक विशेष प्रकार की है। वह निर्लज्ज होकर कहता है

आकर्षण से भरा विश्व यह केवल भोग्य हमारा,
जीवन के दोनो कूलो म बहे वासना-धारा।
श्रम की, इस अभाव की जगती उसकी सब आकुलता,
जिस क्षण भूल सके हम अपनी यह भीषण चेतनता।
वही स्वर्ग की बन अनन्तता मुसकाता रहता है
दो बूँदो मे जीवन का रस लो बरबस बहता है।

आकर्षण से भरे विश्व को केवल अपना भोग्य समझने की बात जिस सूत्र का एक सिरा है, उस सूत्र का दूसरा सिरा है—वास्तविकता की चेतना को भीषण चेतनता

कहकर चेतना खो देना। विमुग्ध मूढावस्था की स्थिति की अभिलाषा उन व्यक्तिवादियों को ही शोभा देती है जो विश्व को केवल अपना उपभोग्य समझते है।

यह है व्यक्तिवाद की मूलभूत यथार्थता—विश्व को, अन्य को, अन्य की मैत्री को, अन्य के सौन्दर्य को, अन्य के प्रेम को भी, अपना उपभोग्य समझना, अर्थात् अपने सुख के लिए उसका उपभोग करना।

और यह किस वर्ग का व्यक्तिवाद है? क्या यह उस अभावग्रस्त गरीब अशिक्षित वर्ग का है, जो गुस्से म आकर चाहे जो कर बैठता है, अपनी स्त्री की पिटाई भी करता है? नही, नही। यह उस वर्ग का व्यक्तिवाद है जो शक्तिशाली, सम्पन्न शासक वर्ग अथवा उसका सहकारी वर्ग है।

ऐसे व्यक्ति की गृहिणी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है श्रद्धा को। श्रद्धा के चरित्र-विश्लेषण के लिए एक दूसरे अध्याय की आवश्यकता है। हम केवल यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि अपन आदर्शवाद के अतिरिक्त श्रद्धा स्वय एक 'टाइप' भी है। अतएव, मनु और श्रद्धा का झगडा, केवल विचारधाराओ का झगडा नही है, वह दो विभिन्न 'टाइप' के लोगो का झगडा है। अतएव हम यहाँ इतना ही कह देना चाहते हैं कि मनु अपने 'टाइप' रूप मे सन्तोषशीलता के एकदम विरुद्ध है, न उसे सन्तापशील व्यक्ति ही अच्छे लगते हैं, चाहे उनका व्यक्तित्व भीतर से कितना ही भव्य क्यो न हो, अथवा बाहर से उनका व्यक्तित्व प्रभावकारी तथा गौरवपूर्ण ही क्यो न रहे। मनु की मनोवृत्ति की यह विशेषता है। वह स्वय ही कहता है

देखे मैंने वे शैल-शृग।
जो अचल हिमानी से रजित
उन्मुक्त उपेक्षा भरे तुग।
अपने जड गौरव के प्रतीक,
वसुधा का कर अभिमान भग।
अपनी समाधि म रहे सुखी,
बह जाती हैं नदियाँ अबोध।
कुछ स्वेद-बिन्दु उनके लेकर,
वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध।
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी,
चाहता नही इस जीवन की।
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश,
हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग,
प्रतिपग मे कम्पन की तरग।
वह ज्वलनशील गतिमय पतग।

शायद सुकरात के बारे मे ही यह कहा जाता है कि एक बार उसने बतलाया कि सन्तोष शूकर-पुत्र का चिह्न है। निश्चय ही असन्तोष ही से सारे विकास सम्भव हैं। यदि असन्तोष न हो तो भला उन्नति ही कैसे हो सकती है? परिस्थिति मे, समाज-रचना मे, व्यक्ति मे, विकास ही कैसे सम्भव है? उसके अभाव मे क्रान्ति तो हो ही नही सकती। अतएव मनु के व्यक्तिवाद का यह रूप निश्चय ही सन्तोष-

जनक होता (जैसी कि उसकी रोमैण्टिक भावुकता भी अच्छी लगती है उसका आत्म-विश्लेषण भी अच्छा लगता है), बशर्ते कि उसे अपने असन्तोष को गति देनेवाली, उसे निर्णायक बना देनेवाली शक्तियो का आकलन होता (जो आकलन मुख्यत प्रसादजी को भी नही था)। मनु की असन्तोष-भावना इतनी तीव्र है कि वह अपने आपस भी विद्रोह कर उठता है। किन्तु उसमे अपने प्रति देखन का, दूसरो को देखने का, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही नही है जो उसे सन्तोष देता। फलत, वह अन्धतापूर्वक पहाडो के विरुद्ध समीर और सूर्य से अपनी तुलना करता हुआ, जोर से आत्म-प्रस्थापना करता है

स्थिर-मुक्ति प्रतिष्ठा मैं वैसी,
चाहता नही इस जीवन की।
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश,
हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग,
*प्रतिपग मे कम्पन की तरग।*
वह ज्वलनशील गतिमय पतग।

निश्चय ही, आत्म-आदर्शीकरण का यह बहुत विकट रूप है, जो व्यक्तिवाद के भीतर ही पाया जा सकता है। मनु म प्रभुत्व इच्छा का बीज तो तभी से पड गया था जब वह शिकार खेलता था। उसकी इसी बात को सूचित करने के लिए प्रसादजी ने कहा

हिसा ही नही और कुछ भी,
वह खोज रहा था मन अधीर।
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा,
जो बढती हो अवसाद चीर।
जो कुछ मनु के करतलगत था,
*उसम न रहा कुछ भी नवीन।*

है। उस दृष्टि पर उसका सम्पूर्ण नियन्त्रण इसलिए नही हो सकता कि वह जिन वर्ग-सम्बन्धो से जकडा हुआ है, उन वर्ग-सम्बन्धो पर उसका कोई अधिकार नही है। यदि उसे उन वर्ग-सम्बन्धो की जानकारी होती, उन वस्तु-तथ्यो का ज्ञान होता जो इतनी निर्णायक पद्धति से चेतना को रूपान्वित करते हैं, तो वे ही तथ्य—जो *उसके साहित्य म, मात्र यथार्थ-अनुभवो के सामान्यीकरण क आधार पर,* किन्तु बिना सम्यक् वैज्ञानिक दृष्टि के, निरूपित तथा चित्रित हुए, उपस्थित होते हैं (यहाँ तक कि लेखक के पिछले अनुभवो से धक्का खाकर उसके मस्तिष्क मे से इस प्रकार साहित्य म अवतरित होते हैं मानो वे उसके अनजाने ही उतरे हो)—वे जीवनतथ्य अपने पूरे अर्थ-चित्रो को लिये हुए उपस्थित हो सकते थे। ठीक इसी प्रकार का एक

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चित्र प्रसादजी इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं

किस गहन गुहा से अति अधीर।
झंझा प्रवाह-सा निकला यह,
जीवन विक्षुब्ध महा समीर।
ले साथ विकल परमाणु पुंज,
नभ, अनल, अनिल क्षिति और नीर।
भयभीत सभी को भय देता,
भय की उपासना में विलीन।
प्राणी कटुता को बाँट रहा,
जगती को करता अधिक दीन।
निर्माण और प्रतिपद विनाश
में दिखलाता अपनी क्षमता।
संघर्ष कर रहा-सा सबसे,
सबसे विराग सब पर ममता।
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब,
यह छूट पड़ा है विषम तीर।
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर?

यह कौन-सी वास्तविकता है, जिसे प्रसादजी ने इस प्रकार प्रकट किया है? प्रसंग वैसे मनु के जीवन का है। वह श्रद्धा को त्याग चुका है, और अब उदास होकर अपने ही बारे में वह सोच रहा है। प्रश्न है कि यह चीज़ कौन-सी है जिस प्रसादजी ने कहा—

अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब,
यह छूट पड़ा है विषम तीर।

निश्चय ही, यह उपमा जीवन के लिए आयी हुई है (जीवन विक्षुब्ध महा समीर)।

निश्चय ही, यह मनु का जीवन है। किन्तु केवल यह मनु का जीवन नहीं, ऐसे शत-सहस्र व्यक्तिवादियों का जीवन है जो अपनी निर्द्वन्द्व, निरंकुश उच्छृंखलता में अन्यों को हानि पहुँचाते हैं। किन्तु प्रसादजी इससे भी गहरे जाते हैं। वे पूछते हैं, अस्तित्व रूपी धनुष से यह विषम तीर कब छूट पड़ा? अर्थात् सृष्टि में इस प्रकार की जीवन-पद्धति की, जीवन-स्वरूप की, अवतारणा कब हुई? उनका अभिप्राय मनु की नवीनतम प्रवृत्ति से (प्रभुत्वकामी वासनालिप्त प्रवृत्ति से तो है ही), अर्थात् पूँजीवादी व्यक्तिवाद के नग्न रूप से है—ऐसा पूँजीवादी व्यक्तिवाद, जो पहले तो कभी नहीं था।

किन्तु केवल व्यक्तिवाद का स्वरूप ही वे प्रकट नहीं कर रहे हैं, वरन् पूँजीवाद के स्वरूप पर भी वे चोट कर रहे हैं। वे कहते हैं

भयभीत सभी को भय देता,
भय की उपासना में विलीन।

पिछली चार पंक्तियाँ अर्थ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसादजी भारतीय पूँजीवाद के वास्तविक तथ्य को प्रस्तुत कर रहे हैं। एक साथ विनाश और निर्माण का क्या अर्थ है?

पूँजीवादी अपने मुनाफ़े के लिए किसी की परवाह नहीं करता—नीति, संस्कार,

सस्कृति, आदर्श, इत्यादि मब हट जाते हैं। केवल मुनाफा उसका लक्ष्य है। यह मुनाफा बहुसख्यक जनता के शोषण से ही प्राप्त हो सकता है, भले ही वह शोषण कानूनी शोषण हो या गैर-कानूनी बेईमानी से प्राप्त धन। इस धन से फिर कारोबार बढाया जाता है, व्यवसाय बढ़ाये जाते हैं, उद्योग स्थापित किये जाते है (कम-से-कम पूंजीवादी यही सोचता है)। जनता के सुख-शान्ति-विनाश से प्राप्त धन फिर व्यावसायिक-औद्योगिक निर्माण मे लगाया जाता है। इसीलिए तो पूंजीवादी यह सोचता है कि—

मैं स्वय सतत आराध्य
आत्म-मगल उपासना मे विभोर।
× ×
आनन्द-उच्छलित शक्ति स्रोत
जीवन-विकास वैचित्र्य - भरा।
अपना नव-नव निर्माण किये
रखता यह विश्व सदैव हरा।

निश्चय ही अपने जीवन-विकास-वैचित्र्य के लिए अपना नव-नव निर्माण करते हुए विश्व को सदैव हरा रखने का दम भरनेवाला पूंजीवादी, अपने-आप मे इस बात से भले ही गाफिल रहे कि वह दूसरी ओर भयानक विनाश भी करता जा रहा है, किन्तु प्रसादजी इतना तो जानते ही हैं कि यह पूंजीवाद प्रति-पग मे जबर्दस्त विनाश करता जा रहा है, जनता की छाती पर शोपण का पहाड खडा करता जा रहा है।

और वे यह भी जानते थे कि भारतीय पूंजीवादी राष्ट्रवाद का भीतरी ढांचा भी इसी प्रवृत्ति पर खडा हुआ है। (जो कि हमारी ठीक आज की वास्तविकता भी है)। इस बात पर प्रकाश वे अपनी छायावादी शब्दावली मे अपने तरीके से डाल रहे हैं। वे कहते हैं:

भयभीत सभी को भय देता
भय की उपासना मे विलीन
प्राणी कटुता को बांट रहा
जगती को करता अधिक दीन।

'भय' से प्रसादजी का तात्पर्य नित्य शासन द्वारा भय-प्रयोग से ही रहा है, जैसा कि इन उदाहरणो से स्पष्ट है। इडा अपने राजकीय शासन के सम्बन्ध मे कहती है:

भय की उपासना, प्रणतिभ्रान्त,
अनुशासन की छाया अशान्त।

भय की उपासना, शासक वर्गों द्वारा, प्रणति-भ्रान्ति, जनता द्वारा,—और दमन द्वारा जनता पर बलपूर्वक अनुशासन की बेड़ियां! एक और उदाहरण लीजिए

तुम दोनो देखो राष्ट्रनीति
शासक बन फैलाओ न भीति।

यहाँ भी भय का सम्बन्ध जनता के विरुद्ध दण्ड-विधान से है, शासक के आतंकवाद से है। श्रद्धा कहती है :

भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं, सब कराहते।
करते हैं, सन्तोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित - से—
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति - विवश ये सब कम्पित-से।
यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती,
यहाँ भूख से विकल दलित को
पद-तल में फिर-फिर गिरवाती।

अब इन पंक्तियों की तुलना कीजिए निम्नलिखित से

भयभीत सभी को भय देता
भय की उपासना में विलीन,
प्राणी कटुता को बाँट रहा
जगती को करता अधिक दीन।
निर्माण और प्रतिपद विनाश में
दिखलाता अपनी क्षमता,
संघर्ष कर रहा-सा सबसे,
सब पर विराग, सब पर ममता।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रसादजी की आँखों के सामने अपने समय का अन्तर्राष्ट्रीय (और राष्ट्रीय) चित्र था। प्रसादजी के सामने पूँजीवाद की निर्माणात्मक कार्यावली तो थी ही, उसके साथ ही उसकी विनाशशील प्रवृत्तियों का जीता-जागता नज़्ज़ारा, प्रथम महायुद्ध और उसके उपरान्त नयी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति थी। हम आगे चलकर इस बात पर फिर आयेंगे। यहाँ केवल एक बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, चूँकि उनके सामने देशी-विदेशी राष्ट्रवाद- पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के जीते-जागते चित्र खड़े थे, इसलिए उन्होंने सम्बन्धित बातों के लिए लगभग समान शब्दावली का यत्र-तत्र प्रयोग किया है। अतएव अगर आगामी सर्गों से सम्बन्धित तथ्यों की अभिव्यक्ति की शब्दावली द्वारा पूर्व सर्गों की अभिव्यक्ति का अर्थ निकाला जाय, तो इसमें कोई वैज्ञानिक असंगति उत्पन्न नहीं होती।

प्रसादजी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, पूँजीवाद के उपस्थित स्वरूप को ध्यान में रखकर व्यक्तिवाद को शासन-सत्ता से सम्बद्ध कर दिया।

मनु के व्यक्तिवाद की परिभाषा, वस्तुतः, श्रद्धा और इड़ा के चरित्र-विश्लेषण के बिना सम्भव ही नहीं है। अतएव हम अपना वक्तव्य यह कहते हुए समाप्त करेंगे कि जिस प्रकार मनु प्रभुत्वकामी था, उसी प्रकार वह अत्याचारी भी था, यहाँ तक कि उसे प्रजाद्रोह का भी डर नहीं था, जिसका क्षमा नहीं किया जा सकता। वह जनता का दमन ठीक उसी प्रकार कर सकता था, जिस प्रकार आजकल

का कोई पूँजीवादी शासक और उसकी सरकार। कारण यह है कि राजकीय नियम विधान शासकवर्ग के लिए नही, शासित वर्ग के लिए होता है। जब वही नियम-विधान, किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति मे, शासकवर्ग की मूलभूत इच्छाओ और हितो के विरुद्ध जाता है, तो उस बदलन का प्रयत्न किया जाता है शोपक व्यवस्था बनाये रखने के लिए, यहाँ तक कि इस परिवर्तन के विरोध म जनता की उठान का बलपूर्वक दमन किया जाता है। अपने शासक-रूप मे भी मनु नितान्त असफल है। वह उन नियमो को नही मानता जिनका निर्माण उसने जनता के लिए किया था। इसीलिए वह कहता है

मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल स प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।
किन्तु स्वय भी क्या वह सबकुछ मान चलूँ मैं?

जनता म नियम के बारे मे जा यह कल्पना मूलबद्ध हो गयी है कि सृष्टि के भी नियम होते हैं, जिनके अनुसार वह कार्य करती है, वह कल्पना मनु को अब अच्छी नही लगती। वह कहता है

नियम इन्होंने परखा फिर सुख-साधन जाना,
वही नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।
विश्व बँधा है एक नियम से यह पुकार-सी
फैल गयी है इनके मन म दृढ प्रचार-सी।

और, इस नियम के विरुद्ध, मनु विश्व को, सृष्टि को, अनियम के स्वयगतित्व स बँधा हुआ मानता है। वस्तुत, यह अनियम मनु की स्वय की अभिलाषा ही है, *ऐसी अभिलाषा, जो अपने से ऊपर और अपने स बाह्य किसी सत्ता का अनुशासन* स्वीकार नही करती। अभिलाषा की पूर्ति का साधन अगर विश्व का ध्वस भी बने, तो वह भी उसे स्वीकार है। वह कहता है

मैं चिर बन्धन हीन, मृत्यु-सीमा उल्लघन—
करता सतत चलूँगा, यह मेरा है दृढ प्रण।
महा नाश की सृष्टि बीच, जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना।

वस्तुत, दूसरो के लिए नियम विधान और अपन लिए उच्छृखल अराजकता, किसी भी शासक वर्ग की सबस बडी विशेषता होती है। व्यक्तिवाद अन्तत, यदि उसे अवसर मिला तो, घोर अराजकतावाद मे परिवर्तित हो जाता है। अपनी अराजक इच्छाओ की परिपूर्ति के लिए जो व्यक्ति अथवा जो वर्ग सारे समाज को ध्वस्त तथा विश्व का युद्ध-ग्रस्त कर सकता है वह व्यक्ति अथवा वर्ग जनता का दुश्मन है इसम कोई सन्देह ही नही और मनु—कामायनी का चरितनायक—ऐसा ही एक पुरुष है।

किन्तु मनु अपने टाइप' रूप म जिन अन्न प्रवृत्ति मण्डलो का प्रतिनिधि है, वे मण्डल साधारण से-साधारण शोपक शासक वर्ग क लोगो मे भी खूब पाये जाते है, [illegible] इतना तो मैं
माज मे बहुत
शासक शोपक
T अधिनायक

है और उसका सचालनकर्त्ता है। स्पष्ट है कि मनु उसकी व्यक्तिवादी अन्त प्रवृत्ति-मण्डलो की बृहदीकृत बिम्ब प्रतिमा (ऐक्सँचुएटेड इमेज) है। हमारे समाज म मनु की कमी नही है।

'सघर्ष' सर्ग तक आते आते रोमैण्टिक व्यक्तिवाद का— पूँजीवादी व्यक्तिवाद का—जनता-विरोधी रूप खुल जाता है।

हम जब प्रसादजी के काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत, 'व्यक्तिवाद' 'पूँजीवाद' आदि शब्दो का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय यह नही है कि प्रसादजी भी इन्ही शब्दार्थ चित्रो मे सोचते थे। हम तो केवल उन जीवन-तथ्यो के उद्घाटन के लिए इन शब्दो का प्रयोग कर रहे हैं, जो वस्तुत प्रसादजी की आँखो के सामने हैं और जो उनके काव्य का विषय बने हैं। अन्तर केवल यही है कि उन जीवन-तथ्यो का विश्लपण प्रसादजी मात्र मनोवैज्ञानिक भाववादी भूमि पर करते हैं और हम [illegible]

रूप मे सामाजिक है। यद्यपि यह सच है कि प्रसादजी की भाववादी दृष्टि के कारण न तो उन तथ्यो तथा प्रवृत्तियो का विश्लेपण, मूल्यांकन तथा चित्रण ठीक-ठीक हो सका है, न वे उनके द्वारा वैज्ञानिक निष्कर्षों पर ही आ सके हैं।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मनु की समस्या निगूढ आत्मबद्ध व्यक्तिवाद की समस्या है जिसका हल आध्यात्मिक वायवीय धरातल पर प्रस्तुत नही किया जा सकता, वरन् जीवन जगत् के इस प्रसार मे आत्म-विस्तार द्वारा ही, अपने किये पर पश्चात्ताप द्वारा ही उपस्थित किया जा सकता है। हमे यह देखना होगा कि प्रसादजी मनु की आत्म-परिणति किस प्रकार कराते हैं। हम यह देखना चाहते हैं कि मनु आत्म सशोधन किस प्रकार करता है, और उसकी आत्म-परिणति वस्तुत आत्म-परिणति है या और कुछ।

यह ज्ञातव्य है कि शुरू से ही मनु मे आत्मालोचन का स्वर है। किन्तु इस स्वर मे जीवन की सकर्मक प्रेरणा नही झलकती। इसके विपरीत, उसमे निराशात्मक आत्मव्यर्थता के भाव हैं। श्रद्धा मनु को अँधियारे भावो से मुक्त करती है। वह उसकी प्रयसी और पत्नी बन जाती है। श्रद्धा उसे अपना हृदय समर्पित कर देती है। श्रद्धा और मनु के परस्पर-सम्बन्ध, नि सन्देह, निजी व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। वे अत्यन्त कोमल हैं, वे गहन मानवीय प्रेरणाओ से प्लुत हैं। फिर भी वे सम्बन्ध व्यक्तिगत-जीवन-क्षेत्र ही के समझे जायेंगे, न कि सामाजिक-सार्वजनिक क्षेत्र के।

श्रद्धा-परित्याग के अनन्तर मनु का मन शान्त नही रहता। वह उद्विग्न और बेचैन है। तब मनु आत्मालोचन के बहाव मे बहने लगते हैं, कि इतने मे उन्हे यह स्वर सुनायी देता है

> मनु, तुम श्रद्धा को गये भूल,
> उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उडा दिया था समझ तूल।
> तुम भूल गये पुरुपत्व-मोह म कुछ सत्ता है नारी की
> समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

दूसरे शब्दों मे, मनु को यह बात अखरती है कि उसने श्रद्धा-त्याग किया। सच पूछा जाये तो उक्त वाक्य मनु के हृदय म उभर उठे हैं।

का कोई पूँजीवादी शासक और उसकी सरकार। कारण यह है कि राजकीय नियम-विधान शासकवर्ग के लिए नही, शासित वर्ग के लिए होता है। जब वही नियम-विधान, किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति मे, शासकवर्ग की मूलभूत इच्छाओ और हितो के विरुद्ध जाता है, तो उस बदलने का प्रयत्न किया जाता है शोषक व्यवस्था बनाये रखने के लिए, यहाँ तक कि इस परिवर्तन के विरोध म जनता की उठान का बलपूर्वक दमन किया जाता है। अपने शासक-रूप मे भी मनु नितान्त असफल है। वह उन नियमो को नही मानता जिनका निर्माण उसने जनता के लिए किया था। इसीलिए वह कहता है

मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल स प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।
किन्तु स्वय भी क्या वह सबकुछ मान चलूँ मैं?

जनता मे नियम के बारे मे जो यह कल्पना मूलबद्ध हो गयी है कि सृष्टि के भी नियम होते हैं जिनके अनुसार वह कार्य करती है, वह कल्पना मनु को अब अच्छी नही लगती। वह कहता है

नियम इन्होंने परखा फिर सुख-साधन जाना,
वही नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।
विश्व बँधा है एक नियम से यह पुकार-सी
फैल गयी है इनके मन म दृढ प्रचार-सी।

और, इस नियम के विरुद्ध मनु विश्व को, सृष्टि को, अनियम के स्वयगतित्व स बँधा हुआ मानता है। वस्तुत, यह अनियम मनु की स्वय की अभिलाषा ही है, ऐसी अभिलाषा, जो अपने स ऊपर और अपने स बाह्य किसी सत्ता का अनुशासन स्वीकार नही करती। अभिलाषा की पूर्ति का साधन अगर विश्व का ध्वस भी बने तो वह भी उसे स्वीकार है। वह कहता है

मैं चिर बन्धन हीन, मृत्यु सीमा उल्लघन—
करता सतत चलूँगा, यह मेरा है दृढ प्रण।
महा नाश की सृष्टि बीच, जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना।

वस्तुत, दूसरो के लिए नियम विधान और अपने लिए उच्छृखल अराजकता, किसी भी शासक-वर्ग की सबसे बडी विशेषता होती है। व्यक्तिवाद, अन्तत, यदि उस अवसर मिला तो, घोर अराजकतावाद म परिवर्तित हो जाता है। अपनी अराजक इच्छाओ की परिपूर्ति के लिए जो व्यक्ति अथवा जो वर्ग सारे समाज को ध्वस्त तथा विश्व का युद्ध ग्रस्त कर सकता है वह व्यक्ति अथवा वर्ग जनता का दुश्मन है इसम कोई सन्देह ही नही और मनु—कामायनी का चरितनायक—ऐसा ही एक पुरुष है।

किन्तु मनु अपने 'टाइप' रूप म जिन अन्य प्रवृत्ति मण्डलो का प्रतिनिधि है, वे मण्डल साधारण-स साधारण शोषक शासक वर्ग क लोगो मे भी खूब पाये जाते हैं चाहे वह गाँव का छोटा सब-इन्सपेक्टर हो या एक छोटा जमीदार। इतना तो मैं स्वय अपने अनुभव से ही कह सकता हूँ। इन अर्थों मे मनु हमारे समाज मे बहुत ही सुलभ है। उसका प्रतिबिम्ब हम शहर, कस्बे और देहात के उस शासक-शोषक वर्ग मे देख सकते हैं, जो वस्तुत यह सोचता है कि वह ही समाज का अधिनायक

है और उसका सचालनकर्त्ता है। स्पष्ट है कि मनु उनकी व्यक्तिवादी अन्न प्रवृत्ति-मण्डलो की बृहदीकृत बिम्ब-प्रतिमा (ऐक्सेचुएटेड इमेज) है। हमारे समाज म मनु की कमी नही है।

'सघर्ष' सर्ग तक आते आते रोमैण्टिक व्यक्तिवाद का—पूँजीवादी व्यक्तिवाद का—जनता विरोधी रूप खुल जाता है।

हम जब प्रसादजी के काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत, 'व्यक्तिवाद', 'पूँजीवाद' आदि शब्दो का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय यह नही है कि प्रसादजी भी इन्ही शब्दार्थ-चित्रो मे सोचते थे। हम तो केवल उन जीवन-तथ्यो के उद्घाटन के लिए इन शब्दो का प्रयोग कर रहे हैं, जो वस्तुत प्रसादजी की आँखो के सामने हैं और जो उनके काव्य का विषय बने हैं। अन्तर केवल यही है कि उन जीवन-तथ्यो का विश्लेषण *प्रसादजी मात्र मनोवैज्ञानिक भाववादी भूमि पर करते हैं और हम* उनकी व्याख्या आधुनिक सन्दर्भों के साथ करते हुए अर्थात् आधुनिक सामाजिक वस्तु-तथ्यो तथा प्रवृत्तियो के रूप मे उन्हे पुन स्थापित करते हुए, यह बतलाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रसादजी का काव्य-विषय वस्तुत अत्यन्त आधुनिक तथा मूल रूप में सामाजिक है। यद्यपि यह सच है कि प्रसादजी की भाववादी दृष्टि के कारण न तो उन तथ्यो तथा प्रवृत्तियो का विश्लेषण, मूल्यांकन तथा चित्रण ठीक-ठीक हो सका है, न वे उनके द्वारा वैज्ञानिक निष्कर्षों पर ही आ सके हैं।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मनु की समस्या निगूढ आत्मबद्ध व्यक्तिवाद की समस्या है, जिसका हल आध्यात्मिक वायवीय धरातल पर प्रस्तुत नही किया जा सकता, वरन् जीवन-जगत् के इस प्रसार मे आत्म-विस्तार द्वारा ही, अपने किये पर पश्चात्ताप द्वारा ही उपस्थित किया जा सकता है। हमे यह देखना होगा कि प्रसादजी मनु की आत्म-परिणति किस प्रकार कराते हैं। हम यह देखना चाहते हैं कि मनु आत्म सशोधन किस प्रकार करता है, और उसकी आत्म-परिणति वस्तुत आत्म-परिणति है या और कुछ।

यह ज्ञातव्य है कि शुरू से ही मनु मे आत्मालोचन का स्वर है। किन्तु इस स्वर मे जीवन की सकर्मक प्रेरणा नही झलकती। इसके विपरीत, उसमे निराशात्मक आत्मव्यर्थता के भाव हैं। श्रद्धा मनु को अँधियारे भावो से मुक्त करती है। वह उसकी प्रयसी और पत्नी बन जाती है। श्रद्धा उसे अपना हृदय समर्पित कर देती है। श्रद्धा और मनु के परस्पर-सम्बन्ध, नि सन्देह, निजी व्यक्तिगत सम्बन्ध है। वे अत्यन्त कोमल हैं, वे गहन मानवीय प्रेरणाओ मे प्लुत हैं। फिर भी वे सम्बन्ध व्यक्तिगत-जीवन क्षेत्र ही के समझ जायेंगे, न कि सामाजिक-सार्वजनिक क्षेत्र के।

श्रद्धा-परित्याग के अनन्तर मनु का मन शान्त नही रहता। वह उद्विग्न और बेचैन है। तब मनु आत्मालोचन के बहाव मे बहने लगते हैं, कि इतने म उन्हे यह स्वर सुनायी देता है

> मनु, तुम श्रद्धा को गये भूल,
> उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी का उडा दिया था समझ तूल।
> तुम भूल गये पुरुषत्व-मोह म कुछ सत्ता है नारी की
> समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

दूसरे शब्दो मे, मनु को यह बात अखरती है कि उसने श्रद्धा-त्याग किया। सच पूछा जाये तो उक्त वाक्य मनु के हृदय मे उभर उठे हैं।

का कोई पूंजीवादी शासक और उसकी सरकार। कारण यह है कि राजकीय नियम-विधान शासकवर्ग के लिए नहीं, शासित वर्ग के लिए होता है। जब वही नियम-विधान, किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में, शासकवर्ग की मूलभूत इच्छाओं और हितों के विरुद्ध जाता है, तो उसे बदलने का प्रयत्न किया जाता है शोषक व्यवस्था बनाये रखने के लिए, यहाँ तक कि इस परिवर्तन के विरोध में जनता की उठान का बलपूर्वक दमन किया जाता है। अपने शासक-रूप में भी मनु नितान्त असफल है। वह उन नियमों को नहीं मानता जिनका निर्माण उसने जनता के लिए किया था। इसीलिए वह कहता है

> मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल से प्रयत्न कर,
> इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।
> किन्तु स्वयं भी क्या वह सबकुछ मान चलूं मैं?

जनता में नियम के बारे में जो यह कल्पना मूलबद्ध हो गयी है कि सृष्टि के भी नियम होते हैं, जिनके अनुसार वह कार्य करती है, वह कल्पना मनु को अब अच्छी नहीं लगती। वह कहता है

> नियम इन्होंने परखा फिर सुख-साधन जाना,
> वही नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।
> विश्व बँधा है एक नियम से यह पुकार-सी
> फैल गयी है इनके मन में दृढ़ प्रचार-सी।

और, इस नियम के विरुद्ध, मनु विश्व को, सृष्टि को, अनियम के स्वयंगतित्व से बँधा हुआ मानता है। वस्तुतः, यह अनियम मनु की स्वयं की अभिलाषा ही है, ऐसी अभिलाषा, जो अपने से ऊपर और अपने से बाह्य किसी सत्ता का अनुशासन स्वीकार नहीं करती। अभिलाषा की पूर्ति का साधन अगर विश्व का ध्वंस भी बने तो वह भी उसे स्वीकार है। वह कहता है

> मैं चिर बन्धन हीन, मृत्यु-सीमा उल्लंघन—
> करता सतत चलूंगा, यह मेरा है दृढ़ प्रण।
> महा नाश की सृष्टि बीच, जो क्षण हो अपना,
> चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना।

वस्तुतः, दूसरों के लिए नियम विधान और अपने लिए उच्छृंखल अराजकता, किसी भी शासक वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता होती है। व्यक्तिवाद, अन्ततः, यदि उसे अवसर मिला तो घोर अराजकतावाद में परिवर्तित हो जाता है। अपनी अराजक इच्छाओं की परिपूर्ति के लिए जो व्यक्ति अथवा जो वर्ग सारे समाज को ध्वस्त तथा विश्व को युद्ध ग्रस्त कर सकता है वह व्यक्ति अथवा वर्ग जनता का दुश्मन है इसमें कोई सन्देह ही नहीं और मनु—कामायनी का चरितनायक—ऐसा ही एक पुरुष है।

किन्तु मनु अपने 'टाइप' रूप में जिन अन्त प्रवृत्ति मण्डलों का प्रतिनिधि है, वे मण्डल साधारण-से-साधारण शोषक शासक वर्ग के लोगों में भी खूब पाये जाते हैं, चाहे वह गाँव का छोटा सब-इन्सपेक्टर हो या एक छोटा जमींदार। इतना तो मैं स्वयं अपने अनुभव से ही कह सकता हूँ। इन अर्थों में, मनु हमारे समाज में बहुत ही सुलभ है। उसका प्रतिबिम्ब हम शहर, क़स्बे और देहात के उस शासक शोषक वर्ग में देख सकते हैं, जो वस्तुतः यह सोचता है कि वह ही समाज का अधिनायक

है और उसका सचालनकर्त्ता है। स्पष्ट है कि मनु उसकी व्यक्तिवादी अन्त प्रवृत्ति-मण्डलो की वृहदीकृत बिम्ब-प्रतिमा (ऐक्सेचुएटेड इमेज) हैं। हमारे समाज मे मनु की कमी नही है।

सघर्ष' सर्ग तक आते आते रोमैण्टिक व्यक्तिवाद का— पूँजीवादी व्यक्तिवाद का—जनता-विरोधी रूप खुल जाता है।

हम जब प्रसादजी के काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत, 'व्यक्तिवाद', 'पूँजीवाद' आदि शब्दो का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय यह नही है कि प्रसादजी भी इन्ही शब्दार्थ-चित्रो मे सोचते थे। हम तो केवल उन जीवन-तथ्यो के उद्घाटन के लिए इन शब्दो का प्रयोग कर रहे हैं, जो वस्तुत प्रसादजी की आँखो के सामने हैं और जो उनके काव्य का विषय बने हैं। अन्तर केवल यही है कि उन जीवन-तथ्यो का विश्लेषण प्रसादजी मात्र मनोवैज्ञानिक भाववादी भूमि पर करते हैं, और हम

रूप मे सामाजिक है। यद्यपि यह सच है कि प्रसादजी की भाववादी दृष्टि के कारण न तो उन तथ्यो तथा प्रवृत्तियो का विश्लेषण, मूल्यांकन तथा चित्रण ठीक-ठीक हो सका है, न वे उनके द्वारा वैज्ञानिक निष्कर्षों पर ही आ सके है।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मनु की समस्या निगूढ आत्मबद्ध व्यक्तिवाद की समस्या है, जिसका हल आध्यात्मिक वायवीय धरातल पर प्रस्तुत नही किया जा सकता, वरन् जीवन-जगत् के इस प्रसार मे आत्म विस्तार द्वारा ही, अपने किये पर पश्चात्ताप द्वारा ही उपस्थित किया जा सकता है। हमे यह देखना होगा कि प्रसादजी मनु की आत्म-परिणति किस प्रकार कराते हैं। हम यह देखना चाहते है कि मनु आत्म सशोधन किस प्रकार करता है, और उसकी आत्म परिणति वस्तुत आत्म-परिणति है या और कुछ।

यह ज्ञातव्य है कि शुरू से ही मनु मे आत्मालोचन का स्वर है। किन्तु इस स्वर मे जीवन की सकर्मक प्रेरणा नही झलकती। इसके विपरीत, उसमे निराशात्मक आत्मव्यर्थता के भाव हैं। श्रद्धा मनु को अँधियारे भावो से मुक्त करती है। वह उसकी प्रयसी और पत्नी बन जाती है। श्रद्धा उसे अपना हृदय समर्पित कर देती है। श्रद्धा और मनु के परस्पर-सम्बन्ध, नि सन्देह निजी व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। वे अत्यन्त कोमल हैं, वे गहन मानवीय प्रेरणाओ से प्लुत हैं। फिर भी वे सम्बन्ध व्यक्तिगत-जीवन-क्षेत्र ही के समझे जायेंगे, न कि सामाजिक-सार्वजनिक क्षेत्र के।

श्रद्धा-परित्याग के अनन्तर मनु का मन शान्त नही रहता। वह उद्विग्न और बेचैन है। तब मनु आत्मालोचन के बहाव मे बहने लगते हैं कि इतने मे उन्हे यह स्वर सुनायी देता है

> मनु, तुम श्रद्धा को गये भूल,
> उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उडा दिया था समझ तूल।
> तुम भूल गये पुरुषत्व-मोह मे कुछ सत्ता है नारी की
> समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

दूसरे शब्दो मे, मनु को यह बात अखरती है कि उसने श्रद्धा-त्याग किया। सच पूछा जाये तो उक्त वाक्य मनु के हृदय म उभर उठे हैं।

अब आगे सारस्वत नगर के निर्माण के अनन्तर मनु द्वारा इडा का घर्षण-प्रयत्न और प्रजा से युद्ध होता है। मनु आहत होकर मूर्च्छित हो जाते है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि मनु ने (**कामायनी** मे) तीन महान् अपराध किये हैं। पहला है, श्रद्धा-परित्याग। दूसरा है, इडा घर्षण प्रयत्न। तीसरा है, अपनी ही प्रजा मे युद्ध। श्रद्धा-परित्याग का अपराध गहन वैयक्तिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। दूसरे दो अपराधो का सम्बन्ध राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्र से है। इतिहास-क्रम की दृष्टि से प्रथम अपराध वस्तुत प्रथम है। दूसरा और तीसरा अपराध एक के-बाद-एक होता है।

प्रजा से युद्ध के उपरान्त का दृश्य। युद्ध-स्थल। सब ओर मृतक और आहत फैले हुए हैं। वही कही इडा बैठी हुई है अवसन्न और उदास। मनु भी वही कही मूर्च्छितावस्था मे पड़े हुए है। श्रद्धा आती है। उसके कोमल स्पर्श का अनुभव कर उनकी आँखें खुलती है। श्रद्धा के प्रिय स्निग्ध व्यक्तित्व के दर्शन कर उन्हे बोध होता है, श्रद्धा के प्रति अपने किये पर पश्चात्ताप होता है। साथ ही उन्हे स्वय के प्रति क्षोभ भी उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि उन्हे श्रद्धा की उपस्थिति मे जो पश्चात्ताप होता है, वह किस अपराध के प्रति है? 'निर्वेद' सर्ग मे मनु के पूरे आत्मोद्‌गार आद्यन्त पढ जाइये। आप यही पाइयगा कि मनु को श्रद्धा-परित्याग का दु ख है, न कि इडा पर स्वय-कृत शारीरिक आक्रमण का, न अपने द्वारा की गयी जन-हत्या का। श्रद्धा के प्रति तो वे क्षमा-प्रार्थी हैं। हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने श्रद्धा के साथ जो बर्ताव किया, उसके प्रति उन्हे सचमुच पश्चात्ताप हुआ, दु ख हुआ। किन्तु सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र मे उन्होंने जो घोर अपराध किये, उन्हें शायद वे अपराध ही नही समझते। उन अपराधो के प्रति उनके मन मे कोई पश्चात्ताप नही है। ध्यान रखने की बात यह है कि ये अपराध मनु के व्यक्तित्व-विकास के अगले चरणो से सम्बन्ध रखते है। इसलिए पाठक की यह सहज भावना होती है कि देखें, आगे चलकर लेखक किस प्रकार मनु की आत्म परिणति कराता है। सक्षेप मे, पाठक का ध्यान सामाजिक-राजनैतिक अपराधो के प्रति रहता है, क्योकि वे सबसे ताजी घटनाएँ हैं।

श्रद्धा के प्रति क्षमाप्रार्थी होकर भी मनु के हृदय मे विशेष पश्चात्ताप नही है। जो पश्चात्ताप और दु ख उसे वस्तुत है वह एक बहुत पुरानी बात के प्रति है, और वह भी वैयक्तिक क्षेत्र की बात के प्रति। क्षमा प्रार्थी हो चुकने के अनन्तर मनु चुप हो जाते हैं। श्रद्धा की आँख लग जाती है। तब मनु पड़े-पड़े सोचते हैं

> और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर
> इनका क्या विश्वास करूँ
> प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबाकर
> मन ही मन चुपचाप मरूँ।

सक्षेप मे, मनु राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्र मे किये गये अपने अपराधो को स्वीकार करने और पश्चात्ताप करने के बजाय यह सोचते है कि उनके स्वय के द्वारा सताये गये लोग सचमुच उनके शत्रु हैं (उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे!)। मनु स्वय कहते है कि उन लोगो के लिए उनके अपने मन मे प्रतिहिंसा और प्रतिशोध के भाव हे। प्रसाद यह कही नही बतलाते कि मनु को सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र मे किये गये अपने अपराधो के लिए सचमुच दु ख हुआ है। बिना पश्चात्ताप के

अपराधो से मुक्ति कैसी ! मजा यह है कि श्रद्धा का भी यह आग्रह नही है कि मनु को सामाजिक-राजनैतिक जीवन मे किये अपने दुष्कृत्यो पर पश्चात्ताप होना आवश्यक है। नही, इसके विपरीत, मानवतावादी श्रद्धा मानव आदर्शों के विरुद्ध किये गये कुकर्मों के कारण मनु के प्रति विक्षुब्ध होने के बजाय उसे अपने अचल मे दुलराती है। यदि प्रसाद श्रद्धा को केवल पत्नी रूप म उपस्थित करते, तो हम मनु के दुलराये जाने पर कोई आपत्ति नही होती। परन्तु श्रद्धा के ठाठ तो ये है कि वह दार्शनिक भी है और मसीहा भी। श्रद्धा की मगलमयी मातृमूर्ति को देख मनु प्रभावित हो जाते हैं। किन्तु हमे श्रद्धा के बारे म सन्देह हो उठता है। मनु जब यह देखते हैं कि श्रद्धा अपने पुत्र को इडा के हाथ मे सौंप आयी है, तो उन्हे बहुत क्षोभ और दु ख होता है। क्यो ? इसलिए कि मनु के अनुसार सारस्वत प्रजाजन और उनकी अध्यक्षा इडा श्वापद के समान हिंसक हैं। दूसरे शब्दो मे, मनु सारस्वत प्रजाजनो को और इडा को पशु और हिंसक कहकर गाली देता है। ध्यान मे रखने की बात है कि इडा ने मनु के प्रति कोई अपराध नही किया है, न प्रजाजन ने। मनु कहते हैं

वे श्वापद-से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बालवीर।

पहली पक्ति इडा और सारस्वत प्रजाजनो के सम्बन्ध म है, तथा दूसरी पक्ति मनु-पुत्र के सम्बन्ध मे। ध्यान रहे कि इडा-घर्षण का प्रयत्न मनु ने किया। मनु के अत्याचारो से इडा को मुक्ति दिलाने के लिए जब जनता उत्तेजित हुई तब जनता का वह विद्रोह न्यायोचित था। किन्तु सामाजिक और राजनैतिक अपराध करने-वाला यह [illegible]

गुरुतर अपराध किसने किया ? मनु ने या किसी और ने ? क्या घर्षण-यत्न न्यायोचित था ? क्या प्रजा का रक्तप्लावित दमन न्यायोचित था ? श्रद्धा, प्रसादजी और मनु—इन तीनो मे से कोई भी ये प्रश्न नही पूछते। उन्हे यह पूछने की आवश्यकता ही क्या है ! मानवता के सकर्मक आदर्श दूसरो के लिए है, छोटो के लिए हैं। किन्तु वरिष्ठो के लिए, ज्येष्ठो के लिए, सन्तो और उनकी शरण मे आये शासको के लिए, मानवादर्श भिन्न हैं ! उनके सौ गुनाह माफ है, क्योकि नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, 'यथार्थवादी इन समस्त द्वन्द्वो का समाहार एक नित्य-सत्ता म करते हैं, और खुली आँख स उस सत्ता की सम्पूर्ण लीला का रस लेते हैं।" सक्षेप म, वे लोग भले और बुरे के, न्याय-अन्याय के, बिलकुल परे है। अतएव मनु को सामाजिक राजनैतिक क्षेत्र के स्वय कृत अपराधो के सम्बन्ध मे पश्चात्ताप होने का कोई सवाल ही नही उठता—मनु के हृदय मे नही, श्रद्धा के हृदय मे तो नही ही, प्रसादजी के अन्त करण मे बिलकुल नही, और प्रसादजी के समीक्षको का तो सवाल ही नही उठता।

इन राजनैतिक-सामाजिक अपराधो के लिए अन्त तक मनु को कोई पश्चात्ताप नही होता। और जब मनु श्रद्धा के सामने इडा और सारस्वत प्रजाजनो को 'श्वापद-से हिंसक अधीर' कहते है तब उससे श्रद्धा को बुरा भी नही लगता। श्रद्धा इन अपराधो के सम्बन्ध मे मनु की कोई आलोचना नही करती। वह केवल इतना

कहती है कि तुम्हारा अपराध (इस प्रकार के रागद्वेषात्मक) बन्धन ही है। वह कहती है

अपराध तुम्हारा वह बन्धन लो बना मुक्ति
अब, छोड स्वजन निर्वासित तुम क्यों लगे डक।

इसका गद्यानुवाद कुछ इस प्रकार का होगा—*वह बन्धन जो रागद्वेषात्मक* है, वह तुम्हारा अपराध है। रागद्वेषात्मक प्रतिक्रिया के कारण तुमने उन लोगों को छोड दिया है, तो ऐसी स्थिति म तुम अब उनको अपने मन से भी हटा दो, (प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, विक्षोभ और क्रोध की भावनाओं में मत जलो), उनम स्वय ही निर्वासित होकर तुमने अपनी मुक्ति पा ली है, तो उन पुरानी बातों के बार-बार उठनेवाले खयालों म भी पीछा छुडाओ। पुरानी बातों को याद कर जो डक लगता है, उस डक ही को निकाल फेंको।

सक्षेप म, *श्रद्धा मनु को यह सलाह देती है कि वह पिछली बाते भूल जाय।* श्रद्धा को स्वय इस बात पर दु ख नही होता कि मनु एक घनघोर अपराधी है, ऐसा अपराधी जिसे क्षमा नही किया जा सकता जब तक कि वह स्वय पश्चात्ताप की अग्नि म न गले।

भले और बुरे के द्वन्द्व का नित्य-सत्ता म समाहार करनेवाली और उस नित्य-सत्ता की सम्पूर्ण लीला का रस लेनेवाली प्रसादजी की श्रद्धा, मनु के प्रति अत्यन्त पक्षपाती है। 'मैं लोक-अग्नि म तप नितान्त, आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त' का झूठा दावा करनेवाली श्रद्धा, मनु की पाशविक वृत्ति का शिकार होते होते बचनेवाली निर्दोष इडा को प्रदीर्घ उपदेशात्मक व्याख्यान देने के बाद कहती है

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता, मरु, नग या कुज गली।
वह भोला इतना नही छली,
मिल जाएगा, हूँ प्रेम पली।

श्रद्धा की दृष्टि से, मनु बहुत भोला है। ढूँढने पर श्रद्धा को वह अवश्य कही-न-कही मिल जायेगा।

इडा के सम्बन्ध म श्रद्धा का मत यह है। वह इडा से कहती है

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही।

सक्षेप मे श्रद्धा का जो प्रिय पात्र मनु है वह सर्वथा क्षम्य है। इडा का दोष या सीमा या अक्षमता, कुछ भी कहिए—वह मनु को एकदम क्षमा न कर पायी। श्रद्धा तो स्वय क्षमा की मूर्ति है। मनु श्रद्धा के सम्बन्ध म कहता है

*कल्याण मयी वाणी कहती*
तुम क्षमा-निलय मे ही रहती।

श्रद्धा तो क्षमाशील है ही। उसके प्रभाव के अन्तर्गत, इडा भी पुराने घावों की याद भूलकर, ऋषिवत् रूप म स्थापित मनु और उनकी प्रेरयित्री श्रद्धा के पवित्र मुखारविन्द के दर्शन के लिए हिमालय जाती है।

अजीब हालत है! विचित्र व्यवस्था है! भीषण अपराध करनेवाले के मन म यदि पश्चात्ताप की अग्नि होती और उसके पश्चात्तप्त हृदय की आत्मग्लानिपूर्ण *स्थिति देखकर हमारा भी हृदय दुखित होता, तो उस अपराधी को क्षमा कर देने*

की बात सोची जा सकती थी। किन्तु प्रसादजी तो क्षमा की फिलॉसफी सामने रखते हैं।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि **कामायनी** म प्रदर्शित मनु के चरित्र विकास के अन्तर्गत बताया गया मनु-कृत प्रथम अपराध श्रद्धा-त्याग है। इस अपराध के सम्बन्ध में मनु को पश्चात्ताप हुआ है यह भी **कामायनी** में बतलाया गया है। किन्तु यह अपराध निजी वैयक्तिक-सम्बन्ध क्षेत्र से ही सम्बन्ध रखता है। यदि मनु का जीवन केवल निजी वैयक्तिक क्षेत्र में ही सीमित होता—यदि मनु सिर्फ प्राइवेट इण्डिविज्युअल होता—तो श्रद्धा-त्याग के स्वय-कृत अपराध के प्रति उसका पश्चात्ताप क्षमा-दान की आधार-भूमि हो सकता था। किन्तु मनु प्राइवेट इण्डिविज्युअल नहीं है, उसका अपना एक राजनैतिक-सार्वजनिक जीवन रहा है। राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्र में मनु-कृत अपराध गुरुतर तथा घोरतर है। ऐसी स्थिति में, मनु की आध्यात्मिक मुक्ति-दशा की तैयारी मनु-कृत सच्चे हार्दिक पश्चात्ताप से ही हो सकती थी। किन्तु उन सामाजिक-राजनैतिक अपराधों के लिए मनु को कहीं कोई पश्चात्ताप नहीं होता।

प्रसादजी ने श्रद्धा जैसे स्त्री-सन्तों द्वारा मनु को क्षमा करवाकर अपराधी मनु को एक हानिप्रद ऊँचाई प्रदान की है, कल्याण और मगल की स्थापना के बहाने अकल्याण और अमगल को नये अवसर दिये हैं। क्षमा की फिलॉसफ़ी जनता के विरुद्ध हिंसा को सह सकती है, हिंसक की आवेगपूर्ण भर्त्सना नहीं। इस प्रकार प्रसादजी व्यवहारत अन्याय का मार्ग मुक्त करते हैं। सक्षेप म, वह जीवन-दर्शन जो **कामायनी** में सोदाहरण, दृष्टान्त-सहित, उपस्थित किया गया है, वह एकदम जन-विरोधी और प्रतिक्रियावादी है। इसम आश्चर्य ही क्या कि इस जीवन-दर्शन ने वास्तविक समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया, वरन् इसके विपरीत उन समस्याओं को और उलझा दिया है। इसम आश्चर्य ही क्या कि आज भारत म व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्धों के आधार पर अन्यायपूर्ण पक्षपात है, और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्धों की इस फिलॉसफी से किस प्रकार हमारे देश में अवसरवाद पनप रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है।

सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में घोरतर अपराध करनेवाले मनु को—ऐसे मनु को, जिसके हृदय में उन स्व-कृत अपराधों के लिए कोई पश्चात्ताप भावना नहीं है—अपने अचल में दुलराकर रखनेवाली श्रद्धा ने न केवल उसकी (मनु की) इज्जत बचा ली, वरन् उसे अपनी ओर से इस तरह और सम्मान दे दिया। ऐसी श्रद्धा यदि यह कहे तो कौन विश्वास करेगा

> यह विष जो फैला महा विषम,
> निज कर्मोन्नति से करते सम।
> सब मुक्त बने, काटेंगे भ्रम,
> उनका रहस्य हो शुभ सयम।
> गिर जायेगा जो है अलीक,
> चलकर मिटती है पड़ी लीक।

हम यह कहेंगे कि श्रद्धा का यह कोरा इच्छित विश्वास है। अन्याय के दमन और न्याय के सक्रिय पक्ष-समर्थन के बिना, केवल शुभ-भावनाओं के वायवीय आधार पर, जगत् का कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार के उद्गार केवल गहन-

गूढ आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक दम्भ है, क्योंकि ऐसे उद्गारों को निकालनेवाले व्यक्ति का चरित्र सामाजिक-उत्तरदायित्व भावना से, राजनैतिक-उत्तरदायित्व-भावना से, सर्वथा विरहित है। फिर वह जगत् को उपदेश देने का मसीहाई बाना भी तो रखता है!

# 8

श्रद्धा की अवतारणा हेतुमूलक है, प्रसादजी ने मनु की मुक्ति के लिए ही मानो उसको उठाया हो। यद्यपि श्रद्धा में प्रारम्भ से लगाकर अन्त तक आदर्शवाद ही आदर्शवाद (अन्त में आध्यात्मिक जीवनोपदेश और दर्शन) दिखायी देता है, किन्तु स्थिति भेदानुसार उसके चरित्र में अन्तर तो आता ही जाता है भले ही हम उस अन्तर को विकास न कह पायें। किन्तु निःसन्देह, विशेष अर्थ में, उसे विकास भी कहा जा सकता है। इसी बात की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

कथानक में अपने प्रथम अवतरण-काल में श्रद्धा जीवन के वास्तविक निर्माणात्मक पक्ष का सन्देश लेकर आयी है। जब वह मनु को विषण्ण उदास तथा एकाकी देखती है तो सहज उसके मुँह से मनु को लक्ष्य कर यह निकल पड़ता है

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निःशेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश?
दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।
× ×
काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

यह श्रद्धा के चरित्र का प्रारम्भिक रूप है। यद्यपि वह आगे चलकर अद्वैत-वादिनी-रहस्यवादिनी हो जाती है किन्तु इस समय जीवन की निर्माणात्मक प्रतिभा का उल्लास और आनन्द उसके हृदय में है। अतएव मनु का उदासीन रूप उसे खटकता है। वह चाहती है कि मनु उदासीनता का कीचड़ अपने हृदय से धोकर निकाल दें। इसीलिए वह निराशात्मक व्यर्थता की भावना और कष्ट को बुरा समझती है, तथा जीवन की निर्माणात्मक प्रवृत्तियों के आनन्द का सन्देश उसे सुनाती है। अतीत की स्मृतियों से ग्रस्त मनु से वह कहती है

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न वासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन मे टेक।
युगो की चट्टानो पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर,
देव गन्धर्व असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

पुरातनता के मैले कुचैले वस्त्रो को उतारकर वास्तविक जीवन निर्माण की ओर मनु को उन्मुख करते हुए श्रद्धा कहती है

एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड का चेतन आनन्द।

श्रद्धा प्रारम्भ म किस प्रकार भौतिक मुख समृद्धि की प्रगल्भ प्रेरणा तैयार करती है, यह देखते ही बनता है। बहुत ही मार्मिक सहानुभूति से वह मनु की स्थिति की विशेषताएँ समझती हुई कहती है

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार,
तपस्वी! आकर्षण से हीन
कर सके नही आत्म विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ,
खोजते भी न कहीं अवलम्ब,
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मै बिना विलम्ब।

और आगे ·

समर्पण लो सेवा का भार
सजल संसृति की यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल म विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

फिर कहती है :

बनो ससृति के मूल रहस्य
तुम्ही से फैलेगी यह बेल,
विश्व फिर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

मनु के लिए यह सन्देश कितना महान है

डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिची आवेगी सकल समृद्धि।
विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटे सागर, बिखरे ग्रह पुज
और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण।
उन्हे चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खडी सानन्द,
आज स मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल मे रहे न बन्द।

× × ×

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे है हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

वस्तुत, देखा जाय तो हमारा भारतीय राष्ट्रवाद इन्ही आशा-आकांक्षाओ को लिये हुए, अपनी अवस्था-विशेष मे, इस प्रकार प्रकट हुआ। उसी का सबल मधुर स्पन्दन श्रद्धा की वाणी मे उद्घाटित हुआ है। उस राष्ट्रवाद की (उसी के सन्दर्भ से हमारे पूँजीवाद की) वह एकाकी विपण्ण स्थिति दूर हुई, और भारतीय जनता ने, बहुत आत्मविश्वास, गम्भीर मनोबल तथा मानव-भविष्य मे आस्था प्रकट करते हुए, मुक्ति-सघर्षो को मञ्जिलें नापने के लिए अपने विराट भुजदण्ड बढाये। उसके प्रथम आत्मविश्वास की सास्कृतिक झलक न केवल **कामायनी** मे, वरन् प्रसादजी के अन्य साहित्य मे भी मिलती है।

किन्तु, राष्ट्रवाद की तीव्रता के साथ ही हमारे समाज मे एक ऐसे वर्ग का भी उत्थान हुआ, जिसकी प्रवृत्तियाँ ऐसी नहीं थी कि उससे कुछ अधिक आशा की जा सके। प्रसादजी का व्यवसाय वैश्य-व्यवसाय था। उसकी यथार्थताओ से खूब परिचित होना उनके लिए स्वाभाविक ही था। उनकी व्यावसायिक जीवन-यापन-पद्धति ने उनको उस वर्ग के अन्तर्भेद की क्षमता प्रदान की। उन्होने जाना कि वह वर्ग आज भी दो वृत्तियो की प्रधानता रखता है—प्रभुत्व भावना और विलासाकुलता। जनता के जोर से, यह वर्ग राजनैतिक क्षेत्र मे अधिक से-अधिक सक्रिय हो रहा था। राष्ट्रवादी सघर्ष बढते जा रहे थे। किन्तु प्रसादजी उसके वर्ग-यथार्थ के सम्बन्ध मे तो मार्क्सवादी शब्दावली का भले ही प्रयोग न करें, वे इतना तो जानते ही थे कि यह वर्ग —यह शासक वर्ग—अत्याचारी वर्ग है। अपने इस मत

साराश यह कि इस शासक-वर्ग की जो आलोचना उन्होंने की, वह अत्यन्त स्पष्ट तथा तीव्र होते हुए भी क्रान्तिवादी समीक्षा नही थी। प्रसादजी वास्तविक वर्ग-सम्बन्धो को जानते नही थे। वे इतिहास के मूल विकास-नियमो से परिचित नही थे, यद्यपि द्वन्द्वो की सत्ता मानते थे। जैसे, उन्होने स्वय 'इडा' सर्ग मे लिखा है

द्वन्द्वो का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूलमन्त्र।

किन्तु सभ्यता-समीक्षा का, समाज-समीक्षा का, उनका दृष्टिकोण एक ओर सामन्ती-औपनिवेशिक प्रभाव-छायाओं का, तो दूसरी ओर, उदार-मतवादी पूँजीवाद का छोर छूता था। वे कहाँ तक प्रगतिशील थे और कहाँ तक प्रतिक्रियावादी, यह प्रश्न हम अगले प्रसगो मे उठायेंगे।

प्रसादजी की विश्व-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि श्रद्धा के चरित्र म प्रकट हुई है। अतएव उपर्युक्त चर्चा यहाँ अप्रासगिक नही है। केवल एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। वह यह कि जनता और शोषक-शासक वर्ग से (जिसके व्यक्तिवाद का प्रसादजी ने चित्रण करना चाहा है) अपनी दूरी के कारण प्रसादजी ने फैण्टेसी का माध्यम चुना। ठीक यथार्थवादी चित्र तो कदाचित वे परिपक्व रूप से चित्रित नही कर सकते थ। सफल उपन्यासकार वे थे भी नही। अपने विषय से सम्बन्धित जीवन-तथ्यो को निर्मित करनेवाली सामाजिक शक्तियो की जानकारी के अभाव मे, तथा उन जीवन-तथ्यो के प्रति भाववादी दृष्टि के कारण, वे उन तथ्यों की चित्रावली को वैज्ञानिक रूप से निबद्ध, गुम्फित तथा अकित कर ही नही सके। उदाहरणत, श्रद्धा ने जिस मानवता की विजय की घोषणा की थी, उसके निर्माण के प्रयत्न इडा पूर्व श्रद्धा के कार्यकाल मे ही आरम्भ हो जाने चाहिए थे। किलात और आकुलि के सहचरत्व से मानवता निष्पन्न नही हुई थी। यदि प्रसादजी को मनु तथा श्रद्धा को आदि-मानव और आद्या मानवी के रूप मे ही प्रस्तुत करना था, तो फिर समाज विकास के प्रारम्भिक इतिहास को ध्यान म रखकर करना था और मानवता की विजय की घोषणा की आवश्यकता ही नही थी। वस्तुत, सारस्वत सभ्यता तक आने के लिए आदि-मानव को हज़ारो वर्ष बीते हैं। यदि ऐतिहासिक मनु की कथा ही कहनी थी, तो आधुनिक पूँजीवादी समाज का ह्रास ग्रस्तता तथा उग्र व्यक्तिवाद के प्रवृत्ति-मण्डलो को, आधुनिक तथ्यो को तथा सभ्यता-समीक्षा को, उसमे निहित करने की आवश्यकता नही थी। तात्पर्य यह कि **कामायनी** आदि-मानव की कथा है ही नही। वह ऐतिहासिक काव्य भी नही है। वह एक आधुनिक काव्य है, जिसमे आधुनिक समस्या है, जिसको एक कथा-फैण्टेसी के विशाल चित्र फलक मे अकित किया गया है। निश्चय ही, यदि इस प्रकार आधुनिक समस्या को प्रस्तुत करना था तो उस समस्या की पार्श्वभूमि तथा उसके विकास-क्रम को सगठित रूप से, हर बात का ध्यान रखते हुए ही, प्रस्तुत करना था। किन्तु प्रसादजी ने ठीक छायावादी कवि की स्वय-गति द्वारा ही (अपने विषय के निरूपण, प्रतिपादन चित्रण की विशेष आवश्यकताओ को ध्यान मे न रखकर) **कामायनी** प्रस्तुत की है।

किन्तु इस अभाव के पीछे प्रसादजी का अकौशल इतना नही है, जितना कुछ विशेष-जीवन-तथ्यो से भागना, जिसमे उनकी छायावादी अन्तर्मुख अभिरुचि का

भी बडा हाथ है—जो अभिरुचि उनकी व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता के द्वारा काटी-छाँटी-तराशी गयी है।

किन्तु, इस तराशने में केवल शब्दों को हटाया नहीं जाता, वरन् उन अर्थ-चित्रों को हटाया जाता है जो उस अभिरुचि के अनुकूल नहीं होते। फलतः, अस्पष्ट खण्डित अंश तथ्य ही उपस्थित होते हैं। तथ्यों के प्रति जो प्रगाढ अनुभूति चाहिए, वह उपस्थित होते हुए भी सारी विचारधारा, सारी अभिरुचि उसके प्रतिकूल दौड पडती है। फलस्वरूप उनका मूल्यांकन ठीक-ठीक नहीं हो पाता, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका चित्रण भी वस्तु-सामंजस्य तथा श्रम-सगति लेकर नहीं होता, वरन् उलट-पुलट और उलझा हुआ होता है। इसके उदाहरण पाठक के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं।

श्रद्धा पशुओं के बलिदान से विरक्त होकर मनु के प्रति यह कहती है

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है,
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा,
अन्तर्दाह परम से।
उद्वेलित हैं उदधि लहरियाँ,
लौट रही व्याकुल-सी।
चक्रवाल की धुँधली रेखा,
मानो जाती झुलसी।
जगतीतल का सारा क्रन्दन,
यह विषमयी विषमता।
चुभनेवाला अन्तरग छल,
अति दारुण निर्ममता।

सवाल यह है कि ऐसा कौन-सा बडा भारी युद्ध हो गया है कि जिससे यह कहा जाये कि 'विश्व विपुल आतंक त्रस्त है अपने ताप विषम से'। किलात, आकुलि और मनु पशुओं की हत्या करते तो आखिर कितनी कर सकते थे। और स्थिति ही ऐसी थी कि वे अपनी उदर पूर्ति तथा आत्म-रंजन के लिए कोई मार्ग भी देख नहीं रहे थे। मजा यह है कि उन दिनों, जैसा कि प्रसादजी ने चित्रित किया है, कृषि का भी जन्म नहीं हुआ था। तो ऐसी स्थिति में श्रद्धा का आदर्शवादी शब्द-प्रवाह समझ में नहीं आता। या तो प्रसादजी पागल थे या श्रद्धा। किन्तु दोनों में से एक भी पागल नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रसादजी जब श्रद्धा द्वारा यह कहलाते हैं, तब उनके सामने आधुनिक सामाजिक-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-तथ्य हैं। बुद्धि तो ऐसे प्रश्न कर रही है, जो कदाचित् बुद्ध के मन में भी नहीं उठे होंगे। बुद्ध ने संसार के दुख दैन्य को देखा और अपने विशेष मार्ग द्वारा इस दुख-दैन्य से छुटकारा पाने की प्रेरणा दी। किन्तु श्रद्धा तो यह पूछती है :

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों?

निश्चय ही प्रसादजी के सम्मुख मात्र बलिपशु नहीं, वरन् साक्षात् मानवी बलिपशु हैं जिनका रक्त पीकर ही किसी के कपोलों में लालिमा जाग उठी है। अगर प्रसादजी के सम्मुख अपना युग न होता, तो श्रद्धा प्रसादजी के भाव विचार-

आदर्शों की प्रतिनिधिरूपिणी न हो पाती। और अगर उनके सामने आधुनिक जीवन-तथ्य नहीं थे, तो श्रद्धा की सारी बातें, आदिकालीन परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए, शुद्ध प्रलाप ही कही जा सकती हैं। प्रसादजी स्वयं अपने पात्रों को सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु यह सांकेतिक अभिव्यक्ति है काहे की? प्रसादजी उन पात्रों को अपनी दार्शनिक विचारधारा के प्रतीक मानते हैं। किन्तु उनके पात्र, जैसे कि वे चित्रित किये गये हैं, दार्शनिक विचारधारा के आधार-स्वरूप रहनेवाली वास्तविक जीवन-प्रवृत्तियों को सूचित और निर्देशित कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि यह नहीं देखा गया कि जिन बातों को ध्यान में रखकर पात्रों का सूत्र-संचालन कराया जा रहा है, वे बातें ठीक-ठीक सम्बद्ध होकर उभरी हैं या नहीं। फलत, यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि कामायनी मात्र एक मनोवैज्ञानिक काव्य है। मनोविज्ञान किसी वस्तु-विषय को, कुछ जीवन-तथ्यों को, लेकर ही उपस्थित होता है, या कहो आसमान से चू पड़ता है? वे जीवन-तथ्य क्या हैं? वे वास्तविकताएँ क्या हैं? इनके प्रति आलोचकों ने उपेक्षा तो बरती ही, स्वयं प्रसादजी ने, अपनी विचारधारा द्वारा निर्णीत प्रतीकत्व का उन पर आरोप कर, भ्रम को और भी अधिक घनीभूत कर डाला। फलत, कामायनी के सम्बन्ध में समीक्षा-चिन्तन स्पष्ट नहीं हो पाया, निखर नहीं पाया। भ्रम को घनीभूत करने का बहुत कुछ श्रेय-प्रेय (उत्तरदायित्व) प्रसादजी पर भी है।

तात्पर्य यह है कि पात्रों के द्वारा जो विचार प्रकट कराये गये हैं, उनकी मात्रा तथा स्वरूप के अनुसार न तो जीवन-तथ्यों को चित्रित किया गया है, न जीवन-तथ्यों को इस प्रकार सूचित-संकेतित किया गया है कि वे विचारों की समुचित पार्श्वभूमि में उपस्थित हो सकें। मेरा मतलब खासकर 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्ग से है। वास्तविकता तो यह है कि उपर्युक्त दो सर्गों में प्रसादजी के कल्पना-चित्रों के पीछे जीवन के वे तथ्य हैं, जिनके प्रति उनके मन में नित्य प्रतिक्रियाएँ होती रहती थीं। नहीं तो इन पंक्तियों का क्या अर्थ है? श्रद्धा कहती है

> कल ही यदि परिवर्तन होगा
> तो फिर कौन बचेगा,
> क्या जाने कोई साथी बन
> नूतन यज्ञ रचेगा!
> और किसी की फिर बलि होगी
> किसी देव के नाते;
> कितना धोखा! उससे तो हम
> अपना ही सुख पाते।
> ये प्राणी जो बचे हुए हैं
> इस अचला जगती के;
> उनके कुछ अधिकार नहीं
> क्या वे सब ही हैं फीके!
> मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
> उज्ज्वल नव मानवता?

जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हत, बची क्या शवता !

क्या उपर्युक्त पंक्तियों में वलिपशुओं के प्रति बौद्ध-करुणा ही का भाव है या कुछ और?

इसके उत्तर में जब मनु यह कहता है कि—

तुच्छ नहीं है अपना भी सुख
श्रद्धे ! वह भी कुछ है।

तो वह जवाब देती है :

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !
× × ×
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोडोगे,
इतर प्राणियों की पीडा लख
अपना मुँह मोडोगे।

सुख को अपने में केन्द्रित कर व्यक्ति न तो संसार को सुखी कर सकता है, न स्वयं वह सुखी रह सकता है। अगर कलियाँ सारा सौरभ अपने में बन्द कर लें, और मकरन्द-बिन्दु सरस होकर उसको वितरित न करें, तो क्या होगा? वे स्वयं ही खिल नहीं सकतीं। खिलीं कि सौरभ भागा, मकरन्द ढुलका। किन्तु, खिल न सकने के कारण उनकी जीवन-सफलता की भी तो हानि हुई। श्रद्धा कहती है

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें,
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुलकर तो ये मर लें !
सूखें, झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे,
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे !

मनु के सम्बन्ध में श्रद्धा के सम्मुख यह प्रश्न ही क्यों उठा? प्रश्न इसलिए उठा कि मनु नयी मानवता की रूप-रचना करने जा रहा है। इसलिए प्रश्न यह है कि उसकी नयी मानवता एक-दूसरे को खा जाने के सिद्धान्त पर बनेगी, या सबके सुख के लिए बनेगी? यह सवाल है श्रद्धा के सामने।

इस सन्दर्भ से देखा जाये तो मनु प्रणीत सभ्यता-आरम्भ के बारे में यह प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त है

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों !

श्रद्धा के अन्तःकरण में अपनी प्रथम महत्त्वपूर्ण मानव-विजय-घोषणा का उल्लास अब शेष नहीं रह गया। नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। वह सोचती है

कि ऐसी कौन-सी मानवता है जो एक-दूसरे के खा जाने के आधार पर ही बनी हुई है। यह वस्तुत मानवता ही है या शवता। वह कहती है

विश्व विपुल आतक-त्रस्त है
अपन ताप विषम से।

मानवता के सम्बन्ध म सोचते-सोचते वह इस वस्तु-तथ्य पर उतरती है

यह विराग सम्बन्ध हृदय का,
कैसी यह मानवता।

निश्चय ही, श्रद्धा की यह भावना बौद्ध करुणा-भाव की कल्पना से मापी नही जा सकती। यद्यपि यह सच है कि बलिपशुओ की हत्या के विरुद्ध बौद्ध करुणा-भाव ने पर्याप्त जागृति उत्पन्न की, तथा उस ऐतिहासिक घटना-सत्य की प्रभाव-छाया *न केवल कामायनी म, वरन् प्रसादजी के अन्य नाटको मे भी पायी जाती है।* प्रश्न यह है कि यदि केवल बौद्ध करुणा की स्थापना प्रसादजी का उद्देश्य होता, तो श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यो और लम्बे वक्तव्यो के औचित्य के लिए वैसी शक्तिशाली प्रसगात्मक पार्श्वभूमि भी प्रस्तुत की जाती। किलात, आकुलि, मनु द्वारा नियोजित पशु-वधो की सख्या, वस्तुत, इतनी अधिक हो ही नही सकती कि हम यह कह सके कि विश्व आतक-त्रस्त है, और यह मानवता कैसी है कि जिसम हृदय का विराग सम्बन्ध है। विशेषकर मनु जब कृषि-प्रणाली तक पहुँचा ही नही है (वह आरम्भ ही नही हुई है), तब यदि वह शिकार खेलकर उदर-पूर्ति और आत्मरजन की सामग्री के लिए लालायित रहता है, तो इस स्थिति मे 'विश्व', 'मानवता' आदि बृहत सत्ताओ के सम्बन्ध मे सोचने का कोई औचित्य ही प्रस्तुत नही होता है, न वह स्वाभाविक ही है। फलत, हमको इसी निष्कर्ष पर आना पडता है कि श्रद्धा के मन्तव्यो और वक्तव्यो के पीछे कुछ ऐसे वस्तु-तथ्य है जो मात्र सकेतित हैं, अपन मूलरूप म उपस्थित नही।

वे वस्तु-तथ्य हैं उस समाज के, जिसकी रूप रचना हुई तो थी बडे आदर्श रखकर, जिसकी स्थापना हुई तो थी ऊँचे लक्ष्यो से, जिसका उन्नयन हुआ तो था बहुत प्रेरणापूर्वक, किन्तु अन्तत वह निकला विषमता ग्रस्त। श्रद्धा इस विषमता पर आँसू बहा रही है। मनु तो केवल इतना कहता है

*आकर्षण से भरा विश्व यह,*
केवल भोग्य हमारा।

इसका जवाब श्रद्धा देती है

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा,
क्या जाने कोई साथी बन,
नूतन यज्ञ रचेगा।
और किसी की फिर बलि होगी,
किसी देव के नाते।

श्रद्धा किस नये परिवर्तन की बात कर रही है? स्पष्ट बात यह है कि मनु की नयी मानवता के निर्माण मे जितना खून बहा है, उसे देखकर श्रद्धा यह कहती है कि अगर कोई नया परिवर्तन हुआ तो फिर और खून बहेगा। और भी हजारो मारे जायेंगे, रक्तपात होगा। वह किसी दूसरे आदर्श के नाम पर होगा।

क्या जाने कोई साथी बन,

नूतन यज्ञ रचेगा !

शाब्दिक अर्थ करने से भावार्थ यहाँ लुप्त हो जायेगा। 'यज्ञ' का व्यापक भाव ही ग्रहण करना चाहिए।

और परिवर्तन' का अर्थ ? कौन सा परिवर्तन ? काहे का परिवर्तन ? 'परिवर्तन' का अर्थ भी हमको यहाँ व्यापक करना होगा। 'परिवर्तन' का अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार मनु नयी मानवता बना रहा है, उस प्रकार कोई और व्यक्ति मानवता-निर्माण के प्रयत्न करेगा। किन्तु वह करेगा कब ? मनु को हटाने के बाद !

अगर मनु को हटाने के कार्य को नही किया गया, तो फिर वह 'परिवर्तन' नही हुआ, चाहे और कुछ हो। इसीलिए श्रद्धा कहती है

कल ही यदि परिवर्तन होगा,

तो फिर कौन बचेगा !

'परिवर्तन और 'बचेगा' शब्द पर जोर दीजिए। अधिक-से-अधिक परिवर्तन का अर्थ किया जा सकता है प्रलय। अगर प्रलय हुआ तो फिर कौन बचेगा ! अर्थात् मनु, श्रद्धा आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

किन्तु, निश्चित ही, अगर आप कामायनी की कथा को फैण्टेसी मानते हैं, तो प्रलय को भी इस फैण्टेसी का अग ही मानना होगा, और तब प्रलय का अर्थ किया जायेगा भयानक विप्लव और क्रान्ति, समाज रचना मे आमूल परिवर्तन।

अगर आपने उपर्युक्त अर्थ स्वीकार नही किया, तो आपको श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यो और वक्तव्यो की औचित्य-सगति के लिए वैसी शक्तिशाली वास्तविक पार्श्वभूमि के अभाव का सामना करना पडेगा। तो फिर आपको इस निष्कर्ष पर आना होगा कि प्रसादजी के काव्य मे मात्र मनोवैज्ञानिकता है, किन्तु जिन तथ्यो के प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, वे तथ्य तथा उनकी शक्ति की मात्रा, जिसके अनुपात म इतनी तीव्र सबल मानसिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई हैं, आपके दृष्टि-क्षेत्र से बाहर ही रहेंगी, क्योकि वस्तुत वे जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत ही नही किये गये हैं कि वे उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का वास्तविक औचित्य प्रस्थापित कर सकें। वास्तविक जीवन-तथ्यो को ओझल रखकर, उनके प्रति की गयी मात्र मानसिक प्रतिक्रियाओ तथा प्रक्रियाओ का चित्रण करना, छायावाद की प्रमुख विशेषता है। छायावाद मे भाव-पक्ष का चित्रण किया जाता है, विभाव-पक्ष का नही। प्रस्तुत किये गये मनोवैज्ञानिक चित्रो से ही आपको यह अनुमान लगाना पडता है कि वे तथ्य कौन से होंगे, जिन्होंने कवि के मन पर (पात्र के मन मे) इतनी सबल सवेदनाएँ जाग्रत और सचालित की। कामायनी छायावादी काव्य है। इसलिए कवि ने कामायनी के चित्रण मे जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह बहुत बार इतनी अल्प होती है कि जब तक आप प्रसादजी की प्रमुख प्रवृत्तियो को ध्यान मे नही रखते तब तक उनका अर्थ नही लगाया जा सकता। सर्वप्रधान तथा मूलभूत बात यह है कि प्रसादजी के सामने उनके समय का साक्षात् जीवन था, उस जीवन ने उनके सम्मुख जो तथ्य रखे थे उनके प्रति उन्होंने सबल सवेदनात्मक-विचारात्मक प्रतिक्रियाएँ की थी। प्रसादजी चित्रक थे, अपने सामने उपस्थित साक्षात् जीवन के चित्रक। किन्तु वे उस काल मे उत्पन्न हुए थे जिसमें उन्हे बगाल आदि अधिक विकसित प्रान्तो तथा विदेशो मे फैली हुई भाव-विचारधाराएँ प्राप्त हुई थी। तत्कालीन

समाज की विकासावस्था की कडी के एक अश बनकर, वे पुरातन को नवीन सस्करणों मे और नवीन को पुरातन-नवीन के सम्मिश्र सस्करणों मे स्वीकार करते जा रहे थे। भारतीय साहित्य मे वह युग ही वैसा था। एक ओर अद्वैतवाद, गाधीवाद, दूसरी ओर रवीन्द्र भावधारा, और तीसरी ओर ब्रिटिश, फ्रेंच, अमरीकी, जर्मन, जापानी साम्राज्यवाद, प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय घटनाचक्र, देश के भीतर राष्ट्रवाद,साम्राज्यवाद,भूख, गरीबी, गोलियाँ, इत्यादि। इसके साथ आप सयोजित कीजिए प्रसाद का सास्कृतिक-सामाजिक वर्ग-चरित्र, उनकी भाव-विचार पद्धति, उनकी निबिड अन्तर्मुखता, उनकी कल्पनाशीलता, तथा छायावादी प्रकृति से उत्पन्न विशेष साहित्यिक अभिरुचि तथा, स्वय छायावाद और उसकी अभिव्यक्ति की सीमाएँ,तथा साथ ही प्रसादजी की जिज्ञासा, अन्वेषणशीलता, जीवन की समस्याओ की तीव्र अनुभूति तथा उनका समाधान प्राप्त करने की भयानक छटपटाहट और इतनी उलझनो और समस्याओ क अद्वैतवादी-आदर्शवादी समाधान के अलावा, अन्य भूमिका की प्राप्ति के अभाव का वास्तविक जीवन-तथ्य।

फलत, वे एक विशाल फैण्टेसी के कैनवास पर समस्याएँ चित्रित करने लगे, जीवन-तथ्यो को सकेतित-सूचित करने लगे। उन्होंने जीवन-तथ्यो को अस्पष्ट *रखा, किन्तु उनके प्रति की गयी मानसिक प्रतिक्रियाएँ* रूपको और उपमाओ द्वारा प्रस्तुत कर दी।

यह है वास्तविक स्थिति जिसके प्रसादजी एक अग हैं। यह है वह वास्तविक स्थिति जिससे **कामायनी** उत्पन्न हुई। इसको भूलकर, हम **कामायनी** का आकलन-अवगाहन कर ही नही सकते।

इस पार्श्वभूमि को ध्यान मे रखकर ही आप इन पक्तियो का अर्थ-महत्त्व समझ सकते हैं

> विश्व विपुल आतक-त्रस्त है
> अपने ताप विषम से,
> फैल रही है *घनी नीलिमा*
> अन्तर्दाह परम से।
>
> सघन धूम मण्डल मे कैसी
> नाच रही यह ज्वाला।
> तिमिर-फणी पहने है मानो,
> अपने मणि की माला।
>
> जगती तल का सारा क्रन्दन,
> यह विषमयी विषमता।
> चुभनेवाला अन्तरग-छल,
> यह दारुण निर्ममता।
>
> जीवन का सन्तोष अन्य का,
> रोदन बन हँसता क्यो।
> एक एक विश्राम प्रगति को,
> परिकर-सा कसता क्यो।

दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा।
कौन उपाय ? गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा।

यदि श्रद्धा की ये मानसिक [illegible] ेती, तो यह सवाल ही न उठता कि वह [illegible] उसके मन मे उत्पन्न अत्याचारी के प्रति [illegible] रिणत होगा, और इस घृणा के विष को प्रेम के अमृत मे परिणत करने का उपाय क्या है, और उस दुर्व्यवहार को वन्द करने का मार्ग क्या है। इस प्रकार के प्रश्न केवल पशुओ के लिए उत्पन्न हो ही नही सकते। इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वलिपशु की घटना मात्र एक रूपक है। प्रसादजी के सम्मुख अगोचर रूप मे वास्तविक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक-राजनैतिक तथा व्यक्तिगत जीवनक्षेत्र मे लोभ-लालच, अहकार, मुनाफा, शोषण, अत्याचार, दमन और लूट-खसोट का विभ्राट खडा हुआ है, और उसके कारण आपस मे एक-दूसरे के लिए हिकारत, घृणा, वदले की भावना, आतक, भय, मिथ्या का आश्रय, दमन और रक्तपात के विशाल दृश्य दिखायी दे रहे हैं। उनके सम्बन्ध मे श्रद्धा की क्षोभपूर्ण सवेदनात्मक जिज्ञासा उपर्युक्त वाक्यो म प्रकट हुई है।

इस भयानक यथार्थ की सवेदनात्मक अनुभूति के कारण ही, प्रसादजी कल्पना-चित्र पर कल्पना-चित्र उपस्थित करते जाते हैं। अगर यह यथार्थ प्रसादजी के सम्मुख न होता तो वेदकालीन मनु के यथार्थ से इतनी भाव-प्रवलता, इतनी तीव्रता, इतने कल्पना-चित्र प्रस्तुत ही न होते। उदाहरणत ,

विश्व विपुल आतक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।

अपने स्वय के अन्तर्दाह से, अपने ही गर्भ के भीतर ज्वालामुखियो के कम्पन से, विश्व आतक-त्रस्त है। यह कल्पना मूर्ति किस यथार्थ के सादृश्य पर खडी की गयी है ? विश्व के विभिन्न राष्ट्रो के बीच तथा समाज के भीतर जो आत्म-विरोध पैदा हो गया है, वह आत्म विरोध, परस्पर विरोध ही वह ज्वालामुखी है, वह अन्तर्दाह है, जिसके कारण स्वय समाज का, विश्व का, कण-कण आतक त्रस्त है। प्रसादजी ने जिस प्रकार विश्व स्थिति का आकलन किया है, उसी प्रकार का यह समष्टि-चित्र भी उपस्थित किया है। निश्चय ही, जिन तथ्यो मे भावोत्तेजना होती है, वह सदृश वस्तुओ की कल्पना भी कराती है। फलत , इन सदृश वस्तुओ की योजना से उन्ही तथ्यो का स्वरूप-बोध भी होता है जिनसे भावोत्तेजना उत्पन्न होती है। छायावादी काव्य मे उत्तेजित भाव तथा सदृश वस्तुओ की योजना तो रहती है, किन्तु जिन तथ्यो से भावोत्तेजना होती है उनको सामान्यत ओझल कर दिया जाता है। तथ्यों को ओझल करके मात्र भाव-चित्र प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। इससे अस्पष्टता तो आती ही है, भाव प्रेरक तथ्य की ओर केवल अन्त साम्य की सीढियो से पहुँचना पडता है। कभी-कभी, वीच-वीच मे, ये सीढियाँ खण्डित भी होती हैं, किन्तु क्रम की लकीर समझ मे आ जाती है। बीच-बीच मे, कभी-कभी, दो-दो,

तीन-तीन सीढ़ियाँ नदारद होती है, फलत एकदम चौथी या पाँचवी सीढ़ी चढना पडता है। **कामायनी** के लिए तो यह बात एकदम सही है।

जो हो, प्रसादजी ने श्रद्धा को अपने जीवन-चिन्तन का प्रतिनिधि बना रखा है। फलत., प्रसादजी की वास्तविकताओ को समझे बिना उन जीवन-तथ्यो को समझना भी बहुत बार मुश्किल हो जाता है, जिनके प्रति भाव-विचार व्यक्त किये जा रहे है।

'ईर्ष्या' सर्ग **कामायनी** की कथा का एक महत्त्वपूर्ण सर्ग है। मनु श्रद्धा से असन्तुष्ट होकर उसे छोड देते है। इस सर्ग मे कृषि का भी यत्किंचित् आभास मिलता है। श्रद्धा शालियाँ बीनती है, अन्न इकट्ठा करती है। वास्तविक कृषि-कर्म का यहाँ भी कोई चित्र नही है। श्रद्धा को पशु-हत्या अच्छी नही लगती। वह अब तकली भी चलाने लग गयी है (शायद वह लकडी की तकली हो), लौहकर्म का कही भी आभास नही है। श्रद्धा अपने इस छोटे जीवन स सन्तुष्ट है, जिससे मनु असन्तुष्ट है। मनु विस्तार चाहते है—कर्म-विस्तार, जीवन-विस्तार।

जीवन-विस्तार की इच्छा रखने मे मनु की कोई गलती नही है। गलती है उस पद्धति मे, जिसके द्वारा जीवन-विस्तार कार्यान्वित हो जाने की स्थिति की कल्पना की गयी है। श्रद्धा को त्यागकर जिस स्थान पर मनु बैठे हुए थे, वहाँ इडा न आती तो ? मनु ने तो कभी सोचा भी नही था कि उन्हे इडा मिलेगी। उनके भाग्य से जिस प्रकार श्रद्धा मिल गयी, उसी तरह इडा भी। किन्तु यह निश्चित थोडे ही था। अतएव मनु द्वारा श्रद्धा-परित्याग जिस प्रकार एक घोर अहवादी कार्य है, उसी प्रकार श्रद्धा द्वारा छोटे-से जीवन-क्षेत्र को अपने जीवन का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र समझ लेना भी मूर्खता है।

व्यक्तिवादी के लिए अपनी अभिलाषा अपने-आप मे स्वय-सन्निहित औचित्य भी रखती है। उसके लिए इच्छा स्वयसिद्ध औचित्य भी अपने साथ लेकर उभरती है। निश्चय ही, मनु ने श्रद्धा को कोई सहायता नही पहुँचायी। श्रद्धा ने पर्णकुटी बनायी। उसमे मनु के योग का कोई जिक्र नही, यानी मनु ने वस्तुत कोई योग नही दिया। तकली लेकर वह सूत कातने लगी, तो मनु का उसकी अन्वेषणशीलता पर, उसकी कर्मण्यता पर, गर्व होना चाहिए था। वह गर्भवती थी, उसका भी उसे कोई खयाल न रहा—और वह बडे मजे मे श्रद्धा को छोडकर चल दिया।

साथ ही, श्रद्धा को भी यह मालूम होना चाहिए कि कोई पति अपनी स्त्री स लम्बी नसीहते रोज-बरोज नही सुन सकता। मूल बात यह है कि मनु और श्रद्धा के पारस्परिक जीवन मे मनु का ध्यान श्रद्धा से उठकर मृगया आदि साहसिक कार्यो की ओर लगातार बढ रहा था। श्रद्धा को यह बुरा लगता होगा (किन्तु प्रसादजी ने यह नही कहा है, न इसे श्रद्धा अपने मुँह स कहती है—उसको बुरा लगना

अपनी आदर्शवादी शब्दावली से आक्रमण करती थी। (अगर प्रसादजी मनु को थोडा और बुद्धिमान बनाते तो वह भी आदर्शवादी बात कर सकता था।) फल इसका यह हुआ कि मनु ने श्रद्धा-परित्याग किया।

प्रसादजी ने इस कलह का चित्रण उचित रीति से नहीं किया है। इसका फल यह हुआ कि उसकी असलियत एकदम छूट गयी है। साथ ही मनु ने श्रद्धा-परित्याग का जो एकदम ज़ोरदार कदम उठाया, उसकी सबल कारण भूमिका बन नहीं पायी।

प्रसादजी को श्रद्धा के जीवन के प्रति स्वयं मोह है। छोटा-सा पर्ण कुटीर, वह वन-जीवन, उसकी वे प्रशान्त आभाएँ, वह एकान्त। पूँजीवादी सभ्यता के नगर जीवन की वास्तविकताओं से ऊबकर वनोन्मुख होने, तथा वहाँ सीधा सादा जीवन व्यतीत करने की इच्छा कार्यान्वित करनेवाला अमरीकी चिन्तक थोरो भी इसका एक नमूना है। वनोन्मुख होने की इच्छा प्रसादजी में ही नहीं, पूँजीवादी सभ्यता के एक विशेष काल में अनेक साहित्यिकों में जाग्रत हुई। यह एक तरह से अपनी साक्षात् वास्तविकताओं से पल्ला छुड़ाने का एक भाववादी तरीक़ा रहा है, और प्रसादजी में यह कम नहीं है। फलत, वन तथा ग्राम के आत्म-सन्तुष्ट, आत्मपूर्ण जीवन के प्रति उनमें भी बहुत मोह है। वनवासी ऋषियों के आदर्श से सचालित होकर ही श्रद्धा द्वारा उन्होंने पशु हत्या के विरोध में अपना स्वर गुंजित किया। साथ ही, उन्होंने मानवता के सम्बन्ध में नये प्रश्न उठाकर, तथा श्रद्धा द्वारा उन्हें मुखर बनाते हुए, वन-जीवन की समस्या-शून्यता (वे समस्याएँ जो प्रसादजी के मन में हैं) तथा उनके आत्म-सन्तुष्ट जीवन के प्रति अपना मोह प्रकट किया है। इसमें क्या आश्चर्य कि आगे चलकर जो प्रश्न तथा समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनका चरम समाधान हिमालयीन अचलों में ही किया जाता है, और वह भी श्रद्धा के हाथों होता है।

साथ ही, इसमें भी क्या आश्चर्य है कि यह श्रद्धा प्रसादजी के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। उन आदर्शों का भौतिक स्वरूप क्या है? आत्म-सन्तोषपूर्ण सुसगत जीवन, जिसकी सगति समुद्र की सगति नहीं, एक छोटे-से पोखर की सगति है। उसका कार्यक्षेत्र विशाल विश्व प्रसार का कर्मक्षेत्र नहीं है। फल यह होता है कि जब प्रश्न उत्पन्न होते हैं, समाज के, विश्व के, राष्ट्र के, तो समाधान कराया जाता है अपूर्व एकान्तवादी सामरस्य से। मनुष्य की इच्छाओं का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित कर दीजिए, और उसको वे साधन उपलब्ध कर दीजिए कि जिनसे वह दो जून खा सके और तन ढाँप सके, तो ऐसे सज्जन का जो सामजस्य होगा, जो अपने आस-पास के जीवन से उसकी सगति होगी, वह अपने-आपमें भले ही श्लाघ्य हो, किन्तु सबके लिए न तो वह आकर्षण की वस्तु हो सकती है, न वह सबके लिए आदर्श ही है। श्रद्धा और उसके विधाता प्रसाद भले ही उस जीवन की सगति के दृष्टिकोण से आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं और उसकी मूलभूत समस्याओं की आलोचना कर डालें, किन्तु उन समस्याओं का वे वैज्ञानिक समाधान नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि उस छोटे से एकान्त जीवन में, सामरस्य के सिद्धान्त की दृष्टि से वर्तमान वास्तविकताओं की आलोचना, उस दृष्टि की वैज्ञानिकता तथा औचित्य सिद्ध नहीं करती। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हिमालयीन अचल में बैठकर सारे विश्व से तादात्म्य अनुभव करना छोटा-सा जीवन नहीं है, जैसा कि श्रद्धा का था, तो इसका उत्तर यह है कि जिन समस्याओं को प्रसादजी ने उठाया है, उनका यह कोई उत्तर नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि स्वयं प्रसादजी

ने भी उन समस्याओ का कोई उत्तर नही दिया। केवल एक जनरल (सामान्य) बात कह दी है कि, 'सबको समरसता कर प्रचार।'

चूँकि प्रसादजी के पास उन समस्याओ का कोई उत्तर न था, इसीलिए श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पर चली गयी, तथा उन समस्याओ से जूझने का काम इडा तथा मनु-पुत्र पर छोड दिया। और रास्ते में मनु को इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के त्रिपुर बतलाये, जिनमें न कवल परस्पर-विरोध था, वरन् आत्म-विरोध भी था। और फिर उनके समन्वय-सामरस्य की बात करके श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पहुँच गयी।

सच्ची बात तो यह है कि प्रसादजी अपने ही द्वारा उठायी हुई समस्याओ का निराकरण नही कर पाते थे। लेकिन श्रद्धा स्वय इन समस्याओ की स्वीकृति तो बराबर करती आयी है। जैसे वह 'श्रद्धा' सर्ग मे ही कहती है

विषमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

इस विषमता की स्वीकृति के बावजूद, वह यह कहती है

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी मे सब होते अनुरक्त।

प्रारम्भ म श्रद्धा इसी आशावाद से आयी थी तथा अपनी अर्ध-भारतीय अर्ध-हेगेलीय शब्दावली में, उसे प्रकट कर रही थी।

किन्तु जब समस्याएँ उत्पन्न होती हैं (वास्तविक जीवन की भीतरी समस्याएँ) तब न पाश्चात्य, न पौर्वात्य, कोई भाववाद (आइडियलिज्म) काम मे नही आता। किन्तु श्रद्धा आध्यात्मिक सामरस्य का सिद्धान्त लेकर चलती है। उससे समाज और राष्ट्र की वास्तविक समस्याएँ, वास्तविकता के आधार पर, हल नही हो सकती।

श्रद्धा को प्रसादजी ने हृदय के सब गुण द दिये हैं, केवल दो गुण ही नही दे पाये—कर्म और बुद्धि। क्या नही दे पाय? इसका एक उत्तर तो यह है कि वे श्रद्धा को श्रद्धा-भाव का प्रतीक मानते थे। किन्तु श्रद्धा भाव [illegible] किसी-न

के कारण चारो ओर से उमडता हुआ दिखायी पडता है और उसमे उठनेवाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि मयूर विचरते हुए दिखायी देते हैं वैसे [illegible]

प्रसादजी मुख्यत कवि मनीषी थे। उनके वाक्यो की शैव-दार्शनिक व्याख्या करना ज्यादती है। हाँ, यह सही है कि उन्होंने उस दर्शन से कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण किये। किन्तु कवि-दृष्टि के सम्मुख जीवन-तथ्यो के अनुसार उन्होने उसमे नये अर्थ भर दिये।

हम इस सामरस्य का व्यावहारिक रूप ही क्यो न देखें। हिमालय मे बैठे श्रद्धा समन्वित मनु कहते हैं

सबकी सेवा न परायी<br>
वह अपनी सुख-संसृति है।<br>
अपना ही अणु अणु कण कण<br>
द्वयता ही तो विस्मृति है।<br>
मैं की मेरी चेतनता,<br>
सबको ही स्पर्श किये-सी।<br>
सब भिन्न परिस्थितियो की,<br>
है मादक घूँट पिये-सी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय मे बैठकर श्रद्धा मनु 'सबकी सेवा' कर रह हैं। अगर 'मैं' की चेतना सर्वाश्लेषी होकर अनगिनत भिन्न परिस्थितियो की मादक घूँट पिये है, तो दुनिया का कल्याण हो चुका! एक ही साथ स्टालिन और हिटलर का मजा आ गया। एक ही साथ मैकार्थी, विनोबा और माओ-त्से-तुग का आनन्द आ गया! भई, यही अभेदानुभूति है? फिर किसी का पक्ष लेने की बात सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक धरातल पर उठती ही कहाँ है? क्योकि—

चेतना समुद्र मे जीवन,<br>
लहरो-सा बिखर पडा है,<br>
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना<br>
निर्मित आकार खडा है।

अगर इस सैद्धान्तिक भूमि स देखा जाय तो नैतिक और अनैतिक का प्रश्न ही नही उठता। यह इसलिए कि

अपने दुख सुख स पुलकित<br>
यह मूर्त विश्व सचराचर।<br>
चिति का विराट वपु मगल<br>
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

*विश्व के सम्बन्ध मे केवल यही परिकल्पना है कि वह अपने सुख दुख से पुलकित है।*

किन्तु जहाँ सघर्ष है द्वन्द्व है वहाँ समरसता का आदेश यह है कि मैत्री कर लो, क्योकि पक्ष लने की बात ही नही उठती। इसीलिए तो प्रसादजी कहते हैं

श्रमभाग वर्ग बन गया जिन्हे,
अपने बल का है गर्व उन्हे।

वह शासको की आतकवादिता की निन्दा ज़रूर करते हैं, किन्तु श्रमिक वर्गों पर भी नाराज हैं कि उनको गर्व हो गया है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह हुआ कि जैसा चलता है वैसा चलने दो, उपद्रव मत करो।

वर्ग-विभाजन के बारे म प्रसादजी के खयाल अजीब हैं। वह समझते हैं कि मानो किसी व्यक्ति ने या कई व्यक्तियो ने मिलकर वर्ग-निर्माण, वर्ग-विभाजन आदि किया हो। इसलिए इडा कहती है

मेरे सुविभाजन हुए विषम

और श्रद्धा कहती है

चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग।

अर्थात् 'चिति का स्वरूप' यह जो नित्य जगत् है, उसका भौतिक विभाग कर तुमने उन भागो का वितरण किया है। अपने बारे में श्रद्धा कहती है

मैं लोक-अग्नि मे तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

समझ मे नही आता कि किस प्रकार श्रद्धा लोक-अग्नि मे तपी है। कम से-कम **कामायनी** म, श्रद्धा के चरित के अन्तर्गत तो ऐसी कोई घटना अथवा प्रवृत्ति के विस्तृत चित्र प्रस्तुत नही किये गये है, जिनस हम यह कह सकें कि श्रद्धा वस्तुत सेवा तथा त्याग के द्वारा जनता का उद्धार कर रही है।

किन्तु, अगर मान भी लिया जाये कि श्रद्धा व्यक्तिश सेवा करती आ रही है, तो भी यह सिद्ध नही होता कि प्रसादजी ने जा वास्तविक समस्याएँ उठायी है, उनके सम्बन्ध मे श्रद्धा ने निराकरणात्मक कोई विशेष स्थिति अपनायी हो, या उनके अनुसार कोई कदम उठाया हो। साथ ही, यह सच है कि व्यक्तिगत सेवा से सामाजिक अन्तर्विरोधो की समस्याएँ, व्यक्तिवाद की समस्याएँ, दूर नही होती।

मनु के प्रति श्रद्धा का रुख आवश्यकता से अधिक उदार है। श्रद्धा इडा स—

बोली, "तुम से कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।"
× ×
मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति
तुम उत्तेजित चचला शक्ति।

इडा को जीवन की अन्धानुरक्ति कहकर श्रद्धा ने छुट्टी पा ली। किन्तु मनु के सम्बन्ध म उसके मन मे केवल स्नेह है, और कुछ नही। क्यो?

क्या यह श्रद्धा का प्रधान दोष नहीं है? क्या यह सच नही है कि उसके मन मे मनु के दोषो को ढाँकने की वृत्ति है? यह एकदम सत्य है कि स्वय श्रद्धा के चरित्र मे इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामजस्य नहीं है। उसके बारे मे श्रद्धा केवल इतना ही कहती है·

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुज गली।

वह भोला इतना नही छली
मिल जायेगा, हूँ प्रेम-पली।

मनु के प्रति उसके प्रेम की सीमा यही है कि उसका स्नेह मनु की सीमाओ को—उसके अपराधो को—इतना भूल जाता है कि वह यह भी नही देखती कि जिस मनु ने इडा तथा सारस्वत सभ्यता के सम्बन्ध मे इतना घोर अपराध किया है, उसको अपने किये पर वास्तविक पश्चात्ताप नही हुआ है। मनु पुन इडा-श्रद्धा सम्मिलन स्थान से भाग खडा होता है। किन्तु श्रद्धा उसे खोजती पहुँच जाती है। तब इडा के बारे मे मनु कहता है

वह इडा कर गयी फिर भी छल।

इडा ने मनु के साथ छल किया या मनु ने इडा के साथ? मनु का यह कितना घोर अन्याय है! उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे!

इसका जवाब तो श्रद्धा खूब ही देती है। वह कहती है

वन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा वह बन्धन—
लो बना मुक्ति, अब छोड स्वजन—
निर्वासित तुम, क्यो लगे डक!

समझ मे नही आता कि जो मनु साफ-साफ यह कहता है कि इडा ने उसके साथ छल किया है (जबकि वह स्वय इडा का धर्षण कर रहा था, प्रजा पर जिसने अग्निवर्षा की थी), उस मनु का अपराध किस प्रकार नष्ट हुआ? वह अपराध-बन्धन किस प्रकार मुक्ति के रूप म परिणत हुआ? श्रद्धा तो यह कहती है कि हे मनु! अब तुम्हे उस सम्बन्ध मे डक (पीडा) लगना ही नही चाहिए। यह कैसी उल्टी बात है!

क्या यह पक्षपातपूर्ण श्रद्धावाद अपने प्रियपात्र व्यक्तिवादियो के अपराधो को ढाँक नहीं रहा? क्या श्रद्धा इस स्थान पर स्वय, व्यावहारिक रूप से, व्यक्तिवादिनी नही है? स्पष्ट बात यह है कि उसम स्वय इच्छा, क्रिया और ज्ञान का सामजस्य नहीं है।

यद्यपि श्रद्धा की यह बात हम मानते हैं कि

यह विष जो फैला महा विषम
निज कर्मोन्नति से करते सम,
सब मुक्ति बनें, काटेंगे भ्रम
उनका रहस्य हो शुभ सयम,
गिर जायेगा जो है अलीक,
चलकर मिटती है पडी लीक।

किन्तु, इस कर्मोन्नति म श्रद्धा का योग कहाँ है? मनु का योग कहाँ है? हृदय म शुभ भावनाएँ और शुभाकाक्षाएँ रखना एक बात है और उनको सगठित, सुसयोजित रूप से कार्यान्वित करना तथा इस सम्बन्ध मे नेतृत्व प्रदान करना दूसरी बात है। श्रद्धा अपने बारे म भले ही यह कहे कि

मैं लोक-अग्नि मे तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

किन्तु इसका कोई वास्तविक जीवन-उदाहरण कामायनीकार ने प्रस्तुत नही किया।

वस्तुत वह है ही नही। इसका कारण यह है कि श्रद्धा स्वय लोक-व्यक्ति नही है, उसका भीतरी प्रवृत्ति-मण्डल ही ऐसा नही है। श्रद्धा एक प्राइवेट इण्डिविजुअल है, अपने-आप मे सीमित उसका व्यक्तित्व है। वह स्वय व्यक्तिवादिनी है, तथा उसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा के सामजस्य और सन्तुलन का सर्वथा अभाव है। यद्यपि उसमे हृदय के सभी गुण हैं अर्थात् उसका प्रेम उच्च धरातल पर स्थित है, किन्तु वह धरातल ऐसा नहीं है जो सर्वथा उचित हो। जो स्त्री मानवता की बात करे, किन्तु जो सामाजिक कर्मक्षेत्र की ओर लोक-व्यक्ति के रूप मे कार्य न करे, जो स्त्री अपने प्रेमी के प्रेम मे उलझकर उसके घनघोर अपराधो को न केवल भूल जाये, वरन् उनको टाल दे, वह स्त्री मानवता का क्या उद्धार करेगी? उसमे कर्म तथा ज्ञान विवेक तथा उत्तरदायित्व-भावना का अभाव है।

वस्तुत, देखा जाये तो श्रद्धा नारी-जाति का भी प्रतिनिधित्व नही करती। नारियाँ विवाहिता होने पर (इस सम्बन्ध मे यह जानने योग्य बात है कि श्रद्धा अविवाहिता है) जितना विवेक, उत्तरदायित्व तथा व्यावहारिक उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक बातो का ज्ञान रखती हैं, श्रद्धा के पास इतना भी नही है। श्रद्धा मनु को क्षमा भले ही कर दे, किन्तु उसकी अनैतिक कार्यवाहियो को नैतिक बनाने का स्वाँग तो न करे!

श्रद्धा-इडा-सम्मिलन स्थल से भाग उठने के पहले ('निर्वेद' सर्ग मे) मनु सोच रहे थे·

> श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
> यह मुख यह कलुषित काया।
> और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर,
> क्या इनका विश्वास करूँ?
> प्रतिहिंसा-प्रतिशोध दबाकर,
> मन ही मन चुपचाप मरूँ।

इसी बात को ध्यान मे रखकर 'दर्शन' सर्ग मे मनु कहता है

> वे श्वापद-से हिंसक अधीर,
> कोमल शावक वह बाल वीर।

इडा और सारस्वत सभ्यता की जनता, जिनके प्रति मनु ने अपराध किया था, उनके सम्बन्ध मे [यह बात] मनु कहता है।

मनु के अनुसार सारस्वत जन श्वापद से हिंसक अधीर हैं और इडा तो छल कर गयी है

> वह इडा कर गयी फिर भी छल।

मनु की इस भूमिका के तुरन्त अनन्तर श्रद्धा कहती है

> प्रिय! अब तक हो इतने सशक,
> देकर कुछ कोई नही रक,
> यह विनिमय है या परिवर्तन,
> बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
> अपराध तुम्हारा वह बन्धन,
> लो बना मुक्ति, अब छोड स्वजन,

निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक ?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

हम पहली दो पंक्तियाँ लें। प्रश्न यह है कि सारस्वत सभ्यता के निर्माण में मनु ने जो योग दिया है, उसके बदले में उसी सभ्यता का ध्वंस तो नहीं किया जा सकता, जनता से युद्ध तो नहीं किया जा सकता, इड़ा का घर्षण तो नहीं किया जा सकता। अपनी अहंग्रस्त इच्छाओं से संचालित मनु के अपराध तो ऐसे भयानक अपराध हैं, जिनके बारे में श्रद्धा को कोई कदम उठाना चाहिए था अथवा, कम-से-कम, मनु को उसकी भूल का विश्लेषण कर घनघोर पश्चात्ताप द्वारा उसको कुछ प्रधान नैतिक मानदण्डों का साक्षात्कार करवाना चाहिए था। लेकिन नहीं, प्रेम के वशीभूत होकर हमारी आदर्शमती श्रद्धा, जो मनु के आखेटक-जीवन में पशु-हत्याओं के प्रश्न की आड़ में मानवता के प्रश्नों को उठाती है, वही श्रद्धा इस समय कहती है कि,

अपराध तुम्हारा वह बन्धन
लो बना मुक्ति............ ..

यह अपराध स्वयं मुक्ति कैसे हो गया ? मनु को तो अपने किये पर पश्चात्ताप तक नहीं, फिर यकायक मनु मुक्त कैसे हुए ? इस सम्बन्ध में स्वयं श्रद्धा कहती है कि मुक्त वे इसलिए हुए कि—

.........अब छोड़ स्वजन
निर्वासित तुम ............

अर्थात् तुम निर्वासित हो चुके हो, अब छोड़ो वह पिछली झंझट। जब तुम स्वजनों को छोड़ आये हो, तो अब तुम्हें उन बातों को याद कर दुखी होने की जरूरत ही क्या है। खुश हो जाओ :

............क्यों लगे डंक ?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि श्रद्धा ने मनु को भी क्षमा कर दिया है, और इस प्रकार क्षमा कर दिया है कि मानो उन पिछली बातों का कोई महत्त्व ही न हो। ध्यान में रखने की बात है कि मनु ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया है। वह अभी भी दूसरों के उसके प्रति किये गये तथाकथित अपराधों (जैसा कि वह समझता है) के बारे में सोच रहा है, अपने अपराधों के बारे में नहीं। श्रद्धा मनु का अपराध तो स्वीकार करती है, किन्तु मनु से यह नहीं कहती कि वह अपने घनघोर अपराध स्वीकार करे। वह तो मनु को इस परिस्थिति की याद दिलाती है कि उसके [illegible]
लिए [illegible]

ताप कर जिसके प्रति अपराध किया गया है उसकी कष्ट-मुक्ति के लिए—दुखों से उद्धार के लिए—आकाश-पाताल एक कर देता है। अगर वह मानवता की बात करता है, तो समझ में आती है।

किन्तु हमारी श्रद्धा मनु को अपने अंचल में दुलराती है। मनु को अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं होता, और फिर भी उसे दुलराती है। इसीलिए मनु (उपर्युक्त उद्धरण के अनन्तर) कहता है :

तुम देवि ! आह कितनी उदार
*यह मातृमूर्ति है निर्विकार*
हे सवमगने तुम महती
सबका दुख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय म ही रहती।

तो जी हाँ यह क्षमा की फिलासफी है। नारी का घषण कीजिए जनता पर गोलिया चलाइए हमारे आदशवादी श्रद्धावादी साधु सन्त और उनके चेले-चपाटी सब क्षमा कर देंगे। किन्तु क्षमा किनको करेंगे ? जो गोली चलाते हैं उनको जनता पर जो शासक अत्याचार करते हैं उनको। यह है कामायनीकार का श्रद्धावाद जिसने हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र म प्रतिक्रियावाद के हाथ मजबूत किये।

यह आकस्मिक बात नही है कि जब श्रद्धा इडा से मिलती है तब वे लोग जो घायल पडे हैं उनकी सेवा सुश्रूषा नही करती। उस ओर वह प्रवृत्त है यह बतलाया ही नही गया। वह इडा स इस सम्बन्ध म चर्चा भी नही करती न मरो के प्रति कोई सहानुभूति ही व्यक्त करती है। प्रजा ने जो विद्रोह किया उसके पक्ष मे अथवा उस जनता क पक्ष मे श्रद्धा की सहानुभूति नही जागती इतना अत्याचार देख श्रद्धा के ममस्थल पर कोई चोट नही होती।

वह श्रद्धा जो श्रद्धा सग म मानवता विजय की कामना की घोषणा करती है जो कर्म और ईर्ष्या सग म बलिपशु की हत्या की आड मे मानवता के प्रश्नो को उठाती है वही श्रद्धा दशन सग मे जनता की बात नही करती। यह है श्रद्धा का मानवतावाद ! जब वह वास्तविकता के धरातल पर आयी तब टुकड-टुकड होकर बिखर गयी। वह मात्र एक निरीह पत्नी बन गया। मनु को उसने अपने मे भर लिया जबकि वही कही आसपास—

*अभी घायलो की सिसकी म जाग रही थी मम-व्यथा*
पुर लक्ष्मी खग रव के मिस कुछ कह उठती थी करुण कथा।

हम निस्सन्देह श्रद्धा के पत्नीत्व पर कोई आपत्ति नही है बशर्ते कि वह मानवता' लोक-अग्नि आदि की फालतू बात बन्द कर दे।

क्योंकि वह यह कहती है

मैं लोक-अग्नि म तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

**कामायनी** म एक स्थल पर भी इसका कोई प्रमाण नही है कि वस्तुत श्रद्धा प्रसन्न होकर लोक-अग्नि म अपनी आहुति देती है। अपने धर्षण का जो घाव इडा को लगा उसके बारे म श्रद्धा उससे सहानुभूति प्रकट नही करती तथा जो दुख हुआ है उसके बारे म वह कहती है

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही
जलती छाती की दाह रही।

मज़दार बात यह है कि मनु के कारण सारस्वत सभ्यता म जो इतना विभ्राट हुआ जो रक्तपात हुआ तो वहाँ श्रद्धा ने सहानुभूति कोमलता मानवता आदि का आदशवाद नही उठाया वरन इडा पर वग विभाजन का आरोप लगाते हुए यह कहा

चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग,
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्
वह रूप बदलता है शतशत,
कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
संगीतपूर्ण है एक राग,
झङ्कृत है केवल 'जाग जाग'।

विश्व के सुख और दुख म विभिन्न परिस्थितियो म एकरस होकर डूबी रहनेवाली समरसता ('भव भिन्न परिस्थितियों की, है मादक घूंट पिय-सी'— आनन्द' सर्ग), तथा जड और चेतन के भीतर अद्वैत चेतना का यह दर्शन (श्रद्धा का दर्शन अथवा श्रद्धावाद), अपने व्यावहारिक पक्ष में किस प्रकार समझौतावादी है, यह उपरिलिखित विश्लेषणो म स्पष्ट हो गया होगा। जो दर्शन विश्व के सुख और दुख म एकरस होकर डूबे रहने का सन्देश देता है, वह बुरे के, शोषक के, अमगल के, विरोध का, पराजय और विनाश का सन्देश, तथा जनता के सघर्ष, विजय और विकास का सन्देश, नही दे सकता।

दूसरे यह सन्देश, यह दर्शन स्थित्यात्मक है, गत्यात्मक नही। इसम आश्चर्य की बात नही कि वन-जीवन के एकान्तवास म अपने गृहिणीत्व (वह विवाहिता न थी) को चरितार्थ करनेवाली, तथा अपने घर मे बैठकर मानवता के प्रश्न को उपस्थित करनेवाली, श्रद्धा मानवता की वास्तविक स्थिति-परिस्थितियों से सामना होते ही, वस्तुत, दार्शनिक पलायन करती है, और मनु को लेकर हिमालय की ओर निकल जाती है। श्रद्धा का आदर्श ही स्थित्यात्मक है। फलत, मनु का श्रद्धा के सम्बन्ध मे यह कहना है

तुम फूल उठोगी लतिका-सी
कम्पित कर सुख सौरभ तरग,
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरग।

मनु ने श्रद्धा का जो उपर्युक्त चरित्राकन किया है वह वस्तुत सत्य है। अपने घर की पर्णकुटी की चहारदीवारी में आत्म-तृप्त जीवन की स्थायिता चाहनेवाली श्रद्धा हिमालय की ओर ही मनु को ले जा सकती है—वास्तविक सारस्वत सभ्यता के पुनरुद्धार-कार्य की ओर उसको उन्मुख नही कर सकती।

श्रद्धा सरीखे जनो की गतिहीन स्थायिता तथा एकान्तवाद का वही दर्शन है जिसे हम एक शब्द मे 'कूटस्थ ब्रह्म' का दर्शन कह सकते हैं। श्रद्धा-जैसे जनो के आदर्श का चरित्राकन मनु ने एक जगह बहुत खूबी के साथ किया है। वह कहता है

देखे मैंने वे शैल शृग
जो अचल हिमानी से रजित,
उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुग।
अपने जड गौरव के प्रतीक

वसुधा का वर अभिमान भग
अपनी समाधि मे रहे मुखो
बह जाती है नदियाँ अबोध।
कुछ स्वेद बिन्दु उनके लेकर
वह स्तिमित नयन गतशोक-क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी
चाहता नहीं इस जीवन की।
मैं तो अबाधगति मरुत सदृश
हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग
प्रति पग म कम्पन की तरग।
—वह ज्वलनशील गतिमय पतग।

मनु स्वय श्रद्धा-जैसे जनो और उनके आदर्शों की गतिहीन स्थित्यात्मकता की जडता समझता था।

निश्चय ही श्रद्धा के स्थित्यात्मक एकान्तवादी चरित्र से उत्पन्न यह स्थित्यात्मक व्यक्तिवादी भावादर्शवाद, इस अर्थ मे तो मनु के व्यक्तिवाद मे ऊँचा कहा जा सकता है कि उसम आक्रमणकारी उग्र अहग्रस्त इच्छा-मण्डल नही है, कि जिसके फलस्वरूप मनु को भागना भटकना पडा। किन्तु वह एक दर्शन की हैसियत मे यद्यपि वर्ग विभाजन आदि विषमताओ की भर्त्सना करता है, किन्तु अन्तत वह उन्ही प्रवृत्तियो से समझौता भी करता है जो विषमताओ को जन्म देती तथा विकसित करती हैं। इडा के वर्ग-विभाजित समाज की भर्त्सना काफी नही है। श्रद्धा की अभेदपूर्ण वर्गहीनता की कल्पना अमूर्त वायवीय और रहस्यात्मक है। वर्गहीन सामजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद अपने अन्तिम अर्थों मे इसलिए प्रतिक्रियावादी हैं (क) वर्ग वैषम्य से वर्गहीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नही। इस उपायहीनता का आदर्शीकरण है भाववादी-रहस्यवादी विचारधारा, (ख) इस उपायहीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरस्थायी है, (ग) इस यथार्थ की भीषणता मे अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है—श्रद्धा अपने पुत्र को इडा के पास इसीलिए रख देती है, (घ) इस विचारधारा के द्वारा यथार्थ और आदर्श के बीच अवाछनीय खाई पड जाती है। वर्ग-भेद के सम्बन्ध म एक बात यह ध्यान मे रखने की है कि प्रसादजी के पास वर्ग-भेद के सम्बन्ध म कोई वैज्ञानिक कल्पना नही है। वे वर्ग-भेद के साथ सभी भेद विषमताएँ मिला देते हैं जो उन्हे दिखायी पडती हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे वर्ग भेद के यथार्थ स्वरूप को समझते नही हैं।

श्रद्धावाद, श्रद्धा के चरित्र से उभरकर, यह उद्घाटित करता है कि हमारा तथाकथित भाववाद-आदर्शवाद अन्तत, किस प्रकार प्रस्तुत पूँजीवादी विषमताओ के लिए क्षमाप्रार्थी होकर पूँजीवादी व्यक्तिवादियो को सिर्फ नसीहत देता है, और बाद म उन्ही स समझौता कर लेता है। वह रहस्यात्मक आदर्शवाद, वस्तुत, आत्म-विरोधो से ग्रस्त पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद का दार्शनिक डिफेंस है, और कुछ नही।

इसके साथ ही, श्रद्धा के चरित्र द्वारा हमको यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नयी पूँजीवादी सभ्यता ने लोगों के सामने जो आशाकांक्षाएँ उत्पन्न कर रखी थीं, वही सभ्यता शीघ्र ही अपने आत्म-विरोधों द्वारा ह्रासग्रस्त होकर अमयोजनीय भीतरी और बाहरी विषमताओं में फँस गयी, तथा उसने जनता के ऊपर ही हाथ साफ किया। श्रद्धावाद उसके इन आत्म विरोधों के लिए क्षमाप्रार्थी होकर उन्हीं की ओर से काम करने लगा, जो शोषक और शासक के रूप में आज जनता के सामन उपस्थित हैं, और उस पर अत्याचार कर रहे हैं।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्रद्धावाद उन लोगों का अस्त्र है जो आज जनता की सम्पूर्ण लड़ाइयों के विरुद्ध शोषकों और शासकों का पक्ष लेते हैं।

श्रद्धावाद घनघोर व्यक्तिवाद है। ह्रासग्रस्त पूँजीवाद का जनता को वरगलाने का एक जबर्दस्त साधन है।

## 9

श्रद्धावाद की व्याख्या निस्सन्देह उस वाद के सिद्धान्तों की व्याख्या है। इस व्याख्या के अन्तर्गत उस धारा के भाववादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर, उस सिद्धान्त-प्रणाली के भीतरी खोखलेपन की वास्तविकता का उद्घाटन किया जाना चाहिए। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के एकमात्र उद्देश्य-इरादों से हम उसके वास्तविक कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को नहीं समझ सकते (हम उसके कार्य-व्यवहार और चरित्र से उसके उद्देश्य समझ सकते हैं), उसी प्रकार श्रद्धावाद के उद्देश्य-लक्ष्यों से उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को समझ नहीं सकते। किन्तु, उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र से हम उसके वास्तविक कार्यान्वियगत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को समझ सकते हैं। हम यह देख चुके हैं कि श्रद्धावाद, अपने अन्तिम निष्कर्षों में, उसी शासक-शोषक वर्ग के प्रति क्षमापूर्ण होकर, न केवल उसकी रक्षा करता है, वरन्, उससे भी सबल रूप से, वह उन लक्ष्यों से विमुख है जो जनता के उद्धार-लक्ष्य, मुक्ति-लक्ष्य कहे जा सकते हैं। उसकी यह विमुखता केवल नकारात्मकता कही जा सकती है, किन्तु वह नकारात्मकता एक ऐसी सहारात्मक शक्ति है, जो अस्पष्ट अर्थशाली शब्दों के प्रयोग-माध्यम से भाववादी-आदर्शवादी डिफेंस खड़ा कर सके। कहने का सारांश यह है कि यह विमुखता मूलबद्ध, प्रवृत्तिमूलक तथा सक्रिय है। यह तो शासक-शोषक वर्गों की बात हुई।

किन्तु भोली जनता तथा अन्य जन श्रद्धावाद का अर्थ प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्था के ही अर्थ में लेते हैं, तथा वे इस श्रद्धावाद को आधुनिक विज्ञान तथा उन्नति के फलस्वरूप उत्पन्न विचारधाराओं और मूल्यों के विरुद्ध प्रस्थापित करते हैं। हमारे छायावादी साहित्य-चिन्तन में पूँजीवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया

की गयी है वह आधुनिक युग को पूँजीवादी व्यवस्था का युग न कहकर केवल 'यन्त्र-युग' मानकर ही प्रस्तुत की गयी है। यन्त्र-युग कहकर वे लोग ऐसे अ-यन्त्र-युग की कल्पना करते हैं, जिसमे मनुष्य सरल-स्वाभाविक, स्वावलम्बी जीवन बिताता है। वस्तुत: वह सरल-स्वावलम्बी जीवन, जिसमे वे लोग आधुनिक सभ्यता की उलझनो का अभाव देखते हैं, ऐसा जीवन है जिसका सामाजिक आधार पिछडा हुआ है। वह सामन्ती अथवा उससे पूर्वकालीन सभ्यताओ की ग्राम-संस्कृतियो का जीवन है, जिसमे उनकी कल्पनानुसार व्यक्ति सहज-सरल, श्रम-सिक्त, उल्लासपूर्ण जीवन बिताता था। वस्तुत, यह उनकी मात्र कल्पना ही है, क्योंकि इस कल्पना के लिए कोई ऐतिहासिक-सामाजिक प्रमाण उपलब्ध नही है। वे तत्कालीन सामाजिक जीवन की उन बाधाओ को नही देखते, जिन्होने हमारी सभ्यता को हजारो सालो तक एशियायी सामन्तवाद के शिकजो मे जकडकर रखा। जनता के इतने विप्लव हुए—धार्मिक और राजनैतिक—किन्तु विप्लवो ने समाज-रचना का मूलाधार समाप्त नही किया। एक सामन्ती शासक-शोषक के अनन्तर दूसरा सामन्ती शासक-शोषक आया। व्यवस्था वही रही। शोषण वही रहा। हमारी जनता एक-दूसरे से लडनेवाले हिन्दू-मुस्लिम सामन्तो की सेनाओ मे भरती होती रही, और हिन्दू-धर्म और मुस्लिम-धर्म के नाम से लडनेवाले सामन्तो की लडाइयों मे इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से काम करती रही। भारत मे शक आये, हूण आये, तुर्क आये, अफगान आये, और हमारा देहाती किसान राजनीति से मूलबद्ध रूप से विमुख होकर वही हल चलाता रहा। 'कोउ नृप होय हमहिं का हानी' वाली कहावत सिर्फ कहावत नही, सामन्त-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की विशुद्ध वास्तविकता है। वह जनता तो तब बगावत करती जब उसकी आर्थिक जिन्दगी पर कोई आक्रमण करता, अथवा जान-बूझकर उसके गाँव जलाये जाते। एशियायी सामन्तवाद की सबसे बडी विशेषता है—उसकी ग्राम-व्यवस्था, जो आदिम साम्यवादी पचायती व्यवस्था के (अपने अनुकूल) भग्नावशिष्ट रूपो को लेकर चली। भारत मे पूँजीवाद की स्थापना के अनन्तर भी हमारे यहाँ ग्राम-क्षेत्रो का व्यापक विकास न हो पाया। ग्रामीण अचलो मे सदियो पुरानी छायाएँ चलती रही। उधर शहरो मे बसनेवाले उच्चवर्गीय परिवार अभी सामन्ती प्रभाव-छायाओ को हटा भी न पाये थे कि पूँजीवादी सभ्यता के भीतर आत्मविरोधो की अनुल्लघनीय खाइयो का न पाटा जा सकने वाला कठोर अस्तित्व अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति बनकर सामने आया। फलत आदर्श समाज के कल्पना-स्वप्न लोगो की आँखो के सामने तैरने लगे। सुखी, सरल, श्रम-सिक्त, उदार, स्वावलम्बी, आत्म-तृप्त ग्रामीण समाज ही उनके आदर्श समाज का नमूना बना। निश्चय ही, ऐसे ही ग्राम भारत मे अब न थे। किन्तु गाँधीवाद ने ऐसे ग्राम-समाज की कल्पना जनता के मन मे स्फुटित कर रखी थी। प्रसाद ने इस कल्पना मे थोडा औपनिषदिक तथा बौद्ध वातावरण मिला दिया। उसे प्राथमिक भारतीय आर्य संस्कृति के उन्मेषो से न्यस्त किया। ग्राम-जीवन तथा वन-जीवन का हमारे यहाँ खूब आदर्शीकरण हुआ।

निश्चय ही, इसका व्यावहारिक कार्यान्वयगत गर्भितार्थ प्रतिक्रियावादी है। नवीन औद्योगिक विकास तथा सामन्ती शोषण से सर्वथा मुक्ति के तत्त्व इसमे नही हैं। वह भारत को अविकसित सामाजिक दशा के खूँटे से बाँध रखना चाहता है।

साथ ही, दार्शनिक क्षेत्र म पूँजीवादी समाज की अवैज्ञानिक आलोचना के उपरान्त वह उसी शासक शोषक वर्ग की अतिचारिता के अपराधो के प्रति क्षमापूर्ण होकर, वस्तुत जनता के मुक्ति-लक्ष्यो और उससे सम्बन्धित मुक्ति-सघर्षों से विमुख तथा उसका विरोधी है।

साथ ही, हम यह भी ध्यान म रखना होगा कि हमारे विशेष काल-खण्ड के भीतर श्रद्धावाद ने हमारी पिछडी हुई आर्थिक सामाजिक पार्श्वभूमि के अनुसार मध्यवर्गीय जनता के अविकसित मन म अवैज्ञानिक प्रभावो को जन्म दिया, और एक भावुक अबुद्धिवाद, बुद्धि-विरोधीवाद हमारे मध्यवर्ग म 'अनुभूति, इन्ट्यूशन, आस्था, श्रद्धा' आदि के नाम पर चल पडा। वह इतना दृढ हुआ कि आज भी हम इस वृत्ति से मुक्त नही हो पाये हैं।

उधर सन् पाँच से लेकर सन् सैंतीस के काल-खण्ड म प्रसादजी अपनी कई विकासावस्थाओ को पार कर चुके थे। वे पूँजीवादी राष्ट्रवाद के भीतरी खोखले पन को (अवैज्ञानिक रूप से ही क्यो न सही) देख चुके थे।

और, यूरोप मे सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नो को लेकर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी। एक तो मार्क्सवाद प्रवृत्ति जिसन आगे चलकर रूस मे समाजवाद की स्थापना की, और एक आदर्शवादी प्रवृत्ति जिसन भाववादी रीति से पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की। उनम सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ स्पगलर। उसकी पुस्तक **पश्चिमी सभ्यता का ह्रास** (**डिके आफ वेस्टर्न सिविलि-जेशन**) हिन्दुस्तान मे भी कुछ हाथो म पडी। किन्तु भारतीय जनता की मन-स्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी निर्माण-क्षमता म अविश्वास करे। रवीन्द्र-सरीखे कुछ कवि-चिन्तको ने (पूँजीवादी) राष्ट्रवाद के विरुद्ध आवाज़ उठायी। उनके सामने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रवाद तो था ही, भारतीय पूँजीवादी राष्ट्रवाद भी था (इसका अर्थ कदापि यह नही था कि प्रसाद अथवा रवीन्द्र भारत म साम्राज्यवाद क विरुद्ध चलनेवाले जनता के मुक्ति-सघर्षों के विरोधी थे)। रवीन्द्रनाथ की पुस्तक **राष्ट्रवाद** (**नेशनलिज्म**) पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मन म भी समता से युक्त समाज का जो कल्पना-चित्र है वह पुरातन ग्रामीण पचायती समाज के नमून का, आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार, परिष्कृत-सस्कृत रूप ही है। प्रसाद का अद्वैतवादी औपनिषदिक शैव-बौद्ध भाववाद, अपने दार्शनिक धरातल पर, रवीन्द्र विचार की श्रेणी मे ही बैठता है।

प्रसाद की पूँजीवादी सभ्यता की भाववादी समीक्षा पूंजीवादी वास्तविकताओ को लेकर ही चली है। पूँजीवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध उनका रुख रवीन्द्र जैसा ही है। साथ ही उनकी बुद्धिवाद विरोधी वृत्ति भी रवीन्द्र-दर्शन से पूर्णरूप स प्रभावित है।

यूरोप म हेगेल के अनन्तर उसका विशुद्ध द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी रूप मार्क्स-एगेल्स न प्रतिष्ठापित किया। किन्तु व्यक्तिवादी-आत्मवादी विचारकों ने सत्य के ज्ञान की प्रक्रिया म बुद्धि को मार गिराया। बुद्धि से हम अन्तिम सत्य नहीं जान सकते यह निश्चित किया गया, और दार्शनिक धरातल पर अबुद्धिवाद को स्थापित किया गया। इस अबुद्धिवाद (इर्रेशनलिज्म) का सर्वप्रथम समर्थक प्रचारक शॉपनहॉर था। यह आकस्मिक बात नही है कि इस जर्मन दार्शनिक ने प्राचीन भारतीय दर्शनों से प्रेरणा प्राप्त की। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हेडेगर से

लगाकर आधुनिक अस्तित्ववादी फ्रेंच विचारक-उपन्यासकार ज्याँ पॉल सार्त्र तक अबुद्धिवादी 'अनुभूति' के प्रचारक रहे।

निश्चय ही इस अबुद्धिवाद ने भारत मे एक नवीन सस्करण प्राप्त किया। हमारे यहाँ पहले से ही श्रद्धावाद चला आया है। प्रसादजी न इस श्रद्धावाद मे अपने समाज स्वप्न को गुम्फित किया, भाववादी धरातल पर मानवतावाद को ग्रथित किया। व्यक्तिगत मानव-गरिमा को उससे सयुक्त किया (प्रसादजी के कथासाहित्य मे मानव-गरिमा के भव्य चित्र प्रस्तुत हैं), यौवन और सौन्दर्य के उन्मेप से न्यस्त किया, रहस्यवादी प्रवृत्ति से उसे सशस्त्र किया, किन्तु अपने अन्तिम निष्कर्षों मे उसने प्रतिक्रिया क हाथ मजबूत किये। और इसका कारण क्या था? कारण प्रसादजी नही जानते थे। उनके विचारो का क्या प्रभाव होगा, उससे अवगत प्रसादजी न थे। वे अकाल-मृत्यु प्राप्त हुए।

कारण दो थे। एक तो प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा बहुत कुछ स्पेंगलर-जैसी ही है। पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारको ने पूँजीवादी सभ्यता की जो आलोचना की, वह न केवल अवैज्ञानिक है, वरन् जनवादी मुक्ति-सघर्षों की भयानक शत्रु भी है। स्पेंगलर आदर्श समाज का कोई चित्र प्रस्तुत न कर सका था। प्रसादजी भी न कर सके। हमारे भारत मे उन दिनो वैज्ञानिक रूप से शोषण-विहीन समाज की कल्पना को प्राथमिकता नही दी जा रही थी। साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-सघर्ष ही जोरो पर था। किन्तु सन् पैंतीस के आसपास प्रसादजी

मानते थे। किन्तु मानते थे उसे केवल प्रयोग ही। सन् अडतीस तक मध्यवर्गीय समाज मे ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विचारधारा के रूप मे भारत मे मार्क्सवाद का व्यापक प्रभाव न था, यद्यपि उसका महत्त्वपूर्ण प्रबल आरम्भ यत्र-तत्र दृष्टि-गोचर हो चुका था। पश्चिमी विचारक सभ्यता-समीक्षा के क्षेत्र मे निराशावादी दृष्टिकोण अपनाते थे। स्पेंगलर सामाजिक सास्कृतिक-ऐतिहासिक निराशा का दार्शनिक था। प्रसादजी ने निराशा तत्त्व ग्रहण न किया। राष्ट्रवादी भारतीय स्थिति ही ऐसी थी कि घनघोर वास्तविकताओ के बावजूद भारतीय जनता अपने भविष्य के सम्बन्ध मे निराशाग्रस्त न थी, इसलिए कि वह अपने मुक्ति-सघर्ष मे लीन थी। प्रसादजी यह समझते थे कि मनुष्यता के स्वाभाविक गुणो के प्रयोग तथा उदार दृष्टिकोण तथा हार्दिकता की स्थापना से हमारे समाज की विषमताएँ दूर हो सकती हैं। श्रद्धा मनु-पुत्र से कहती है

हे सौम्य! इडा का शुचि दुलार,<br>
हर लेगा तेरा व्यथा भार,<br>
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,<br>
तू मननशील कर कर्म अभय,<br>
इसका तू सब सन्ताप निचय,<br>
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

निश्चय ही, इस समरसता का अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रसादजी सामाजिक स्तर पर समता के पक्षपाती थे। जिस आवेग स, जिस जोश से, जिस तीव्र सवेदना से, प्रसादजी ने (अपन भाववादी तरीके स) विपमताओ पर आघात किया है, उससे तो यही अर्थ सूचित होता है।

किन्तु इस समरसता की द्वि-अर्थ शालिता के पीछे, वस्तुत, प्रसादजी का यह विश्वास है कि समाज के सम्बन्ध म अधिक से अधिक अतिचारिता ही बन्द हो सकती है। इस प्रकार की विपमताएँ तो रहेगी ही। इसीलिए प्रारम्भ म ही श्रद्धा कहती है

विपमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

पूँजीवाद क अन्तगत शोपको के विरुद्ध जनता के सघर्पों के बारे म प्रसादजी का विश्लेपण न केवल अवैज्ञानिक था, वे जन चेतना को भौतिक सभ्यता द्वारा (पूँजीवाद द्वारा) निर्मित कृत्रिम दु ख भावना का ही रूप मानत थे।

प्रसादजी का यह कहना था कि इस भौतिक सभ्यता ने, इस यन्त्र-युग ने, जनता के हृदय म अपने योगक्षेम म अधिक सचय के लोभ को जाग्रत किया। जनता द्वारा (उसके द्वारा माने हुए) सुख की खोज उसकी सवेदनशीलता के कारण है—और यह सवेदनशीलता वस्तुत भौतिक सभ्यता ने, यन्त्र-युग ने, उत्पन्न की है। और उनके दुख बनावटी है उनके दुख कृत्रिम हैं फलत उनके जीवन म कष्ट-ही-कष्ट हैं।

प्रसादजी के मन्तव्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि नयी भौतिकवादी (पूँजीवादी) सभ्यता ने जनता म एक अवाछनीय सवेदनशीलता निर्माण की, जिसके फलस्वरूप जनता न अपने बनावटी दुखो का निर्माण किया, और इसके फलस्वरूप उसका जीवन कष्टमय हो गया। इस सवेदनशीलता के साथ है एक विशेप प्रकार का लोभ। वह कौन-सा है? अपने योगक्षेम के लिए जितना आवश्यक सचय है, उससे अधिक सचय करने का लोभ।

प्रसादजी का अभिप्राय यह है कि आज जितने जन-सघर्प चल रह हैं, उनके पीछे ऐसा धन लोभ काम कर रहा है जो अहितकर है। अपने लिए आवश्यक जितनी सामग्री है उससे अधिक सग्रह करने की लालसा जनता म पैदा की गयी। प्रसादजी के अनुसार जनता की यह लालसा ग़लत है।

प्रसादजी का यह मन्तव्य कितना जन विरोधी, कितना प्रतिक्रियावादी और कितना पूर्वाग्रहपूर्ण है, इसका अन्दाज नही लगाया जा सकता। जो लोग जनता के खुले छिप शत्रु है—चाह वे साधु-सन्त के रूप म ही क्यों न आयें—वे सब यही सोचते हैं कि हिन्दुस्तान का शोपित-वर्ग अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक चाहता है। ऐसे विचारक पूँजीवाद का चाहे जैसा और चाहे जितना विरोध क्यो न करें, उनके सामाजिक दर्शन का मरुदण्ड जन विरोधी उच्च शासक-वर्गीय प्रवृत्तियाँ ही हैं।

भारत की जनता हमेशा से बहुत गरीब रही है। हमारे यहाँ भूख, अकाल महामारी के अलावा, लगातार कष्ट के भयानक से-भयानक उदाहरण हजारों लाखों की संख्या में प्रतिदिन मिलते हैं। आज तो हालत यह है कि मध्यवर्ग में सामान्य रूप से त्राहि-त्राहि मची हुई है। प्रसादजी के जमाने में भी गरीब मध्यवर्ग की स्थिति खराब ही थी। इतनी सारी जीवन-दृश्यावली प्रसादजी के सामने प्रस्तुत होते हुए भी, एक घनघोर भयानक प्रतिक्रान्तिवादी की तरह वे यह कहते हैं—पीड़ित प्रजा मनु को बतलाती है

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यहीं मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

वास्तविक बात तो यह है कि प्रसादजी जनता की वास्तविकताओं तथा अपने प्रतिक्रियावादी विचारों के बीच झूलते थे। नहीं तो क्या कारण है कि प्रसादजी उपर्युक्त पंक्तियों को लिख चुकने के तुरन्त अनन्तर ये दो पंक्तियाँ भी लिखते

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

प्रथम पंक्ति का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यन्त्रों ने मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों को नष्ट कर दिया, उसे यन्त्र बना दिया। उसकी शारीरिक शक्ति का नाश किया और शोषण के जरिए उसकी जिन्दगी उद्ध्वस्त कर दी।

इन दो पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी प्राक्-पूंजीवादी अर्थात् सामन्ती अथवा सामन्तपूर्वी, ग्राम-समाज व्यवस्था की दृष्टि से यह आलोचना कर रहे हैं। वे इस प्रकार अपनी बात रख रहे हैं, मानो पूंजीवाद के पहले हमारे समाज में शोषण होता ही न हो। इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि आर्य जब भारत पहुँचे तब उनका समाज वर्ग विभक्त था। किन्तु प्रसाद यह ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथ्य बिलकुल भूल गये हैं। वे शोषण को पूंजीवादी सभ्यता की ही विशेषता मानते हैं, जिसका वे विरोध कर रहे हैं। उनके सामने जन-जीवन के ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें दुख और कष्ट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती।
यहाँ भूख से विकल दलित को,
पद-तल में फिर-फिर गिरवाती।

यह सब ठीक है। किन्तु जन संघर्षों को यह कहकर बदनाम करना कि जनता अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक सामग्री के लोभ से संघर्ष कर रही है, न केवल यह बतलाता है कि प्रसादजी का यह रुख जन विरोधी है, वह यह भी सूचित करता है कि प्रसादजी प्राक् पूंजीवादी समाजों के अपने किसी काल्पनिक नमूने पर जनता के जीवन की ऐसी रूपरेखा निर्मित करना चाहते हैं, जिसमें जीवन-धारण के लिए मात्र आवश्यक सामग्री के अलावा उसको कुछ भी न मिल पाये। इसका निष्कर्ष इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि प्रसादजी जनता को उसके सीमित असंस्कृत जीवन की चहारदीवारी में ही बन्द रखना

चाहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि बिना सुख साधन-समृद्धि क जनता को अपने सांस्कृतिक विकास का अवसर नही मिल सकता। किन्तु प्रसादजी तो उन्हे पुरान आत्म-सन्तुष्ट अज्ञान ग्रस्त अराजनैतिक जीवन की चहारदीवारी म कैद करना चाहते हैं।

कहा तो प्रसादजी तथा उनकी वह श्रद्धा जो आरम्भ म यह कहती थी

काम मगल स मण्डित श्रय
सग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम।

और कहाँ ये प्रसादजी यह कहत है

तुमने योग क्षम से अधिक सचय वाला
लोभ सिखाकर इस विचार-सकट म डाला।
हम सवेदनशील हो चल यही मिला सुख
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

जब जनता की बारी आयी तब यह कहा गया कि तुम व्यथ सवेदनशील हो गये हो ये तुम्हारे दु ख बनावटी हैं। ओह ! तुम लोभी हो जरूरत स ज्यादा चाहत हो। ठीक है पूजीवाद तुम्हारा शोषण करता है लकिन तुम भी तो आवश्यकता से अधिक माँगते हो !

इस विश्लेषण को पढकर कौन न इस नतीजे पर पहुँचगा कि श्रद्धावाद और उसक प्रणता प्रसादजी अन्तिम निष्कर्षो म नितान्त जन विरोधी हैं। अपनी प्रतिक्रियावादी प्रकृति के अनुसार ही तो प्रसादजी ने यह कहा

श्रम भाग वग बन गया जिन्हे
अपने बल का है गव उन्हें।

इस श्रद्धावाद क भीतर नारी के सौकुमाय सहज सरलता-कोमलता मानवोचित सौहाद का सन्निवश कर प्रसादजी ने वास्तविक प्रतिक्रियावाद को ढाँक दिया है तथा पात्र रूप मे उपस्थित श्रद्धा को श्रद्धावाद का प्रतीक बनाकर उन्होंने अपने जनविरोधी मन्तव्यो पर भावनामक तथा रहस्यवादी वायवीयता की कुहरीली रगीन चादर बिछा दी है। चोरी के माल को छोटी सन्दूक म बन्द कर उस पर सुन्दर चादर बिछवा उस देव सिंहासन का रूप देते हुए उस पर अपने मनोहर भव्य इष्टदेव की सुशिल्पित प्रतिमा की स्थापना करना चोरी के अस्तित्व को समाप्त नही कर सकता। ठीक यही बात प्रसादजी क सम्बन्ध म भी है। अपनी विचारधारा पर वे चाहे श्रद्धा की मूर्ति स्थापित करें या अश्रद्धा की उसका मूलबद्ध प्रतिक्रियावादी स्वरूप छिप नही सकता। उसम पाश्चात्य ह्रास कालीन पूजीवादी सभ्यता क निराशावादी विचारको की भ्रामक आलोचनात्मक धारणाओ की छाप तो है ही उस पाश्चात्य प्रतिक्रियावाद का भारतीय प्रतिक्रियावाद स यह योग बहुत ही चमत्कारपूर्ण है।

सच तो यह है कि प्रसादजी नवीन वास्तविकताओ की विकास-शक्तियो के न पूरे जानकार थे, न उन यथार्थताओ से वे अपनी सगति स्थापित कर सके थे। नवीन वास्तविकताओ के आत्मविरोधों ने अपना लम्बा-चौडा मुंह फैला दिया। इस परिस्थिति को उच्चतर विकास में परिवर्तित किया जा सकता था, किन्तु पीछे की ओर मुडकर नहीं, आगे की तरफ बढकर। प्रसादजी म यही कमजोरी आ गयी।

किन्तु प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा तथ्यो पर आधारित है। यह बात अलग है कि हम अपने दृष्टिकोण से उन तथ्यों को एक प्रकार से व्यवस्थाबद्ध करें, और प्रसादजी दूसरे प्रकार से करें। किन्तु इस बात का श्रेय तो प्रसादजी को देना ही होगा कि उन्होने आधुनिक वास्तविकता के जीवन-तथ्यो को उभारा, और उन्हें इतने सशक्त रूप से प्रस्तुत किया कि वे बरबस हमारा ध्यान उन सच्चाइयो की तरफ खीच लेते है जो आज हमारे समाज की दारुण वर्तमान वास्तविकता है।

## 10

यह बात स्पप्ट हो जानी चाहिए कि सामाजिक-राष्ट्रवादी वास्तविकताओं क जीवन-तथ्यो का प्रसादजी न जो विश्लेषण किया, वह **कामायनी** मे उभरकर आज

विश्लेषणो और सामान्यीकरणो मे सवेदनात्मकता, तीव्रता और बहुलता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यो का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवो की सुदृढ शिला पर खडे हुए हैं—वे कल्पनामूलक नही हैं। अगर वे कल्पनामूलक होते, तो न उस विश्लेषण और सामान्यीकरण मे गहराई आ पाती, न आवेग, न तीव्रता। किन्तु प्रसादजी के जीवन-तथ्यात्मक अनुभूति प्रतीको, उपमाओं, चित्रो आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य-सामान्यीकरणो को जन्म देती है कि दग रह जाना पडता है। मजा यह है कि वे सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश की तथा पूँजीवादी विश्व की वर्तमान ह्रासग्रस्त स्थिति मे और भी अधिक सत्य हो गये हैं। **कामायनी** में वर्णित सभ्यता-प्रयास के पीछे प्रसादजी का अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविक परिस्थिति, तथा अपने समय की सामाजिक ह्रास दशा बोल रही है।

**कामायनी** मे इडा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के स्वरूप-विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है जिसके निर्माण म इडा का प्रमुख योग था। **कामायनी** में *अंकित इस सभ्यता विश्व की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विभेद, वर्ग-सघर्ष,* शासनादेश-घोषणा, विजयो की हुकार, युद्ध, रक्त-अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, प्रणतिभ्रान्त 'भीति-विवश कम्पित' होकर काम करते रहना, भूख से विकल, दलित, राष्ट्रो के भावो का नियमो म रूपान्तर, नियमो का दण्डों मे परिवर्तन, और

दण्डो के कारण सर्वत्र पीड़ा और कराह, नियम-स्रष्टाओ द्वारा आतक-विप्लवो की वृष्टि, सुविभाजनो का विषम होना, नियमो का नित्य टूटना और बनना, अन्धकार मे दौड, विनाश का मुख हमेशा खुला होना, मस्तिष्क का हृदय से विरोध, ज्ञान इच्छा तथा क्रिया मे परस्पर-विरोध वैषम्य, श्रद्धा का अन्ध श्रद्धा मे रूपान्तर ('श्रद्धा वचक बनकर अधीर, मानव-सन्तति ग्रह-रश्मि-रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर'), दलित दारिद्र्य, कलह, असफलतामूलक आँसू, अहकार, दम्भ, कष्ट, सन्ताप और मृत्यु इत्यादि।

प्रसादजी द्वारा वर्णित यह सभ्यता शापग्रस्त सभ्यता है (देखिए, 'इडा' सर्ग म शापवाणी) इस सभ्यता के विष-बीज मनु के इडा-आगमन-पूर्व प्रारम्भिक प्रयासो मे ही लक्षित हो चुके थे। प्रसादजी के विचारो का सकलन करने से हमे, उनके अनुसार, इस ह्रासग्रस्त सभ्यता के प्रधान कारण ये प्रतीत होते हैं (1) विभेद वर्गों की खाई, (2) शासनकर्त्ताओ की आतकवादी नीति, (3) 'श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें, अपने बल का है गर्व उन्हें', (4) बनावटी नियम, कृत्रिम सीमाएँ और दण्ड, (5) शोषण और दारिद्र्य।

इस सभ्यता का, **कामायनी** के अनुसार, व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर इस प्रकार प्रभाव है 1 मनुष्य का 'कृत्रिम स्वरूप', 2 ज्ञान, इच्छा और क्रिया मे परस्पर-विरोध-विषमता, 3 अहकार, लालसा, असफलता, आँसू और दम्भ आदि।

प्रसादजी मूलत यह मानते-से प्रतीत होते हैं कि सामजस्य विरोधी विघटन-प्रक्रिया, जो सामाजिक स्तर पर वर्ग-विभेद की खाई के रूप मे प्रकट होती है, ठीक वही प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर भी सक्रिय है। किसी 'सकुचित असीम अमोघ शक्ति की भेद से भरी भक्ति' ही यह विघटन की प्रक्रिया है, जो जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है। प्रसादजी विघटन की इस प्रक्रिया को मूलत वर्गभेद-वर्गसघर्ष और अहकार मानते-से प्रतीत होते हैं।

सारी **कामायनी** मे नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास और सफलताओं पर कोई सर्ग नही। ('स्वप्न' सर्ग मे केवल 189 और 190 पृष्ठ ही मे इस सम्बन्ध मे थोडा कहा गया है)। श्रीवृद्धि, विज्ञानोन्नति और सत्ता—ये तीन बातें नयी सभ्यता की सफलताओ मे गिनायी जा सकती हैं। किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोग-ग्रस्त रहा है। प्रसादजी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह मे जा रहा है।

प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा के प्रधान तत्त्व ये हैं : (1) वर्ग-भेद का विरोध और उसकी भर्त्सना, अहकार की निन्दा—यह प्रसादजी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (2) शासकवर्ग की जन-विरोधी आतकवादी नीतियों की तीव्र भर्त्सना—यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (3) वर्ग-भेद का विरोध करते हुए भी मेहनतकशो के वर्ग-सघर्ष का तिरस्कार—यह एक प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। (4) वर्गहीन सामजस्य और सामरस्य का वायवीय अमूर्त आदर्शवाद। यह तत्त्व अपने अन्तिम अर्थों मे इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि (क) वर्ग-वैषम्य से वर्गहीनता तक पहुँचने के लिए उनके पास कोई उपाय नही, इस उपायहीनता का आदर्शीकरण है आदर्शवादी-रहस्यवादी विचारधारा, (ख) इस उपायहीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण स्थिति चिरजीवी है, (ग) अगर इस यथार्थ की भीषणता मे कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण

द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है—श्रद्धा अपने पुत्र को इडा के पास इसीलिए रखती है, (घ) इस विचारधारा के कारण आदर्श और यथार्थ के बीच अनुल्लघ्य, अवाछनीय खाई पड जाती है।

ध्यान रहे कि प्रसादजी के सम्मुख उनके 'आज' की ही दुनिया थी। वे इस 'आज' की वास्तविकताओ से इतन ज्यादा परिचित थे कि वे, स्वय भारतीय कीर्ति के उद्गाता होकर भी, राष्ट्रीय उत्थान और साम्राज्यवाद-विरोधी वायुमण्डल के बावजूद, इस बात को कतई न भूल सके कि यह नवीन पूँजीवादी समाज और राष्ट्र भयानक रूप से रोग ग्रस्त है। 'इडा' सर्ग की शापवाणी सुनिए। यह शापवाणी सन् 1953 की वास्तविक्ताओ को भी ठीक चित्रित करती है—सिवाय एक बात के। नयी ऐतिहासिक शक्ति-सम्पन्न विकासमान श्रमिक-वर्गों की बलवृद्धि और आत्मविश्वासमयी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को वे न देख सके। वे यह नही देख सके कि भारत के गरीब मध्यवर्ग मे अभी इतनी मानवतावादी जनतन्त्र-भावना शेष है कि वह (क्रान्तिकारी वर्गों की पिछली पक्ति म ही क्यो न सही) सामाजिक रूपान्तर का उत्तरदायित्व निभा सकता है। प्रसादजी के जमाने म, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र मे, इन वर्गों (गरीब निम्न-मध्यवर्ग, किसान-वर्ग और मजदूर-वर्ग) का कोई निर्णायक प्रभाव न हो पाया था। प्रसादजी की महत्ता इसी म है कि उन्होने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवादी यथार्थ क ह्रासग्रस्त स्वरूप की तीव्रतम शब्दो मे भर्त्सना की। भारतीय समाज के अन्दर मार्क्सवादी विचारधारा का उनके जमाने मे कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण, तथा तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओ से ग्रस्त होकर, वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व का कोई वैज्ञानिक विश्लेषण-निरूपण न कर सके। अतएव, प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा मे दो प्रधान दोष रह गये (1) सभ्यता समीक्षा एकागी है, उसन केवल ह्रास को देखा, जनता की विकासमान उन्मेषशाली शक्तियो को नही देखा। (2) उनकी आलोचना अवैज्ञानिक है, वह समाज के मूल द्वन्द्वो को नही पहचानती, मूल विरोधों को नही देखती। वह उन मूल कारणो और उसकी प्रक्रिया से उत्पन्न लक्षणो को एक साथ ही रखती है।

किन्तु, इसके बावजूद, जीवन तथ्यो के रूप मे काव्यात्मक आवेग के साथ प्रस्तुत यह समीक्षा कामायनी के अत्यन्त सुन्दर स्थलो मे स है। अतएव हम यहाँ उसके कुछ अवतरण देना उपयुक्त समझते हैं।

'इडा' सर्ग की यह शापवाणी सुनिए

> यह अभिनव मानव प्रजासृष्टि।
> द्वयता म लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।
> अनजान समस्याएँ गढती रचती हो अपनी ही विनष्टि।
> कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो, बढे भेद।
> अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।
> हृदयो का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जडता।
> पहचान सकेंगे नही परस्पर चले विश्व गिरता पडता—
> तब कुछ भी हो यदि पास धरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।
> दुख देगी यह सकुचित दृष्टि।

× × ×

लालसा भरे यौवन के दिन पतझड-से सूखे जाँय बीत।
सन्देह नये उत्पन्न रहे उनसे सन्तप्त सदा सभीत।
फैलेगा स्वजनो का विरोध बन कर तमवाली श्याम अमा।
दारिद्र्य-दलित बिलखाती हो यह शस्य श्यामला प्रकृति रमा।

× ×

मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध दोनो मे हो सद्भाव नही।
यह चलने को जब कहे कही तब हृदय विकल चल जाय कही।

× ×

जीवन सारा बन जाय युद्ध।
उस रक्त अग्नि की वर्षा मे बह जाये सभी जो भाव शुद्ध।
अपनी शकाओ से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध,
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप।
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दम्भ स्तूप।
हो वर्तमान से वचित तुम अपने भविष्य मे रहो रुद्ध।
सारा प्रपच ही हो अशुद्ध।

× × ×

ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते;
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं सब कराहते।
यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयो की हुकार सुनाती,
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल मे फिर फिर गिरवाती।
यहाँ सतत सघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अन्धकार मे दौड लग रही
मतवाला यह सब समाज है।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नही कर भेद बाँटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती।
सामजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं,
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओ को झुठलाते हैं।
स्वय व्यस्त पर शान्त बने-से
शस्त्र-शास्त्र रक्षा मे पलते,
ये विज्ञान भरे अनुशासन
क्षण-क्षण परिवर्तन मे ढलते।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

हम पहले ही यह कह चुके हैं कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सच्चा सामजस्य तो तभी हो सकता है, जब मनुष्य मानवीय-सामाजिक क्षेत्र मे जनता के प्रधान उद्धार-लक्ष्यो के सघर्ष की प्रक्रियाओ मे अपने को डाल दे। उसके बिना यह सामजस्य असम्भव है।

व्यक्तिवादी धरातल पर इस सम्बन्ध मे जो भी सामजस्य होगा, वह ऊपर से भले ही सुदृढ प्रतीत हो, वस्तुत वह रीता सामजस्य है, इसलिए कि उसमे मानवता के प्रधान लक्ष्यो तथा उन्हे प्राप्त करने की मनोवृत्तियो की वास्तविक सक्रियताएँ नही हैं। मानवता के वास्तविक मुक्ति-सघर्ष की समस्याएँ, तथा उनके वैज्ञानिक निराकरण के उपायों के मानसिक प्रतिबिम्ब, तथा उस यथार्थ सघर्ष-प्रक्रिया स अपनी सभी वृत्तियो तथा शक्तियो की सगति, सामजस्यपूर्ण व्यक्तित्व मे होना ही चाहिए। व्यक्तिवादी सामजस्य रीता है, अर्थहीन है, तथा अन्यथा है।

प्रसादजी की क्षमता तथा महत्ता इसी बात मे है कि उन्होंने पूँजीवादी ह्रास-ग्रस्त सभ्यता के भीतर व्यक्ति के भीतरी विकेन्द्रीकरण का प्रश्न बडे जोर से उठाया। प्रसादजी इस बात को जानते थे कि शोषण प्रधान पूँजीवादी ह्रासग्रस्त सभ्यता की व्यक्तिवादी मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के भीतर विघटन, एकागी विकास, अर्थात् असामजस्य और विकेन्द्रीकरण को जन्म देती और बढाती है।

प्रसादजी को समाज और व्यक्तियो मे समस्याएँ मिलती गयी, किन्तु उनका न वैज्ञानिक आकलन हो सका, न निराकरण। फलत, उसी समाज तथा व्यक्ति मे उन्हे अन्तत समझौता भी करना पडा, यह कहकर कि श्रद्धा से समन्वित होकर शायद वे परिष्कृत हो सकें। किन्तु सामाजिक रूपान्तर की वास्तविकता की रूप-रेखाएँ उनके काव्य-मन मे उभर नही पायी थी।

ध्यान रहे कि ह्रासग्रस्त सभ्यता की उन्नायिका है इडा। अतएव वह मनु के अतिचारी कार्यो की न्यायपूर्ण भर्त्सना के बावजूद, प्रसादजी की अन्तिम सहानुभूति खो बैठी। यह इडा बुद्धि की प्रतीक नही (प्रसादजी ने उसे बुद्धि का प्रतीक-चरित्र माना है), इडा तो पूँजीवादी समाज की मूल विचारधारा की प्रतीक है। इडा का चरित्र बुद्धिप्रधान अवश्य है। वह ज्ञानोन्नति और वर्ग-विभाजन के आधार पर नवीन सभ्यता खडी करती है। जीवन के लिए सघर्ष (स्ट्रगल फॉर ऐक्जिस्टेंस) और योग्यतम की विजय तथा शेप का नाश (सर्वाइवल ऑफ दि फिटैस्ट) उसके प्रमुख सिद्धान्त हैं। इस सघर्ष को प्रसादजी 'चिति-केन्द्रो का सघर्ष' कहते हैं। किन्तु इस सघर्ष के कारण व्यक्ति-चेतना रागपूर्ण होकर भी द्वेष-पक मे सनी हुई रहती है, तथा गिरती-पडती अपनी मजिल की ओर चली चलती है। यही जीवन-उपयोग है, यही बुद्धि-साधना है, और अपना जिसमे श्रेय हो वही सुख की आराधना भी है।

मैंने उपरिलिखित पक्तियो मे प्रसादजी की शब्दावली का उपयोग किया है। उनका अभिप्राय यह है कि जीवन-सघर्ष, योग्यतम की विजय तथा शेष का नाश वर्तमान पूँजीवादी-राष्ट्रवादी समाज की गति का भीतरी नियम है। यह सघर्ष,

स्वभावत, दो विरुद्ध हितो के बीच युद्ध है। एक हित के आधार पर असख्य लोग एकताबद्ध हो जाते हैं, किन्तु वह हित दूसरे विरुद्ध-हित से जो सघर्ष कर रहा है वह जीवन-सघर्ष है। इसका फल यह है कि अपने हित के आधार पर एक विशेष जन- [illegible] ेम तथा अन्य विरोधी हितो का प्रति- [illegible] है। चूँकि इस प्रकार परस्पर-विरोधी [illegible] अपनी मजिल की ओर आसानी से [illegible] की आराधना के लिए ही तो यह [illegible] यही बुद्धि-साधना है। इडा मनु से कहती है

> चिति केन्द्रों मे जो सघर्ष चला करता है
> द्वयता का जो भाव सदा मन मे भरता है,
> वे विस्मृत पहचान रहे-से एक एक को
> होते सतत समीप मिलाते है अनेक को।
> स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
> ससृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।
> व्यक्ति-चेतना इसीलिए परतन्त्र बनी-सी,
> रागपूर्ण, पर द्वेष पक मे सतत सनी-सी।
> नियत मार्ग मे पद-पद पर है ठोकर खाती,
> अपने लक्ष्य समीप श्रान्त हो चलती जाती।
> यह जीवन-उपयोग, यही है बुद्धि-साधना,
> अपना जिसमे श्रेय यही सुख की आराधना।

यह कहकर इडा मनु को साफ-साफ बतलाती है

> लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया म,
> प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया मे।

इडा स्वय भी रहस्यवादिनी है। वह जीवन-सघर्ष मे 'योग्यतम की विजय' वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है। किन्तु पूँजीवादी नियम विधान के प्रतिकूल जानेवाले के लिए उसके मन मे कोई सहानुभूति नही। वह कहती है

> अग्रसर हो रही यहाँ फूट,
> सीमाएँ कृत्रिम रही टूट,
> श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हे,
> अपने बल का है गर्व उन्हें,
> नियमो की करनी सृष्टि जिन्हे,
> विप्लव की करनी वृष्टि उन्ह,
> सब पिय मत्त लालमा घूँट,
> मेरा साहस अब गया छूट!

अथवा—

> अब मैं रह सकती नहीं मौन
> अपराधी किन्तु यहाँ न कौन?
> सुख-दुख जीवन मे सब सहते,

पर केवल सुख अपना वहते,
अधिकार न सीमा मे रहते,
पावस निर्झर से वे बहते,
रोके फिर उनको भला कौन?
सबको वे कहते—'शत्रु हो न'!

इडा के कथन का तात्पर्य यह है कि सबको अपनी सीमा मे रहना चाहिए—शोषित जनता को भी, शासक को भी। किन्तु इडा यहाँ यह भूल जाती है कि जिस समाज मे मनुष्य के वर्ग-सम्बन्ध—शोषित और शोषक—इस मूल तथ्य की शक्ति से निर्मित हैं, वहाँ निश्चय ही शोषित को यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह शोषण का अन्त करे। इडा इसको नही मानती। वह तो स्पष्ट ही कहती है कि स्पर्धा मे योग्यतम की विजय जगत् का मूल सिद्धान्त है। तो फिर उसे इस बात मे आपत्ति नही होनी चाहिए कि शोषण के विरुद्ध, अत्याचार के विरुद्ध, आतकवादी नीति के विरुद्ध, शोषित जनता सघबद्ध होकर लडती है। वह स्वय इस बात से नाराज़ है कि मनु के अत्याचार के विरुद्ध जनता ने इतना बडा और सख्त कदम उठाया। किन्तु, साथ ही उसका क्रोध मनु की आतकवादिता और स्वार्थभाविता पर भी कम नही है। इडा के चरित्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह नियमो के अनुसार काम करना चाहती है। जहाँ तक हो सके वह नियम के अनुकूल अपने न्याय पक्ष का समर्थन करती है। किन्तु, जैसा कि इडा स्वीकार करती है, ये नियम रोज बनते और बिगडते रहते हैं तथा उनसे पीड़ा-कराह ही बढता है। इसलिए उसके सुविभाजन और नियम, बादलो से पत्थरो की वर्षा के समान ही कष्ट देते रहते हैं। वह स्वीकार करती है कि

मैं जनपद कल्याणी प्रसिद्ध,
अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध।
× × ×
प्राणी विनाश-मुख मे केवल,
चुपचाप चलें होकर निर्बल!
× × ×
भय की उपासना! प्रणतिभ्रान्त,
अनुशासन की छाया अशान्त।

अर्थात्, इडा को यह स्वय समझ मे नही आता कि यदि एक ओर भय-प्रदान अर्थात् दण्ड-विधान की उपासना से जनता प्रणत हो गयी है—यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न होती है—इसीलिए सब जगह अनुशासन की अशान्त छायाएँ डोल रही हैं। स्वय इडा को ही इस बात पर आश्चर्य होता है कि 'प्राणी विनाशमुख मे केवल चुपचाप चलें होकर निर्बल!' अर्थात्, मनुष्य को विवेक से काम लेना चाहिए और अपने विनाश का रास्ता तैयार नही करना चाहिए। शासक शोषक और शासित-शोषित दोनो के लिए इडा कहती है

सघर्ष कर्म का मिथ्या बल।

जब तक प्रजा से मनु का सघर्ष नही हुआ था तब तक इडा मनु को समझाती रही कि चिति-केन्द्रो मे सघर्ष चला करता है, स्पर्धा म जो उत्तम ठहरें वे रह जावें, अपना जिसमे श्रेय वही सुख की आराधना है। वही इडा आगे चलकर यह कहती

है कि—

संघर्ष कर्म का मिथ्या बल।

किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि इडा शोषित जनता के संघर्ष को अनुचित स्थापित कर रही है? हाँ, ठीक यही कर रही है।

यद्यपि विश्व के पूँजीवादियों में अधिक-से-अधिक लाभ की उपलब्धि के लिए स्पर्धा होती रहती है, और इस स्पर्धा की प्रभाव-छायाएँ साधारण मनुष्यों पर भी गिरती हैं, किन्तु इस बात को जीवन-दर्शन नहीं बनाया जा सकता। उसके अनुसार नीति-व्यवहार निर्धारित नहीं किया जा सकता। उसके अनुसार नैतिक मानदण्ड नहीं बन सकते।

फिर भी वे बने। जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय एक प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। यह सिद्धान्त स्वार्थग्रस्त फासिस्ट साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र रहा है। इस वैचारिक मनोभूमि से ग्रस्त इडा और उसकी नवीन सभ्यता, श्रद्धा और प्रसादजी के लिए अत्यन्त निन्दनीय रही। किन्तु अपनी उपायहीनता के कारण इस सभ्यता को (कुछ ऊपरी सुधार करके) चिरन्तन मान लेना पड़ा है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए अच्छे शासक की ज़रूरत है। इसलिए श्रद्धा अपना पुत्र इडा को सौंप देती है। वर्ग-संघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, वैचारिक धरातल पर, श्रद्धा वर्गहीन वायवीय रहस्यवादी सामरस्य की ओर उन्मुख है। किन्तु इडा का सामंजस्य वर्ग-मैत्री के आधार पर ही स्थित है।

एक बात ध्यान में रखने की है। प्रसाद स्वयं किसी-न-किसी अंश में जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को मानते-से प्रतीत होते हैं, नहीं तो कोई कारण नहीं है कि वे 'काम' सर्ग में काम के मुख से यह कहलवाते

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि इडा में निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध प्रतिक्रियावादी हैं।

इडा राष्ट्रवाद-पूँजीवाद का एक प्रमुख चरित्रात्मक सामान्यीकरण है। प्रसादजी ने इडा को बुद्धिवाद का प्रतीक मानकर पर्याप्त भ्रम-विस्तार किया है। इडा बुद्धिवाद का प्रतीक नहीं है। प्रसादजी ने कदाचित् निम्नलिखित बात सोचकर उसे बुद्धिवाद कहा हो, यद्यपि यह भी बुद्धिवाद नहीं है। बात इस प्रकार है:

वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की,
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।

इडा को विज्ञान और यन्त्र से संयुक्त कर प्रसादजी ने कदाचित इडा को बुद्धिवाद कहा हो। वस्तुतः, बुद्धिवाद वह धारणा है जो यह मानती है कि जगत्-सृष्टि तथा मानवता, यानी कि समस्त अस्तित्व के मूलभूत और अन्तिम सत्यों को

बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। वस्तुत इडा बुद्धिवाद का प्रतीक न होकर स्वय श्रद्धा अ बुद्धिवादी है अर्थात् बुद्धि से अतीत अनुभूति के माध्यम स ही श्रद्धा विश्व रहस्य समझती है। इसीलिए वह रहस्यवादिनी भी है। (वैसे इडा को भी रहस्यवाद का शौक है। प्रसादजी की शब्दावली के कारण यह विश्व क समस्त सघर्षों को अनन्त चेतना रहस्य म समाहित कर देती है।)

इडा वस्तुत राष्ट्रवाद पूजीवाद का एक चरित्रात्मक सामान्यीकरण है। ठीक उसी तरह पूँजीवाद की प्रारम्भिक सामाजिक अवस्था म (जबकि उसके कारण सामन्ती सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप स छिन्न नही हुए थे) नवीन व्यक्तिवाद की अतीतोन्मुख स्थित्यात्मक प्राक पूँजीवादी आदश छायाएँ धारण करनेवाली मान्यताओ का चरित्रात्मक सामान्यीकरण श्रद्धा है। किन्तु श्रद्धा है आदर्शमुखी व्यक्तिवाद ही—वह व्यक्तिवाद जिसको अपने वर्तमान समाज म आदर्श न मिला हो और इसलिए उस अपनी सम्पूण विश्व दृष्टि के लिए प्राक्तन का नवीन व्यक्तिवादी सस्करण करना पडा हो।

और मनु [मे] उसी व्यक्तिवाद की वे अहग्रस्त प्रवृत्तियाँ है जो पूँजीवाद के ह्रास ग्रस्त स्वरूप मे ही उत्पन्न हो सकती है। अहकार और जनविरोधी प्रभुत्व लालसा इस पूँजीवाद की प्रधान विशपताएँ है। ऐस पूँजीवाद की वे प्रधान विशेषताएँ है जिसने प्रारम्भ से ही जनतन्त्र की उपेक्षा की—अपने पूँजीवादी प्रजा तन्त्र के मूल सिद्धान्तो को भी जिसने ताला ए-ताक रखा। मनु उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं श्रद्धा उसके अनुभूतिवादी ऐकान्तिक आदर्श पक्ष का चरित्रात्मक उदघाटन है और इडा उसके सामाजिक मूल गति नियमो का उसके विविध विधानो का, प्रतिनिधित्व करती है। प्रसादजी न देव द्वन्द्व के प्रतीक रूप मे श्रद्धा और मनु को हिमालय म प्रतिष्ठित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय पूँजीवाद के पास विश्व दृष्टि के रूप म प्राक् पूँजीवादी सामरस्य के ऐकान्तिक व्यक्तिवादी सस्करण के अतिरिक्त विचारधारा के क्षेत्र म अब कुछ देने को नही रह गया है तथा जहाँ तक भारतीय जनता का प्रश्न है उसका प्रगतिशील कार्य सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका है।

# 11

पाश्चात्य पूँजीवाद ने जब एकाधिकारी पूँजीवाद का रूप धारण किया था तभी उसका प्रगतिशील कार्य समाप्त हो चुका था। किन्तु अपनी घनघोर साम्राज्य-वादी सगीनो से उपनिवेशो का पैसा लूटकर उसका अल्पाश जनता मे भी वितरित किया था—विशेषत ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने। तब उससे स्पर्धा करनेवाले दूसरे साम्राज्यो की दशा क्षीण थी।

इस सवशक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भीतर भारतीय औपनिवेशिक पूँजीवाद का उदय हुआ। विश्व-पूँजीवाद के भीतर अखिल भारतीय अर्थ-तन्त्र भी

पूँजीवादी हो गया था, किन्तु विशाल सामन्ती ध्वसावशेष अपनी बूढी मीनारो के साथ अभी भी सीना ताने खडे हुए थे। इस औपनिवेशिक पूँजीवाद के भीतर औद्योगिक पूँजीवाद बहुत क्षीण था। बडे-बडे करोडपतियो की आमदनी का जरिया वस्तुत, अनुत्पादनशील लेन-देन पद्धति और सट्टा (पढिए, मिस्टरीज ऑफ दि [illegible] जोरो स बढ रहा था।

किन्तु वह भारतीय मध्य-

न कर मका। ये सामन्ती प्रभाव, बगाल के रवीन्द्रवाद क द्वारा छिन्न-भिन्न न होकर, एक नवीन व्यक्तिवादी सास्कृतिक रूप मे प्रतिष्ठित हुए। किन्तु उनसे हमारे सामन्ती प्रभावो के विनाश की प्रक्रिया तीव्र न हुई, वरन् वह धीमी पड गयी। समाज सुधारो का युग समाप्त हो गया था। हमारे कवि और कथाकार अब व्यक्तिवाद की रगीनियो की झपकी लेने लगे। सामन्ती प्रभाव-शृखलाओ स जनता का उद्धार-कार्य अधूरा रह गया। उन सामन्ती प्रभावो की रूपान्तरित आदर्श छायाओ ने स्थित्यात्मकता को जन्म दिया। इस स्थित्यात्मकता म व्यक्ति मन छटपटान लगा। यह छटपटाहट तभी दूर हो सकती थी जब उसका क्रान्तिकारी सामाजिक दर्शन प्राप्त होता जिसमे जनता के वास्तविक सामाजिक क्रान्तिकारी हितो के सामजस्य म व्यक्ति की तृषाओ की पूर्ति तथा उपलब्धि होती। किन्तु उन दिनो वैसा नही हो सकता था।

वह युग था अद्वैतवाद-रहस्यवादी दार्शनिक विचारको तथा नवीन परिष्कृत धर्म-सम्प्रदायो और समाज-सुधारो का। किन्तु सुधार केवल ऊपरी ही रहे। भारतीय परिवारो की वास्तविक सामन्ती प्रभाव शृखलाएँ घनीभूत ही रही। यह इसलिए हुआ कि तत्कालीन उत्तरप्रदेश और बगाल आदि प्रान्तों के भीतर सामन्ती शोषण व्यवस्था कमर कसकर खडी थी। दूसरे जो औद्योगिक पूँजीपति न थे, मात्र व्यापारी थे, उनम सामन्ती प्रभाव-छायाएँ विशेष रूप से घनीभूत थी। वे अभी तक सामन्त-व्यवस्था से पूरा छुटकारा न पा सके थे। फलत, नवीन व्यक्तिवाद से सम्पन्न होकर धर्म एक नय रूप में आया, समाज-सुधार की बात केवल शाब्दिक हो गयी, और लोग सामन्ती प्रभावो का आदर्शीकरण करने लगे। केवल यत्र-तत्र उसका रूप बदल दिया गया, अर्थात् उन प्रभाव-छायाओ की नये ढग से व्याख्या की जाने लगी। बाहर की पूँजीवादी स्पर्धा तथा जीवन-सघर्ष से घबराकर, अपनी आशा-आकाक्षाओ की आत्मचेतना से ग्रस्त मन उन्ही प्रभाव-छायाओ के नवीन

अपनी सगति स्थापित न कर सक। फलत, प्राक्तन के नवीन सस्करणो मे प्राप्त भावादर्शवाद क शस्त्र से वे इस विषमता ग्रस्त बाह्य सघर्षशील विश्व की—पूँजीवादी सभ्यता की सामाजिक वास्तविकता की—अपन प्राक्तन-नवीन सस्कार भाव की दृष्टि से आलोचना करने लगे। इसका फल यह हुआ कि, अन्तत, उनका सामाजिक आदर्श-स्वप्न ऐकान्तिक ग्रामीण समाज अथवा वन-जीवन के आर्य वातावरणों से सयुक्त हुआ। यह आकस्मिक बात नही है कि प्रसादजी न प्राचीन भारतीय सस्कृति क जीवन-चित्र प्रस्तुत किये हैं। यह उनके लिए सम्पूर्ण रूप से स्वाभाविक था। मनु और श्रद्धा के अन्तर्जगत् के चित्रण मे उन्होंने अपना सारा

पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना कई तरह से हुई है। इस सम्बन्ध में आलोचना के दो दृष्टिकोण प्रधान रहे हैं। एक है समाजवादी दृष्टि। दूसरी दृष्टि वह है जिसके पास कोई अतीतोन्मुख आदर्श है। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि प्रसादजी की आदर्शानुभूतियाँ प्राचीन भारत के वेदोपनिषदिक तथा बौद्ध वातावरण की काल्प- [illegible] सभ्यता [illegible], आत्म- [illegible] की गयी है। इस दृष्टिकोण में गहरी सामन्ती आध्यात्मिकता की छायाएँ हैं।

पूँजीवादी सभ्यता की उन्नायिका है इडा। इडा मनु और श्रद्धा दोनों द्वारा निरादृत हुई है। श्रद्धा प्रसादजी की अतीतोन्मुख भावुक आदर्शवादिता और सामन्तयुगीन आध्यात्मिकता या वाष्यात्मक प्रतिबिम्ब है। श्रद्धा प्रसादजी का 'सुपर-ईगो' है, उनकी आध्यात्मिक विवेक-चेतना है। इस पर गहरे अतीतोन्मुख सामन्तयुगीन रहस्यवाद की छायाएँ हैं। कामायनी में श्रद्धा के दृष्टिकोण से अर्थात् विगतयुगीन आदर्श के नवीनीकृत दृष्टिकोण से, वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की गयी है।

तो आइये, सबसे पहले हम इडा के उस वास्तविक मानव-चरित्र को देख जायें जो चरित्र कामायनी में वस्तुतः अंकित हुआ है। चूँकि मनु और श्रद्धा दोनों द्वारा इडा निरादृत हुई है, इसलिए उनके व्यक्ति-स्वभावों की इडा के चरित्र से तुलना करते चलना अस्वाभाविक नहीं है।

कामायनी पढ़ जाने पर यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि उस महाकाव्य में जितने भी पात्र हैं उनमें इडा का व्यक्तिगत चरित्र दृढ़तम और उज्ज्वलतम है। प्रसादजी ने इडा की प्रथम अवतारणा चमत्कारपूर्ण ढंग से की है। उस समय प्रसादजी इडा का रूप-स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।<br>
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम<br>
शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल<br>
दो पद्म-पलाश-चषक-से दृग<br>
देते अनुराग-विराग ढाल<br>
गुंजरित मधुप-सा मुकुल सदृश<br>
वह आनन जिसमें भरा गान<br>
वक्षस्थल पर एकत्र धरे<br>
संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान<br>
था एक हाथ में कर्म-कलश<br>
वसुधा-जीवन-रस सार लिये<br>
दूसरा विचारों के नभ को<br>
था मधुर अभय अवलम्ब दिये<br>
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी,

आलोक-वसन लिपटा अराल
चरणों मे थी गति भरी ताल।

उपर्युक्त उद्धरण मे प्रसादजी ने स्वय इडा के व्यक्तित्व की विशेषताएँ बता दी हैं। वे इस प्रकार हैं (1) विचारो की, बुद्धि की, तर्क की प्रधानता, (2) प्रकृति पर विजय की प्रवृत्ति, जो दो तरह से व्यक्त हुई है—(अ) विज्ञान का विकास, विज्ञानवाद का विकास, (ब) भौतिक सम्पदा की निरन्तर अभिवृद्धि के हेतु, कर्म-सगठन और कर्तव्य की भावना।

इडा का व्यक्तित्व वहिर्मुख, सकर्मक और समर्पित व्यक्तित्व है। उसमे अपूर्व बौद्धिक तेजस्विता है, दिग्विजयी आत्मविश्वास है। वह कहती है

हाँ, तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर
फिर किसकी नर शरण जाय।
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल
ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।
तुम उसका पटल खोलने मे
परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते
बस बढा चलो अपनी क्षमता।
तुम जडता को चैतन्य करो
विज्ञान सहज साधन उपाय।

स्पष्ट है कि इडा विज्ञान द्वारा प्रकृति के अनुसन्धान की, उसके शक्तिस्रोतो के उपयोग की, प्रेरणा तो दे ही रही है, साथ ही इस प्रकार के कार्य के लिए जिस मानव-व्यवस्था की आवश्यकता है, जिस 'नियमन' और 'शासन' की आवश्यकता है, उसकी ओर भी सकेत कर रही है। प्रसादजी ने, श्रद्धा के मुख से, इस नियमन और शासन को स्थान स्थान पर निन्दित किया है। उन्होने वैसा क्यो किया इस प्रश्न का उत्तर आदर्श समाज की प्रसाद-कल्पना म हमें प्राप्त होगा। जो हो, यह सच है कि प्रकृति पर विजय के हेतु, विज्ञान के व्यापक प्रयोग के फलस्वरूप, अर्थात् देश के औद्योगीकरण के परिणाम के रूप मे, अतीत ग्राम समाज की आत्म-निर्भरता लुप्त होकर, आधुनिक सभ्यता के अन्तर्गत कार्य विभाजन तथा परस्परावलम्बन का सूत्रपात हुआ और वह दृढ हुआ। इस परस्परावलम्बन के आधार पर खडे हुए समाज को चलाने के लिए, नियम विधान और प्रशासन-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक हुई, जो कि आप-ही-आप समाज के विकास के साथ विकसित होती गयी। इडा ने अपने व्यक्तित्व की शक्ति से और मनु के सहयोग द्वारा, आदर्श आत्म-निर्भर ग्राम समाज की विकासावस्था से मानव को ऊपर उठाकर, उसे परस्परावलम्बन विशिष्ट आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता के स्तर पर उपस्थित कर दिया। इडा के पास आपेक्षिक रूप से स्पष्ट कार्यक्रम, समाज के उन्नयन और मानव के उच्चतर विकास से सम्बन्धित है। इस कार्यक्रम को इडा मनु द्वारा करवाती है।

इडा के पास न केवल बुद्धिवाद अर्थात् विज्ञानवाद है, वरन् कर्म-सगठन की क्षमता भी है। नियमन और अनुशासन के बिना कर्म-सगठन नही हो सकता,

क्योंकि प्राकृतिक साधनों तथा वैज्ञानिक साधनो के समुचित विकास का कार्य सामूहिक ही होता है, जिसके लिए नियम-विधान आवश्यक है। इडा की बुद्धि वायवीय, अन्तर्मुख, कुहरिल मार्गों पर नही चलती, वह मूर्त, बाह्य, स्पष्ट मार्गों पर चलनेवाली विधायक शक्ति है। इडा का व्यक्तित्व-चरित्र, बहिर्मुख, सकर्मक, विज्ञानवादी तथा वैयक्तिक स्वार्थ से नितान्त रहित है। इडा स्वप्न-द्रष्टा भी है—ऐसी स्वप्न-द्रष्टा, जो अपनी विधायक बुद्धि और रचनात्मक कर्म के द्वारा उस स्वप्न को वास्तविकता मे परिणत कर देती है। इडा स्वय नीतिपरायण और अनुशासन-प्रिय व्यक्तित्व रखती है।

प्रसादजी ने ऐसी इडा पर श्रद्धा के मुख से यह आरोप लगाया है कि वह हृदय-पक्ष-शून्य है। श्रद्धा इडा के सम्बन्ध मे कहती है—'सिर चढी रही, पाया न हृदय'। श्रद्धा का यह आरोप प्रसादजी के और श्रद्धा के पूर्वग्रहो को ही सूचित करता है। इडा तो मनोवैज्ञानिक और भौतिक स्वार्थो से दूर और उनके परे है, मानव-कल्याण के लिए तत्पर है। इसीलिए वह सारस्वत सभ्यता का उच्चतर स्तर पर पुनर्निर्माण करती है। हाँ, इडा के पास वैयक्तिक, आत्मबद्ध, भावुकता-भरे जीवन-मूल्यो का विशेष स्थान नही है।

इस आरोप के सम्बन्ध मे कि इडा का हृदय-पक्ष शून्य है, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल कहते है कि इडा यह आरोप लगा सकती थी कि हे श्रद्धे, तू "रसपगी रही, पायी न बुद्धि"। इस शुक्ल-वाक्य मे कुछ और जोडकर श्रद्धा के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है—"रस पगी रही, पायी न बुद्धि, पाया न कर्म।" हम श्रद्धा के मानव-चरित्र का विश्लेषण करते हुए यह बता चुके है कि स्वय श्रद्धा मे 'इच्छा, ज्ञान और क्रिया' का कोई सामजस्य नही है।

श्रद्धा और इडा के स्वभाव-चरित्र मे यदि कोई मौलिक भेद है तो वह यह है कि इडा का व्यक्तित्व सामाजिक-सार्वजनिक महत्त्व से विन्यस्त है, जब कि श्रद्धा के पास कोई अपना सार्वजनिक जीवन नही है। श्रद्धा की भावना वैयक्तिक है, [illegible] भी श्रद्धा सिर्फ [illegible] गहन सवेदन- [illegible] व्यक्तित्व का [illegible]क्ति हो सकता है, किन्तु उसके जीवन की शक्तियाँ मानव-कल्याण के सामाजिक कार्य की ओर उन्मुख अथवा उनमे व्यस्त नहीं है।

कहा जायेगा कि मेरा यह निवेदन निराधार है, श्रद्धा मनु की मुक्ति का कार्य करके, वस्तुत, मानव-कल्याण की ओर ही उन्मुख है। किन्तु मै मानव-कल्याण के सामाजिक कार्य की बात कर रहा हूँ। हमारे पुराने ऋषि-मनीषी अपने मतो का—चाहे वे रहस्यवादी-आध्यात्मिक ही क्यो न हो—सगठित रूप से प्रचार करते थ, चाहे यह प्रचार-कार्य, उनके विद्यार्थियो द्वारा, शिष्यो द्वारा, ही क्यो न हो। गौतम बुद्ध ने अपने मत के प्रचार में देशाटन किया, शिष्य बनाये और सगठित रूप से कार्य किया। यह कार्य सामाजिक था, भले ही धार्मिक उद्देश्यो से क्यों न हो। उसी प्रकार वर्द्धमान महावीर ने तथा भक्तिकाल के सन्त कवियो ने, यहाँ तक कि महात्मा गाधी और रवीन्द्र ने, अपने उपदेशो, मतो और वाणियो का सगठित रूप से न केवल प्रचार किया, वरन् जनता को अपनी ओर खीच लिया। यह एक सामा-

जिक कार्य था। ऐसे कार्यों के लिए समाजोन्मुख भावना की आवश्यकता होती है, केवल 'मानव-मानव' चिल्लाने से कुछ नहीं होता। मानव-कल्याण के सामाजिक कार्य के लिए जिस समाजोन्मुख भावना की आवश्यकता, जिस सकर्मक व्यक्तित्व की आवश्यकता, होती है, उसका श्रद्धा में अभाव ही परिलक्षित होता है। संक्षेप में, श्रद्धा आदि से अन्त तक एक प्राइवेट इंडिविजुअल है, भले ही प्रसादजी उसे आदर्श-स्वरूप मान लें। उसमें मानववादी सामाजिक प्रेरणा का नितान्त अभाव है। सामाजिक, राजनैतिक जीवन-क्षेत्र में मनु ने जो भीषण अपराध किये हैं, उनको लेकर श्रद्धा के भीतर कोई गहरा विक्षोभ उत्पन्न नहीं होता। वैसे, शुरू में श्रद्धा ने घोषणा की, 'विजयिनी मानवता हो जाये'। किन्तु उसका यह मात्र इच्छित विश्वास ही रहा। इस विश्वास ने श्रद्धा को कर्म-संगठन की कहीं कोई प्रेरणा नहीं दी। श्रद्धा के व्यक्तित्व में कर्म-सौन्दर्य का अभाव है। श्रद्धा के अपने जीवन की रूपरेखा कहीं भी सार्वजनिक नहीं हो सकी। श्रद्धा अन्तिम सर्गों में कहीं कहती है

मैं लोक अग्नि में तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

किन्तु कामायनीकार ने कहीं भी यह नहीं दिखाया है कि श्रद्धा ने कहीं भी किसी अवसर पर लोक-अग्नि में आहुति दी। एक अवसर हो सकता था, जब श्रद्धा मानव कल्याण के सामाजिक कार्य में भिड़ सकती थी। प्रसंग है रणक्षेत्र का। सब ओर घायल और मृतक पड़े हुए हैं—उनमें मनु भी हैं, मूर्च्छितावस्था में। इड़ा अवसन्न और मौन। श्रद्धा दौड़कर आती है, करुणार्त्त होकर, मनु को अपने पाश में ले लेती है। यह वही भूमि है जहाँ—

अभी घायलों की सिसकी में
जाग रही थी मर्म व्यथा,
पुर लक्ष्मी खग-रव के मिस
कुछ कह उठती थी करुण कथा।

यह कहा जा सकता है कि चूँकि श्रद्धा मनु की प्रणयिनी-वियोगिनी पत्नी थी, इसलिए यह स्वाभाविक है कि वह मनु के प्रति दत्तचित्त हो, किन्तु एक बार मिलन का प्रथम आवेग चुक जाने पर तो उसका ध्यान मृतकों और घायलों की ओर जाना चाहिए था! मिलन के अनन्तर मनु फिर श्रद्धा को छोड़कर भाग जाते हैं। मनु को खोज निकालने के पहले, श्रद्धा इड़ा की आलोचना करती है, और उसे लम्बे उपदेश देती है। किन्तु उस भूमि में इधर-उधर जो घायल फैले हुए हैं, उनकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। सच तो यह है कि श्रद्धा आत्मबद्ध भावुकता के आदर्शीकरण का नाम है। यदि उसमें यह आत्मबद्धता न होती तो उसका चरित्र दूसरे ही प्रकार का होता, तब उसमें सकर्मकता के दर्शन होते।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके है, (अपनी आत्मबद्धता के कारण ही) श्रद्धा को मनु के सामाजिक राजनैतिक अपराधों के प्रति गहरा विक्षोभ उत्पन्न नहीं होता। जो श्रद्धा, मनुकृत पशु-बलि के कार्य में रक्तपात देख, अहिंसा और प्रेम का उपदेश देती थी, वही श्रद्धा मनुकृत जन-हत्या के कारण सन्तप्त नहीं है, वही श्रद्धा इड़ा पर मनु के शारीरिक आक्रमण की निन्दा नहीं करती। इसके विपरीत वह किसी गहरे रहस्यात्मक दृष्टिकोण से इड़ा की ही आलोचना करती है। इस तथ्य

से जाना जा सकता है कि श्रद्धा के मानवादर्शों का स्वरूप क्या है। सक्षेप मे, श्रद्धा आत्म-जीवन-प्रधान आदर्शवाद है—ऐसा आदर्शवाद, जो रहस्य से सयुक्त होकर, समाजातीत शिवातीत, अशिवातीतहो जाता है, इसलिए मानवातीत भी हो जाता है। और ऐसी मानवातीत आत्मतन्मता के आधार पर इडा की आलोचना की जाती है। सच पूछा जाय तो इडा और उसकी आड म आधुनिक (पूँजीवादी) सभ्यता की जो आलोचना की गयी है, वह इसी प्रकार से रहस्यात्मक है, प्रतिगामी है, प्रतिक्रियावादी है।

इडा और श्रद्धा के व्यक्तित्व म जो दूसरा मौलिक भेद है, वह इस प्रकार है। इडा का व्यक्तित्व कर्म-प्रधान, निर्माण-प्रधान और गत्यात्मक है। इडा वैविध्यमय जीवन के उच्चतर विकास और प्रसार म विचरण करती हुई, आधुनिक सभ्यता की विषमताओ पर खेद प्रकट करती है, आत्मालोचन करती है। इडा की आत्मालोचना मे आत्म भर्त्सना का विष नही है। इडा के जीवन म व्यापकता है, गत्यात्मकता है। मानव-समाज की वर्तमान अवस्था पर खेद और उसके भविष्य के सम्बन्ध मे उसके हृदय म चिन्ता है।

किन्तु श्रद्धा की व्यक्तित्व-सत्ता भावात्मक, अकर्मक और स्थित्यात्मक है। श्रद्धा मानवी प्रणयिनी और आदर्शमती अनुभूतिप्रवण गृहिणी है। यह स्वाभाविक ही है कि श्रद्धा वन के एकान्त वातावरण मे एक कुटी बनाकर सन्तोषपूर्वक दाम्पत्य जीवन व्यतीत करन, और इसी प्रकार के जीवन मे सम्पूर्ण विश्व के साथ, विराट् ब्रह्माण्ड के साथ, गहन मैत्री-बोध करने की ओर प्रवृत्त हो। श्रद्धा का वास्तविक जीवन-क्षेत्र सक्षिप्त है। यद्यपि उसकी भावधारा अत्यन्त उदात्त है, किन्तु जीवन-क्षेत्र की सक्षिप्तता का देखते हुए, और वैविध्यमय जीवन के वास्तविक अभाव को ध्यान म रखकर, यह कहा जा सकता है कि श्रद्धा जीवन जगत् के सम्बन्ध मे जो न्याय-निर्णय करती जाती है, वे निर्णय प्रसादजी के काव्य प्रभाव के कारण भले ही आकर्षक प्रतीत हो, उन पर विश्वास करना बिलकुल गलत है। श्रद्धा के जीवन का सक्षिप्त क्षेत्र और उस क्षेत्र मे विश्व-मैत्री क आधार पर मन को बाँध रखने का अनुरोध—चाहे वह माया-ममता के नाम से ही क्यो न हो, प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के नाम से क्यो न हो—मनु को प्रभावित कर ही नही सकता था। सच तो यह है कि यद्यपि मनु गहन अहवादी और व्यक्तिवादी है, किन्तु उसमे व्यापक जीवन-क्षेत्र म विचरण करने की लालसा, सकर्मक साहसशीलता और गत्यात्मकता है। श्रद्धा वन के विश्व-मैत्रीपूर्ण एकान्त म मनु को अपन खूँटे से बाँध रखना चाहती है। वह उसकी मृगया को और मृगया सम्बन्धी साहस को हिंसा की उपाधि प्रदान करती है। कुल मिलाकर वह अपने प्रदीर्घ उपदेशो और आध्यात्मिक प्रवचनो द्वारा मनु को और उकसा देती है। मनु का दिल श्रद्धा स उतर जाता है। यदि श्रद्धा के व्यक्तित्व मे केवल स्थित्यात्मकता होती, उस स्थित्यात्मकता की फिलॉसफी न होती, उस स्थित्यात्मकता का एक आदर्शवादी अनुरोध न होता, उसकी लेक्चर-बाज़ी न होती, तो यह सम्भव था कि मनु क साथ-साथ, अनिच्छापूर्वक ही क्यो न सही, श्रद्धा भी साहस के क्षेत्र म विचरण करती। पता नही गान्धार देश की यह भ्रमणशील घुमन्तु स्त्री कैसे खूँटावादी हो गयी ! यदि मनु का स्वभाव व्यक्तिवादी न भी होता, अहवादी न भी होता, तो भी साहसशील व्यापक जीवन की लालसा रखनेवाला यह मनु, और स्थित्यात्मक आत्म निर्भर, आत्म-सन्तुष्ट तथा सक्षिप्त

जीवन में विश्व-मैत्री बोध करनेवाली यह स्त्री श्रद्धा—इन दोनों के बीच टकराहट को कोई नहीं रोक सकता था। सच तो यह है कि इन दोनों के बीच गहन स्वभाव-वैषम्य है। इसीलिए उनके बीच टकराहट भी अवश्यम्भावी है। इस टकराहट को तभी टाला जा सकता था, जब दोनों एक-दूसरे की नुक्ताचीनी न करते हुए स्वभावों को समझते, और सामान्य विवेक और सामान्य जीवन ज्ञान के आधार पर एक-दूसरे से समझौता करते। लेक्चरबाज़ी या डाँट फटकार से तो बनता काम भी बिगड़ जाता है।

किन्तु श्रद्धा और मनु के बीच की टकराहट आदर्शवाद और स्वार्थवाद के बीच की टकराहट नहीं है वरन् संक्षिप्त जीवन-क्षेत्र की चौहद्दी में फँसे रहने की प्रवृत्ति और व्यापक जीवन क्षेत्र में विचरण करनेवाली प्रवृत्ति के बीच की टकराहट है। हाँ, यह अवश्य है कि श्रद्धा की भावात्मक आदर्शवादी उक्तियों के कारण तथा मनु की व्यक्तिवादी भावना के फलस्वरूप, यह प्रतीत होता रहता है कि मानो यह व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद के बीच की लड़ाई है।

मनु में निःसन्देह साहस, शक्ति है। उसका व्यक्तित्व श्रद्धा-जैसा स्थित्यात्मक नहीं वरन् गत्यात्मक है। मनु में निर्माण की क्षमता भी है। इसीलिए इड़ा और मनु के प्रवृत्ति मण्डलों में साम्य है। इड़ा और मनु में मुख्य भेद स्वार्थ का है, व्यक्तिवाद का है। इड़ा के चरित्र में व्यक्तिवाद या स्वार्थ का लेश नहीं है। उसका व्यक्तित्व विशाल उद्देश्य के चरणों में समर्पित है। यही कारण है कि वह अपने से ऊपर उठकर स्वनिर्मित सभ्यता की आलोचना कर सकती है—ऐसी आलोचना, जिसमें खेद की भावना तो है किन्तु अस्वस्थ आत्म-निन्दा का स्वर नहीं है। इसके विपरीत जब जब मनु पराजित हो उठता है उसमें आत्मालोचन के साथ अस्वस्थ आत्म निन्दा का स्वर भी प्रधान हो जाता है। अपनी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण जब मनु की सारी गति प्रगति रुद्ध हो जाती है, तब वह अगतिक हो जाता है।

मनु की ऐसी अगतिक स्थिति में ही श्रद्धा, जिसके पास स्थित्यात्मक व्यक्तित्व और आदर्श है, उसे मिलती है। मनु जब-जब अगतिक हो उठा, उसे स्थित्यात्मक आदर्श और स्थित्यात्मक व्यक्तित्ववाली श्रद्धा प्राप्त हुई। श्रद्धा मानव भविष्य के निर्माण के संघर्ष में कहीं भी लीन नहीं है। शुरू में वह कहती है कि 'विजयिनी मानवता हो जाय', किन्तु इस विजय प्राप्ति के लिए आवश्यक कर्म-प्रवृत्ति और कर्म-साहस उसके पास नहीं है।

इसके विपरीत, इड़ा का व्यक्तित्व इतना तेजस्वी और क्रियाशील है कि उसने मनु का सहयोग प्राप्त करते हुए, आपेक्षिक रूप से उन्नततर, तुलनात्मक दृष्टि से उच्चतर समाज का विकास किया। इड़ा की इस महान् उपलब्धि के सम्बन्ध में कामायनीकार मौन है। इड़ा के हाथों में जो यह बड़ा भारी काम हुआ, उसका मूल्यांकन, कामायनीकार द्वारा इड़ा के प्रति यह कहकर उपस्थित किया गया है (श्रद्धा इड़ा से कहती है)—'तू जीवन की अन्धानुरक्ति।' संसारातीत कल्याण के रहस्यवादी दृष्टिकोण में भले ही यह उचित हो किन्तु जगत्-कल्याण के दृष्टिकोण से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कामायनीकार ने इड़ा के व्यक्तित्व-चरित्र के प्रति सहानुभूति तथा न्याय-बुद्धि का परिचय नहीं दिया है। कामायनीकार का अनुगमन करनेवाले समीक्षकों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

श्रद्धा के जीवन-मूल्य, वस्तुत, उस संकुचित क्षेत्र के जीवन-मूल्य हैं, कि जो क्षेत्र वैयक्तिक जीवन के छोटे-से घेरे में रहकर, विश्वानुभूति प्राप्त करते हुए, निखिल के साथ रहस्यवादी एकात्मकता स्थापित करना चाहता है। इसके विपरीत, इड़ा अपनी तेजस्विता का प्रयोग करते हुए, मानव की परिस्थितियों को मोड़ती है, उन्हें रूपान्तरित करती है, और बाह्य परिस्थितियों तथा समाज-स्थितियों में गुणात्मक परिवर्तन करने की ओर प्रवृत्त होती है। इस कार्य में उसे मनु का सहयोग प्राप्त होता है। मनु में साहसिकता, आत्मविस्तार की व्याकुलता तथा जीवन के वैविध्यपूर्ण क्षेत्र में विचरण करने का उत्साह है। छोटे-से जीवन में तृप्त रहनेवाली सन्तोषवादी स्थित्यात्मक अगतिशील श्रद्धा का ब्रह्म-बोध मनु की साहसशील आत्मा का तुष्ट नहीं कर सकता। श्रद्धा में यदि अनुभूति-प्रवण अकर्मकता है तो मनु में संवदनशील सकर्मकता।

संक्षेप में, श्रद्धा-इड़ा-मनु की इस त्रिकोणात्मक जीवन-स्थिति और उसकी खींचतान में, व्यक्तित्व-चरित्र की दृष्टि से इड़ा का स्वभाव निर्मल और तेजस्वी है। यह होते हुए भी प्रसादजी ने अपने स्थित्यात्मक आदर्श-रहस्यवादी दृष्टिकोण के वशीभूत होकर, उस व्यक्तित्व-चरित्र को निरादृत किया है। विचारधारा किस प्रकार कला पर हावी हो जाती है, उसे बिगाड़ देती है, इसका उदाहरण कामायनी भी है। इसके सम्बन्ध में हम कुछ कहने का आगे मौका मिलेगा।

यह सही है कि इड़ा की शक्ति मुख्यत विज्ञानवाद है। उसने ऐसी सभ्यता का निर्माण किया जिसमें वर्ग-विषमता थी, श्रमिक-वर्ग का विकास और उसके संघर्षों का एक इतिहास बन गया था। समाज के भीतर इस संघर्ष के बावजूद, उक्त समाज पिछले समाजो की तुलना में अधिक विकसित, उन्नत और उत्कर्षपूर्ण था। अतएव उस समाज की आलोचना, उससे भी उच्चतर, उससे भी उन्नततर, समाज की दृष्टि से होनी चाहिए थी—ऐसे समाज की दृष्टि से, कि जो समाज स्वत द्वन्द्वपूर्ण वर्गों से अतीत है, जिसमें वर्ग-विषमता है नहीं, फिर भी जो भौतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक और सास्कृतिक दृष्टि से उच्चतर है, ऐसे समाज की दृष्टि से जिसकी भीतरी रचना, जिसके भीतरी ढाँचे, का स्वरूप ही ऐसा है कि जिसमें आर्थिक शोषण और उत्पीडन का अभाव है।

श्रद्धा ने इड़ा की निन्दा में समाज की जो आलोचना की, वह रहस्यवादी आध्यात्मिक ढंग से की है। समाज की आन्तरिक रचना बदलकर नवीन समाज-रचना की स्थापना करना, और उस स्थापना के उपायो को खोज निकालना, श्रद्धा का काम नहीं। इस प्रश्न पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह अपने पुत्र को सम्बोधित करते हुए केवल इतना कह देती है

> हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
> हर लगा तेरा व्यथा-भार
>
> > यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
> > तू मननशील कर कर्म अभय
> > इसका तू सब सन्ताप निचय
> > हर ले, हो मानव भाग्य उदय
>
> सब की समरसता कर प्रचार
> मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

इडा की निन्दा कर चुकने के बाद उसके दोषों को हटाने का भार अब मनु-पुत्र पर है, जो मनु-पुत्र होने के कारण, मननशील, और श्रद्धा-पुत्र होने के कारण, श्रद्धामय है। सक्षेप म, मनु-पुत्र श्रद्धा और मनु— विशेषकर श्रद्धा का प्रतिनिधि है। वह श्रद्धावाद के मूलतत्व सामरस्य सिद्धान्त के आधार पर इडा के सन्ताप निचय-हरण का कार्य सम्पादित करेगा और मानव-भाग्य-उदय का कार्य करेगा। सक्षेप मे, मनु-पुत्र सामरस्यवादी है। सामरस्यवाद एक प्रकार का रहस्यवादी अध्यात्म है, जिसके सहारे मनु-पुत्र समाज की विषमताओ को दूर करेगा। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार के अध्यात्मवाद से वास्तविक सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन नही होता—जब तक कि एक ढाँचा दूर कर, उसके स्थान पर दूसरा ढाँचा फिट न किया जाये। यह सामरस्य सिद्धान्त, भारत मे प्राचीन काल से चली आयी सामन्ती समाज-व्यवस्था का एक बौद्धिक कलश है। प्रसादजी के दर्शन के सम्बन्ध मे हमे आगे कुछ कहने का मौका मिलेगा।

हम पहले ही बता चुके हैं कि इडा नवीन विकासमान पूँजीवाद की प्रतिनिधि है। वह केवल विज्ञानवादी नही है, इसके भी कुछ अतिरिक्त है। वह नियमवादी है, नीतिवादी है, अनुशासनवादी है। सक्षेप मे, समाज की रक्षा के लिए प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति की अपनी जो मर्यादा है, जो उसके अधिकार और कर्तव्य हैं, उन सबका वह उल्लघन नही चाहती। विषमताग्रस्त समाज का निर्माण करके इडा स्वय मर्यादावादी है। ध्यान रहे कि उसका समाज पूर्वतर समाजो से अत्यधिक उन्नत और अधिक उच्च है। मर्यादा का निर्वाह नियमो के पालन द्वारा हो सकता है। इस विशेष अर्थ मे, समाज को बनाये रखने और उसे चलाते रहने के लिए जरूरी है कि नियमो का पालन हो। किन्तु नियमो के निर्माण का आधार क्या है? क्या ये नियम, अन्तिम अर्थों मे, उस समाज की रक्षा के लिए नही बनाये जाते कि जिस समाज मे एक प्रभुत्वमय शोषक वर्ग, निर्बल निर्धन वर्गो का शोषण करता है? इडा के सामने यह सवाल ही नहीं उठता। वस्तुत, इडा वर्ग-वैषम्यग्रस्त शोषणमूलक उस पूँजीवाद की प्रतिनिधि है, कि जिस पूँजीवाद ने, यदि एक ओर क्रान्तिकारी कदम बढ़ाकर राष्ट्रवाद और नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करके, मानव जीवन-क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत और व्यापक बना दिया है, तो दूसरी ओर, उस समाज के अन्तर्द्वन्द्व को भी अधिक घनीभूत और विस्तृत कर दिया है। इडा बुद्धिवाद की प्रतीक नही, पूँजीवाद की प्रतिनिधि है।

इडा बुद्धिवाद की प्रतीक तो है ही नही, क्योकि वह स्वय रहस्यवादी है। इडा की आन्तरिक क्रियाओ के दो रूप हैं (1) जीवन-जगत् की अन्तिम व्याख्या के सम्बन्ध मे, (2) व्यावहारिक स्तर पर, जीवन-जगत् के यथार्थरूप तथा क्रिया के सम्बन्ध मे, जीवन-जगत् की वास्तविकता के सम्बन्ध म।

जीवन-जगत् की वास्तविकता के सम्बन्ध मे इडा स्पष्टत कहती है कि .

मेरे सुविभाजन हुए विषम<br>
टूटते, नित्य बन रहे नियम<br>
नाना केन्द्रो मे जलधर सम,<br>
घिर हट, बरसे थे उपलोपम,<br>
यह ज्वाला इतनी है समिद्ध<br>
आहुति बस चाह रही समृद्ध।

यदि इडा ने एक ओर पूँजीवादी सभ्यता का विकास देखा है, तो उसका ह्रास भी। वह इडा जो एक जमाने मे उत्थान के दृश्य देख चुकी थी, वही अब ह्रास के दृश्य भी देख रही है। इडा अपने बारे मे स्वय ही कहती है .

'मैं जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध
अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत मे पूँजीवाद का व्यापक विकास

चुका था। इस प्रकार, भारतीय पूँजीवाद, पूँजीवाद के सायकाल मे, अपना विस्तार और विकास करने लगा। भारत मे साम्राज्यवादी शोषण के साथ, अवशिष्ट सामन्ती तत्त्वो द्वारा शोषण, पूँजीवादी अर्थतन्त्र के प्रमुख स्तम्भो और उनके छोटे रूपो द्वारा शोषण का वह इतिहास है, जिसके फलस्वरूप जनता मे, प्रथम विश्व-युद्ध और द्वितीय विश्व-युद्ध के बीच, उग्रवादी भावनाएँ जगी। प्रसादजी के साहित्यिक-उत्कर्ष-क्रम का जो काल है, वह भी ठीक प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के बीच की अवधि मे ही पडता है। अतएव प्रसादजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे एक ऐसा पात्र खडा करें जो पूँजीवाद के उत्कर्ष और ह्रास, दोनो का प्रतिनिधित्व कर सके। इडा एक ऐसी ही पात्र है। प्रसादजी ने पूँजीवादी उत्थान की एक फैण्टेसी 'स्वप्न' सर्ग मे प्रस्तुत की है।

इडा जीवन-जगत् के वास्तविक आकलन के क्षेत्र मे तो यथार्थवादी-सी प्रतीत होती है, किन्तु उसी जीवन-जगत् की अन्तिम व्याख्या, दार्शनिक व्याख्या, करते हुए यह स्वय रहस्यवादी हो जाती है। इडा मे यथार्थवाद और रहस्यवाद का यह मिश्रण बहुत विचित्र रीति से हुआ है। यह निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होगा

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणो मे है निर्मित।
चिति-केन्द्रो मे जो सघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन मे भरता है—
वे विस्मृत पहचान रहे से एक-एक को,
होते सतत समीप मिलाते है अनेक को।
स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
ससृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।
व्यक्ति चेतना इसीलिए परतन्त्र बनी-सी,
रागपूर्ण पर द्वेष-पक मे सतत सनी-सी।
नियत मार्ग मे पद-पद पर है ठोकर खाती,
अपने लक्ष्य समीप श्रान्त हो चलती जाती।

देश-कल्पना काल परिधि मे होती लय है,
काल खोजता महा चेतना मे निज क्षय है।
यह अनन्त चेतन नचता है उन्मद गति से,
तुम भी नाचो अपनी द्वयता मे विस्मृति म,
क्षितिज-पटी को उठा बढो ब्रह्माण्ड-विवर मे,
गुंजारित घन-नाद सुनो इस विश्व कुहर मे।
ताल ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमे
तुम न विवादी स्वर छेडो अनजान इसम।

इस पूरे खण्ड मे पूँजीवादी समाजतन्त्र की विशिष्ट बातो का समावेश हो जाता है। पहली बात, पूँजीवादी समाजतन्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति के आर्थिक-भौतिक जीवन की मूलशक्ति है—'अपना जिसम श्रेय वही सुख की अ राधना।' अर्थात् मनुष्य के कार्यों की मूल प्रेरक शक्ति है आत्म-श्रयवाद, आत्म लाभवाद। पूंजी-वादी सभ्यता की यह मूलगामी प्रवृत्ति है, जिसे अर्थशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय क्षेत्र म व्यक्तिवाद कहा जाता है।

ध्यान रहे कि यह व्यक्तिवाद पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के भीतर का मूल नियम है। समाज-व्यवस्था और शासन व्यक्ति को केवल अपने मत प्रकट करने की, और एक हद तक अपने मतो के अनुसार कार्य करने की, स्वतन्त्रता देते हैं। किन्तु व्यक्ति के जीवन-विकास का उत्तरदायित्व समाज-व्यवस्था अपने ऊपर नही लेती। यह प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है कि अपने जीवन-विकास और आत्म-विकास का कार्य करे।

ऐसी स्थिति म, सफलता उसी के हाथ म लगती है जिसके पास सफलता प्राप्त करने के अवसर तथा शक्ति—ऐसी शक्ति जो स्पर्धा मे विजयिनी हो सके—हो। यह शक्ति, मुख्यत और मूलत, आर्थिक होती है। अतएव, विजय उसी की होती है जिसके पास आर्थिक क्षमता हो और आर्थिक क्षमता के उपयोग की इच्छा हो। ऐसे आर्थिक-प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्तियो को ही जीवन-विकास के अधिकाधिक और अधिकतर अवसर प्राप्त होत हैं, जिनका कि वे समुचित उपयोग कर लेते हैं।

यह आत्म-श्रेयवाद वह मूलभूत नियम है, जो पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की बुनियादी ईंट है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रेय-सम्पादन के लिए दूसरो से स्पर्धा की क्रिया मे सलग्न होना पडता है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यापारी-व्यापारी के बीच, इजारेदार इजारेदार के बीच यह स्पर्धा चलती है। किन्तु इस स्पर्धा मे जो पक्ष विजयी हो जाता है वह दूसरे पक्ष को निर्बल कर देता है। बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है। आत्म-श्रेयवाद और स्पर्धात्मक सघर्ष के लक्ष्य प्राप्त करने के दौरान मे, सारे नीति नियम तोड दिए जाते हैं, जान-बूझकर भ्रष्टाचार फैलाया जाता है, पैसो के जोर म काम कराया जाता है, सर्वत्र अनाचार, भ्रष्टाचार और अराजकता के दृश्य उपस्थित होते रहते हैं।

*इडा पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की इन दो मूलभूत प्रवृत्तियो, आत्म-श्रेयवाद* और स्पर्धावाद को स्पष्ट तो करती है, किन्तु साथ ही वह, पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की इन दो प्रवृत्तियो के बारे म कहते हुए, अपने दार्शनिक विचार इस प्रकार प्रस्तुत करती है :

वह अनन्त चेतन नचता है
उन्मद गति से,
तुम भी नाचो अपनी द्वयता में
विस्मृति में।
क्षितिज-पटी को उठा बढो
ब्रह्माण्ड-विवर में,
गुंजारित घन-नाद सुनो
इस विश्व-कुहर मे।
ताल ताल पर चलो नही लय
छूटे जिसमे।
तुम न विवादी स्वर छेडो
अनजाने इसमे।

इडा इतनी बुद्धिवादी नही है कि वह पूँजीवादी समाज व्यवस्था के भीतर की विपमताओ के कारण खोज सके। वह यह नही देख पाती कि आत्म-श्रेयवाद, अपने व्यावहारिक रूप में, निष्कृष्ट व्यक्तिवाद है, और स्पर्धा की क्रिया, वस्तुत अत्यन्त अमानवीय होती है। चूँकि ये दोनो नियम पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के मूलभूत नियम हैं, इसलिए वे उसके भीतर सारी अराजकताओ और अमानवीय कृत्यो को जन्म देते है, और साथ ही उनकी परम्परा बना देते हैं। इडा स्वय पूंजीवादी सभ्यता की जो समीक्षा करती है, उसम वह केवल ऊपरी चिह्नो, ऊपरी लक्षणो को देखती है, उनकी मूलभूत क्रियाशील कारक-शक्तियो को नही देख पाती।

सच तो यह [है कि] प्रसादकृत सभ्यता-समीक्षा का यही मुख्य दोप है। प्रसादजी ने इस सभ्यता की आलोचना करते हुए केवल ऊपरी लक्षणो पर ही दृष्टिपात *किया है। उसके मूल कारण, जो भी उन्होंने बताये हैं, वे सब आध्यात्मिक* रहस्यवादी चश्मे से देखे गये हैं। प्रसादजी, वस्तुत , अराजकता के इन मूल कारणो को शाश्वत मानते हैं। मनुष्य सिर्फ इतना ही कर सकता है कि सामरस्य की भावना से व्याकुल होकर वह समाज के (पूंजीवादी सभ्यता के) मूल द्वन्द्वो की क्रिया की तीव्रता घटा दे। किन्तु वैसे य विपमताएँ चिरन्तन है। वे एक जगह कहते हैं

द्वन्द्वो का उद्‌गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूल मन्त्र

एक स्थान पर यह भी कहा गया है—श्रद्धा निवेदन करती है

विपमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही सुख-दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार
*उमडता कारण जलधि समान*
व्यथा की नीली लहरो बीच
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।

प्रसादजी के दर्शन के सम्बन्ध में आगे चलकर हमे और कुछ कहने को

मिलेगा। यहाँ इतना ही काफी है कि प्रसादजी विषमताओं और द्वन्द्वों को स्थायी समझते हैं। केवल इतनी ही बात हो सकती है कि सामरस्य के सिद्धान्त-प्रयोग द्वारा हम उन्हें क्षीण कर दें।

इडा नियमवादी है। किन्तु उसके नियम क्यों टूटते हैं, और साथ ही राष्ट्र में नियम निर्माण की फैक्टरियाँ क्यों खुलती हैं, इसका उसे बोध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इडा का बोध बहुत सीमित है। यदि एक ओर यह सच है कि वह नियमों के महत्त्व को पहचानती है तो, दूसरी ओर, यह प्रश्न नहीं पूछना चाहती कि वे नियम किसके हित में हैं। फिर भी, इडा को यह श्रेय तो देना ही होगा कि वह अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध है, मर्यादाहीनता के विरुद्ध है, वह कहती है

अपना हो या औरों का सुख,
बढा कि सब दुख बना वही,
कौन बिन्दु है रुक जाना का,
यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं।

किन्तु मर्यादावाद का सम्बन्ध जब पूरे समाज पर लागू किया जाता है, तब वर्तमान विषमताग्रस्त व्यवस्था को चालू रखने के लिए ही होता है—ऐसी व्यवस्था को जिसमें अगर करोड़ों ग़रीब हैं तो बहुत थोड़े लोग अमीर, ऐसे अमीर जो अपने आर्थिक प्रभुत्व के द्वारा तरह-तरह से जनता का शोषण करते हैं। इडा समाज-स्थिति का विश्लेषण करते हुए न्याय के पक्ष का समर्थन नहीं कर पाती, ग़रीबों की दृष्टि से वह समाज-स्थिति को नहीं देखती, वरन् शासक-वर्ग के उन दार्शनिक प्रवक्ताओं की दृष्टि से देखती है, कि जो दार्शनिक प्रवक्ता अपनी ईमानदारी के कारण समाज-दुर्दशा के कुछ तथ्य तो ग्रहण कर पाते हैं, किन्तु उन्हें जो सर्वत्र अराजकता दीख रही है, उसके स्वरूप को ठीक-ठीक पहचान नहीं पाते, उसका निदान नहीं कर पाते। इडा को यदि कोई दुःख है तो वह यह कि ग़रीब अपनी ग़रीबी के विरुद्ध क्यों विद्रोह करते हैं, और धनी क्यों अपनी मर्यादा छोड़कर अत्याचार करते रहते हैं। वह कहती है

अग्रसर हो रही यहाँ फूट
सीमाएँ कृत्रिम रही टूट
श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें
सब पिये मत्त लालसा घूँट
मेरा साहस अब गया छूट।

सक्षेप में, पूँजीवादी सभ्यता की आन्तरिक विषमताओं और द्वन्द्वों का मूल कारण यह है कि 'सब मत्त लालसा घूँट पिये' हैं। दूसरे शब्दों में, इडा का मन्तव्य है कि लोभग्रस्तता की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के कारण समाज में यह अराजकता मची हुई है।

किन्तु इडा मनु को समझाते हुए यह [भी] कहती है कि—

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें
वे रह जावें

संसृति का कल्याण करें
शुभ मार्ग बतावें
व्यक्ति-चेतना इसीलिए
परतन्त्र बनी सी
रागपूर्ण पर द्वेष-पंक मे
सतत सनी सी
नियत मार्ग मे पद-पद पर
हैं ठोकर खाती
अपने लक्ष्य समीप श्रान्त
हो चलती जाती
यह जीवन-उपयोग यही है
बुद्धि-साधना
अपना जिसमे श्रेय यही सुख
की आराधना।

इडा को मालूम है कि आत्म-श्रेयवाद और स्पर्धावाद राग-द्वेष के पंक मे मनुष्य को घसीट ले जाते हैं, और उपर्युक्त दोनो प्रवृत्तियाँ जब समाज-व्यवस्था के मूल मे स्थित हैं, तो निस्सन्देह ऐसा समाज अव्यवस्था और अराजकता के गर्भ मे जायेगा ही।

सक्षेप मे, इडा अपने ही समाज की विषमताओ के विभ्राट को देखकर अगतिक हो उठी है। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि इडा बुद्धिवाद का प्रतीक न होकर पूंजीवादी सभ्यता का प्रतीक है—ऐसी सभ्यता, जो उत्थान की अवस्था मे से गुजरकर अब पूर्ण ह्रास-दशा को प्राप्त हो गयी और ह्रास-ग्रस्त होकर अगतिक हो उठी है। इडा को इस सभ्यता के पूरे विकास-क्रम का मानो अनुभव प्राप्त हो

तत्त्व उसमे प्रारम्भत ही समा गये।

ध्यान रहे कि प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ तथा चिन्तन प्रथम विश्वयुद्ध के कुछ पूर्व से आरम्भ होकर द्वितीय विश्वयुद्ध के [पहले] तक चलते रहे। इस काल मे पश्चिमी पूंजीवाद, साम्राज्यवाद के रूप मे अनेक अन्तर्बाह्य द्वन्द्वो को लेकर, विश्व-मच पर एक के बाद एक नये-नये विभ्राट उपस्थित कर रहा था। भारतीय पूंजीवाद इस पश्चिमी पूंजीवाद से आन्तरिक आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर चुका था। यदि एक ओर वह ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध चल रहे सघर्षो मे समय-समय पर आर्थिक सहायता दे देता था, तो, दूसरी ओर, उसी ब्रिटिश साम्राज्य से, वह अपने लिए नयी-नयी सुविधाओ की प्राप्ति के हेतु, अनेक प्रकार के गहन आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये हुए था।

सक्षेप मे, भारतीय पूंजीवादी सभ्यता मे शुरू से ही पश्चिमी पूंजीवादी ह्रास-ग्रस्त सभ्यता के तत्त्व विराजमान थे।

प्रसादजी भले ही सफल व्यवसायी न रहे हो, उनकी अपनी वर्ग-चेतना ने, और अपनी वर्ग-अवस्था के तथ्यो ने, इतना तो बता ही दिया था कि यह पूंजीवादी

विषमताग्रस्त समाज अत्यन्त ह्रासमय है, ऊपर से भले ही चाहे जितनी समृद्धि और चाहे जितना उत्कर्ष दिखायी दे। प्रसादजी को इस बात का श्रेय देना ही होगा कि उन्हें अपने समाज की विषमताओं की जबर्दस्त अनुभूति थी। किन्तु पूंजीवादी समाज-रचना की ह्रासावस्था म, जब उस समाज-रचना की स्थिति अगतिक हो उठती है तब, वह धर्म का या रहस्यवाद का, अथवा किसी-न-किसी प्रकार के वायवीय आदर्शवाद का, पल्ला पकडता ही है। उसका प्रधान आकर्षण, वस्तुत, धर्म या रहस्य के प्रति ही होता है। जिस पूंजीवाद ने अपने उत्थान-काल मे धर्म के मजबूत पजो से जनता के मन को छुटकारा दिलाया, वही पूंजीवाद आगे चलकर अपने चरमराते ढांचे को थामने के लिए, धर्म या किसी न-किसी दार्शनिक रहस्यवाद का सहारा लेता ही है। यह प्रक्रिया बहुत पहले से चालू है। यह आश्चर्य की बात नही है कि आज पश्चिमी साम्राज्य [-वाद] रोमन कैथलिक चर्च तथा अन्य गिरजाघरो की सक्रिय सहायता ले रहा है, विशेषकर साम्यवाद के विरुद्ध अपने सघर्ष मे तो चर्च आगे बढकर काम कर रहा है। यही क्यो, आज पश्चिमी यूरोप के दो देशो मे क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टियाँ शासन कर रही हैं।

किन्तु शिक्षित जनता के स्तर पर अब पुराने ढग का धर्म काम म नही आता। वहाँ कुछ और चाहिए। टी एस ईलियट-सरीखे लोग, समाज का विश्लेषण करते हुए सन्तप्त होकर, जब चर्च की शरण मे जाते हैं, तब उनका ठाठ और ही होता है। सक्षेप मे, वह ठाठ दार्शनिक ठाठ है।

इसीलिए, दूसरे विश्वयुद्ध के पूर्व से लेकर आज तक, तरह-तरह के अस्तित्ववादी लोग, तथा आजकल फ्रास और पश्चिमी जर्मनी मे पनपनेवाले निओटामिस्ट्स'—सब एक न-एक प्रकार के दार्शनिक रहस्यवाद मे अपनी तथा अपनी सभ्यता की अगतिक स्थिति को विलीन कर रहे हैं।

यह स्वाभाविक ही है कि इडा, अगतिक स्थिति मे, श्रद्धा की शरण म जाये, और सामरस्य के रहस्यवादी सिद्धान्त मे अपनी सारी आन्तरिक विषमताओ को 'तिरोहित' करे। अपनी स्वय की सभ्यता की विषमताओ को आत्म-चेतन रूप से जाननेवाली इडा के पास, इस प्रकार की समाज-रचना उलट देने की कोई 'आत्म-चेतना',नही है। उसके पास कोई चारा नही है, सिवाय इस बात के कि वह सामरस्य के रहस्यवादी सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा-भाव से नतमस्तक हो, और शासकीय नीति म परिवर्तन कर दे। बस, इसके सिवाय कुछ नही। जहाँ तक श्रद्धा या इडा का यह खयाल है कि सामरस्य के रहस्यवादी सिद्धान्त से विश्व की विषमताएँ अर्थात् पूंजीवादी समाज-रचना के अन्तर्गत द्वन्द्व समाप्त होगे और समाज सुखी होगा—तो दोनो का यह खयाल गलत है। इस बात का साक्षी स्वय इतिहास है।

श्रद्धा के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहना होगा कि उसे यह वर्ग-वैषम्य और वर्ग-कलह, यह अत्याचार और जीवन निर्वाह के लिए यह रोज-रोज की हाय-हाय, यह सब कुछ पसन्द नही। श्रद्धा वर्गहीन समाज चाहती है, जिसमे एक व्यक्ति के हित दूसरे से न टकराये, एक पक्ष के हित दूसरे से न भिडें, समाज के सब लोग एक-दूसरे से घुल मिलकर रहे। श्रद्धा का आदर्शवाद भावनापूर्ण है। श्रद्धा ऐसा समाज चाहती है जिसमे भेद-भाव न हो।

किन्तु वर्ग-विषमताओ को नष्ट करने तथा शोषणमूलक सामाजिक विकारो

को रोकने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। उपाय के नाम से जो भी है, वह है सामरस्य सिद्धान्त, जो अधिक-से-अधिक एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का नाम है। उसके द्वारा समाज-रचना नहीं बदली जा सकती।

दूसरे श्रद्धा का मानव-समाजादर्श प्राक्तन है, जब कि न विज्ञान का विकास हुआ था, न वर्ग की उत्पत्ति ही हुई थी। उन दिनों, श्रद्धा के अनुसार, जीवन सरलतर था। यह जो वर्ग-विभाजन हुआ, वह सब कृत्रिम है। इस कृत्रिमता को तो नष्ट किया जाना चाहिए। किन्तु कैसे? सामरस्य द्वारा! विषमताग्रस्त सभ्यता में सामरस्य का सिद्धान्त लागू ही नहीं हो सकता। सामरस्य के सिद्धान्त को तब व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, जब समाज-रचना बदल दी जाये और पूंजीवादी सभ्यता पूर्णतः नष्ट हो। श्रद्धा के दिमाग में यह खयाल पैदा ही नहीं होता। श्रद्धा अभेदानुभूतिवादी है, रहस्यवादी है। शायद, उसके अनुसार, समाज की मूल विषमताएँ तब नष्ट होंगी, जब सम्पूर्ण मानवात्माएँ, अभेदानुभूति का अनुभव करते हुए, कण-कण में आध्यात्मिक सौन्दर्य देखने लगेंगी। वर्तमान वास्तविकताएँ इस तरह मिट नहीं सकतीं। शायद यही समझकर श्रद्धा ने मनु को रिटायर कर दिया, खुद रिटायर हो गयी, और मनु-पुत्र को इडा के हाथों सौंप दिया, जिससे कि श्रद्धावादी मनु-पुत्र इडा-निर्मित सभ्यता के वैषम्यातिरेकों को घटा सके।

# 13

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मनु मन का, अर्थात् मानव-मात्र का, प्रतीक नहीं है। मनु ने जो मनस् पाया है, वैसा सबका न मनस् है, न मनु का मनस् सबके [मनस्] का प्रतिनिधित्व कर ही सकता है। इस मन्तव्य को हम पूर्व-अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं।

उसी प्रकार इडा बुद्धिवाद का प्रतीक नहीं है। बुद्धिवाद उस विचार-प्रवृत्ति को कहते हैं जो जीवन जगत् की बौद्धिक व्याख्या करती है, तथा उस बात को सत्य नहीं मानती जो बुद्धि से अतीत हो। इन्द्रियगम्य ज्ञान के उच्चतर निष्कर्षात्मक सामान्यीकृत ज्ञान को ही बौद्धिक ज्ञान कहते हैं।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि इडा, अपने ढंग से, रहस्यवादी है। जीवन-जगत्-सम्बन्धी उसकी अन्तिम व्याख्या रहस्यवादी है। यह भी हम बता चुके हैं कि इडा पूंजीवादी सभ्यता की प्रतीक है।

*श्रद्धा वह प्राक्तन प्राङ्मुख आदर्शवाद है, जो वर्ग विहीन, सरलतर, समाज-*
जीवन का पक्षपाती है। श्रद्धावादी दृष्टि से प्रसादजी ने जो सभ्यता-समीक्षा की है,
[illegible] वह आलोचना प्रति-
यवादी दृष्टिकोण है,

किन्तु प्रश्न यह है कि मनु, इडा और श्रद्धा प्रसादजी से, उनके मन से, उनके व्यक्तित्व से, उनके अन्तर-बाह्य जीवन से, क्या सम्बन्ध रखते हैं? **कामायनी** प्रसादजी के अन्तर से प्रसूत हुई है। इसलिए **कामायनी** प्रसादजी की निविड अनुभूतियो, अनुभवो, चिन्तन-ग्रन्थियो तथा ज्ञान-व्यवस्थाओ का प्रतिविम्ब है। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि हम श्रद्धा, इडा और मनु को प्रसादजी से सयुक्त करके देखें।

एक बात शुरू से स्पष्ट और स्पष्टतर होती जाती है। वह यह कि श्रद्धा प्रसादजी की आदर्श-दृष्टि है, आदर्श-भाव है। श्रद्धा प्रसादजी की आदर्शानुभूतियो की एक विशेष व्यवस्था है। यह व्यवस्था कई जीवन-क्षेत्रो से एक साथ सम्बन्ध रखती है—समाज-क्षेत्र से लेकर व्यक्तिगत भाव-क्षेत्र तक—किन्तु, अन्तत उस व्यवस्था का शिखर रहस्यात्मक है।

श्रद्धा, वस्तुत, प्रसादजी का सुपर ईगो है—उनकी सर्वोच्च विवेक-चेतना है। इसके विपरीत, इडा और मनु जीवन-यथार्थ के प्रतिविम्ब है। इडा वास्तविक जीवन जगत् का—उस बाह्य जीवन-जगत् का जिसे हम पूँजीवादी दुनिया या आधुनिक सभ्यता कहते हैं, उस यथार्थ का—प्रतिविम्ब है। इस वास्तविक जीवन-जगत् को प्रसादजी की सवेदना ने आत्मसात् किया, उस बाह्य यथार्थ के प्रति उन्होंने तीव्र प्रतिक्रियाएँ की, उस बाह्य यथार्थ के सम्बन्ध मे प्रसादजी को विचार करना पडा, निष्कर्षों पर आना पडा। सक्षेप म, सवेदनात्मक अनुभवो द्वारा, गहन चिन्तन द्वारा, और अनुभव तथा चिन्तन से प्राप्त निष्कर्षों द्वारा, वह बाह्य यथार्थ प्रसादजी के मनोमय जीवन का अग बन गया।

इडा यदि वास्तविक जीवन जगत् का—पूँजीवादी दुनिया का—उस दुनिया का, जिसे प्रसादजी ने पाया और भोगा—एक मनोमय रूप है तो, दूसरी ओर, **कामायनी** का प्रधान पात्र मनु प्रसादजी की निगूढ अन्तर्वृत्तियो का प्रतिनिधि है, कि जो अन्तर्वृत्तियाँ उन्होंने जन्मत पायी और जो आगे चलकर विकसित और प्रबलतर होती गयी। सक्षेप मे, मनु प्रसादजी का स्वय [का] वह मन है, स्वय का वह प्रवृत्ति-मण्डल है, जिसने एक विशेष युग की विशेष समाज-श्रेणी मे जन्म लेकर, एक विशेष प्रकार के सस्कार और विकार प्राप्त किये। सक्षेप मे, इडा और मनु प्रसादजी द्वारा अनुभूत बाह्य जीवन जगत् का तथा जन्मत प्राप्त तथा सस्कारत: विवर्द्धित अन्तर-यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यदि हम मनु, इडा और श्रद्धा, इन तीनो को मिलाकर देखें तो पायेंगे कि प्रसादजी का जीवन-चिन्तन, व्यापक जीवन-क्षेत्रो से गहन-निगूढ सम्बन्ध रखता है। प्रसादजी की सवेदनाएँ जीवन क्षेत्रो के वैविध्य मे विचरण करती हैं। प्रसादजी का विचार-सचरण व्यापक है। प्रसादजी की आत्मा अन्तर्जीवन के, तथा बाह्य जीवन-जगत् के, यथार्थ क्षेत्रो म समान रूप से, समान गति से, विचरण करती है। प्रसादजी जहाँ कलाकार हैं, वहाँ उनका मनोमय जीवन बाह्य का जितना आकलन-विवेचन करता है, उतना ही अन्तस् का भी आकलन-विवेचन। अन्तर्बाह्य यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि विश्लेषणमयी है। एक ओर, समग्र जीवन-स्थिति को एक रूपक द्वारा बाँधनेवाली उनकी अनुभूति है तो, दूसरी ओर, वही अनुभूति मन की सूक्ष्म तरगो का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनका अकन करती है। सक्षेप मे, प्रसादजी मे विश्व के महत्तम कलाकार के सभी गुण विद्यमान हैं। किन्तु वे गुण

पूर्णत परिपुष्ट और फलीभूत नही हो सके हैं। इसका कारण, जहाँ तक प्रसादजी के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, हमारे खयाल से इस प्रकार है।

प्रसादजी का मूल व्यक्तित्व और उस व्यक्तित्व की शक्तियाँ गत्यात्मक हैं, वे कुछ करना, पाना, घटित करना, विकसित करना और प्रवर्द्धित करना चाहती हैं, वे कुछ खोज करना, सिद्ध करना और स्थापित करना चाहती हैं। प्रसादजी की आत्मा जीवन के विविध क्षेत्रो म, जीवन की विविध स्थितियो मे, भटकती रहती है, प्यासी-प्यासी। इतनी भटकन, इतना व्यापक पर्यटन, इतनी विस्तृत, विविध और प्रदीर्घ यात्रा—हिन्दी मे किसी और लेखक न नही की। प्रसादजी एक साथ कवि, दार्शनिक, जीवन-चिन्तक, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्ध-लेखक, अनुसन्धानकर्त्ता तथा विद्वान् थे। अतीत और वर्तमान के, उत्कर्ष और अध -पतन के, अत्यन्त आत्मीय क्षणो और ऐतिहासिक पलों के बाह्य जीवन-स्थितियों तथा आन्तरिक मन स्थितियो के, जा चित्र और चित्रो का जो वैविध्य उन्होंने उप-स्थित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यदि प्रसादजी अनुभव-सम्पन्न, अनुभूति-प्रवण व्यक्ति थे तो, दूसरी ओर, वे बडे तजुर्बेकार आदमी थ। उनकी चिन्तन-प्रधान बुद्धि वर्तमान सामाजिक और ऐतिहासिक वास्तविकताओ म समान रूप से गतिमान थी। वे यदि, एक ओर गहन रूप से आत्मचेतस् थे तो, नि सन्देह दूसरी ओर, विश्व चेतस् भी। आत्म-चेतना के अतिरिक्त उनकी विश्व चेतना अत्यन्त प्रबल थी। वे अपने काल के विश्व-जीवन के प्रति जाग्रत थे—इतने कि उस विश्व-जीवन के सम्बन्ध म उनका चिन्तन निरन्तर सक्रिय था। यह आकस्मिक बात नही है कि जो व्यक्ति ऐतिहासिक नाटक लिखता हो वह अपने युग के प्रति अवधानपूर्ण भी रहता हो। मैं यह कहने का लोभ सवरण नही कर सकता कि प्रसादजी प्रथम विश्वयुद्ध के कुछ पूर्व स लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध [क पहले] तक चलनेवाली उन विचारधाराओं मे भी पूर्णत अवगत थे जो विचारधाराएँ पश्चिमी दुनिया म चलीं और वहाँ से हमारे यहाँ आयी। (प्रसादजी मार्क्सवाद स अनभिज्ञ जान पडते हैं, किन्तु प्लेटो तथा हेगेल के राज-दर्शन तथा दर्शन से अवगत प्रतीत होते हैं)। सक्षेप में, प्रसादजी का मन अन्तर्जीवन के प्रति तथा बाह्य-जीवन के प्रति समान रूप से सवेदनशील था, और उनका मन अन्तर्जीवन तथा बाह्य-जीवन-जगत् की स्वानुभूत समस्याओ को लेकर भटकता फिरता था।

हाँ, प्रसादजी की सवेदना इतनी तीव्र थी कि वह स्वय उनके लिए एक समस्या हो उठती थी। प्रसादजी मे बहुत गहन समस्यानुभूति है, इसीलिए उनकी बुद्धि विश्लेषण-प्रधान है। प्रतीत होता है कि इन सवेदनाओं की आत्यन्तिक तीव्रता के कारण, उन्ह समस्या-रूप म धारण करके प्रसादजी न उन पर चिन्तन किया। उनका काव्य मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, भावुक सवेदनात्मक चिन्तन है। उनके प्रत्येक सवेदन मे चिन्तन के कण विद्यमान हैं।

जीवनानुभवों के विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों ज्ञान और चिन्तन का विकास होता गया, त्यों-त्यों चिन्तन म एक दार्शनिक भाव-व्यवस्था उत्पन्न होती गयी। प्रसादजी के पास अपना एक निजी दर्शन है, और उस दर्शन के भीतर एक व्यवस्था है। उनका दर्शन केवल दृष्टिकोण नहीं है, सिर्फ एक रुख नहीं है, वरन् एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था उन्होंने अपनी अनुभवात्मक खोज म पायी है। कामायनी में उनका यह जीवन-दर्शन पूर्ण आभा के साथ प्रकट हुआ है।

किन्तु, अपने युग तथा जीवन-जगत् से सघन प्रतिक्रिया करते हुए, उन्होंने जिस दार्शनिक भाव व्यवस्था को उपलब्ध किया है, वह भाव-व्यवस्था गत्यात्मक नहीं है, वह दर्शन प्रसादजी के मूल व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है। उनका मूल व्यक्तित्व—अर्थात्, वह प्रवृत्ति-मण्डल जो उन्होंने जन्मत पाया और जिसका कि आगे चलकर विकास होता गया—वह मूल व्यक्तित्व और उसकी शक्तियाँ गत्यात्मक हैं। महान् कल्पना-शक्ति, गहन संवेदन-क्षमता और उनमें ग्रस्त न होनेवाली, साथ ही उनमें डूब सकनेवाली, प्रखर विलक्षण बुद्धि—प्रसादजी की प्रतिभा के अंग हैं।

इन शक्ति-ज्योतियों को लेकर प्रसादजी आत्मा भूत और वर्तमान में घूमा करती थी और सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया करती थी।

उस आत्मा के पास एक वायवीय मनोमय मानवादर्श तो था, किन्तु मानव-समाज के भविष्य का व्यापक और मनोहर चित्र न था। जो आत्मा आधुनिक और अतीत मानवेतिहास के विस्तृत क्षेत्रों में अपनी विविध अन्तर्बाह्य समस्याओं के निदान के लिए भटकती रहती थी, उस आत्मा के पास मानव-भविष्य का कोई विस्तृत और मनोहर चित्र न रहना—ऐसा चित्र, जिसके अन्तर्गत जीवन जगत् के रोगों को दूर किया गया हो—एक बहुत बड़ी ट्रैजेडी से कम नहीं था। ऐसा क्यों हुआ? प्रसादजी ने आधुनिक राष्ट्रवाद के स्पन्दनों और उसके तीव्र आवेशों का अनुभव किया था। प्रसादजी के जीवन-काल में मुक्ति-परायण राष्ट्रवाद के उत्थान का अन्त नहीं हुआ था। फिर क्या कारण है कि, उस राष्ट्रवाद के आवेशों में बहकर भी, प्रसादजी मानव-भविष्य का कोई सुन्दर किन्तु यथार्थवादी चित्र अपने सामने नहीं रख सके? वे मानव-भविष्य की सर्वांगीण उज्ज्वलता का अपने अन्तर्नेत्रों के सम्मुख न चित्र उपस्थित कर सके, न ऐसे किसी भविष्य में आस्था ही रख सके, इसका क्या कारण था?

इसका कारण यह है कि प्रसादजी ने जिस राष्ट्रवाद के उन्मेष का अनुभव किया, जिसका मधुर स्पन्दन उनके अन्तरानुभव के रूप में परिणत हुआ, वही राष्ट्रवाद जिस समाज-व्यवस्था का उन्नायक था, वह समाज-व्यवस्था विषमता-ग्रस्त थी, उस व्यवस्था के अन्दर बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती थी, नैतिक अधःपतन का रास्ता तैयार होता था। आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता के ह्रास-ग्रस्त स्वरूप के भयानक चित्र प्रसादजी ने जिस ढंग से प्रस्तुत किये हैं, उससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि प्रसादजी की संवेदनशील नैतिक चेतना और उनका अनुभूति प्रवण विवेक, इस पूँजीवादी सभ्यता के आधार पर खड़े हुए राष्ट्रवाद को मानव भविष्य के रूप में मान तो लेता था, किन्तु उसमें मानव की विद्रूपता ही देखता था, मानव-सौन्दर्य का दर्शन नहीं करता था। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में तत्कालीन मनीषियों का क्या रुख था, यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नेशनेलिज्म' नामक पुस्तक से जाना जा सकता है। उन्हीं दिनों पश्चिमी यूरोप में चिन्तकों द्वारा नेशनलिज्म का विरोध चल रहा था। यह विरोध कई तलों पर, कई क्षेत्रों में, कई ढंग से था। उसमें से एक ढंग वायवीय रहस्यवादी मानवतावाद को लेकर चला था।

किन्तु इस प्रकार का मानवतावादी रहस्यवाद, पूँजीवादी राष्ट्रवाद का भले ही विरोध कर ले, वह उस वास्तविकता को बदल नहीं सकता था, जो वास्तविकता

अपने सारे विस्तार में संघर्ष, कलह, द्वेष और युद्ध का विभ्राट खड़ा करती थी, जो वास्तविकता व्यक्ति और राष्ट्र के स्वार्थों पर खड़ी होकर अन्य व्यक्तियों और अन्य राष्ट्रों को गिराने में ही अपनी जीवन-उन्नति के दृश्य देखती थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रसादजी आदि चिन्तक-कलाकार इस वास्तविकता के अत्यन्त विरुद्ध थे। किन्तु जिस सरलतर सभ्यता और शोषणहीन समाज का वे आदर्श स्वप्न देखते थे, वह सभ्यता और वह समाज उनकी इच्छित कल्पना के आधार पर खड़ा था। उसका कोई वास्तविक आधार न था। मानव-समाज की उनकी वांछित और वांछनीय रचना प्राक्तन, प्राङ्मुख, आर्ष और साथ ही अनैतिहासिक थी। आदिम साम्यवाद की स्थिति प्राक्-सभ्य थी। यद्यपि आदिम साम्यवादी समाज में वर्गहीनता तथा समाज-वितरण-व्यवस्था थी, किन्तु वह समाज प्रकृति की शक्तियों के सम्मुख निर्बल था, अज्ञान-ग्रस्त था, असभ्य था। यह बिलकुल सही है कि तब का सामाजिक जीवन सरलतम था, किन्तु वह प्रकृति की शक्तियों और जीव-जन्तुओं की विरोधी स्थिति के कारण कठिनतर भी था। उस समाज में मानव-सम्बन्ध अत्यन्त सरल थे, किन्तु मानव-स्थिति अतिशय कठिन थी। जीवन-निर्वाह की समस्या तो बनी ही रहती थी, साथ ही विभिन्न असभ्य जातियों के साथ युद्धों की अविरामता, अनुकूल भूमि-क्षेत्र के लिए सतत पर्यटन, तथा सुरक्षा की निरन्तरता का अभाव—आदि बातों को भूल जाना अनुचित होगा। सभ्यता के प्रारम्भिक अभ्युदय, विकास और उत्कर्ष का इतिहास किस प्रकार रक्त-प्लावित है, किस प्रकार वह वर्ग-द्वेष से प्रेरित है—वह जिज्ञासुओं से छिपा हुआ नहीं है। वेदोपनिषदिक जीवन का चित्रण करनेवाले कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के उपन्यास इस सम्बन्ध में भुलाये नहीं जा सकते। ऐसी स्थिति में, मानव-समाजादर्श का नमूना, जो हमारे कलाकार-चिन्तकों ने उठाया, वह (1) अनैतिहासिक है, (2) वह आर्ष, प्राक्तन, प्राङ्मुख अनुभूतियों से युक्त है, (3) ऐसे मानव-समाजादर्श में चिन्तक-कलाकार की मानवैतिहासिक दृष्टि प्रकट न होकर तत्सम्बन्धी उसकी कामना ही प्रकट होती है, तत्सम्बन्धी उसके इच्छा स्वप्न ही प्रकट होते हैं। मानव-समाज-सम्बन्धी इन इच्छा स्वप्नों में रहस्यवादी दार्शनिक दृष्टि भी घुल मिल गयी है।

प्रसादजी इतना जानते थे कि यह दृष्टि, शायद, मानवेतिहास को न बदल पाये। उनके विचार से आधुनिक पूँजीवादी समाज के भीतर की जो विषमताएँ हैं, वे इतिहास की स्थायी क्रिया हैं—अधिक-से-अधिक इतना ही किया जा सकता है कि उन विषमताओं की तीव्रता कम की जा सकती है। कैसे ? शायद उनका मत था कि अभेदानुभूतिमूलक सामरस्यवाद की भावधारा में लीन होकर यदि समाज का शासक-वर्ग नीति संचालन करे, तो बाह्य वास्तविकता के मूल द्वन्द्व इतने अधिक और इतने भयानक विभ्राट प्रस्तुत न कर सकेंगे। किन्तु अतीत का इतिहास और वर्तमान का समाज स्वरूप जाननेवाले प्रसादजी इतना तो जानते ही थे कि ऐसे शासक कभी कभी ही होते हैं, ऐसों का उदय एक दुर्मिल घटना है। *संक्षेप में, समाज के भीतर विषमता शाश्वत है। उससे यदि सचमुच मुक्ति पानी* है, तो उसके लिए संसार से बहिर्गमन करना होगा। इसीलिए श्रद्धा अपने श्रद्धा-वादी पुत्र को इड़ा के हाथ में सौंपकर स्वयं मनु के साथ संसार से बहिर्गमन करती है।

संक्षेप में, प्रसादजी सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नों का गहन अनुभव करते रहे, मानव-समाज-सम्बन्धी समस्याएँ उनके हृदय में तड़पती रहीं, किन्तु अपने युग की वैचारिक सीमाओं से वे इतने अधिक घिर गये थे कि छुटकारा न पा सके। राष्ट्र-वाद के अभ्युदय का अभी अन्त भी न हुआ था कि उनकी मृत्यु हो गयी। राष्ट्रवाद के आवरण में लिपटी पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के विभ्राट के तथ्य तो उनके अपने संवेदनात्मक जीवन के अंग बन गये। उस स्वानुभूत तथ्यों की भयानक विद्रूपता उन्हें भीतर से बेचैन रखती रही। किन्तु इस विद्रूपता को नष्ट करने के लिए उनके पास मानव-भविष्य का कोई ऐतिहासिक स्वप्न नहीं था, केवल रहस्य-वादी श्रद्धावाद था। किन्तु अभेदानुभूतिमय सामरस्य से गुणात्मक ऐतिहासिक परिवर्तन नहीं होता, अधिक-से-अधिक विषमता-ग्रस्त स्थिति की उग्रता कुछ कम हो सकती है, अथवा उस पर, कुछ काल के लिए, आवरण भर चढ़ाया जा सकता है। प्रसादजी स्वयं इस बात को पहचानते थे। इस सम्बन्ध में उनकी सारी दृष्टि-स्थिति इस प्रकार है

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान,
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख-मणि गण द्युतिमान।

कारण जलधि के समान है, उसकी नीली लहरें व्यथा-रूप हैं। विषमता की पीड़ा शाश्वत है। मनुष्य को केवल सामरस्य का अधिकार है, क्योंकि द्वन्द्व शाश्वत है। वे कहते हैं

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूलमन्त्र।

ध्यान में रखने की बात है कि ये द्वन्द्व ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इन द्वन्द्वों में हम यदि, एक ओर, वर्ग-संघर्ष और द्विधाग्रस्त शासक-वर्ग का आन्तरिक संघर्ष शामिल कर सकते हैं तो, दूसरी ओर, इन द्वन्द्वों में शिव-अशिव, सत्-असत्, मंगल-अमंगल, सुन्दर-असुन्दर आदि का स्थान भी है। प्रसादजी की द्वन्द्वों की परिभाषा वही है जो हमारे भारतीय दर्शनशास्त्र में की गयी है। संसार दुःख का मूल कारण है। विषमताएँ शाश्वत हैं, द्वन्द्व शाश्वत है। इसलिए दुःख शाश्वत है। सुख द्युतिमान मणियों के समान है, वे क्षणिक हैं। केवल साम-रस्य द्वारा ही हम वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। अतीत और वर्तमान के इतने विभिन्न जीवन क्षेत्रों में विचरण करने के अनन्तर प्रसादजी को प्राप्त क्या हुआ? विषमता और दुःख-द्वन्द्व की शाश्वत स्थिति। इससे छुटकारा कैसे हो? सामरस्यवाद से। यह निदान जैसा भी है, मानव-भविष्य का उज्ज्वल ऐतिहासिक स्वप्न नहीं रखता। यह तथ्य, सामाजिक-ऐतिहासिक क्षेत्र में, प्रसादजी की अगतिकता का सूचक है।

प्रसादजी अपने वर्ग और युग की वैचारिक सीमा में जकड़े हुए थे। हिन्दी

के कुछ कवि, जैसे पन्त, अथवा रवीन्द्र को, अथवा यूरोप मे रोम्याँ रोलाँ और टॉमस मान को, साम्यवाद ने मानव-भविष्य के उज्ज्वल ऐतिहासिक स्वप्न प्रदान किये। कम-से कम इनमे से कुछ के हृदय मे भविष्य का आलोक प्रसारित हुआ। प्रसादजी के साथ ऐसा न हो सका। प्रसादजी के लिए यही बडी ट्रैजेडी थी, क्योकि उन्होने मानव-समाज तथा आधुनिक (पूँजीवादी) सभ्यता सम्बन्धी गहन प्रश्नो को तीव्रतापूर्वक अनुभूत किया था। ये तथ्य, ये समस्याएँ, ये प्रश्न, उनके सवेदनात्मक अन्तर्जीवन के ही अग थे (पन्त के साथ ऐसा नही है)। इसलिए भविष्य के आलोक-स्वप्न का अभाव उनके लिए बडी ट्रैजेडी थी।

उनका सारा दर्शन आदर्शवादी, रहस्यवादी था। वह ऐतिहासिक, सामाजिक क्षेत्र से सम्बन्ध न रखकर, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्र का ही अग-रूप था। प्रसादजी की आत्मा ने विचरण किया अतीत और वर्तमान के मानवैतिहासिक क्षेत्र मे। इस क्षेत्र की समस्याओ का उसने अनुभव किया। किन्तु हल कौन-सा प्राप्त किया ? मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक। प्रसादजी की आत्मा न भोगा तो वास्तविक जीवन, खोज की वास्तविक जीवन की, चिन्तन किया वास्तविक जीवन का। किन्तु, निष्कर्ष-रूप मे, निदान और समाधान के रूप मे, पाया क्या ? आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक भाववादी रहस्यवाद। यह ऐतिहासिक-सामाजिक समस्याओ का ऐतिहासिक-सामाजिक हल नही हुआ। यदि प्रसादजी महादेवी वर्मा के समान मात्र प्रेम-कवि होते, यदि वे प्रेम का रहस्यवादी रूप दे देते, तो बात समझ मे आ सकती थी। किन्तु प्रसादजी वास्तविक जीवन के वास्तविक सवेदनो का अनुभव करते हैं। उनका प्रम केवल मनोमय नही है। यह प्रेम एक व्यक्ति के प्रति है, उस व्यक्ति के साथ उन्होन विलास किया है, विलास और भोग की स्मृतियाँ उनके जीवन म विशेष स्थान रखती हैं। वह व्यक्ति इस दुनिया का है, उस दुनिया का नही। किन्तु, प्रसादजी आँसू नामक काव्य म अपने विलास प्रधान प्रेम को और भोग-स्मृतियो को रहस्यवादी भावधारा मे परिणत करते है। यह रूपान्तरण निया कृत्रिम हो उठती है। आँसू नामक काव्य मे यह बुनियादी कृत्रिमता विराजमान है। क्यो ? इसलिए कि प्रसादजी का प्रणय वास्तविक जगत् के वास्तविक व्यक्ति स भोगात्मक सम्बन्ध रखता था।

सक्षेप मे, प्रसादजी बाह्य के प्रति अत्यन्त सवेदनशील थे, जगत् के प्रति अत्यन्त तीव्र हार्दिक-बौद्धिक प्रतिक्रिया करते थे, समाज तथा सभ्यता सम्बन्धी प्रश्नो के समुदाय उनके हृदय म तडपते थे। किन्तु उनका अन्तिम समाधान, निदान, वही रहस्यवादी था।

यह कोई निदान या समाधान न था, क्योंकि वह उस क्षेत्र से सम्बन्ध नही रखता था जिस क्षेत्र स उद्गत व समस्याएँ थी। अपन व्रणीभूत हृदय को सहलान का यह एक दार्शनिक तरीका था। दार्शनिक तरीके से हृदय की पीडा भले ही कुछ देर के लिए शान्त कर ली जाये, उस तरीक़े के प्रयोग स वे समस्याएँ दूर नही होती, जो समस्याएँ जीवन-जगत् स, सभ्यता और समाज से सम्बन्ध रखती हैं। आध्यात्मिक दर्शन मूलत एक मानसिक अनुशासन है, अपने-आपमे वह कदापि बाह्यानुशासन नही है। दार्शनिक भावना हृदय के घाव भर देगी, समाज के भीतर की खाइयाँ दूर नही कर सकती—जब तक वह दर्शन वस्तुवादी होकर सकर्मक न हो जाये, अर्थात् जब तक वह दर्शन बाह्य जीवन-जगत् से उद्गत और उससे

निष्कपित न हो, यानी कि वह वस्तुत: वस्तुवादी न हो।

प्रसादजी का दर्शन अपने हृदय के घावों को सहलाने का एक मनोवैज्ञानिक तरीक़ा है, जिसे वे आध्यात्मिक कहते हैं। यों भी कहा जा सकता है कि वह वास्तविक जीवन, जगत् की समस्याओं से छुटकारा पाने का, उनसे भाग जाने का, तरीक़ा है, न कि उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त करने का उपाय। संक्षेप में, प्रसादजी का दर्शन एक ऐसी भाव-व्यवस्था का नाम है, जो भाव-व्यवस्था व्यक्तियों को अपनी समस्याओं से मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो दिला सकती है, किन्तु उसकी उन समस्याओं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकती।

यही प्रसाद जी के दर्शन की अगतिकला है। एक ओर, प्रसादजी का मूल व्यक्तित्व अत्यन्त गतिमान, उनका अन्त प्रवृत्ति-मण्डल अत्यन्त क्रियाशील, उनकी आत्मा भ्रमणशील और अन्वेषणशील है। किन्तु इस मूल व्यक्तित्व के ऊपर लादा गया या थोपा गया दार्शनिक सम्भार अगतिक स्थित्यात्मक और कूटस्थ है। प्रसादजी के भीतर का यह प्रचण्ड अन्तर्विरोध है, और इस अन्तर्विरोध के तनाव की कोख से **कामायनी** का जन्म हुआ है। इसलिए **कामायनी** अपनी सारी कमज़ोरियों के बावजूद और उनके कारण ही, प्रसादजी की बहुत-बहुत सच्ची, बहुत-बहुत खरी काव्य-कृति बन गयी है—प्रसादजी के अन्त:स्वभाव को ध्यान में रखते हुए।

**कामायनी** की कमज़ोरी क्या है? वही जो प्रसादजी की कमज़ोरी है। जिस प्रकार **आँसू** में उनका रहस्यवाद कृत्रिम प्रतीत होता है, उसी प्रकार **कामायनी** में मूलकथा का घुमाव भी। मानव-सम्बन्धों के और मानव-चरित्रों के भीतर उद्घटित होनेवाली समस्याओं, सभ्यता-सम्बन्धी समस्याओं, को प्रस्तुत करते हुए, उनके हल के लिए, उन समस्याओं के क्षेत्र से ही पलायन किया गया है। यह पलायन उनके रहस्यवादी दर्शन ने कराया, जो दर्शन समस्याओं से व्यक्ति का छुटकारा तो कराता है, किन्तु बाह्य जीवन-जगत् में स्थित उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता, उनका उन्मूलन नहीं करता। प्रसादजी के दर्शन ने, जीवन-जगत्-सम्बन्धी समस्याओं को, जो कि मनु के आचरण के कारण और भी विकट हो गयी थीं, उन्हें इड़ा और मनु-पुत्र के ज़िम्मे लगाकर, श्रद्धा और मनु को हिमालय भिजवा दिया। **कामायनी** की कथा का स्वाभाविक विकास-क्रम तो यह होना चाहिए था कि पश्चात्ताप-दग्ध मनु, शासन-सूत्र पुन: अपने हाथ में लेकर, इड़ा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, जन-कल्याण का कार्य अग्रसर करते, ऐसे समाज की स्थापना करते जहाँ पूर्ण समता तथा पूर्ण साम्यावस्था विराजमान है, तथा जहाँ मानव-शक्तियाँ निरन्तर उत्कर्ष करती जा रही हैं। संक्षेप में, मनु राजा से बदलकर वास्तविक लोक-नेता बनते, जनता को अपनी उन्नति की अधिक-से-अधिक प्रेरणा देते, तथा समाज में जहाँ भी, जो भी अशिव, अमगल और [illegible]

नहीं सकते थे, क्योंकि उनका दर्शन जीवन-जगत् की वास्तविक समस्याओं से, अर्थात् मानव-सम्बन्धों की समस्याओं से, भले ही मनोवैज्ञानिक छुटकारा दिला दे,

वास्तविक जीवन-जगत् की उन समस्याओ के अस्तित्व को समाप्त नही करता, क्योकि उन समस्याओ स जो छुटकारा पाया गया है, वह, वस्तुत , उन समस्याओ से पलायन का एक तरीका है। सक्षेप मे, प्रसादजी के दर्शन ने **कामायनी** की खास रीढ पर गहरी चोट की है। उस दर्शन ने न केवल कथा-विकास-सम्बन्धी, वरन् चरित्र-विकास सम्बन्धी, दोष उत्पन्न किये। यही नही, **कामायनी** की भीतरी रचना भी उससे बिगड गयी। पाँच सर्ग—'आशा' मे लेकर 'लज्जा' तक—मनुष्य की अन्त करण स्थिति, रागात्मक प्रवृत्ति, अर्थात् स्त्री-पुरुष की रमणीय वास्तविकता को लेकर लिखे गये है। मनु के व्यक्तिवाद की वास्तविक समस्या को, मानो इन पाँच सर्गों मे, कही छिपी जगह दे दी गयी है। यह व्यक्तिवाद आगे के सर्गों मे उभरता जाता है। आगे चलकर इडा-निर्मित सभ्यता का विकास बताने के लिए और भी अधिक सर्गो की आवश्यकता थी, उस समाज के भीतर के द्वन्द्वो को मूर्त्त रूप देने की जरूरत थी। किन्तु 'इडा' सर्ग के बाद घटनाएँ जल्दी-जल्दी होती जाती हैं। समस्याओ का विश्लेषण-विवेचन तो खूब चलता है, किन्तु उन समस्याओं को मूर्त्त रूप मे स्थापित नही किया जाता। दार्शनिक विवेचनाओं और स्थापनाओ के लिए, आलोचनाओ के लिए, और मुक्ति-मार्ग रूपायित करने के लिए, अधिक सर्गों की आवश्यकता थी।

प्रसादजी के दर्शन ने सब जगह गडबड की है। उसी प्रकार **कामायनी** मे इच्छा-ज्ञान-क्रिया का वास्तविक सामजस्य कही बताया ही नही गया है। (हम यह पहले ही कह चुके हैं कि स्वय श्रद्धा के व्यक्तित्व मे इनका अभाव है)। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन बिलकुल ठीक है कि काव्य की रहस्यवादी प्रकृति के कारण, (हमारे शब्दो मे उनके विशेष प्रकार के दर्शन के कारण), वैसा होना असम्भव ही था, क्योकि इच्छा-ज्ञान-क्रिया का सामजस्य वास्तविक जीवन-क्षेत्र मे होता है, न कि ससार से पलायन करके हिमालयीन शिखरो पर।

आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रसाद ने अपने नाटको म कर्म के भव्य, गौरवपूर्ण और प्ररणामय चित्र प्रस्तुत किये, वही प्रसाद **कामायनी** मे आकर कर्म का स्थूल अर्थ ग्रहण करते हैं। हमारे भारतीय धर्म-ग्रन्थो मे कर्म के अत्यन्त प्रेरणामय जीवन-चित्र उपस्थित किये गये है। गीता के कर्मयोग ने हमारे राष्ट्र-वादी सघर्ष मे वस्तुत योग दिया है—बहुत बडा योग। यह ठीक है कि गीता के कर्मयोग के सम्बन्ध मे विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी धारणाएँ हो। किन्तु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि अन्दमान की काली दीवारो के भीतर रहनेवाले आतक-वादियो ने, अपने सक्रिय जीवन-काल मे तथा बन्दी जीवन मे, कर्मयोग से शिक्षा ग्रहण की। किन्तु प्रसादजी है कि कर्म को व्यवसायात्मिका बुद्धि से मिलाकर, उसे अपनी दार्शनिक भाव-व्यवस्था म, तथा **कामायनी** मे, हीन स्थान प्रदान करते है।

प्रसादजी की प्रदीर्घ साधना का फल **कामायनी** है। उसमे उनका जीवन-चिन्तन निखर उठा है। किन्तु इस जीवन-चिन्तन के जो रहस्यवादी सूत्र हैं, उनके कारण प्रसादजी मे एक पश्चगामिता दिखायी देती है। नही तो कर्म की अवहेलना का कोई अर्थ ही नही है। सक्षेप म, या तो प्रसादजी सभ्यता-सम्बन्धी और व्यक्ति-वाद-सम्बन्धी प्रश्न ही नही उठाते और रहस्यवादी गीत लिखते, रहस्यवादी काव्य लिखते। अथवा यदि वैसे प्रश्नो को उठाते है, तो उनके उन प्रश्नो के क्षेत्र ही से, अर्थात् वास्तविक जगत् के क्षेत्र ही से, उनका समाधान करते। इसका मूल कारण

है उनका वह दशन जो जि दगी पर हावी हो गया और जो जि दगी के सवाल को दुनिया स बाहर जाकर हल करना चाहता है। यही कारण है कि श्रद्धा म ए मसीहापन है एक व्यथ का उपदशवाद है। श्रद्धा के उपदेश उसके अपन वास्तवि जीवन स उदगत उदाहरण के रूप म सामने नही आते। इसीलिए श्रद्धा क चरि म हम कभी-कभी आडम्बर भी दिखायी दता है। श्रद्धा का वचन है

मैं लोक-अग्नि मे तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

कामायनीकार स और उसके आलोचको से कोइ पूछे कि श्रद्धा न कब किस लोक-अग्नि म अपनी आहुति दी? **कामायनी** म इस प्रश्न का उत्तर नही है। लोक अग्नि इस दुनिया क अन्दर की चीज है। उसका सम्बन्ध जन जीवन को उच्चत स्तर म लाने से है अर्थात दूसरे शब्दो मे लोक-अग्नि का सम्बन्ध कम जगत स है कम क्षत्र स है। श्रद्धा कब किस कम क्षत्र म पडी? लोक-अग्नि का सम्बन्ध कम-क्षत्र से है यह तथ्य शायद श्रद्धा भूल गयी थी। यद्यपि रहस्य सग म प्रसादजी न इच्छा ज्ञान क्रिया की बात की है। किन्तु यह सामजस्य आगे के सग म दृश्यमान नही है। इसीलिए मूलत **कामायनी** का सन्देश अकमक है यही नही वरन् वह अकमकता को दाशनिक आवरण म प्रस्तुत करता है। प्रसादजी का अभेदानुभूतिवादी रहस्यात्मक सामरस्य वास्तविक जीवन जगत की व्यक्तिवाद की समाज और सभ्यता की समस्याओ के अस्तित्व को समाप्त करने म सवथा असमथ है। **कामायनी** के प्रथम सग म मनु की पराजय भावना और पराजय स्थिति बतायी गयी है तो अन्तिम सग मे पराजित मनु को रहस्यवादी बना दिया गया है। ऐसी स्थिति म **कामायनी** का सामरस्य सन्देश सकर्मक हो ही नही सकता। फिर वह जन-जीवन के उत्थान और उसके उच्चतर गुणात्मक परिवतन म क्या योग देगा!

इसके विपरीत यह सन्देश उन लोगो के हाथ मजबूत करता है जो आज की यथावत स्थिति—स्टेटस-को—जनता के हितो की परवाह न करते हुए और उसक विरोध म उपस्थित होते हुए वह यथावत् स्थिति वह स्टेटस को बनाय रखना चाहत हैं। हिन्दी के बहुतरे मान्य समीक्षक इसी कोटि के हैं।

## अन्तत:

मैं तो स्वय अपन स ही यह प्रश्न पूछता हूँ कि क्या यह आवश्यक नही है कि कामायनी के साहित्यिक सौन्दय का भी विवेचन किया जाय। नि सन्देह उसके बिना तो मरा आत्म निवदन भी अधूरा ही रहेगा। सच तो यह है कि प्रसादजी [illegible] वह काव्य नि सन्देह [illegible] नि [illegible] है। किन्तु [illegible] कहिय कि भावना के

विचरण-क्षेत्र की जो वैचारिक पीठिका है उसको, ध्यान में देखना होगा। भावना या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नहीं है, जिससे हम जीवन के प्रति कवि दृष्टि के औचित्य या अनौचित्य की जाँच कर सकें। कभी-कभी होता यह है कि भावना की रसात्मकता वस्तुतत्त्व के अनौचित्य को ढाँक देती है। या उस पर परदा डाल देती है। भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रसादजी तो विशुद्ध कलावादी साहित्यिक हैं ही नहीं। वे स्वयं जीवन की समस्याएँ उठाते हैं। उनके पास अपनी दृष्टि, अपना चिन्तन और विश्लेषण है। उनके भाव और भावनाएँ उस चिन्तन और विश्लेषण से इतने अनुस्यूत हैं कि वे लगभग एकरूप हो गये हैं। अतएव हम उनकी अनुभूतियों में रमे हुए चिन्तन और चिन्तन में पगी हुई अनुभूतियों को केवल उनके प्रभावोत्पादक गुण की कसौटी पर कसकर ही शान्त नहीं रह सकते। विश्व-साहित्य में से ऐसे बहुत-से उदाहरण निकाल-निकालकर पेश किये जा सकते हैं, जिनमें प्रभावोत्पादकता के गुण तो अत्यधिक हैं, किन्तु जिनका वस्तु-तत्त्व और उस वस्तु-तत्त्व के प्रति लेखक की दृष्टि अनुचित है। समीक्षा प्रभावोत्पादक गुणों की भी होती है, अर्थात् कलात्मकता की भी होती है तत्त्व की भी होती है, साथ ही कलाकार की दृष्टि की भी। चूँकि साहित्य का प्रभाव जीवन पर होता है, और जीवन ही से साहित्य समुत्पन्न होता है, इसलिए कलाकृति के वस्तु-तत्त्व और उसके प्रति कलाकार की दृष्टि—इन दोनों की समीक्षा और मूल्यांकन अत्यन्त आवश्यक है। विशेषकर उस अवस्था में, जब कि कलाकृति के प्रभावोत्पादक गुण अतिशय उत्कर्ष-प्राप्त हों, और उस स्थिति में पाठकों को भावनाओं में बहाकर, उनके हृदय को रंजित करके, और इस प्रकार उन्हें अपने विश्वास में लेकर, चुपचाप आधे-जाने-आधे अनजाने ढंग से, उन्हें वे तत्त्व अपनी विश्व-दृष्टि प्रदान कर जाते हों—अपने रुख और रवैये का, अपने झुकावों और रुझानों का, एक शब्द में, अपने विचारों का, छोड़ दे जाते हों। ऐसी कलाकृति के साहित्यिक गुण, अर्थात् उसकी प्रभाव-क्षमता निश्चित रूप से खतरा साबित हो सकती है।

प्रसादजी के काव्य-सामर्थ्य के सम्बन्ध में अन्य लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। जिन लोगों को कामायनी में सौन्दर्य की विवेचनात्मक जानकारी की ज़रूरत है, उन्हें वे समीक्षा-ग्रन्थ अवश्य पढ़ने चाहिए। पाठक का यह आदि कर्त्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात् करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है, जिसमें से गुज़रकर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। उस मर्म-क्षेत्र में पहुँचकर, उसे पहचानकर, उसके मार्ग से ही उस जीवन-जगत् तक जाया जा सकता है, जो जीवन-जगत् आभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धों, जीवन मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है, जो कलाकार के अन्तःकरण में अनेक मिश्र-रूपों में संचित होकर, अभिव्यक्ति-क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ। चूँकि कलाकृति, मूलतः, संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त, कल्पना की कीमिया द्वारा जीवन की पुनर्रचना है, अतएव हमें अपने जीवन में ही लिए पुनर्रचित जीवन को देखना होगा, उसकी विविध-पक्षीय परीक्षा करनी होगी। यह बात महत्त्वपूर्ण है। चूँकि प्रसादजी की काव्यश्री

पर अन्य समालोचकगण दसियों सालों से लिखते आये हैं, इसलिए मैंने **कामायनी** के सौन्दर्य-पक्ष के निरूपण और विवेचन का काम हाथ में नहीं लिया। ठीक है कि उस काम को पूरा किये बिना, यह पुस्तक अधूरी ही रहेगी, और यह भी सच है कि मुझ पर तरह-तरह के दोषारोपण किये जायेंगे—यह कहा जायेगा कि प्रस्तुत आलोचना विध्वंसात्मक है—किन्तु इस आरोप के लिए मुझे तैयार रहना चाहिए।

यह सच है कि मैंने एक कठिन काम हाथ में लिया। वह सचमुच कठिन है। उसमें मतान्तर हो सकते हैं। मनुष्य में चेतना नामक जो चीज़ है, उसमें ज्ञान की अनेक कोटियों और दशाओं से लेकर अज्ञान की अनेकानेक विधाओं और श्रेणियों तथा अवस्थाओं का समावेश होता है। यही क्यों ? हम मन के सम्बन्ध में, मन की क्रियाओं के बारे में, बहुत कम जानते हैं। मनोविज्ञान अत्यन्त अविकसित शास्त्र है। फिर भी, सम्भवत , हम जैसे बाह्य-साक्षात्कार, वैसे ही आत्म-साक्षात्कार कर ही लेते हैं। इस आत्म-साक्षात्कार के बिना आत्म चेतना सम्भव नहीं है। कहाँ तक हमारा आत्म-साक्षात्कार विश्वसनीय और विश्वास-योग्य है, यह एक अलग ही प्रश्न है। किन्तु आत्म-साक्षात्कार का हमें अनुभव होता है, अतएव उसके घटित होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। मज़ा यह है कि आत्म-साक्षात्कार तो हम कर लेते हैं, लेकिन अपने चरित्र से साक्षात्कार करना बहुत ही मुश्किल है, क्योंकि स्वयं के ही चरित्र-साक्षात्कार के लिए हमें प्रथम पुरुष के अतिरिक्त द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम इत्यादि पुरुषों की आवश्यकता होती है। वे ही हमारे चरित्र के गुण-दोषों को जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। अन्यों के चरित्रों की तुलना में अपने आपको रखने की हमारी अपनी जो आदत होती है, उसके फलस्वरूप जीवन-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर, तथा अपने कार्यव्यवहार की सफलता-असफलता के, और औचित्य-अनौचित्य के अपने अनुभवों के आधार पर, हमें अपने चरित्र का आंशिक ज्ञान हो जाता है। किन्तु यह ज्ञान अत्यन्त अल्प होता है। वह अत्यन्त आंशिक, धुँधला और उलटा-सुलटा भी होता है। दूसरे शब्दों में, अपने स्वयं के बारे में हमारी जो भी राय है वह सही है। बिलकुल सही है यह मानने और करने का आग्रह रहने से अपने स्वयं के चरित्र के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान न केवल आंशिक, वरन् उलटा-सुलटा और विरूप और बहुत बार अरूप होता है। मुद्दे की बात यह है कि हम अपने चरित्र को, अपने चरित्र की बारीकियों को, उसके गुण-दोषों को, उसकी अक्षमता को, और बहुत बार उसके सामर्थ्य को भी, नहीं पहचान पाते।

दूसरे शब्दों में, हम अपने चरित्र के सम्बन्ध में विशेष नहीं जानते। कुछ क्षणों में केवल उसका आभास हमें प्राप्त होता है। मज़ा यह है कि हम अपने ही चरित्र के प्रति अचेत रहते हैं। फिर भी वह चरित्र हमारे कार्य-व्यवहार में, बोलचाल में, रीति-नीति में, सोच विचार में, यहाँ तक कि हमारे आत्म संवाद और स्वप्न-क्षणों में, प्रकट होता रहता है। भले ही हम उसे न जानें, न पहचानें, उसका बोध न करें, किन्तु द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम पुरुषों को, उसके बारे में (अर्थात् हमारे चरित्र के बारे में) बोध होता रहता है, ज्ञान होता रहता है, और वे बारम्बार निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उसका रूप स्वरूप पहचान जाते हैं। दूसरे शब्दों में, चरित्र एक ऐसी शक्ति है जिसका प्रथम पुरुष को केवल आभास ही हो

विचरण-क्षेत्र की जो वैचारिक पीठिका है उसको, ध्यान से देखना होगा। भावना या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नहीं है, जिसमें हम जीवन के प्रति कवि दृष्टि के औचित्य या अनौचित्य की जाँच कर सकें। कभी-कभी होता यह है कि भावना की रसात्मकता वस्तुतत्त्व के अनौचित्य को ढाँक देती है। या उस पर परदा डाल देती है। भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रसादजी तो विशुद्ध कलावादी साहित्यिक हैं ही नहीं। वे स्वयं जीवन की समस्याएँ उठाते हैं। उनके पास अपनी दृष्टि, अपना चिन्तन और विश्लेषण है। उनके भाव और भावनाएँ उस चिन्तन और विश्लेषण के इतने अग-भून हैं कि वे लगभग एकरूप हो गये हैं। अतएव, हम उनकी अनुभूतियों में रमे हुए चिन्तन और चिन्तन में बसी हुई अनुभूतियों को केवल उनके प्रभावोत्पादक गुण की कसौटी पर कसकर ही शान्त नहीं रह सकते। विश्व साहित्य में से ऐसे बहुत-से उदाहरण निकाल निकालकर पेश किये जा सकते हैं, जिनमें प्रभावोत्पादकता के गुण तो अत्यधिक हैं, किन्तु जिनका वस्तु-तत्त्व और उस वस्तु-तत्त्व के प्रति लेखक की दृष्टि अनुचित है। समीक्षा प्रभावोत्पादक गुणों की भी होती है, अर्थात् कलात्मकता की भी होती है, तत्त्व की भी होती है, साथ ही कलाकार की दृष्टि की भी। चूँकि साहित्य का प्रभाव जीवन पर होता है, और जीवन ही से साहित्य

करके, और इस प्रकार उन्हें अपने विश्वास में लेकर, चुपचाप आधे-जाने-आधे अनजाने ढंग से, उन्हें वे तत्त्व अपनी विश्व-दृष्टि प्रदान कर जाते हों—अपने रुख और रवैये का, अपने झुकावों और रुझानों का, एक शब्द में, अपने विचारों का, डोज दे जाते हों। ऐसी कलाकृति के साहित्यिक गुण, अर्थात् उसकी प्रभाव-क्षमता निश्चित रूप से खतरा साबित हो सकती है।

प्रसादजी के काव्य-सामर्थ्य के सम्बन्ध में अन्य लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। जिन लोगों को कामायनी के सौन्दर्य की विवेचनात्मक जानकारी की जरूरत है, उन्हें वे समीक्षा ग्रन्थ अवश्य पढ़ने चाहिए। पाठक का यह आदि कर्त्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात् करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है, जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। उस मर्म-क्षेत्र में पहुँचकर, उसे पहचानकर, उसके मार्ग से ही उस जीवन जगत् तक जाया जा सकता है, जो जीवन-जगत् आभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवन-जगत् मानव सम्बन्धों जीवन मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है, जो कलाकार के अन्तःकरण में अनेक मिश्र रूपों में संचित होकर, अभिव्यक्ति क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ। चूँकि कलाकृति, मूलतः, संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त, कल्पना की कीमिया द्वारा जीवन की पुनर्रचना है, अतएव हम अपने जीवन के ही लिए पुनर्रचित जीवन को देखना होगा, उसकी विविध-पक्षीय परीक्षा करनी होगी। यह बात महत्त्वपूर्ण है। चूँकि प्रसादजी की काव्यश्री

पर अन्य समालोचकगण दसियो सालो से लिखते आय हैं, इसलिए मैंने **कामायनी** के सौन्दर्य-पक्ष के निरूपण और विवेचन का काम हाथ मे नही लिया। ठीक है कि उस काम को पूरा किये विना, यह पुस्तक अधूरी ही रहेगी, और यह भी सच है कि मुझ पर तरह-तरह के दोषारोपण किये जायेंगे—यह कहा जायेगा कि प्रस्तुत आलोचना विध्वसात्मक है—किन्तु इस आरोप के लिए मुझे तैयार रहना चाहिए।

यह सच है कि मैंने एक कठिन काम हाथ मे लिया। वह सचमुच कठिन है। उसम मतान्तर हो सकते हैं। मनुष्य मे चेतना नामक जो चीज है, उसमे ज्ञान की अनेक कोटियो और दशाओ से लेकर अज्ञान की अनेकानेक विधाओं और श्रेणियो तथा अवस्थाओ का समावेश होता है। यही क्यो? हम मन के सम्बन्ध मे, मन की क्रियाओ के बारे म, बहुत कम जानते हैं। मनोविज्ञान अत्यन्त अविकसित शास्त्र है। फिर भी सम्भवत, हम जैसे बाह्य-साक्षात्कार, वैसे ही आत्म-साक्षात्कार कर ही लेते हैं। इस आत्म साक्षात्कार के बिना आत्म चेतना सम्भव नही है। कहाँ तक हमारा आत्म-साक्षात्कार विश्वसनीय और विश्वास-योग्य है, यह एक अलग ही प्रश्न है। किन्तु आत्म-साक्षात्कार का हम अनुभव होता है, अतएव उसके घटित होने म सन्देह नही किया जा सकता। मजा यह है कि आत्म साक्षात्कार तो हम कर लेते हैं, लेकिन अपने चरित्र से साक्षात्कार करना बहुत ही मुश्किल है, क्योंकि

आपको रखने की हमारी अपनी जो आदत होती है उसके फलस्वरूप जीवन ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर, तथा अपने कार्यव्यवहार की सफलता-असफलता के, और औचित्य-अनौचित्य के अपने अनुभवो के आधार पर, हमें अपने चरित्र का आशिक ज्ञान हो जाता है। किन्तु यह ज्ञान अत्यन्त अल्प होता है। वह अत्यन्त आशिक, धुँधला और उलटा-सुलटा भी होता है। दूसरे शब्दो मे, अपने स्वय के बारे म हमारी जो भी राय है वह सही है। बिलकुल सही है, यह मानने और करने का आग्रह रहने से अपने स्वय के चरित्र के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान न केवल आशिक, वरन् उलटा-सुलटा और विरूप और बहुत बार अल्प होता है। मुद्दे की बात यह है कि हम अपने चरित्र को, अपने चरित्र की बारीकियो को, उसके गुण-दोषो को, उसकी अक्षमता को, और बहुत बार उसके सामर्थ्य को भी, नही पहचान पाते।

दूसरे शब्दो म, हम अपने चरित्र के सम्बन्ध म विशेष नही जानते। कुछ क्षणो म केवल उसका आभास हम प्राप्त होता है। मजा यह है कि हम अपने ही चरित्र के प्रति अचेत रहते हैं। फिर भी वह चरित्र हमारे काय व्यवहार म, बोलचाल म, रीति-नीति म, सोच विचार म, यहाँ तक कि हमारे आत्म सवाद और स्वप्न-क्षणो मे, प्रकट होता रहता है। भले ही हम उसे न जानें, न पहचानें, उसका बोध न करें, किन्तु द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पचम पुरुषो को, उसके बारे मे (अर्थात् हमारे चरित्र के बारे म) बोध होता रहता है, वा। होता रहता है, और वे बारम्बार निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उसका रूप स्वरूप पहचान जाते हैं। दूसरे शब्दों मे, चरित्र एक ऐसी शक्ति है जिसका प्रथम पुरुष को केवल आभास ही हो

सकता है—अर्थात्, वह शक्ति, उसके प्रत्येक जाग्रत क्षण मे अभिव्यक्त होकर भी, उसके बोध के क्षेत्र के बहुत कुछ बाहर होती है। ध्यान रहे कि चरित्र एक विधायक शक्ति है, जो हमारे जीवन का निर्माण और विनाश करती है, कर सकती है। हमारे प्रत्येक क्षण मे अभिव्यक्त होते हुए भी उसका हमे वास्तविक बोध नही हो पाता। केवल कुछ असाधारण क्षणो मे हमे कभी-कभी उसका आभास मिल सकता है। किन्तु, तृतीय पुरुष को प्रथम पुरुष के चरित्र का बोध और निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उसका ज्ञान होता रहता है, या हो सकने की बहुत सम्भावनाएँ रहती हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। प्रथम पुरुष उससे अचेत है, तृतीय पुरुष उससे सचेत। फिर भी, उसके बारे मे अचेत रहने के बावजूद, वह हमारे प्रत्येक जाग्रत क्षण मे प्रकट होता रहता है। अपने प्रत्येक जाग्रत क्षण मे हमारा चरित्र तो प्रकट होता रहता है, किन्तु हमारा उद्देश्य यह नही होता कि हम उसे प्रकट करें। हम अपने जाग्रत क्षणो मे अपनी इच्छाओ की पूर्ति के प्रति धावित होते हैं, अथवा बाह्य से अपने सामजस्य की समस्याओ से उद्गत करणीय कार्यों और कर्तव्यो को पूरा करते हैं। किन्तु हमारा लक्ष्य अपने स्वय के चरित्र को प्रकट करना, उसे अभिव्यक्त करना, नही होता। यदि हम अपने चरित्र को अभिव्यक्त करने के लक्ष्य-उद्देश्य के प्रति धावित हो, तो मुश्किल हो जायेगी। क्योकि वैसी स्थिति मे बाह्य से सामजस्य कठिन हो जायेगा। दूसरे, चूँकि हम स्वय निज के चरित्र को नही जानते-पहचानते, इसलिए हमारे व्यापार कृत्रिम होंगे।

ठीक इसी प्रकार, काव्य मे केवल अवचेतन या अचेतन मन ही प्रकट नही होता, कवि के अनजाने, अचेतन रूप से, उस कवि का चरित्र भी प्रकट होता जाता है। कवि का जो कथ्य है, वह भिन्न है। अपने चरित्र की अभिव्यक्ति कवि *का कथ्य नहीं। फिर भी काव्य में कलाकार का चरित्र प्रकट होता रहता है।* दूसरे शब्दो मे, कवि अपने हृदय मे सचित तत्त्वो का जो चित्रण करता है, उन तत्त्वो के अतिरिक्त वह अन्य अनेक बातें सूचित कर जाता है, कह जाता है, चित्रित कर जाता है। हाँ, वैसा करना उसका उद्देश्य बिलकुल नही है। वह तो केवल अपना कथ्य प्रस्तुत कर रहा है। कथ्य शब्दबद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। किन्तु कथ्य चित्रित करने के साथ-साथ कवि अपने अनजाने मे बहुत कुछ और कह जाता है। सक्षेप मे, कवि कथ्य के माध्यम से अपने अनजाने मे अपना चरित्र प्रस्तुत कर जाता है।

चरित्र अन्तर और बाह्य के परस्पर-सघर्ष से उत्पन्न और विकसित होता है। इच्छा की पूर्ति के, और बाह्य से सामजस्य की स्थापना के, द्विविध और द्वन्द्वात्मक किन्तु एकीभूत प्रयत्नो की प्रक्रिया मे, उस प्रक्रिया के दौरान मे, वह बनता और बढता है, निर्मित और विकसित होता है। सहस्रो वर्षों से चली आ रही वर्ग-विभाजित सभ्यता के अन्तर्गत, व्यक्ति-चरित्र अपने वर्ग के तत्त्वो को आत्मसात् करता है, बिलकुल बाल्यकाल से ही। ये वर्ग-तत्त्व है—जीवन-यापन-पद्धति और आदर्श दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य तथा भावो की वह परम्परा, जो समाज के भीतर अपने वर्ग मे उपस्थित मानव-सम्बन्धो तथा मानव-स्थिति के बारे मे होती है, तथा वर्गाभ्यन्तर मानव-स्थितियो और मानव-सम्बन्धो मे कुछ फेरफार होते ही, जो (भाव-परम्परा) बदलने लगती है।

भले ही इस तथ्य के प्रति हमारे समीक्षकगण नाक-भौं सिकोड़ें, कहें कि यह विदेशी विचारधारा है, पर यह नितान्त सत्य है कि हमारा चरित्र वर्ग-चरित्र होता है, और हमारा दृष्टिकोण हमारे वर्ग-क्षेत्र में चल रही विचारधाराओं और भाव-परम्पराओं द्वारा विकसित होता है। हम अपने वर्ग में ही रहकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति का, तथा बाह्य से सामंजस्य-स्थापना के विधान का, प्रयत्न करते हैं। अतएव, समाज के भीतर वर्ग की जो स्थिति होती है, उसके अनुसार हम समाज के इतर वर्गों के प्रति दृष्टि का विकास करते हैं। यदि मजदूर-वर्ग के

[illegible] ो है, तो दूसरों के लिए,

[illegible] ी है। उन्हें इस शब्द ही

[illegible] यन्त्र-सभ्यता, विज्ञान-प्रधान औद्योगिक सभ्यता कहेंगे। 'पूंजीवाद' शब्द के प्रयोग से न केवल उन्हें परहेज़ है, वरन् भय भी है, क्योंकि यह शब्द उनकी साहित्यिक अभिरुचि पर आघात करता है। इस मनोवृत्ति के पीछे वर्गीय हित काम कर रहे हैं, क्योंकि यदि पूंजीवाद शब्द के बारम्बार प्रयोग से, संलग्न और संयुक्त जो भावधाराएँ विद्रोह-पूर्ण होकर ग़रीब मध्यवर्ग और मज़दूर-वर्ग को आन्दोलित करती हैं, वे भावधाराएँ यदि साहित्य में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हुई हैं, तो उनके वर्ग हितों को आघात पहुँचने की सम्भावना बढ़ जायेगी। फलतः 'राष्ट्रीयता', 'भारतीय संस्कृति', 'जातीयता', 'मानवीयता', आदि शब्दों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे कि अन्यों की चेतना धुँधली हो उठे। यदि एक ओर मजदूर-वर्ग, ग़रीब शोषित जनता 'पूंजीवाद का नाश हो' का नारा लगाती है, तो दूसरी ओर हमारे प्रसादजी कहते हैं

> श्रमभाग वर्ग बन गया जिन्हें
> अपने बल का है गर्व उन्हें,
> नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें
> विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें।

स्पष्ट है कि उक्त पंक्तियों में प्रसादजी की उच्च-मध्यवर्गीय दृष्टि झलकती है। एक ओर समाज का सर्वोच्च वर्ग तो दूसरी ओर कामगार वर्ग। सर्वोच्च वर्ग आफ़त ढाता है, तो मज़दूर-वर्ग भी तो संगठित होकर घमण्डी हो गया है! दोनों ग़लत हैं। सही कौन-सा है? वह वर्ग सही है जो दोनों को यह बताता है कि तुम अपनी-अपनी मर्यादा के घेरे को मत तोड़ो। संक्षेप में, वह मध्यवर्ग है—ऐसा मध्यवर्ग जो पूंजीवादी समाज-रचना को, उनके भीतर की वर्ग-व्यवस्था को, अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। प्रसादजी का मर्यादावाद वर्ग-विभाजित समाज

[illegible]

परिलक्षित होती है, वह लेखक के वर्ग-चरित्र से उत्पन्न और विकसित है। अभिभूत करनेवाले उस काव्य-सौन्दर्य में भावनाओं का जो उद्भास है, उन भावनाओं के भीतर एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि के, जीवन-मूल्यों के, और विचारों

के चमकीले कण हैं। माना कि प्रसादजी का स्वय का संवेदनात्मक उद्देश्य (जो **कामायनी** मे प्रकट होता है) कलाकृति द्वारा अपने वर्ग चरित्र को प्रकट करना नहीं है माना कि प्रसादजी का कथ्य भिन्न है किन्तु उस कथ्य के माध्यम से उनका स्वय का जो वर्ग चरित्र प्रोदभासित हो उठा है उसकी उपेक्षा करके हम उस कथ्य के मर्म को भी नहीं पहचान सकते। चूंकि प्रसादजी ने व्यक्ति स्त्री पुरुष समाज सभ्यता आदि के सम्बन्ध में (**कामायनी** में) समस्याएँ और उन सबका अपने ढंग से निदान प्रस्तुत किया है जीवन समस्याएं उपस्थित की हैं और उनका निराकरण प्रस्तुत किया है इसलिए उपर्युक्त बात को ध्यान में रख केवल काव्य सौंदर्य से अभिभूत होकर वायवीय दार्शनिक बात करना और सौन्दर्य विवेचन करना न केवल अपर्याप्त है वरन् पथ भ्रामक भी। चूंकि हिंदी साहित्य मे **कामायनी** का सौंदर्य विवेचन बहुत कुछ हो चुका है इसलिए मैंने वह काम हाथ में नहीं लिया।

आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्गों के हाथ में है—जिनमे उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे अनिवार्यत। यह बदल सकती है। और जब बदलेगी तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फाख्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वर्ग के हाथ में होता है वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परम्परा बन जाती है। यह परम्परा भी इतनी पुष्ट इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व दृष्टि समन्वित होता है कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहा तक कि जब अनेक सामाजिक राजनैतिक कारणो से निम्न जन श्रेणिया उदबुद्ध होकर सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती हैं तब वे उन पुराने चले आ रहे *भाव प्रभावो विचारधाराओ और जीवन दृष्टियों को इस प्रकार सम्पादित और* सशोधित कर लेती हैं कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दो मे समाज रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में वे निम्न जन-श्रेणियाँ अपनी सामाजिक राजनैतिक विकासावस्था के अनुरूप पुरानी विचारधाराओ तथा भावधाराओ ही का सम्पादन-सशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आशिक विस्तार कर लेती है। किन्तु अन्तत संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओ से हारना ही पडता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आने वाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न जन-श्रेणियो का वह विद्रोह था जिसने धार्मिक सामाजिक धरातल पर स्वय को प्रस्थापित किया। आगे चलकर निर्गुण *वाद के अनन्तर सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई तब संस्कृति के* क्षेत्र में निम्न जातियों को निम्न-जन-श्रेणियो को पीछे हटना पडा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वय संस्कृति का नेतृत्व करेंगी और वर्तमान नेतृत्व अधःपतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीडक हैं या उनके साथ हैं हम नहीं क्योंकि हम पद दलित हैं और अविनाश्य हैं—हम चाहे जहा उग आते हैं। गरीब उत्पीडित शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।

# परिशिष्ट

[मूल पुस्तक के अलावा, 'कामायनी : एक पुनर्विचार' से सम्बन्धित कुछ और सामग्री भी पाण्डुलिपियों में मिली जो तीन परिशिष्टों के रूप में दी जा रही है। 'अनुक्रमणिका' (परिशिष्ट-1) प्रारम्भिक ग्यारह अध्यायों का सार-संक्षेप जैसा है, पर प्रकाशित प्रारूप के अन्तिम तीन अध्यायों (अध्याय 12-13 तथा 'अन्तत') का उल्लेख नहीं है। यह मूल पुस्तक के विभिन्न प्रारूपों से अलग ही मिली। 'कामायनी : कुछ नये विचार' (परिशिष्ट-2) लेख 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने शायद पहले इसे ही पुस्तक के प्रारम्भ में 'प्रथमत' शीर्षक से देना चाहा था पर फिर 'प्रथमत' वाला अध्याय दूसरे ही रूप में लिखकर पुस्तक में जोड़ा। 'कामायनी' (परिशिष्ट-3) पहले 'आलोचना' (अक्टूबर 1952) में और फिर किसी समीक्षा-संकलन मे प्रकाशित हुआ। इसमें प्रकाशित पुस्तक के 10-11वें अध्याय के कुछ अंश ज्यों-के-त्यों तथा कुछ संशोधित-सम्पादित रूप में मौजूद हैं। इस लेख में लेखक ने अपनी कुछ मुख्य स्थापनाओं को सार रूप में प्रस्तुत किया है।—सं.]

## 1. अनुक्रमणिका

**प्रथमत**

जीवन की त्रिकोणात्मकता। अन्तर्पक्ष तथा बाह्य पक्ष के परस्पर-सम्बन्धों का स्वरूप। कलाकृति की मात्र मनोवैज्ञानिक व्याख्या न केवल अपूर्ण वरन् असगत भी। कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचित है। रोमैण्टिक शिल्प और फैण्टेसी। कला के अन्तस् म अमूर्त्तीकरण और सामान्यीकरण का विधान। कला की प्रातिनिधिकता का स्वरूप। यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि मे भेद। फैण्टेसी की सुविधा और असुविधा। फैण्टेसी के फ्रेम और उसके रग की परस्पर-भिन्नता। फैण्टेसी के अन्तगत कथातत्त्व, चरित्र विधान प्रतीकात्मकता और आवेग। कामायनी की कथा फैण्टेसी है। प्रसादजी और कामायनी। प्रसादजी के पास वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि का अभाव। कामायनी की समस्या प्रसादजी की आभ्यन्तर ग्रन्थि है—प्रसाद-व्यक्तित्व की अपनी समस्या है।

के चमकीले कण हैं। माना कि प्रसादजी का स्वय का संवेदनात्मक उद्देश्य (जो **कामायनी** मे प्रकट होता है) कलाकृति द्वारा अपने वग चरित्र को प्रकट करना नही है माना कि प्रसादजी का कथ्य भिन्न है किन्तु उस कथ्य के माध्यम से उनका स्वय का जो वग चरित्र प्रोदभासित हो उठा है उसकी उपेक्षा करके हम उस कथ्य के मम को भी नही पहचान सकते। चूकि प्रसादजी ने व्यक्ति स्त्री पुरुष समाज सभ्यता आदि के सम्बन्ध म (**कामायनी** म) समस्याएँ और उन सबका अपने ढग स निदान प्रस्तुत किया है जीवन समस्याएँ उपस्थित की हैं और उनका निराकरण प्रस्तुत किया है इसलिए उपयुक्त बात को ध्यान म रख केवल काव्य सौन्दय स अभिभूत होकर वायवीय दार्शनिक बात करना और सौन्दय विवेचन करना न केवल अपर्याप्त है वरन पथ भ्रामक भी। चूकि हिन्दी साहित्य मे **कामायनी** का सौन्दय विवेचन बहुत कुछ हो चुका है इसलिए मैने वह काय हाथ म नहीं लिया।

आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्गों क हाथ म है— जिनम उच्च मध्यवग भी शामिल है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि यह परिस्थिति स्थायी रह अनिवायत। यह बदल सकती है। और जब बदलेगी तब इतनी तजी स बदलेगी कि होश फाख्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वग क हाथ म होता है वह समाज और संस्कृति के क्षत्र म अपनी भावधारा और अपनी जीवन दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परम्परा बन जाती है। यह परम्परा भी इतनी पुष्ट इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व दृष्टि समन्वित होती है कि समाज का प्रत्येक वग आच्छन्न हो जाता है। यहा तक कि जब अनक सामाजिक राजनतिक कारणो से निम्न जन-श्रेणिया उदबुद्ध होकर सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती हैं तब वे उन पुराने चल आ रहे भाव प्रभावो विचारधाराओ और जीवन दृष्टियो को इस प्रकार सम्पादित और सशोधित कर लेती हैं कि जिसस वे अपने अज्ञान की परिधि म ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दो म समाज रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव म वे निम्न जन-श्रेणियाँ अपनी सामाजिक राजनतिक विकासावस्था के अनुरूप पुरानी विचारधाराओ तथा भावधाराओ ही का सम्पादन सशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आशिक विस्तार कर लेती हैं। किन्तु अन्तत संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओ से हारना ही पडता है। मेरा मतलब कबीर जैस निगुणवादी सन्तो की श्रेणी से और उस श्रेणी म आनेवाले लोगो स है। समाज के भीतर निम्न जन श्रेणियो का वह विद्रोह था जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वय को प्रस्थापित किया। आगे चलकर निगुणवाद के अनन्तर सगुण भक्ति और पौराणिक धम की विजय हुई तब संस्कृति के क्षत्र म निम्न जातियो को निम्न-जन-श्रेणियो को पीछे हटना पडा। यह आवश्यक नही कि आगे चलकर ये निम्न-जन श्रेणियाँ चुपचाप बठी रहे। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वय संस्कृति का नेतृत्व करेंगी और वतमान नेतृत्व अध पतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात स वे डरें जो समाज के उत्पीडक हैं या उनके साथ हैं हम नही क्योकि हम पद दलित हैं और अविनाश्य हैं—हम चाहे जहा उग आते है। गरीब उत्पीडित शोषित मध्यवग को ध्यान म रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।

# परिशिष्ट

[मूल पुस्तक के अलावा, 'कामायनी : एक पुनर्विचार' से सम्बन्धित कुछ और सामग्री भी पाण्डुलिपियों में मिली जो तीन परिशिष्टों के रूप में दी जा रही है। 'अनुक्रमणिका' (परिशिष्ट-1) प्रारम्भिक ग्यारह अध्यायों का सार-संक्षेप जैसा है, पर प्रकाशित प्रारूप के अन्तिम तीन अध्यायों (अध्याय 12-13 तथा 'अन्तत') का उल्लेख नहीं है। यह मूल पुस्तक के विभिन्न प्रारूपों से अलग ही मिली। 'कामायनी : कुछ नये विचार' (परिशिष्ट-2) लेख 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने शायद पहले इसे ही पुस्तक के प्रारंभ मे 'प्रथमत' शीर्षक से देना चाहा था पर फिर 'प्रथमत' वाला अध्याय दूसरे ही रूप में लिखकर पुस्तक मे जोड़ा। 'कामायनी' (परिशिष्ट-3) पहले 'आलोचना' (अक्टूबर 1952) में और फिर किसी समीक्षा-संकलन में प्रकाशित हुआ। इसमे प्रकाशित पुस्तक के 10-11वें अध्याय के कुछ अंश ज्यों-के-त्यों तथा कुछ संशोधित-सम्पादित रूप में मौजूद हैं। इस लेख में लेखक ने अपनी कुछ मुख्य स्थापनाओं को सार रूप में प्रस्तुत किया है।—सं.]

## 1. अनुक्रमणिका

**प्रथमत**

जीवन की त्रिकोणात्मकता। अन्तर्पक्ष तथा बाह्य पक्ष के परस्पर-सम्बन्धों का स्वरूप। कलाकृति की मात्र मनोवैज्ञानिक व्याख्या न केवल अपूर्ण वरन् असंगत भी। कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचित है। रोमैण्टिक शिल्प और फैण्टेसी। कला के अन्तस् में अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण का विधान। कला की प्रातिनिधिकता का स्वरूप। यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि में भेद। फैण्टेसी की सुविधा और असुविधा। फ़ैण्टसी के फ्रेम और उसके रंग की परस्पर-भिन्नता। फैण्टेसी के अन्तर्गत कथातत्त्व, चरित्र-विधान प्रतीकात्मकता और आवेग। कामायनी की कथा फैण्टेसी है। प्रसादजी और कामायनी। प्रसादजी के पास वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि का अभाव। कामायनी की समस्या प्रसादजी की आभ्यन्तर ग्रन्थि है—प्रसाद-व्यक्तित्व की अपनी समस्या है।

### प्रथम अध्याय

जीवन-समीक्षात्मक कला और कलाकार का निर्णय। **कामायनी** सम्बन्धी समस्या और प्रश्न। साहित्य की परीक्षा तीन दृष्टियों से होनी चाहिए।

### द्वितीय अध्याय

पात्रों के प्रतीकत्व के औचित्य का प्रश्न। पात्र चरित्र ही पात्र-प्रतीकत्व कसौटी। मनु की एक झलक। शिव-अशिव का द्वन्द्व तथा नन्ददुलारे वाजपेयी। म के व्यक्तित्व की सामाजिक भूमि। अद्वैतवाद और सामाजिक संघर्ष। मनु का कम क्षेत्र से पलायन। मनु-समस्या का क्षेत्र और उस समस्या के निराकरण का क्षेत्र– ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। रोग लौकिक, निदान अलौकिक। शैवागमो प्रसादजी ने विराट कल्पनाएँ लीं। दुर्बल चरित्र और मानवतावाद। चरित्र क वायवीय रूपान्तर वास्तविक मानव रूपान्तर के प्रति अश्रद्धा प्रकट करता है मानवतावादी साहित्य और **कामायनी**।

### तृतीय अध्याय

मनु का चरित्र उसके सामाजिक सन्दर्भ और गर्भितार्थ, निराशात्मक स्थिति औ आत्ममोह। अहंकार और स्नेह सामर्थ्य का अभाव। मानव-आस्था के अभाव स यथार्थग्राही वस्तुपरक दृष्टिकोण का नाश होता है। मनु की आत्म स्वीकृतिय और आत्म विश्लेषण। मनु स्मृति का स्वरूप। मनु के आत्म-मोह के प्रति प्रसाद का मोह। मनु प्रसादजी के व्यक्तित्व की निभृत अन्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि-चरित्र है। मनु-समस्या प्रसाद-समस्या है। इस व्यक्तित्व-समस्या से उद्गत चिन्तन प्रसाद का जीवन दर्शन है। मनु का आत्म विश्लेषण प्रसाद का आत्मोद्घाटन है। **कामायनी** मुख्यत आत्मपरक काव्य है। आन्तरिक सन्तुलन का प्रश्न जितना वैयक्तिक है उतना ही सामाजिक। मनु की आत्म-परिणति और कथा विकास मे बाधा तथा कला की हानि। **आँसू** और **कामायनी** का प्रथम सर्ग। **कामायनी** मे वर्णित देव-सभ्यता विनष्ट सामन्ती सभ्यता का प्रतीक है। सामन्ती शृगार-भावना और व्यक्तित्व समस्या।

### चौथा अध्याय

**कामायनी** मे फैण्टेसी और उसका कार्य। देव-सभ्यता की स्मृति जो मनु के मन मे थी। देव-सभ्यता का स्वरूप। देव सभ्यता—विलास-वासना स्थिति की एक लोलुप फैण्टेसी। प्रसाद की देव-सभ्यता मध्ययुगीन सामन्त-सभ्यता का प्रतीक—ऐसी सामन्त-सभ्यता जो कभी लौटकर नहीं आनेवाली है। सामन्ती ध्वसावशेष और नया व्यक्तिवाद। अद्वैतवाद का कार्य। उत्तर के मध्य-वर्ग की स्थिति और 'भारतीय संस्कृति'। मध्यवर्गीय 'भारतीय संस्कृति' और नारी। छायावाद मे वास्तविक प्रणय भावना की क्षीणता।

**पांचवां अध्याय**

देव-सभ्यता और प्रलय। प्रलय का प्रतीकत्व। नवीन व्यक्तिवादी रोमैण्टिक उन्मेष। छायावादी व्यक्तिवाद की सीमाएँ। मनु की समस्या और श्रद्धा का प्रारम्भिक रूप।

**छठा अध्याय**

काम का सामान्यीकरण। स्पृहा और स्पर्धा। व्यक्तिवादी मानवतावाद की रिक्तता। व्यक्तित्व-संगठन और मानव-भविष्य का प्रश्न।

**सातवां अध्याय**

मनु के व्यक्तिवाद का स्वरूप और आत्म-आदर्शीकरण। पूंजीवाद और व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद का जन-विरोधी राजनैतिक पक्ष। प्रसादजी के सम्मुख राजनैतिक दृश्यावलि। मनु की आत्म-परिणति का स्वरूप। सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र के दुष्कृत्यों पर मनु के हृदय में पश्चात्ताप का अभाव तथा उन मनुकृत दुष्कृत्यों की उपेक्षा।

**आठवां अध्याय**

मानवता की विजय की घोषणा करनेवाली श्रद्धा और राष्ट्रवाद। श्रद्धा का प्रारम्भिक चरित्र। व्यक्तिवाद का पूंजीवादी शोषक शासक वर्ग से सम्बन्ध और मनु। प्रसाद की वर्गातीत दृष्टि और जनता। सामरस्य और द्वन्द्व तथा प्रसादजी का उदार मतवाद। प्रसादजी की विश्व-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधि चरित्र श्रद्धा। श्रद्धा के उद्गार और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-तथ्य। मनुकृत नव-मानवता-सम्बन्धी प्रश्न जो श्रद्धा ने उपस्थित किये। इन प्रश्नों के पीछे आधुनिक जीवन-तथ्यों की झलक। सप्रश्न श्रद्धा। वास्तविक जीवन-तथ्यों को ओझल रखकर मात्र मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा प्रक्रियाओं का चित्रण करना छायावाद की विशेषता है। प्रसादजी के सम्मुख अपने समय का साक्षात् जीवन था। छायावादी शिल्प और जीवन-तथ्य। श्रद्धा के जीवन के प्रति प्रसाद का मोह। प्रसाद की आदर्श जीवन-कल्पना। वनोन्मुखता और आदर्शवादी उकताहट। सामरस्य का स्वरूप। वास्तविक प्रश्नों को वास्तविकता के धरातल पर हल नहीं किया जाता। श्रद्धा के चरित्र में इच्छा, ज्ञान, क्रिया के सामंजस्य का अभाव। श्रद्धा द्वारा मनुकृत सार्वजनिक क्षेत्र के अपराधों की उपेक्षा। बलि-पशु की हत्या पर रोनेवाली साध्वी स्त्री श्रद्धा, जो मानवतावादी है, व्यापक जन-हत्या के अपराध को आँखों से ओझल करती है। मृतक और आहत जनों के प्रति श्रद्धा की कोई सहानुभूति नहीं।

**नवां अध्याय**

श्रद्धावाद और सामन्ती छायाएँ तथा औपनिवेशिक पिष्टपेषण। यूरोप में बुद्धि-

वाद। प्रसाद की सभ्यता समीक्षा। रवीन्द्र की समरसता का सिद्धान्त। जनता के प्रति प्रसादजी का प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण।

### दसवाँ अध्याय

प्रसाद-कृत सभ्यता-समीक्षा की विशेषताएँ। परस्पर स्पर्धा तथा योग्यतम की विजय का सिद्धान्त व उसके गर्भितार्थ। इडा बुद्धिवाद का प्रतीक नहीं। पूँजीवादी विचारधारा का एक चरित्रात्मक सामान्यीकरण। इडा का रहस्यवाद। इडा का जन-विरोधी रूप। इडा-मनु-श्रद्धा की परस्पर-प्रतीकात्मक स्थिति।

### ग्यारहवाँ अध्याय

प्रसाद-युग की सामाजिक-राजनैतिक पार्श्वभूमि और लेखक का व्यक्तित्व।

## 2 कामायनी : कुछ नये विचार

**कामायनी** के साहित्यिक सौन्दर्य के बारे में दो मत नहीं हो सकते। आधुनिक भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण प्रयासों में से वह एक है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के चार महान् कवि—पन्त, प्रसाद, निराला तथा महादेवी—इनमें से एक के सिवाय किसी ने **कामायनी**-जैसा विशाल उद्योग नहीं किया। यही प्रसाद की विशेषता है, जिससे उनके व्यापक क्षेत्र का बोध होता है। नाटक, कहानी, उपन्यास, काव्य और निबन्ध, इन सबमें उन्होंने कार्य किया है। अतएव उनका दृष्टिकोण समझना साहित्यिक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। किन्तु एक लेख में **कामायनी** की सर्वांगीण आलोचना नहीं हो सकती। उसके कथानक की भव्यता, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सूक्ष्मता तथा काव्यात्मकता, चित्र-फलक का विस्तार आदि बातों पर प्रकाश डालना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। प्रसादजी की **कामायनी** की जितनी आलोचनाएँ हुई हैं, वे श्रद्धापूर्ण हैं। वे उनके मनोवैज्ञानिक दर्शन-आलोचना तथा रहस्य-दर्शन तक ही सीमित है, परन्तु उनका सामाजिक आधार खोजने का प्रयत्न नहीं किया गया है। प्रसाद-जैसे श्रेष्ठ कवि की आलोचनाओं की अपूर्णता आलोचकों के प्रति एक अभियोग है।

हम इस लेख में यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार **कामायनी** की समस्या—मनु-एक आधुनिक समस्या है, वह सनातन से चली आ रही किसी मानवता की प्रधान समस्या नहीं। रामायण काल में या तुलसीकृत रामायण काल में, **कामायनी** की समस्या नहीं थी। न वह रीतिकाल में थी, न अतिप्राचीन वैदिक समाज में थी। वह आधुनिक काल की—भारतीय पूँजीवादी समाज के व्यक्तिवाद की —प्रधान समस्या है। इस समस्या को कविकालीन सामाजिक सम्बन्धों से अलग कर, उसे एक दूसरे प्राचीन वैदिक या प्राक्-वैदिक परिस्थिति तथा वाता-

वरण मे रखकर प्रसाद ने कोई ऐतिहासिक अन्वेषण नही किया है, वरन् उस वातावरण के रग मे रँगकर कथावस्तु को गौण तथा समस्या को प्रधान बना दिया है। इस कार्य मे कवि सफल है। यह कवि के कल्पना-स्वप्न की सफलता है। परन्तु उससे समस्या का आधुनिकत्व नष्ट नही होता, वरन् वह केवल व्यक्तिवादी धरातल पर कल्पनादर्श के माध्यम द्वारा किया गया प्रयोग-मात्र है।

आलोचना के इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण यह न समझ लिया जाय कि मैं **कामायनी** के साहित्यिक महत्त्व को कम करने का प्रयत्न करना चाहता हूँ। इसके विपरीत, मैं यहाँ केवल सामाजिक आधार भूमि पर मनु को खडा करके यह निर्देशित करने का इच्छुक हूँ कि प्रसाद ने हमे क्या दिया है, क्या नही, कहाँ तक एक समस्या को खडा करके वे उसका उचित निदान देने मे सफल हुए हैं।

आवश्यक है, हम **कामायनी** को इस सामाजिक आधार के पहलू से भी देखें और यह जानने का प्रयास करें कि कवि ने कहाँ तक सामाजिक आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व किया है। इस दृष्टि से अन्वेषण-विश्लेषण की आवश्यकता को आदर्शवादी आलोचक भले ही यह कहते हुए अस्वीकृत कर दें कि प्रसाद से इस प्रकार की अपेक्षा करना असगत है। परन्तु स्वय प्रसाद ने शिव तथा लोक-मगल की कामना-आराधना को अगीकार किया है। दूसरे, **कामायनी** भी अपने समाज से अगागी (ऑरगेनिक) सम्बन्ध मे बद्ध है। अत यह देखना अपरिहार्य है कि कवि उस समाज का (अपने-आप ही सही) किस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है।

आइये, पहले हम **कामायनी** की समस्या क्या है, इसे देख लें। इसके लिए पहले कथा-सूत्र को पकड़ें। यह बात आवश्यक है कि काल्पनिक वातावरण के जाल से हम मनु को मुक्त करें, तथा उसके चरित्र को देखें। साराश मे वह यह है।

मनु अकेला है। क्या करें, कुछ नही सूझता। हृदय मे अवसाद है। कुछ नियम बनाकर कार्य करता है, कुछ भी। पर जी नही लगता। लगता है कि वह जडीभूत है।

श्रद्धा आती है। जीवन अधिक पूर्ण मालूम होता है। काम, वासना तथा लज्जा के दिन हैं।

पर कर्म-क्षेत्र भी तो है। श्रद्धा घर मे बैठकर सूत कातती है, उसका सन्तोषमय विश्वास जीवन है। जल्दी ही वह माता हो जाती है। मनु के कर्म-क्षेत्र मे उसका कोई सहयोग नही। मनु के कर्म-जीवन की आकाक्षाओ से उसका सम्बन्ध नही-सा है। अतएव मनु का कर्म जीवन एकागी है। उसके ऊपर श्रद्धा का कोई शासन नही। श्रद्धा घरगिरस्तीवाली सहिष्णु स्त्री है। मनु नये नये क्षेत्रो पर अधिकार चाहता है, उसके सम्मुख विजय के नये-नये मैदान हैं। वह अपने जीवन को सीमित नही रखना चाहता।

मनु श्रद्धा को छोड देता है। पर इसका विषाद उसके मन मे है। उन क्षणो मे वह आत्म विश्लेपण करने लगता है, और पाता है कि वह मात्र अहवादी है। एक इडा दिखायी देती है। प्रतिभा, निर्माण की लालसा, तथा तर्क की तीक्ष्णता लिये हुए वह नारी मनु को मोह लेती है।

इडा मनु के कर्म-क्षेत्र की सहकारिणी है। मनु कर्म क्षेत्र का पुरुष है, इडा भी। दोनो के सहयोग से सारस्वत नगर उत्पन्न होता है।

इडा मनु की पुत्री के समान है। अपनी सहकारिणी पर वह अधिकार द्वारा

कुछ कमजोर क्षणो मे पशु हो उठता है।

मनु हार जाता है। फिर उसे श्रद्धा मिल जाती है। श्रद्धा मे मनु का सम्बन्ध क्यो टूटता है? इसका कारण है दोनो के जीवन समानान्तर जा रहे थे। क्यो? उसका व्यक्तित्व एक स्थिर व्यक्तित्व है, भले ही वह [उच्च] कोटि का क्यो न हो। वह पहले ही से आदर्श नारी है, नारी की भारतीय भाषा के अनुसार। मनु पर उसका प्रभाव होते हुए भी उसके गतिमान व्यक्तित्व के लिए कोई गतिमान आदर्श वह रख नही पाती। वह स्वय विकासमान नही है। अत उसका स्थिर आदर्श मनु के व्यक्तित्व की आन्तरिक गतिमान शक्तियो का महत्त्व उचित रूप से आँक नही सकता। श्रद्धा-जैसी नारी के लिए वह है भी असम्भव। वह किसी महान निर्माण के लिए आवश्यक प्रेरणा नही बन सकती, न महत्कार्य कर सकती है। वह पहले जिस महान् सन्देश को लेकर उठी थी, उसकी प्रेरणा भी बाद मे उसके पास न रही। वह मात्र एक गृहिणी बन गयी। इसलिए इन दोनो मे कोई भी कारण सघर्ष के लिए काफी था।

इडा का व्यक्तित्व श्रद्धा से भिन्न है। वह प्रतिभाशाली, तेजस्वी, निर्माण-सकल्प से पूर्ण व्यक्तित्व है। मनु को सहज ही मे वह भा गयी। सहकारिणी वह थी, नियमनशीला वह। मनु के सामने जो विजय-लालसा थी, निर्माण की आकाक्षा थी, वह उसी के सहयोग के कारण पूरी हुई।

यह एक ब[illegible]।
इसीलिए सघर्ष [illegible]

मान लीजि[illegible]न, तरुण। श्रद्धा और इडा के स्थान पर कोई दूसरे आधुनिक नाम रख लीजिये। मुख्य बातो को रख करके, तथा इन नामो को वही चरित्र प्रदान करके, कहानी बढाइये। मालूम होगा कि कहानी सर्वथा आधुनिक है। तथा ऐसे चरित्र सुप्राप्य हैं। घटनाएँ (मुख्य) सुप्राप्य हैं। तथा मनु की ट्रैजेडी बहुत जगह मिल जायगी।

साथ ही, श्रद्धा के समान शील-सन्तोषमयी गृहिणी से असन्तोष, नूतन गतिमान निर्माणशीला व्यक्तित्व की नारी से साहचर्य की भावना, वर्तमान समाज के शिक्षित कर्मशील युवको मे बहुत मिल जायगी। श्रद्धा और इडा के चरित्र की यह मौलिक विभिन्नता तथा एक का अप्रियत्व और दूसरे की प्रियता, क्या वर्तमान समाज मे नही मिलेगी? मनु का अहभाव, आत्म-मोह, आत्म-विश्लेपणमयी प्रवृत्ति, तथा बन्धनहीन विचरण का भाव, एक साथ एक मे नही मिलेगा? मेरा थोडा-सा अनुभव मुझे कहता है कि एक नही ऐसे सहस्र-सहस्र व्यक्तित्व मिलेंगे।

मनु की समस्या, तथा श्रद्धा और इडा-जैसी स्त्रियो का व्यक्तित्व, इन दोनों की विभिन्न जीवन-भूमि ही कामायनी की समस्या को आधुनिक बना देती है।

परन्तु श्रद्धा और इडा अपने-आपमे समस्या नही, मनु के नाते महत्त्वपूर्ण हैं तथा उसकी समस्या हैं। सामाजिक अर्थ मे देखा जाय तो वह वर्तमान पूंजीवादी मध्यवर्ग की समस्या है। व्यक्तित्व के प्रस्फुटन की शक्तियो के आन्तरिक तथा बाह्य सामजस्य की समस्या है। हम प्रथमत बाह्य सामजस्य के प्रश्न से आरम्भ करेंगे।

श्रद्धा भले ही 'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त/विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय/ समन्वय उनका करे समस्त / विजयिनी मानवता हो जाय।' वाला सन्देश लेकर

आयी हो, परन्तु अन्तत वह सन्तोषमयी-शीलमयी, घर के अन्दर सीमित जीवन की उद्गात्री, गृहिणी ही हो जाती है। वर्तमान परिवर्तनकारी शक्तियो से प्रभावित आधुनिक समाज मे, प्राचीन परिपाटियो तथा विचारधाराओ के ध्वसावशेष अब भी बलवान हैं। सामन्तकालीन असमाजोपयोगी विचारादर्श तथा मनोवृत्तियाँ अब भी शक्तिमान है। वस्तुत आज भी मध्यवर्गीय परिवार सामन्तकालीन विचारादर्शों से ग्रस्त हैं।

आजके परिवर्तनशील समाज मे एक जागरूक व्यक्ति को प्रथमत अपने परिवार के सामन्तकालीन विचारो के पत्थरो मे, उसके बाद घर के बाहरके अधिक पूँजीवादी मूल्यो से, और अन्तत अपने मध्यवर्गीय सस्कारो से, जूझना नही पडता ? परिवार के अन्दर सामन्तकालीन विचारो की छाया, बाहर पूँजीवादी सामाजिक मूल्यो का यन्त्र, तथा अपन अन्दर मध्यवर्गीय सस्कारो के भूत—क्या इन तीनो मोर्चो पर उसे युद्ध नही करना चाहिए ! इन तीनो मे स किसी एक से तो करना ही पडता है।

श्रद्धा उसी सामन्तकालीन विचार मनोवृत्तियो का मात्र आधुनिक सस्करण है। इसका गृहिणीत्व अपने-आपम अनुचित, असगत या दोषपूर्ण न होत हुए भी, उन विशेषताओ को लिये हुए है जिन्हे हम स्थिर या जड कह सकत है।

अर्थात्, समाज तथा व्यक्ति के सामाजिक धर्म स प्रगतिमान पथ पर वह एक बाधा ही हो सकती है, क्योकि, अन्तत , स्त्री और पुरुष का प्रेम किसी वायवीय आध्यात्मिक धरातल पर नही, वरन् जीवन की समस्याओं के आधार पर मूर्त्त सहयोग है। परस्पर के जीवन के प्रत्येक भाग मे पूर्ण सहयोग तथा मित्रता ही प्रेम है, क्योकि उसमे सच्चा सहचरत्व है, मैत्री है।

परन्तु हमारे समाज मे, श्रमविभागीकरण मे निर्वैयक्तिक विनिमय सम्बन्धो के कारण, व्यक्तिगत मूर्त्त सहयोग का अभाव है। स्त्री के ज़िम्मे घर है, पुरुष के ज़िम्मे बाहर। घरे-बाहिरे की समस्या पैदा हो जाती है। अतएव स्त्री-पुरुष का वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-पूँजीवादी समाज मे यदि सहयोग हो जाता है, तो वह निर्माणशील सृजनशील शक्तियो को नष्ट करके ही।

अत श्रद्धा के विचारादर्श का विश्व तथा मनु का विश्व एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। मनु को विजय के नये क्षेत्र चाहिए, नये सघर्ष के मैदान चाहिए, नयी उन्नति, तथा प्रसार चाहिए पर श्रद्धा अपने घर मे ही खश है। यदि श्रद्धा का मनु पर सघन प्रभाव न होता, तो मनु को उसे त्यागना न पडता। वह सहचरी की भाँति उसके सामने चली चलती।

यह ध्यान मे रखने की बात है कि **कामायनी** के पात्र अधिक प्रतीकात्मक है। परन्तु वे किसी मूर्त्त यथार्थ के प्रतीक हैं, और वह मूर्त्त यथार्थ वर्तमान समाज की सर्वसामान्य मध्यवर्गीय वास्तविकता है। श्रद्धा किसी सिद्धान्त या आदर्श की प्रतीक नही है। परन्तु वह उस विचारादर्शवाद स प्रेरित है, उसकी एक आदर्शवादी मनोवृत्ति है। इस विशेष नमूने की आदर्शवादी प्रवृत्ति तथा तदनुरूप मनोरचना का जितना भी आभास कवि ने दिया है, वह है एक प्रतीक मूर्त्त वास्तविक यथार्थ का। यही इडा के बारे मे भी सही है। उसके बुद्धिवाद के पीछे उसकी निर्माणशील सक्रिय सशक्त भूमिका है। यह है उसका [गुप्त] व्यक्तित्व। बुद्धिवाद इडा की मनोरचना का गुण है। प्रसादजी ने अस्पष्ट और अपूर्ण चित्र इसलिए नही दिये कि

वे इडा को बुद्धिवाद का प्रतीक बनाना चाहते थे। वे अस्पष्ट इसलिए हैं कि कवि छायावादी प्रतीकात्मकता का प्रयोग कर रहा है। इडा प्रतीक है एक विशेष यथार्थ की। भूमिका में प्रसाद ने श्रद्धा से श्रद्धावाद तथा इडा से बुद्धिवाद का जो अर्थ निकाला है, वह अपूर्ण है, उसमें अर्द्ध-सत्य है।

श्रद्धादर्शमय व्यक्ति से श्रद्धावाद की गूँज निकलेगी ही, तथा बुद्धिवादी व्यक्ति से उस प्रकार के कार्य विचार प्रवाहित होंगे ही, क्योंकि उन दोनों के पीछे विशेष विशेष मनोवृत्तियाँ हैं। संक्षेप में, श्रद्धा किसी वाद का प्रतीक नहीं, न इडा किसी दूसरे का प्रतीक। वे दो विचार वृत्तियाँ मूर्त्त गुण हैं, दो प्रकार (टाइप) के व्यक्तियों के। वे प्रतीक हैं तो सामाजिक यथार्थ के ही।

साराश में, मनु के श्रद्धा के प्रति असन्तोष का कारण मात्र उसकी शारीरिक भोग-लालसा ही नहीं, वरन् जिस विशेष प्रकार का जीवन श्रद्धा का आदर्श है, उससे मनु के सामजस्य का न होना ही है। यही उसके असन्तोष का प्रधान कारण है। अर्ध-सामन्ती छायालोक में विचरण करनेवाली शीलवती श्रद्धा के स्थैर्य तथा अत्यन्त सीमित जीवन की आत्म तृप्ति मनु के मन पर भारवत् है और उसके गतिशील व्यक्तित्व, कर्म-प्रधान गतिमान आकाक्षाओं को नष्ट कर ही वह श्रद्धा के जीवनादर्श से अपने को जोड सकता था। मनु का श्रद्धा से असन्तोष स्वाभाविक औचित्यपूर्ण तथा न्याय्य है। यही कारण है कि इडा जैसी सहचरी को प्राप्त कर, तथा उससे स्फूर्ति ग्रहण कर, वह सारस्वत नगर बसा सका, उसकी आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति कर सका। मनु के व्यक्तिवाद का निस्सन्देह यह प्रगतिशील रूप है।

परन्तु यह व्यक्तिवाद जन्म से ही कमजोर है। प्रारम्भ में ही वह एक 'उल्का-सा' 'भ्रान्त' जलता था। श्रद्धा के लक्ष्य तथा स्नेह का उपभोग कर वह कुछ पुष्ट हुआ। परन्तु उसका यह 'पोषण' एकागी था, मात्र सौन्दर्य-सवेदनाओ के बल पर टिका था। मनु की आत्म-चेतना अब रिक्तता छोडकर जीवन के ऊर्ध्वगामी मूर्त तत्त्व ग्रहण तो कर चुकी थी, परन्तु उसमे उचित आदर्शवाद न था। वह मात्र-आत्म-भोग और अन्त में आत्म प्रवचना बनकर रह गयी थी। इस आत्म प्रवचना से मनु चेतन हो उठा था। इसीलिए, श्रद्धा का त्याग करने पर वह निविड रूप से अन्तर्मुख होकर अपने को कोसने तथा आत्म विश्लेषण करने लगा। परन्तु वह आत्म-विश्लेषण भी एकागी हो उठा, क्योंकि मनु अपने और श्रद्धा के बीच उत्पन्न हुई खाई—उस पारस्परिक विषमता—के मूल कारणों को पहचान न सका। श्रद्धा के व्यक्तित्व के साथ सहज सामजस्य के अभाव के कारण को वह जान न सका। क्योंकि उसे प्रसाद स्वय नहीं जानते थे। विषमता पहचानते थे, विषमता की मूल शक्तियों को, जो उसे उत्पन्न करती थीं, नहीं पहचानते थे, इसीलिए उत्पन्न विषमता का विश्लेषण उन्होंने मात्र मनोवैज्ञानिक-आदर्शवादी ढग से किया है। उसे अहवाद कहकर पुकारा है, जो मात्र अर्ध-सत्य है। एक ओर, श्रद्धा के प्रति असन्तोष, तथा, दूसरी ओर, इडा के लिए चाह, अपने-आपमें न निन्द्य है न वन्द्य, परन्तु औचित्यपूर्ण और न्याय्य जरूर है। इसलिए कि मनु के इस सम्बन्ध में जो भाव हैं, वे एक आधुनिक जीवन के ऐतिहासिक सत्य हैं। गृह-सीमा के भीतर रहकर, उसी सीमा के शिथिल सुख और तृप्ति का आदर्शीकरण करनेवाली श्रद्धा देखिये, दूसरी ओर, अपने-आपको स्थित्यात्मक रूप से जीवन-जगत् पर प्रस्थापित

करनेवाला सक्रिय मनु देखिये, और उधर तर्कशीला, सगठन-कारिणी, नियमनशीला तेजस्वी इडा देखिये। निस्सन्देह श्रद्धा वर्तमान समाज म पायी जानेवाली सन्तोष-मयी तथा आत्म-सन्तोषमयी सरल मना स्त्री की ही छाया है। तथा इडा दूसरे प्रकार की, सक्रिय कर्म-बुद्धिमती स्त्री का ही प्रतीक हो सकती है। और मनु मे, समर्थ व्यक्तित्व होते हुए भी, आत्म-विश्वास का प्रारम्भ से ही अभाव है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होता है आत्म भोग और अहभाव।

ध्यान मे रखने की बात है कि कवि का श्रद्धा के सम्मुख इडा को अक्षम सिद्ध करने का प्रयास इसीलिए कृत्रिम हो उठा है कि कवि प्रसाद श्रद्धा से श्रद्धावाद की गूँज उत्पन्न कर इडा के बुद्धिवाद को परास्त करना चाहते थे। परिणामत, इडा का जीवन कार्य सब प्रकार से निर्दोष होते हुए भी वह पराजित है, और श्रद्धा किसी निर्माण-कार्य मे सलग्न न रहते हुए भी मात्र श्रद्धावाद के बल से उच्चतर है। अर्थात् श्रद्धावाद घटनाओ से, मानव-चरित्रो के आन्तरिक तर्क से, प्रवाहित न होकर [illegible] के विरुद्ध, श्रद्धावादी होने के कारण [illegible] उस पर अभियोग है कि व [illegible] जितना भी आभास कवि ने दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि इडा अन्धानुरक्त न होकर कर्त्तव्य के आदर्श के सम्मुख त्याग करनेवाली सकल्पशीला तेजस्विनी स्त्री है। मनुष्य के मन की छोटी मोटी कमजोरियाँ उसमे नही है। वह चाहती है प्रजापति प्रजा की रक्षा करे, स्वय के बनाये हुए नियमो का उल्लघन करने का उसे कोई अधिकार नही। कर्त्तव्य का पथ सामाजिक प्रदेश से ही गुजरता है। और उसी के आदर्शवाद के कारण समर्थ व्यक्तित्व निर्माणशील है। सारस्वत नगर के विध्वस का कारण मनु है, इडा नही। 'विजयिनी मानवता हो जाय' का नारा प्रथम श्रद्धा ने लगाया था। परन्तु उसका मूर्त्त स्वरूप इडा की बुद्धि और उसकी सकल्पमयी प्रेरणा के द्वारा ही उत्पन्न हुआ। श्रद्धा तो मात्र नारी रहकर गृहिणी बन गयी। श्रद्धा के आदर्श-वाद का पर्यवसान गृहिणीत्व के सन्तोष और आत्म सन्तोष मे हुआ। परन्तु उसका तर्क-सगत स्वाभाविक विकास इडा के द्वारा, और उसके माध्यम से हुआ, यह निर्विवाद है।

मानव-विकास की धारा ने प्रसाद के अवचेतन के माध्यम से इडा का उज्ज्वल चरित्र उत्पन्न करवाया। क्योकि वह ऐतिहासिक वस्तु-सत्य है, जिसकी सीमारेखा ने प्रसाद की मनोरचना को आकार प्रदान किया है। फिर भी इडा श्रद्धा के द्वारा पराजित करवायी गयी, कामायनी के चरित्रो के विकास की स्वाभाविक धारा के विरुद्ध, केवल श्रद्धावाद की मानी हुई श्रेष्ठता के कारण। इसका समाजशास्त्रीय अर्थ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर साराश म यही है कि विश्व-पूँजीवाद ने अपने प्रथम उत्थान चरण मे जिस बुद्धिवाद को जन्म दिया तथा सामन्ती श्रद्धावाद को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया वही बुद्धिवाद विश्व पूँजीवाद के ह्रास-काल मे उपेक्षणीय हो गया, और श्रद्धावाद की आवाज उठायी गयी। महान्-महान् चिन्तक इसके शिकार हुए। विज्ञान के स्वाभाविक भौतिकवाद को पटककर उसको आध्यात्मिक-वाद करार दिया गया है। विश्व-पूँजीवाद की सामाजिक परिस्थिति से विरक्त होकर चिन्तकगण अपना समाधान फिर श्रद्धावाद मे ढूँढने लगे, जैसे दशरथुड वेदान्त मे।

यह श्रद्धावाद अपने वर्त्तमान बुद्धिवाद विरोधी रूप म मात्र पलायन हो गया

है। यह रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिकवाद—श्रेष्ठ मानववाद नहीं, वरन् बौना, कुचला हुआ, पगु पराजयवाद है। क्योंकि प्रगतिशील पूँजीवादी व्यक्तिवाद मे श्रद्धावाद नही वरन् स्थित्यात्मक मानव-सत्ता का आरोप है। उस मानव-सत्ता के विकास मे बुद्धिवाद और श्रद्धावाद का कोई परस्पर विरोध नही, वरन् उनका ऊर्ध्वोन्मुख सक्रिय सामजस्य रहता है। रवीन्द्रनाथ और प्रसाद की कोई परस्पर तुलना नही हो सकती। इसका विस्तृत विश्लेषण इस लेख मे करना असम्भव-सा है। परन्तु एक तो प्रसाद का व्यक्तिवाद प्रथमत ही पगु है (रवीन्द्र का तेजस्वी व्यक्तिवाद वह नहीं), दूसरे, निखिल भारतीय पूँजीवाद जन्मजात कमजोर, और फिर विश्व-पूँजीवाद का बुढापा। इन तीनो ने मिलकर **कामायनी** के अध्यात्मवाद को श्रद्धावाद बना दिया। परन्तु कमजोर हिन्दुस्तानी पूँजीवाद का रास्ता भारतीय स्वतन्त्रता तक तो विकास का ही रास्ता है। उसका क्षयी व्यक्तिवाद भी इसी तरह दिन गिनता चलेगा। अत बुद्धिवाद को हेय ठहराकर भी जीवन का एकमात्र सुसगत पथ वही है। क्या ही परस्पर-विरोध है—या पूँजीवाद का आत्म विरोध है—कि एक ओर इडा का चरित्र अपनी उज्ज्वलता मे निखर उठा है और, दूसरी ओर, उसको पराजित दिखाकर, पराजयवाद और पलायनवाद का आदर्शीकरण कर उसे श्रद्धावादी और रहस्यवादी रूप दे दिया गया है। प्रसादजी का एक कृत्रिम रहस्यवाद है, उसकी भावना कृत्रिम है। इसीलिए **कामायनी** के अन्तिम सर्ग 'आनन्द' की भावना भी कृत्रिम हो गयी है। क्योंकि प्रसादजी का रहस्यवाद पलायनवाद है। उसमे न तो कबीर की आत्म-प्रस्थापना है, मस्ती है, फक्कडपन है, और न रवीन्द्र का मूर्त्त मानववादर्श।

जरा देखिये, मनु अपनी काम-प्रेरणा के उद्वेग मे एक नगर का विध्वस करता है। वह दयनीय अहवादी अपनी सारस्वत सृष्टि के नष्ट होने से दुखी नही है, अपनी पराजय से दुखी है और ऐसी अवस्था मे श्रद्धा उसे आकर आश्रय देती है, और उसकी कृपा से उसे यकायक 'आत्म-ज्ञान' प्राप्त होकर वह हिमालय जाता है और तपस्या करता है।

यह शुद्ध पलायनवाद है अमिश्रित। अब 'मानव की विजय' मानसरोवर पर होगी। सारी सृष्टि का कार्य मनु के पुत्र को सौपा गया है। और हमारे मनु जी 'मूड मुडाय भये सन्यासी'! तुलसीदासजी यदि आज होते तो इस खर्व रहस्यवादी पराजयवादी मनु को भी आडे हाथो लेते। क्योंकि वे सामाजिक कर्त्तव्यवाद के घोर पक्षपाती थे। वे सत् और असत् का भेद जानते थे। दयनीय मनु हार जाने पर तपोव्रतधारी हो जाता है, और अपने कर्त्तव्य का भार पुत्र पर सौप देता है।

यह भयानक परिस्थिति प्रसादजी ने अपने असामाजिक श्रद्धावाद के कारण उत्पन्न कर ली। मनु के आन्तरिक सामजस्य के प्रश्न का उत्तर उन्होने सीधे श्रद्धावाद मे पा लिया। ध्यान मे रखने की बात है कि अपने कामोद्वेग के कारण नष्ट-भ्रष्ट होनेवाले सारस्वत नगर की बात मनु के अन्त करण म आती ही नहीं। मात्र शारीरिक भोग-लिप्सा के द्वारा उत्पन्न विध्वस उसके नैतिक विवेक मे कोई उद्वेलन उत्पन्न नही करता। वह विध्वस उसके मन मे नैतिक प्रश्न (मॉरल इशू) बनता ही नही। न उसको अपने किये का पश्चात्ताप है जिसके अगारो मे तपकर वह पावन हो सके। उसमे कोई महान् सकल्प, विराट् उत्ताप, और आत्मस्वीकरण नही है। वह तो मात्र श्रद्धा के अचल मे लुढक जाना चाहता है। उसको पहला

विचार आता है—

दूर - दूर ले चल मुझको
इस भयावने अन्धकार मे
खो दूँ फिर न कही तुझको।

जिस मनु का नैतिक विवेक इतना नि:सत्त्व है कि पश्चात्ताप भी उसे पा नही सकता, उसे यकायक जो 'ज्ञान' प्राप्त होता है, वह मात्र एक पलायन-स्वप्न है, कोई गहरी आध्यात्मिक रहस्य-स्थिति नही।

मनु की समस्या यो है—श्रद्धा से मनु का आन्तरिक सामजस्य नही इडा से है, परन्तु इडा पर वह अधिकार प्राप्त नही कर सकता। अतएव, अन्तत:, श्रद्धा और उसके विचारो के प्रभाव से उसके साथ तपस्वी हो जाता है, और निष्फल जीवन को सफल करने लगता है। ऊपर-ऊपर से कामायनी सुखान्त मालूम होती है, पर वस्तुत उसके सुखान्त की पूर्ति नही है। उसमे भयानक निष्फलता है। मनु के आन्तरिक और बाह्य सामजस्य का प्रश्न यो ही रह जाता है।

['हंस' में प्रकाशित। लेखक ने शायद पहले इस लेख को 'कामायनी एक पुनर्विचार' के प्रारम्भ ('प्रथमत') के रूप में देने का इरादा किया था। पर फिर 'प्रथमत' वाला अध्याय दूसरे ही रूप में लिखा।—स०]

# 3 कामायनी

## सभ्यता-समीक्षा और इडा

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धो के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा मे प्रयास करते हुए, हमारे दृष्टि-मार्ग मे दो विशेष प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह, जिसमे युग-प्रवृत्तियो का मात्र प्रतिबिम्ब हो, अर्थात्, आपेक्षिक रूप से, युग-प्रवृत्तियो को जागरूक प्रकार से न लिया जाकर, एक विशेष मानसिक निष्क्रियता के वशीभूत हो, मात्र उनका सस्कृत अथवा विकृत प्रतिबिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि जिसमे इन युग-प्रवृत्तियो के अभिप्राय, *गर्भितार्थ, उनके प्रभावकारी अथवा विनाशकारी* आशय, आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाकर, वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है। निश्चय ही, ऐसे साहित्य का उद्देश्य है मानव-चेतना का परिष्कार।

किन्तु बहुत बार यह भी देखा गया है कि महान्-से महान् साहित्यकार (जैसे तॉल्स्तॉय) सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जिन अन्तिम निष्कर्षो पर पहुँचता है, (उनका सर्वमान्य होना या न होना अलग बात है, किन्तु) उनसे डर तो यह हो जाता है कि कही वे अन्तिम निष्कर्ष हानिप्रद

तो नही हैं ? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षा जीवनगत तथ्यो की हुआ करती है। अत (साहित्य मे चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यो के उपरान्त, जब साहित्यकार उन तथ्यो पर आधारित सामान्यीकरणो के क्षेत्र मे, अपनी स्वभावगत तथा प्रभावगत प्रवृत्तियो के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दु साहसपूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड लगाता है, तब उसके चरम-निर्णयो को जरा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना और उनका उचित विश्लेषण करना एकदम आवश्यक हो उठता है। साहित्य-समीक्षाकार की सफलता, उसके स्वय के जीवन-विवेक की अनुभवजन्य व्यापकता के साथ ही, उन तथ्यो पर मूलत आधारित है, जिन्हे 'दृष्टिकोण' शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चूँकि मानव चतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है, वरन् भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानो के अधिकारियो द्वारा भी वह सम्पन्न होता है (उनके सहकार्य के बिना यह असम्भव भी है), अतएव समीक्षक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि समीक्ष्य वस्तु और उसके निर्माता के निर्णय, सामान्यीकरण और ;अन्तिम निष्कर्ष अद्यतन तर्क शुद्ध और अनुभव सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल तो नही जा रहे हैं ? (चूँकि चतना-परिष्कार का सम्बन्ध मानव-स्थिति के उत्थान, उच्चतर रूपान्तर और विकास से है, इसलिए) समीक्षक का दायित्व साहित्यकार के प्रति न्याय, सहानुभूति, औदार्य आदि तक ही सीमित न रहकर, उसके आगे बहुत बढ जाता है। यही कारण है कि देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में, समीक्षक की दृष्टि समीक्ष्य साहित्य के अन्त सौन्दर्य मे ही समाहित न होकर, साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षो की मजिल के अन्दर जाकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या यह मजिल न्यायोचित, उपादेय और लाभ-प्रद है।

इस प्रकार के समीक्षा सम्बन्धी प्रयास **कामायनी** के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, चाहे वे सफल रहे या असफल। **कामायनी** मे, इडा श्रद्धा और मनु को लेकर प्रसादजी जिन निष्कर्षो पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज, सभ्यता, मुक्ति आदि सभी विषय प्रसादजी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के अन्दर आ जाते हैं।

## मुख्य प्रश्न

**कामायनी** के सम्बन्ध मे सबसे बडा सवाल है इडा के प्रति प्रसादजी के रुख का। पूरी **कामायनी** मे बुद्धि (जिसकी प्रतीक-चरित्र इडा है) के बारे मे कठोरता बरती गयी है। बुद्धि का प्रसग आते ही प्रसादजी आलोचनातुर हो उठते है। अपनी भूमिका मे भी प्रसादजी ने बुद्धि के विरुद्ध श्रद्धा के प्रति अपने पक्षपात की ओर इशारा कर दिया है। **कामायनी** के कथानक मे भी इडा (न्याय का पक्ष लेते हुए भी) पराजिता बतलायी गयी है। स्वय इडा श्रद्धा के सम्मुख निविड आत्मालोचन स-ग्रस्त हो जाती है। इन सभी बातो मे, स्वभावत, निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रसादजी बुद्धिवाद-विरोधी श्रद्धावाद के समर्थक हैं। लेकिन सवाल यह भी है कि बुद्धि और उसके व्यवहार-क्षेत्र को हीन-भाव से देखने के क्या माने हैं ? क्या अपने इस रुख से प्रसादजी तत्सामयिक सास्कृतिक विचार-विकास-शृखला के बहुत पीछे

की कडी की ओर तो नही जा रहे है ? रवीन्द्र और उनके पूर्व रामकृष्ण-रामतीर्थ, महाराष्ट्र के चिपलूणकर-आगरकर बुद्धि की निर्माणकारी सत्ता को मानते थे। भारत के राष्ट्रीय उत्थान का, रमण और जगदीशचन्द्र बोस और रामानुजन की कीर्तिगाथाओ का, गाधीवाद प्रणीत राष्ट्रवाद के भव्य उत्कर्ष का, यह काल था। ऐसे समय, नयी सभ्यता का निर्माण करनेवाली स्वप्न-दर्शी इडा के तिरस्कार का अर्थ ? साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवादी आन्दोलन के रामराज्य के स्वप्न से प्रसादजी प्रभावित क्यो नही हो रहे थे ? क्या वे राष्ट्र निर्माण के मानवीय प्रयासो से नाराज़ होकर इडा से विद्रोह कर बैठे थे ? अथवा इडा के पीछे कोई और रहस्य है ?

**इडा प्रणीत सभ्यता**

एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि तत्सामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की सामाजिक भूमि से, उसकी वास्तविकताओसे, प्रसादजी का आदर्शवाद प्रभावित न था। हाँ, उस सामाजिक राष्ट्रवादी वास्तविकता का जो उन्होंने विश्लेषण किया, वह **कामायनी** मे चित्रित होकर आज भी उतना ही सच है जितना कि प्रसादजी के जमाने मे था। निश्चय ही, इडा-आगमन-पूर्व मनु के सभ्यता-निर्माण के प्रयास का, तथा इडा-प्रणीत सभ्यता के ह्रास मूलक स्वरूप का, चित्र प्रसादजी के व्यक्तिगत अनुभव की कठोर शिला पर आधारित है। अगर यह न होता तो प्रसादजी विश्लेषणो और सामान्यीकरणो की तीव्रता और प्रचुरता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यो का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवो की सुदृढ शिला पर खडे हुए हैं—वे कल्पना-मूलक नही हैं। अगर वे कल्पनामूलक होते, तो न उस विश्लेषण और न उस सामान्यीकरण मे गहराई आ पाती, न आवेग, न तीव्रता ! किन्तु प्रसादजी की विश्लेषणात्मक अनुभूति, प्रतीको, उपमाओ, चित्रो आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य-सामान्यीकरणो को जन्म देती है कि दग रह जाना पडता है। मजा यह है कि वे सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति मे और भी अधिक सत्य हो गये हैं। **कामायनी** म वर्णित सभ्यता-प्रयासो के पीछे, प्रसादजी का अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविक परिस्थिति, अपने समय की सामाजिक दशा बोल रही है, यह निर्विवाद है।

***कामायनी** मे इडा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के रूप के विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है, जिसके निर्माण मे इडा का भी योग था। कामायनी मे अकित, इस सभ्यता विश्व की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विभेद, वर्ग-सघर्ष, शासनादेश-घोषणा, विजयो की हुकार, युद्ध रक्त-अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, 'प्रणति-भ्रान्ति' 'भीति-विवश कम्पित' होकर काम करते जाना, भूख से विकल दलित 'राष्ट्र' के भावो का नियमो मे रूपान्तर, नियमो का दण्डो मे रूपान्तर, और दण्डो के कारण सबका कराहना, नियम स्रष्टाओ द्वारा आतक-विप्लवो की वृष्टि,

*यहाँ से आगे इस लेख के कुछ अश अविकल अथवा सशोधित रूप में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के दसवें अध्याय में समाविष्ट हैं।—स.

नही समझ पाती कि वर्ग-भेद' के आधार पर उसके 'सुविभाजन विषम' क्यो हो गये है। और नियम क्यो टूटते है, और नये क्यो बन जाते है। वह अपनी अवनति, अपना ह्रास स्वीकार करती है और श्रद्धा का अमूर्त्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।

निश्चय ही, श्रद्धा और प्रसादजी 'जीवन-सघर्ष मे योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को बिलकुल नही मानते। यह एक घनघोर प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। वह सिद्धान्त स्वार्थ-लोलुप साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र है। इस वैचारिक मनोभूति से ग्रस्त इडा और उसकी नवीन सभ्यता, श्रद्धा और प्रसादजी के लिए गृहणीय [नही] है। किन्तु, अपनी उपायहीनता के कारण, इस सभ्यता को उन्हे चिरन्तन मान लेना पडता है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए, अच्छे शासक की जरूरत है। सो, श्रद्धा अपना पुत्र इडा को सौप देती है। वर्ग-सघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, श्रद्धा वर्गहीन सामजस्यपूर्ण समाज का समर्थन *करती है। किन्तु इडा का सामजस्य वर्ग-मैत्री के आधार पर स्थित है।* (इस अर्थ मे, इडा का चरित्र श्रद्धा से हजार गुना प्रतिक्रियावादी है)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि श्रद्धा के इडा-विरोध का अर्थ अ-बुद्धिवाद नही, न बुद्धि-विरोधीवाद है। इडा मे निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध पूँजीवादी-प्रतिक्रियावादी है, जिन्हें श्रद्धा ही क्या, कोई भी मानववादी स्वीकार नही कर सकता। अत, ऐसी इडा का तिरस्कार कर प्रसादजी अपने युग-विचारो को पीछे की ओर नही ले जा रहे थे, वरन् वे वास्तविकताओ के विश्लेषण के द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषी विश्व के ज्ञान-कोष मे वृद्धि ही कर रहे थे।

किन्तु, इडा को बुद्धि-तत्त्व का प्रतीक मानकर तथा श्रद्धा को श्रद्धा-तत्त्व का प्रतीक मानकर, प्रसाद ने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया वह वस्तुत अत्यन्त शोचनीय है। विशेषकर इसलिए कि हिन्दी-जगत् मे बुद्धि-विरोधी श्रद्धावाद को भारतीय परम्परा का नाम देकर जो एक प्रतिक्रिया-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दी *के प्रतिक्रियावादी क्षेत्रो मे ही कामायनी अधिक लोकप्रिय* हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्त्वो के प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गयी।

क्रान्तिकारी, शुद्ध-वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव की स्थिति मे, साहित्यकार किस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ठीक उसी घनघोर वास्तविकता से समझौता कर लेता है, जिस वास्तविकता का वह भयानक शत्रु है, इसका उदाहरण है स्वय श्रद्धा और उसके कल्पक-निर्माता प्रसादजी। मनु-पुत्र को इडा के हाथ सौंपना, और स्वय हिमालय पर जाकर अमूर्त्त समरसता और सामजस्य के वाता-

वरण मे रहना, क्या आशय रखता है ? यदि प्रसादजी के पास युगान्तरकारी वैचारिक अस्त्र होते, तो श्रद्धा के सम्मुख आत्म-आलोचन-ग्रस्त इडा के मन को, वैचारिक ऊहापोहो के द्वारा ऐसे स्तर पर भी पहुँचाया जा सकता था जहाँ से वर्ग-विभाजनहीन नवीन लोक-राज्य और नवीन जन-सभ्यता के सिंहद्वार की ओर जानेवाले प्रशस्त क्रान्तिकारी पथ के दर्शन हो सकते थे। और मनु सहित इडा-श्रद्धा उस राह पर चल सकते थे। ध्यान रहे कि छायावादी काव्य म कामायनी ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाज-नीति और राजनीति क क्षेत्र म, नय साहसी प्रयासो का लक्ष्य निर्द्वन्द्व रूप स आगे बढता है। अत उपरिलिखित मन्तव्य उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

[आलोचना, अक्तूबर 1952 म प्रकाशित]